

ISSN 2350-1065 MUKTANCHAL

वर्ष : 08, अंक : 29, जनवरी-मार्च 2021

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल

पीयर रिव्यूड त्रैमासिक

रेणु
शतवर्ष
विशेषांक



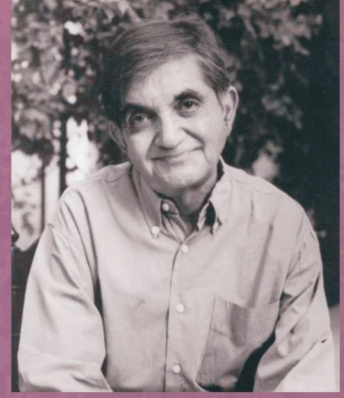
विद्यार्थी मंच

मूल्य : 200 रुपये

उस पार से.....

निर्मल वर्मा

(03 अप्रैल 1929 - 25 अक्तूबर 2005)



अब सोचता हूँ, तो समझ में आता है, हमारी चीजों को चाहे बहुत लोग पढ़ें, किंतु हम लिखते बहुत कम लोगों के लिए हैं। मैं जिन लोगों को ध्यान में रखकर लिखता था उनमें रेणु सबसे प्रमुख थे। मैं हमेशा सोचता था पता नहीं मेरी यह कहानी, यह लेख, यह उपन्यास पढ़कर वह क्या सोचेंगे। यह ख्याल ही मुझे कुछ छद्म और छिछला, कुछ दिखावटी लिखने से बचा लेता था। कुछ लोग हमेशा हम पर सेंसर का काम करते हैं, सत्ता का सेंसर नहीं, जिसमें भय और धमकी छिपी रहती है, किंतु एक ऐसा सेंसर जो हमारी आत्मा और 'कॉन्सस', हमारी रचना कर्म की नैतिकता के साथ जुड़ा होता है। रेणु जी का होना, उनकी उपस्थिति ही एक अंकुश और वरदान थी। जिस तरह कुछ साधु-संतों के पास बैठकर हो असीम कृतज्ञता का अहसास होता है, हम अपने भीतर घुल जाते हैं, स्वच्छ हो जाते हैं, रेणु जी की मूक उपस्थिति हिंदी-साहित्य में कुछ ऐसी ही पवित्रता का बोध कराती है।

- निर्मल वर्मा

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल

पीयर रिव्यूड त्रैमासिक

वर्ष-8, अंक- 29, जनवरी-मार्च 2021

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा
 अतिथि संपादक : मृत्युंजय पाण्डेय
 प्रकाशक : आनंद कुमार सिन्हा
 प्रबंध संपादक : सुशील कुमार पांडेय
 कला संपादक : शुभागता श्रीवास्तव
 आकल्पक : लखनपति झा
 प्रूफ संशोधक : विनोद यादव, आशीष गुप्ता

परामर्श एवं विशेष सहयोग :

प्रो. दामोदर मिश्र : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, विद्यासागर विश्वविद्यालय
 डॉ. कृष्ण कुमार : अध्यक्ष, गीतांजलि बहुभाषिक साहित्यिक समुदाय, (बर्मिंघम, यू.के.)
 डॉ. पंकज साहा : खड़गपुर कॉलेज, पश्चिम बंगाल
 डॉ. अरुण कुमार : प्राक्तन प्रोफेसर, राँची विश्वविद्यालय
 डॉ. रणजीत सिन्हा : मिदनापुर कॉलेज (ऑटोमोस), मिदनापुर
 डॉ. निशांत : काजी नजरूल विश्वविद्यालय, आसनसोल
 डॉ. रामप्रवेश रजक : हिंदी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय
 डॉ. रीता सिन्हा : हिंदी विभाग, वर्धमान विश्वविद्यालय

व्यवस्थापन एवं प्रबंधन :

रेणु चौधरी, विनीता लाल, गुड़िया राय, पार्वती शॉ
 एवं प्रभा उपाध्याय

संपर्क एवं प्रसार :

चाँदनी सिन्हा (बर्मिंघम, यू.के.) : +447411412229
 कुणाल किशोर (के.वि. हिमाचल प्रदेश): 7998837003

लेखकों से अनुरोध किया जाता है कि मुक्तांचल में प्रकाशन हेतु सामग्री यूनिकोड वर्ड (Unicode Word) या (Kurtidev010) में भेजें।

पत्रिका में व्यक्त विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं 'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र कलकत्ता उच्च न्यायालय होगा।

पीयर रिव्यूड टीम :

डॉ. धूपनाथ प्रसाद : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र
 डॉ. विश्वजीत भद्र : प्राध्यापक, नेताजी नगर कॉलेज (कलकत्ता विश्वविद्यालय)
 प्रो. मोहम्मद फ़रियाद : प्राक्तन अध्यक्ष, जनसंचार विभाग, मौलाना आजाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी, हैदराबाद
 डॉ. सुनील कुमार 'सुमन' : प्रभारी, क्षेत्रीय केंद्र कोलकाता, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र
 प्रो. मंजु रानी सिंह : विश्वभारती, शांतिनिकेतन
 प्रो. अरुण होता : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, स्टेट यूनिवर्सिटी, बारासात
 प्रो. मनीषा झा : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, उत्तर-बंग विश्वविद्यालय
 डॉ. सत्या उपाध्याय : प्राचार्य, कलकत्ता गर्ल्स कॉलेज, कोलकाता
 डॉ. अंजनी कुमार झा : एसोसिएट प्रोफेसर, मीडिया स्टडीज, महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतीहारी (बिहार)
 डॉ. शुभ्रा उपाध्याय : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, खुदीराम बोस सेन्ट्रल कॉलेज, कोलकाता

मुक्तांचल: A/c- 50200014076551, HDFC BANK
 BURRABAZAR, KOLKATA- 700007,
 IFSC CODE- HDFC0000219

संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन
 सलकिया, हावड़ा-711106, पश्चिम बंगाल
 संपर्क - 033-26751686, 9831497320,
 9681105070
 ई-मेल - muktanchalpatrika@gmail.com
 sinhameera48@gmail.com

मुद्रक : शिक्षण, 50, सीताराम घोष स्ट्रीट,
 कोलकाता-700009

पत्रिका का मूल्य : एक अंक - 200 रुपये

सदस्यता शुल्क : वार्षिक- 500 रुपये, आजीवन-2500 रुपये

संस्थाओं के लिए : वार्षिक-550 रुपये, आजीवन-3000रु.

डाकखर्च (प्रत्येक अंक के लिए) अतिरिक्त 30 रुपये।

अवस्थिति

शोध	6	संस्तुति	
	8	संपादकीय - सौ साल के रेणु	
		संस्मरण : उनकी याद आती है	
समीक्षा	12	गोपेश्वर सिंह	रेणु जी का कोना
		विमर्श : रेणु के देस में	
	18	पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'	रेणु का महत्व
	25	सुरेन्द्र नारायण यादव	राष्ट्र निर्माण की चिंता और रेणु
	38	विद्या सिन्हा	अंचल का प्रश्न, रेणु के उपन्यास और भारतीय राष्ट्र
	43	हितेन्द्र पटेल	मैला आंचल और तत्कालीन राजनीति : कुछ प्रसंग
	56	सदन झा	रेणु साहित्य और आंचलिक आधुनिकता
	64	प्रियंकर पालीवाल	आंचलिक उपन्यास परंपरा, मैला आंचल और हिंदी की प्रगतिशील आलोचना
		उपन्यास : समग्र मानवीय दृष्टि	
	67	विजय बहादुर सिंह	आँसुओं में डूबी एक कथा जो मुस्कान की भाषा में कही गई / मैला आंचल
सृजन	73	हृषिकेश सुलभ	आजादी के स्वप्न और मैला आंचल
	77	उषाकिरण खान	फणीश्वरनाथ रेणु की परती : परिकथा
	79	तरसेम गुजराल	राजनीतिक परिदृश्य यहाँ भी है / पल्टू बाबू रोड
	84	अरुण होता	क्रूरतम समय और समाज से मुक्ति की चाहत / कलंक मुक्ति
	90	इतु सिंह	युवा बलिदान की आदर्शवादी गाथा / कितने चौराहे
	97	मणिभूषण पाण्डेय	पूर्व से विस्थापन की अपूर्व कथा / जुलूस
		कहानी (एक) : बात बोलेगी मैं नहीं	
संचार	101	मैनेजर पाण्डेय	मानवता की तलाश का कलात्मक प्रयास
	110	प्रेमकुमार मणि	रेणु : कहानीकार के रूप में
	119	रोहिणी अग्रवाल	रेणु की स्त्रियाँ
	128	नीरज खरे	हुनरमंद चरित्रों की मानवीय उपस्थिति
	137	पंकज साहा	तेरे लिए लाखों के बोल सहे
	142	संजय कुमार सिंह	रेणु की कहानियों से कुछ नोट्स

शोध	146	रीता चौधरी	समय और समाज का सच
	151	एकता मंडल	रेणु की कहानियों में सामाजिक सरोकार
	कहानी (दो) : सवार ऊपर मानुष सत्य		
समीक्षण	157	जितेंद्र श्रीवास्तव	रेणु और उनकी कहानी 'आत्मसाक्षी'
	160	अरविंद कुमार	बीमारों की दुनिया में नए सबेरे की आशा
	166	नलीन रंजन सिंह	दो पाटो के बीच : उच्चाटन
	172	अजय वर्मा	तीसरी कसम : अविस्मरणीय प्रेम कथा
	176	निशांत	नाच देखने जाना महत्वपूर्ण है, नाच देखना नहीं
सृजन	182	विनय कुमार मिश्र	संवदिया की संवेदना
	कथेतर : धरती का धनी		
	187	भारत यायावर	अस्तित्व बचाने की जद्दोजहद / रिपोर्टाज
	202	पंकज मित्र	बोली-ठोली-हँसी-ठट्ठा...यही है रेणु जी महिला (मैला) ऑंचल के लेखक.../ व्यंग्य
	206	अनिल त्रिपाठी	रेणु की कविताई / कविता
संसार	211	प्रज्ञा	जीवन की असंगति में संगति की खोज / नाटक
	225	डॉ. सुनीता	अंचल की आहट में पठनागार / आत्मसंस्मरण
	233	सुनीता साव	कागज पर सबकुछ निचोरकर रख दिया / पत्र
	241	चैनसिंह मीणा	सामाजिक और राजनीतिक परिदृश्य / रिपोर्ट एवं टिप्पणियाँ
	248	शिव कुमार यादव	मेरे हमदम मेरे दोस्त / स्केच एवं संस्मरण
	250	शिप्रा श्रीवास्तव	मानवीय संवेदनाओं के विविध रंग / निबंध
	256	आनंद श्रीवास्तव	समय के साक्षी / साक्षात्कार

संस्तुति

रेणु का समग्र साहित्य एक संपूर्ण 'लोक' है जिसमें हिंदुस्तान के एक विशेष समय का समाज अपनी सारी सच्चाई के साथ खड़ा मिलता है। विविध विधाओं में विस्तृत उनकी लेखनी का 'लोक' देश-काल के 'कैनवास' पर टिका एक ऐसा अद्भुत 'कोलॉज' है जिसका परिदर्शन करते हुए हम सहज ही धूल, शूल और फूल के जगत में पैठ ले लेते हैं और फिर संवेदन एवं सम्मोहन के सूक्ष्म रेशों में पगे अभिभूत हो जाते हैं। धरती के अनेक रंग हैं रेणु साहित्य में, लोक राग से मुखर और जन आलोड़न से प्रखर, जीवन से ओत-प्रोत विशिष्ट और युगांतकारी।

इस बार, 2021 का यह वर्ष रेणु जन्म शतवर्ष होने के नाते एक सुनहला मौका है जब हम उनके विपुल साहित्य पर चर्चा-परिचर्चा एवं विचार विश्लेषण के लिए जमकर जुट गए हैं। इससे पहले, अब तक रेणु साहित्य पर इतनी-इतनी बातें कभी नहीं हुई, जबकि उनका लेखन कई मायनों में विवाद और विचार के लिए सदा आमंत्रित करता रहा है।

विद्यार्थी मंच, हावड़ा के साहित्यिक अड्डे पर हम कुछ अध्यापक-प्राध्यापक, विद्यार्थी और शोधार्थी जुटे थे; अवसर था कोविड-19 की भयावहता और निस्संगता के बावजूद 'मुक्तांचल' के तीन अंक जारी कर लिए गए थे जिनमें रजत अंक एवं मीडिया विशेष (संयुक्तांक) आ गया था। इसी बैठक में दिसंबर अंक पर चर्चा भी शामिल थी, मेरा प्रस्ताव था कि इस अंक से हम एक नए स्तम्भ की शुरुआत करें जिसमें शोधकर्ता चाहे वरिष्ठ हो अथवा कनिष्ठ पुराना हो या एकदम नया बस थिसीस 'अवार्डेड' होनी चाहिए, अपनी शोध प्रक्रिया एवं शोध स्थापनाओं पर संस्मरणात्मक एवं सर्जनात्मक आलेख लिखें। शोधकर्ता कई उपस्थित थे और उनके विषय भी महत्वपूर्ण थे परंतु रेणु शतवर्ष के कारण सबका ध्यान डॉ. मृत्युंजय पाण्डेय की ओर गया। मृत्युंजय जी का शोध रेणु पर था इसलिए इस स्तम्भ की शुरुआत उनसे करना सबसे अधिक प्रासंगिक लगा। मृत्युंजय ने शोध आलेख के स्थान पर 'मुक्तांचल' के रेणु विशेषांक का प्रस्ताव रखा तो हम सब तैयार हो गए। विद्यार्थी मंच की तरफ से 'मुक्तांचल' के इस विशेषांक का संपादन भार डॉ. मृत्युंजय पाण्डेय को सौंपा गया और

उन्होंने बड़े ही लगन से इस दायित्व का निर्वाह किया। आज आपके सामने 'मुक्तांचल'-29 (जनवरी-मार्च 2021) के इस अंक को संस्तुत करते हुए मुझे गौरव का बोध हो रहा है, इस अंक की विशिष्टता इसकी समग्रता में हैं, वस्तुतः यह एक बड़ा जुटान है जहाँ बहुतों ने बहुत तरह से रेणु साहित्य के विविध पक्षों को विवेचित और विश्लेषित किया है। इसमें संदेह नहीं कि यह विशेषांक जहाँ विद्यार्थी मंच के सम्मिलित प्रयास को सार्थक करता है तो वहीं 'मुक्तांचल' शब्द की मुक्त सर्जनात्मकता को भी ध्वनित करता है। इस अंक के अतिथि संपादक को साधुवाद कि उन्होंने 'मुक्तांचल' के मुहिम को समझते हुए रेणु पर एक ऐसे फलक का समायोजन किया जिससे रेणु साहित्य के विविध पक्षों पर प्रकाश डालना सम्भव हो सका। लेखकों, अध्येताओं और पाठकों सबको एक मंच पर जुटा लेना तथा बड़े और छोटे लेखकों के विभाजन पर न ठहरकर एक प्रोजेक्ट की तरह काम कर ले जाना 'मुक्तांचल' का परम लक्ष्य है। इस लक्ष्य तक पहुँचने के छोटे-छोटे सोपान हैं जिनपर मिलकर चलते रहना है। धरती की धूल की तरह कभी कदमों से लिपटकर तो कभी बवंडर में बदलकर तो कभी माथे पर तिलक सा चमककर हर अंक को संग्रहणीय बनाने के संकल्प को फलीफूट करने में आपके साथ का संबल अत्यन्त आवश्यक है।

हमारा अगला अंक 'मुक्तांचल'-30 (अप्रैल-जून 2021) **व्यंग्य विषय** केंद्रित अंक है। इस अंक के अतिथि संपादक हैं सुविज्ञ आलोचक एवं व्यंग्यकार डॉ. पंकज साहा। इस अंक का शीर्षक होगा - 'व्यंग्य साहित्य कल और आज'। इस विशिष्ट अंक में व्यंग्य से सम्बद्ध महत्वपूर्ण दस्तावेज भी शामिल किये जायेंगे। व्यंग्य साहित्य अथवा साहित्यकार पर शोध कार्य करने वालों के शोध पत्र आमंत्रित हैं।

पुनश्च, आप अंक प्राप्त कर अपना अभिमत अवश्य प्रेषित करें - हम उन्हें आपके नाम और सम्पर्क के साथ प्रकाशित करेंगे। संवाद जारी रहेगा - विमर्श बनते रहेंगे - राहें खुलती जायेंगी - दूर-दूर तक।


संपादक

सौ साल के रेणु

4 मार्च, 2021 को फणीश्वरनाथ रेणु की जन्मशती है। आज से सौ वर्ष पूर्व '4 मार्च, 1921 को 'बिहार राज्य के पूर्णिया जिला के एक गाँव औराही-हिंमना में रेणु का जन्म हुआ था। रेणु को बचपन से ही कथा-कहानी सुनने का शौक था-कथा 'बुनने का शौक तो बहुत बाद में चलकर पैदा हुआ, सन 1945 के आसपास और रेणु तब से लेकर अंतिम समय (1977) तक कथा बुनते रहे हैं। रेणु आजादी के बाद के सबसे सचेत और चौकन्ने साहित्यकार के रूप में आते हैं। जनमानस राजनीतिक आजादी के साथ-साथ सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक आजादी का स्वप्न भी देख रही थी। उसे उम्मीद थी कि आजादी के बाद सबको भर पेट भोजन मिलेगा, सबको काम मिलेगा। पर शहरीकरण और उद्योगधंधों की बेहिसाब/ विवेकहीन विकास प्रक्रिया ने इन ग्रामीण लोगों का जीवन बद से बदतर कर दिया। इन परिवर्तनों के कारण हर तरफ, हर जगह सबकुछ टूट एवं बिखर रहा था। एक ओर जनमानस के सपने टूट रहे थे, तो दूसरी ओर भारतीय राजनीति में भ्रष्ट और आचारा लोगों का प्रवेश हो रहा था। आजादी के बाद देश का विभाजन हुआ, जनमानस के सपने टूटे, राष्ट्र-राज्य का निर्माण हुआ, भारतीय राजनीति में गुंडा-बदमाश और ब्लैकमार्केटियरों का प्रवेश हुआ, लोककला और लोकसंस्कृति का विघटन हुआ। अपने युग के अप्रतिम साहित्यकार रेणु पहली बार आजाद भारत के इस बदले हुए मिजाज को प्रमुखता से चित्रित करते हैं। उनका साहित्य स्वतंत्र भारत की विसंगति और विषमताओं का ऐतिहासिक दस्तावेज़ है। रेणु आजाद भारत के मिजाज को व्यक्त करने वाले पहले साहित्यकार ठहरते हैं। उन्होंने पहली बार भारतीय गाँवों को नहीं आँखों से देखा। हिंदी कथा-साहित्य में परंपरा से चली आ रही गाँव की छवि या रूप को पहली बार खंडित किया। रेणु के गाँव में गंध है, रूप है, स्पर्श है, स्वाभाविकता है, जिंदादिली है, सुंदरता है, ताजगी है, नवीनता है तो कुरूपता भी कम नहीं है। गाँव की अच्छाई और बुराई के साथ वे कथा की दहलीज पर हाजिर होते हैं।

(दो)

हिंदी जगत इस बात से परिचित है कि रेणु का क्षेत्र बाढ़, अकाल, सूखा, मलेरिया, हैजा आदि प्रकोपों से हमेशा प्रभावित रहा। इसको लेकर रेणु हमेशा चिन्तित रहे। इन समस्याओं को वे अपनी रचनाओं में उठाते रहे। उसे भोगते रहे। उससे लड़ते रहे। घोर अंधकार और निराशा के बीच वे उम्मीद का दीप जलाते रहे। अपने अंचल के लोगों के रंगहीन और रसहीन जीवन में वे रंग और रस घोलते रहे। उनकी उदास आँखों में सुनहले सपने बोते रहे। महामारी का शिकार व्यक्ति न तो हँसता है और न ही मुस्कुराता है। उसके मन और चेहरे पर हमेशा एक आतंक की छाया मंडराती रहती है। इस आतंक को रेणु ने देखा भी था और झेला भी था। इस आतंक की छाया को हम आज भी देख रहे हैं। उदास और सूनी आँखें बीच रास्ते में ही पथरा जा रही हैं। कितनों के दोस्त, कितनों के पिता कितनों के पति बिछड़ गए। जिस तरह रेणु मलेरिया को बुखार नहीं 'पिशाच' मानते थे। 'पाँच मुँहवाला, विकराल पिशाच-

अट्टहास करता हुआ, चारों ओर अस्थिपंजर, मुंड और हड्डियों के ढेर बिखरे हुए।' वैसे ही आज कोरोना भी 'पिशाच' का रूप धर लिया है। आज पूरा विश्व कोरोना महामारी से जूझ रहा है।

रेणु के 'मैला आँचल' उपन्यास में मलेरिया और काला-आजार को एक प्रमुख समस्या के रूप में दिखाया गया है। इसी के उन्मूलन के लिए वे डॉ प्रशांत को पटना से मेरीगंज गाँव लाते हैं। उपन्यास में रेणु ने दिखाया है कि 1946 में कांग्रेस मंत्रिमंडल के गठन के बाद सरकार डॉ प्रशांत को विदेश भेजना चाहती है, लेकिन वह पूर्णिया के किसी गाँव में रहकर मलेरिया और काला-आजार पर रिसर्च करना चाहता है। हेल्थ मिनिस्टर के सामने पूर्णिया और सहरसा के नक्शे को फैलाते हुए वह कहता है-मैं इसी नक्शे के किसी हिस्से में रहना चाहता हूँ। यह देखिए, यह है सहरसा का वह हिस्सा, जहाँ हर साल कोशी का तांडव नृत्य होता है। और यह पूर्णिया का पूर्वी अंचल जहाँ मलेरिया और काला-आजार हर साल मृत्यु की बाढ़ ले आती है।' एक है पानी की बाढ़ और एक है मृत्यु की बाढ़। इन दोनों बाढ़ों को रेणु रोकना चाहते हैं।

'पहलवान की ढोलक' कहानी पहली बार साप्ताहिक 'विश्वामित्र' में 11 दिसंबर, 1945 को प्रकाशित हुई थी। 'पहलवान की ढोलक' कहानी के केंद्र में है तो हैजा, लेकिन उसकी जड़ में 1943 का भीषण अकाल है। पहले सूखा पड़ा, फिर अनाज की कमी हुई, उसके बाद मलेरिया और फिर फैज़ा का प्रकोप बढ़ा। लगातार इन सारी चीजों ने मनुष्य को तोड़कर रख दिया। सन 1943-44 में बंगाल, बिहार और उड़ीसा में भयानक अकाल पड़ा था। जिसमें लगभग 30 लाख लोगों ने भूख से तड़पकर अपनी जानें गवाई थीं। यह अकारण नहीं है कि कहानी के इस प्रसंग को पढ़ते हुए देश की राजधानी से गाँव की ओर लौटते और भूख से दम तोड़ते हुए सैकड़ों-हजारों मजदूर-किसान याद आ रहे हैं। आज कोरोना महामारी के समय में भी लोग भूख से दम तोड़ रहे हैं। छोटे-छोटे बच्चे, जवान और बूढ़े मौत से लड़ रहे

हैं। न तो ब्रिटिश-काल में अनाज की कमी थी और न ही आज है। पर उस समय भी गरीब लोग मरे थे और आज भी मर रहे हैं। उस समय भी लाखों भारतियों को जानबूझ कर मरने दिया गया और आज भी सब जानते हुए सैकड़ों मजदूरों को सड़कों पर भूखे मरने के लिए छोड़ दिया गया है। जमाखोरी उस समय भी हुई थी और आज भी हो रही है। उस वक्त भी कुछ लोग अपने घरों में बैठे जश्न मना रहे थे और आज भी कुछ लोग दारु-मुर्गा खाकर उनकी भूख पर लेक्चर दे रहे हैं। रेणु की यह कहानी 1945 में जितनी प्रासंगिक थी, उतनी आज भी है। कोरोना ने इसकी प्रासंगिकता को और बढ़ा दिया है। कोरोना ही क्यों! जब-जब भूख और महामारी से मनुष्य दम तोड़ेगा, तब-तब रेणु की यह कहानी हमारे सामने आकर खड़ी हो जाएगी।

1945 में प्रकाशित रेणु की कहानी 'प्राणों में घुले हुए रंग' का नायक भी डॉ प्रशांत की तरह एम. बी. बी. एस. होने के बावजूद अपनी पूरी जिंदगी गाँव में गुजार देता है। अपने गाँव में ही वह 'मातृ-औषधालय' खोलकर मलेरिया और हैजा से मरते हुए व्यक्तियों को मौत के मुँह से बचा लाने का प्रयास करता है। जिस तरह डॉ प्रशांत गाँववालों और संथालियों के बीच कोई भेद-भाव नहीं करता, उसी तरह इस कहानी का नायक भी गाँववाले और खानाबदोश मगहिया-डोमों के बीच कोई भेद नहीं मानता। उन दोनों के लिए रोगी महत्वपूर्ण हैं, जाति या व्यक्ति नहीं। लेकिन विडंबना देखिए, 'मैला आँचल' के संथाली और इस कहानी का मगहिया डोम दोनों ही जमींदार साहब और गाँव के प्रतिष्ठित लोगों के शिकार होते हैं। आप यहाँ मगहिया डोम और संथालियों की जगह मजदूरों को रख लीजिए। जमींदार के रूप में सरकार को याद कर लीजिए। सारी स्थिति साफ हो जाएगी।

रेणु की एक अन्य कहानी 'इतिहास, मजहब और आदमी' (नवंबर, 1947) में भी हम देखते हैं कि मनमोहन बहुत लिखा-पढ़ी करके तथा अपनी माँ से लड़कर गाँव में मेडिकल कैप लाता है। उसके आसपास

के गाँवों में ज़ोरों से हैजा और मलेरिया फैला हुआ था। लोग भूख और रोग दो युद्धों से लड़ रहे थे। प्रत्येक गाँव से रोज आठ-दस लाशें उठ जाती थीं। वह डॉक्टरों के साथ सुबह से शाम तक गाँव-गाँव घूमकर दवाइयाँ और भोजन बाँटता रहता है। आजादी से पहले तक रेणु की रचनाओं की मुख्य समस्या बाढ़, मलेरिया और हैजा ही है। इस महामारी से मरते हुए प्राणियों को बचाने के लिए वे बार-बार डॉक्टर को, किसी-न-किसी रूप में गाँव लाते हैं। देखिए, एक साहित्यकार और एक राजनेता में यही फर्क होता है। साहित्यकार यह अच्छी तरह से जानता है कि महामारी से हमें डॉक्टर ही बचा सकता है। विज्ञान के पास ही इसका इलाज है। रेणु का कोई भी पात्र ताली, थाली, घंटी या शंख नहीं बजाता। एक और बात यहाँ मैं जोड़ना चाहता हूँ। अभी कुछ दिन पहले कोरोना माई का जन्म हुआ है। गाँव की महिलाएँ पूजा वैगरह कर रही हैं। ऐसे वीडियो सामने आ रहे हैं। लोक का यह रूप आपको साहित्य में दिख जाएगा। भोली-भाली निराश और लाचार जनता के सामने अंत में यही विकल्प बचता है। इस चीज को रेणु के साहित्य में देखा जा सकता है। लोक में कोसी के तांडव को रोकने के लिए कोसी मैया की पूजा की जाती है। जब जान पर बन आती है तब गाछ-बिरीछ, नदी-पोखर भी पूजे जाते हैं। आप रेणु की 'बट बाबा' कहानी को याद कीजिये। चेचक भी एक महामारी ही है, लेकिन इसे भी बड़ी मैया और छोटी मैया के नाम से पुकारा जाता है। आज इसका इलाज उपलब्ध है, लेकिन एक समय नहीं था।

खैर, हम 'इतिहास, मजहब और आदमी' कहानी पर बात कर रहे थे। इस कहानी में रेणु ने दिखाया है कि कैसे किसी आपदा को हिंदू-मुसलमान में बदल दिया जाता है। इस कहानी में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का भी जिक्र है। रेणु इसे भारत के लिए एक खतरा के रूप में देखते हैं। यह दल आपदा के समय दिखाई नहीं देता। भूखे और बीमार मुल्क में किसी को धर्म के नाम पर कैसे लड़वाया जाता है,

इसका जीवंत उदाहरण है 'इतिहास, मजहब और आदमी'। रेणु का 1947 का डर आज सच हो गया है। आज देश पर 'कालीवर्दी' राज कर रही है। उसके इशारे पर देश चल रहा है। इस कहानी के नायक का मानना है कि 'इस बिगड़ते हुए इतिहास के पन्नों को फाड़कर जलाना होगा'। है किसी में हिम्मत इस इतिहास को जलाने की?

आपदा को अवसर में किस तरह से बदला जाता है इस चीज को रेणु ने बहुत अच्छी तरह से 'पुरानी कहानी : नया पाठ' में दिखाया है। यह आपदा किसी के लिए मुसीबत बन कर आई है तो कोई इसी में चमक जाना चाहता है। वह आपदा में अवसर की तलाश कर लेता है। रेणु की इस कहानी में आप देख सकते हैं कि मंत्री, स्वयंसेवक से लेकर व्यापारी तक सभी बाढ़ का फायदा उठाना चाहते हैं और उठाते भी हैं। आप इस कहानी को पढ़ते हुए बाढ़ की जगह कोरोना महामारी रख दीजिये, इस अवसर की असलियत आपके सामने खुल जाएगी। यह महामारी किसके लिए अवसर बनकर आई है यह आप जान जाएंगे। यदि आप इस अवसर का लाभ उठाना चाहते हैं तो इसकी राह भी दिख जाएगी।

आज हम जिस देश में हैं वह गांधी का देश नहीं है। अब हमारा देश बदल गया है, अब यहाँ गांधी की पूजा नहीं होती। आज गांधी को अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए बेचा जा रहा है। उनकी अहिंसा का गलत मतलब निकाला जा रहा है। रेणु ने इस चीज को गांधी जो की मृत्यु के बाद 1949 में ही देख लिया था। 'धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे' कहानी में रेणु ने नकली गांधीवादियों की जमकर खबर ली है। आज जो रातों-रात लोगों की निष्ठा बदल जा रही है, उसको रेणु ने बहुत पहले ही दिखा दिया है। राजनीतिक पार्टियों के लिए व्यक्ति या निष्ठा नहीं पैसा और हैसियत महत्वपूर्ण है।

रेणु के साहित्य को पढ़ते हुए हमें लगता है कि यह आज की ही रचना है। जो चीजें हमारे सामने घट रही हैं, जिन समस्याओं से हम जूझ रहे हैं उसे रेणु ने बहुत पहले ही देख लिया था।

‘किसी भी पार्टी में दमखम नहीं है कि जमीन के सवाल को लेकर लड़ाई लड़े, न ही किसानों और भूमिहीनों को किसी के कार्यक्रम पर भरोसा है।’ यह कथन रेणु का है। आज देश में नए कृषि कानून के विरोध में किसानों का आंदोलन चल रहा है। किसानों का कहना है कि सरकार इस कानून को निरस्त करे और सरकार है कि पीछे हटने का नाम नहीं ले रही। सरकार की इस जिद ने कई किसानों की जानें ले ली है। ठंड और बारिश की मार को झेलते हुए वे पिछले कई दिनों से सिंधु बार्डर पर आंदोलन कर रहे हैं। उनका कहना है कि नया कृषि बिल मंडियों को खत्म कर देगा और निजी कंपनियों को बढ़ावा देगा, इससे उनकी फसल का उचित मूल्य नहीं मिलेगा। समय के साथ महंगाई और बढ़ेगी। किसानों की लड़ाई सिर्फ उनकी अकेले की लड़ाई नहीं है। वे हमारे और आपके लिए भी लड़ रहे हैं।

रेणु का मानना है कि देश की वास्तविक ताकत किसान और मजदूर हैं, लेकिन आज इनकी ही दशा शोचनीय हो गई है। यही सबसे अधिक पीस रहे हैं। ‘नए सबरे की आशा’ रिपोर्टाज में वे ‘करोड़ों-करोड़ों शोषितों, पीड़ितों, मेहनतकशों की भूखी अतड़ियों, सूखी हड्डियों, खाली दिमाग और निराश दिल में हरकत पैदा करने की, गति लाने की कोशिश करते हैं’। रेणु का चुन्नीदास सरकार की सच्चाई को उजाकर करते हुए कहता है-‘ब्योधा जाल पसारा रे हिरणा, ब्योधा जाल पसारा’, यहाँ ब्योधा सरकार को कहा गया है और हिरण देश के भोले-भाले किसानों को। वे मुँह से गांधी का नाम उच्चारते हैं और मौका मिलते ही गला भी काटते हैं। किसान, मजदूर सरकार द्वारा बिछाये गए जाल को देख तो लेते हैं पर उससे उबर नहीं पाते। रेणु का एक किसान आजाद भारत की स्थिति को बताते हुए कहता है – मिला नहीं है अन्न पेट भर/ नहीं देह पर साबित बस्तर/ बेदखली

अब भी जारी है।’ कृषि और किसानों की दुर्दशा की वजह यह है कि, ‘डुबाया उसने कशती को/ जिसे हम नाखुदा समझे।’

हमारे यहाँ कभी कहा जाता था, ‘उत्तम खेती माध्यम बान/ निकृष्ट चाकरी भीख निदान।’ अर्थात्, सबसे अच्छी खेती है, फिर व्यापार और अंत में नौकरी और जब इनमें से कुछ भी न मिले तो भीख माँगकर गुजारा करो। इस लोक कहावत में नौकरी को महत्व नहीं दिया गया है। लेकिन आज यह परिभाषा उलट गई है। खेती करने वाले किसान आज नौकरी की तलाश में दर-बदर भटक रहे हैं। उनके लिए आज खेती ही निकृष्ट हो गई है। उससे इतनी भी उपज नहीं हो रही कि वे अपने परिवार का भरण पोषण कर सकें।

(चार)

जन्मशती वर्ष के अवसर पर रेणु को तरह-तरह से याद किया जा रहा है। फेसबुक पर लगातार संवाद हो रहे हैं। कई पत्रिकाओं के रेणु पर केंद्रित अंक आ चुके हैं और काइयों के आने बाकी हैं। ‘मुक्तांचल’ पत्रिका के इस रेणु विशेषांक अंक में यह कोशिश की गई है कि रेणु का संपूर्ण मूल्यांकन हो सके, यद्यपि कोई भी मूल्यांकन कभी भी संपूर्ण नहीं होता। इस प्रयास में मैं कहाँ तक सफल हो पाएँ हूँ, इसका निर्णय आप सभी पाठक करेंगे। इस अंक को निकालने में सभी लेखकों का भरपूर सहयोग मिला। सभी लोगों ने समय से आलेख दिए। इसके लिए मैं हृदय से आप सभी लेखकों का आभारी हूँ। पत्रिका की संपादक डॉ. मीरा सिन्हा जी के प्रति भी हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ कि उन्होंने मुझे इस दायित्व के लायक समझा और मुझपर विश्वास किया। प्रस्तुत है आप सभी के समक्ष ‘मुक्तांचल’ पत्रिका का फणीश्वरनाथ रेणु विशेषांक। आप अपनी प्रतिक्रिया से हमें जरूर अवगत कराएँ। ताकि भविष्य में हम कुछ और बेहतर कर सकें।

रेणु जी का कोना

गोपेश्वर सिंह

पटना के कॉफी हाउस का वह कोना यादों में अब भी झिलमिलाता है जिसे 'रेणु जी का कोना' कहा जाता था। कॉफी हाउस अब नहीं है, उसकी जगह एक बड़ी-सी बिल्डिंग है जिसमें कई चमकती हुई दुकानें हैं। डाक बंगला रोड से जब भी गुजरता हूँ तो उस जगह पर नजर जरूर पड़ती है और पैर रुक-से जाते हैं। कॉफी हाउस के लिए एक समय दीवानगी- सी थी। दिल में हूक-सी उठती है और एक शेर बरबस याद आता है:

गम से नाज़ुक ज़ब्त-ए-गमकी बात है

ये भी दरिया है मगर ठहरा हुआ

यह ईमारत तो इबादतगाह है

इस जगह एक मयक्रदा था क्या हुआ।

1960 के दशक में खुला था पटना में कॉफी हाउस। कहा जाता है कि रेणु जी कॉफी हाउस खुलने से बहुत आह्लादित थे। उद्घाटन के दिन वे कुछ पहले पहुँच गए थे और जब विधिवत कॉफी हाउस का दरवाजा खुला तो भीतर बैठकर कॉफी पीने वाले वे पहले ग्राहक थे। तब से कॉफी हाउस शाम को पहुँचने का उनका एक सिलसिला-सा बन गया था। पटना में होते तो कॉफी हाउस जरूर जाते।

फणीश्वरनाथ 'रेणु' के प्रथम दर्शन मैंने कॉफी हाउस में ही किए थे। 1972 की बात है। कॉलेज में दाखिला अभी लिया ही था कि 'धर्मयुग' या 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' या किसी अन्य पत्रिका में रेणु जी की लंबे बालों वाली खूबसूरत-सी तस्वीर छपी। यूँ तो उनकी तस्वीरें हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं में छपती ही रहती थीं, लेकिन उस तस्वीर ने मन मोह लिया। देवदूत-से लगते उस लेखक-से मिलने की इच्छा बलवती हो उठी। 'मैला आँचल', 'परती परिकथा', 'तीसरी कसम' आदि उनकी रचनाएँ मैं पढ़ चुका था। 'तीसरी कसम' फिल्म देख चुका था। उन रचनाओं और फ़िल्म का मन-मिजाज़ पर जादुई प्रभाव था। तभी ये तस्वीर आई थी। अपने जवारी मित्र ध्रुप प्रसाद को, जिसे हमलोग प्रायः 'ध्रुप' कहते थे, मैंने एक पत्र लिखा कि मैं रेणु जी को देखना चाहता हूँ। अगले सप्ताह ध्रुव का पत्र आया कि पटना आ जाओ- तुम्हें रेणु जी के दर्शन करा दूँगा।

मैंने थोड़े पैसों के जुगाड़ किए और पहलेजा घाट जाने वाली बस से चल पड़ा। पहलेजा घाट से स्टीमर द्वारा पटना के महेन्द्रू घाट पर मैं पहुँचा। ध्रुव बहुत देर से मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। वह मुझे लेकर पैदल ही कॉफी हाउस चल पड़ा। तब मैं लगभग पहली ही बार पटना नगर को देख रहा था। मुझे ऐसा महसूस हो रहा था कि लंदन की सड़कों पर घूम रहा हूँ। इंडियन कॉफी बोर्ड द्वारा संचालित कॉफी हाउस पहुँचकर बाहर सड़क पर हम खड़े हो गए जिसे डाक बंगला रोड कहा जाता है। ध्रुव ने कहा

कि रेणु जी यहाँ प्रतिदिन शाम को आते हैं। हम खड़े-खड़े प्रतीक्षा करने लगे।

शायद अक्टूबर का महीना था। हम तीन बजे ही कॉफी हाउस के गेट पर पहुँच गए थे। लगभग पाँच बजे तक हम खड़े रहे और देवदूत-से लगने वाले अपने प्रिय लेखक की प्रतीक्षा करते रहे। लगभग पाँच बजे एक रिक्शा रुका। उस पर सफ़ेद पाजामा और सफ़ेद कुर्ता पहने हुए रेणु जी बैठे थे। रिक्शा गेट पर रुका। रेणु जी ने रिक्शा वाले से कुछ कहा और कॉफी हाउस की ओर बढ़-से चले। हम दोनों एक पान की गुमटी के पीछे छिप गए और उन्हें कॉफी हाउस के भीतर जाते हुए देखते रहे। कुल एक से दो मिनट हमने उन्हें देखा और वे ओझल हो गए। उसके बाद हम देर तक उस दरवाजे की ओर देखते रहे। कुछ देर बाद हम दोनों ने कांच के दरवाजे से भीतर झाँक कर देखा तो रेणु जी कुछ लोगों से घिरे हुए दिखाई पड़े।

पहली बार रेणु जी के दर्शन का इतना ही अवसर मिला। आज सोचता हूँ कि हमने आगे बढ़कर उनके चरण स्पर्श क्यों नहीं किए? हमने यह क्यों नहीं कहा कि हम आपसे मिलने ही इतनी दूर से आए हैं, कि हम आपके पाठक हैं, कि हमें तो आप देवदूत-से लगते हैं-आदि, आदि? अब अनुमान करता हूँ कि हम ऐसा करते तो वे प्रसन्न होते। संभव है वे हमें भीतर ले जाते और हमें कॉफी भी पिलाते, कुछ देर बातें भी करते। लेकिन हमने ऐसा क्यों नहीं किया? किस बात से डर रहे थे? अब सोचता हूँ तो लगता है कि हमारे भीतर आत्मविश्वास की कमी थी। तब तक हम अपने स्कूल-कॉलेज के अध्यापकों के अलावा किसी लिखने-पढ़ने वाले प्रसिद्ध आदमी से मिले नहीं थे। एक अर्थ में हमारा 'एक्सपोजर' नहीं था। हमारे भीतर इतना भी आत्मविश्वास नहीं था कि हम अपने प्रिंसिपल से सहजतापूर्वक बात कर सकें। रेणु जी तो फिर भी रेणु जी थे !

'तीसरी कसम' फिल्म के लेखक रेणु जी के दर्शन का सम्मोहन जब कुछ कम हुआ तो हम ध्रुव के घर

चले। घर क्या था, राजेंद्रनगर में एक वकील साहब का गैराज था। ध्रुव के पिता भागवत प्रसाद बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् में चपरासी थे। वे इतने कंजूस थे कि कभी जीवन में उन्होंने किराए का कमरा नहीं लिया। योंही किसी के गैराज, किसी के बरामदे में जीवन काटते रहे। ध्रुव पढ़ता था और उन्हीं के साथ उस गैराज में रहता था। मैंने पिता-पुत्र का बनाया हुआ भोजन उसी गैराज में किया और वहीं रात काटी। रेणुजी को देख लेने के उत्साह में तब मुझे गैराज में सोना कुछ भी असहज नहीं लगा। लेकिन सुबह होने और नींद से जगने से पहले एक और घटना घटी, जिसकी चर्चा जरूरी है।

कॉफी हाउस से लौटने और भोजन होने तक ध्रुव रेणु जी के बारे में और बहुत-सी बातें बता चुका था। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् का कर्मचारी होने के नाते भागवत प्रसाद का पटना के बहुत से लेखकों से परिचय था। इस नाते ध्रुव की भी थोड़ी जान-पहचान थी। परिषद् पुस्तकालय से किताबें लेने देने में या परिषद् के किसी काम से भागवत प्रसाद का लेखकों के यहाँ आना-जाना था। किसी-किसी के यहाँ ध्रुव भी जाता था। उसके पास लेखकों के बारे में कहने को बहुत कुछ था। वे सारी बातें सुनी सुनाई थीं, उसका अपना अनुभव बहुत कम। रेणु जी कहाँ-कहाँ जाते हैं, कॉफी हाउस में रेणु जी के साथ कौन-कौन लोग बैठते हैं, कॉफी हाउस से निकलने के बाद वे जहाँ पान खाते हैं, जहाँ से कोका कोला की बोतलें खरीदते हैं, राजेंद्रनगर 'मैग्जीन कॉर्नर' से पत्रिकाएँ खरीदते हैं, देर रात तक जगते हैं और सोकर दोपहर में उठते हैं आदि आदि। उसकी बातों में डॉ. रामवचन राय का नाम बार-बार आता। वे कॉफी हाउस में रेणु जी के कोने के स्थायी सदस्य थे। वे पटना विश्वविद्यालय के अध्यापक थे और ध्रुव का उनके यहाँ आना-जाना था। मैं उनके कुछ लेख 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिंदुस्तान', 'ज्योत्सना' आदि पत्रिकाओं में पढ़ चुका था। रेणु न सही, रेणु के एक जूनियर मित्र से ही प्रत्यक्ष मिल लिया जाए और कुछ

बातचीत कर ली जाए, यह ख्याल मन में आया और हम रामवचन जी से मिलने दस साढ़े दस बजे रात को निकल पड़े।

रामवचन जी तब भिखना पहाड़ी मुहल्ले में अकेले रहते थे। हम पहुँचे तो उनके घर में ताला लगा हुआ था। अगल-बगल से मालूम हुआ कि वे अकेले रहते हैं और कब घर वापस लौटेंगे कहा नहीं जा सकता। अब हम क्या करें? हमने तय किया कि बिना मिले नहीं लौटेंगे। रात के ग्यारह बज रहे थे। हमने सोचा कि आधा घंटा-पौन घंटा में लौट आएँगे और हम भिखना पहाड़ी की सड़क पर गपशप करते हुए टहलते रहे। काफी देर बाद लगभग एक बजे रामवचन जी आते हुए हमें दिखे। ध्रुव ने मेरा परिचय दिया और यह बतलाया कि लगभग दो घंटे से आपके दर्शनार्थ हम यहाँ सड़क पर टहल रहे हैं। वे कुछ बोले नहीं। हमें लेकर अपने घर गए। झाड़ंग रूम में बैठाया और दो कप चाय बनाई। हम दोनों के सामने रखकर बैठ गए। एक बजे रात को धमके हम 'साहित्य प्रेमियों' के कारण वे झुंझलाए जरूर होंगे, लेकिन हाव-भाव से प्रकट न होने दिया। हमने रेणु जी के संबंध में कई तरह की जिज्ञासाएँ प्रकट कीं। बहुत कम बोलने वाले रामवचन जी ने न सिर्फ हम लोगों की जिज्ञासाओं के जवाब दिए, बल्कि और कई अन्य बातें भी बतायीं। आज जब अपने साहित्य-प्रेम नहीं, साहित्यकारों के प्रेम के बारे में सोचता हूँ तो अपनी उस दीवानगी पर हैरत होती है। इसी दीवानगी के साथ मैं बहुतेरे साहित्यकारों से मिलने जाता रहा हूँ।

1974 के जेपी आंदोलन से पटना सहित बिहार का हर कोना आंदोलित हो उठा था। छात्रों-नौजवानों के साथ किसानों और बुद्धिजीवियों की बड़ी जमात जेपी के साथ उठ खड़ी हुई। 'सच कहना अगर बगावत है तो समझो हम भी बागी हैं' तथा 'हमला चाहे जैसा होगा, हाथ हमारा नहीं उठेगा' जैसे नारों से पूरा बिहार गूँजने लगा। 'जयप्रकाश का बिगुल बजा तो जाग उठी तरुणाई है, तिलक लगाने तुम्हें जवानों क्रांति द्वार पर आई है' राम गोपाल दीक्षित

का यह गीत प्रायः हर नुक्कड़, हर चौराहे पर सुनाई देने लगा। ऐसे ही समय में फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने लेखकों-कलाकारों की टोली तैयार की और चौराहों-नुक्कड़ों पर व्यवस्था विरोधी कविताएँ और भाषण होने लगे। ऐसे आंदोलन-धर्मी माहौल में जो कविताएँ लिखी गईं और सुनाई गईं उन्हें 'नुक्कड़ कविता' कहा गया। नागार्जुन की 'इंदु जी, इंदु जी, क्या हुआ आपको/सत्ता के मद में भूल गई बाप को' जैसी कविता इसी दौर में लिखी गई और नुक्कड़-चौराहों पर सुनाई गई। कवि सत्य नारायण की- 'जुल्म का चक्का और तबाही कितने दिन, हम पर तुम पर सर्द सियाही कितने दिन?' इन्हीं दिनों नुक्कड़ कविता के रूप में खूब प्रसिद्ध हुई। परेश सिंहा, गोपी वल्लभ सहाय, रामवचन राय, रवींद्र राजहंस, बाबूलाल मधुकर आदि कवि इस दौर में अपनी नुक्कड़ कविताओं के कारण खूब लोकप्रिय हुए। इस तरह के नुक्कड़ काव्य-पाठ के मुख्य प्रेरणा पुरुष फणीश्वरनाथ 'रेणु' थे। ऐसे नुक्कड़ आयोजनों में हमने कई बार रेणु जी को देखा।

एक रैली का नेतृत्व करते हुए जयप्रकाश जी पर जब पुलिस ने लाठियाँ बरसाईं तो नागार्जुन की यह कविता प्रकाश में आई- 'जयप्रकाश पर पड़ी लाठियाँ लोकतंत्र की.....' लाठी प्रहार के विरोध में होने वाली रैली में रेणु जी ने विरोध स्वरूप अपनी पद्मश्री की उपाधि यह कहते हुए लौटा दी कि अब यह 'पापश्री' है। इस अवसर पर रेणु ने बिहार सरकार से मसिजीवी लेखकों-कलाकारों को मिलने वाला ढाई सौ या तीन सौ रुपये का मासिक वजीफ़ा वापस कर दिया। जनता ने नारे लगाए। हमारा सीना अपने लेखक की इस कार्यवाही से चौड़ा हो गया। हम कहने लगे कि लेखक को ऐसा ही होना चाहिए।

लेकिन रेणु जी से मिलने का मौका हमें न मिला। एक बार हमने कुमार प्रशांत को पत्र लिखा कि हम अपने जिला में छात्र संघर्ष समिति के आयोजन में रेणु जी को बुलाना चाहते हैं। कुमार प्रशांत ने लिखा कि हम सीधे रेणु जी को पत्र लिखें। हमने रेणु जी

को पत्र लिखा जो शायद उन्हें नहीं मिला। एक बार हथुआ (गोपालगंज) में छात्र संघर्ष समिति के आयोजन में कर्पूरी ठाकुर से भी हमने रेणु जी को बुलाने की माँग की। कुल मिलाकर यह कि रेणु जी कोई राजनीतिक नेता तो थे नहीं कि दूर-दूर तक दौरा करें, इस तरह अपने जिले में उन्हें बुलाने और कुछ देर उनके साथ होने का सुख नहीं मिला। सोचता था कि जब पटना जाऊँगा तो मैं भी कॉफी हाउस में रेणु जी से आग्रह करके उनके आस-पास बैठूँगा और उन्हें सुनूँगा। लेकिन जब मैं पटना अक्टूबर 1978 में पहुँचा तब तक रेणु जी का दुखद निधन हो चुका था। कॉफी हाउस तो था और मैं कॉफी हाउस जाता भी था लेकिन- अब न रहे वे पीने वाले, अब न रही वह मधुशाला।

रेणु जी के अभाव में रेणु जी का कोना खाली खाली-सा लगता था। वहाँ अब भी रामवचन राय, अख्तर हुसैन, बजरंग सिंह, सूर्यनारायण चौधरी आदि समाजवादी जन बैठते थे। मैं आमतौर से उस टेबल पर बैठता था जहाँ कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह, राम निहाल गुंजन, हरिहर प्रसाद, राणा प्रताप, जितेंद्र राठौर, नचिकेता, रंजीत वर्मा आदि कवि साहित्यकार बैठते थे। हम पाँच बजे के आसपास कॉफी हाउस पहुँचते और आठ बजे बंद होने तक वहाँ बैठते और विभिन्न बिंदुओं पर बात करते। बिल का भुगतान आमतौर से हरिहर प्रसाद या नचिकेता करते। हम में से कोई अन्य कभी-कभार ही करता। ऐसा क्यों होता, मैं कह नहीं सकता हूँ। लेकिन एक बड़ा कारण हमारे जेब की तंगी और उन मित्रों की उदारता होती। नचिकेता जनवादी गीत लिखते थे और हरिहर प्रसाद जनवादी कहानियाँ। वे 'प्रस्ताव' नाम से एक पत्रिका भी निकालते थे। जितेंद्र राठौर ने केंजी मियादावा नामक जापानी कवि की कविताओं का हिंदी अनुवाद 'बसंत और यायावर' नाम से किया था। इस कारण वे जापान भी घूम आए थे। 'ज़मीन की आग' नाम से उनका काव्य संग्रह छप चुका था। उसकी एक कविता हमारी जुबान पर थी:

मुज़रिम वो नहीं
जो क्रैंद है
मुज़रिम वो भी नहीं
जो गिरफ्तार है
मुज़रिम वो है
जो मंच पर बरकरार है।

राम निहाल गुंजन का नाम तो गीतकारनुमा है लेकिन वे लिखते आलोचना थे। रंजीत वर्मा आलोक धन्वा की कविता 'जनता का आदमी' और 'गोली दागो पोस्टर' जैसी कविताएँ लिखने की कोशिश करते। मैं उन दिनों पटना विश्वविद्यालय में एम.ए. की परीक्षा दे रहा था और पुस्तक समीक्षाएँ लिखकर अपने को आलोचक समझने के भ्रम में जी रहा था। हममें सर्वाधिक प्रतिष्ठा कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह की थी। उनका एक कविता संग्रह 'इतिहास का संवाद' छप चुका था और जनवादी कवियों के बीच उनका नाम आदर से लिया जाता था।

पटना नगर में खगेन्द्र ठाकुर, नंदकिशोर नवल, अरुण कमल, रामकृष्ण पाण्डेय, परवेज़ अख्तर, हंस कुमार पाण्डेय, अपूर्वानंद आदि प्रगतिशील लेखक संघ में सक्रिय लोगों की अलग जमात थी। ये लोग कॉफी हाउस प्रायः नहीं जाते थे। कभी कभार किसी से मिलने इनमें से कोई भले चला जाए। इनका, विशेषकर खगेन्द्र ठाकुर का मानना था कि कॉफी हाउस में समय बर्बाद होता है। ज्ञानेंद्रपति का तब तक एक संग्रह छप चुका था और वे नियमित कॉफी हाउस आते थे। उनके साथ अक्सर कर्मंदु शिशिर होते थे। ये दोनों आते, अलग कोने में बैठते, कॉफी पीते और चले जाते। दूसरों से बातचीत इनकी कम होती। मुझे लगता कि ये लोग अपने को विशिष्ट समझते थे। मेरा लगना गलत भी हो सकता है। नागार्जुन जब कभी पटना में होते तो शाम को कॉफी हाउस ज़रूर आते। उनका कोई एक टेबल या कोना नियत न था। वे थोड़ी-थोड़ी देर में कई टेबलों पर जाते, लोगों से बात करते और चले जाते। कुछ अन्य तरह के लेखकों, पत्रकारों और समाज कर्मियों की

टोलियाँ थीं जो नियमित कॉफी हाउस में बैठतीं और साहित्य तथा क्रांति के विभिन्न मुद्दों पर बात करतीं। मुझे लगता कि ये क्रांति पर बतियाने कॉफी हाउस क्यों आते हैं। उनके बाल और दाढ़ी बढ़ी होती, पाँव में अक्सर चप्पल होते, कंधे पर झोला। वे दो-चार की टोली में होते। उन्हें मैं क्रांतिकारी समझता था। लेकिन उन्हें क्रांति करते हुए मैंने कभी नहीं देखा। वे क्रांति के बारे में बात करते हुए बुझ गए।

कॉफी हाउस से थोड़ी दूर पर 'पारिजात प्रकाशन' था। प्रकाशन के मालिक लेखक राजनेता शंकर दयाल सिंह थे। वे पुराने साहित्यकार कामता प्रसाद सिंह 'काम' के पुत्र थे। वे कांग्रेस के सांसद थे और दर्जनों पुस्तक के लेखक। 'पारिजात प्रकाशन' उनका और उनसे जुड़े साहित्यकारों का अड्डा था। वे साहित्यकार, कांग्रेसी या गैर कांग्रेसी, गैर कम्युनिस्ट मिजाज के लेखक होते थे। शंकर दयाल जी के ठहाके प्रसिद्ध थे। कॉफी हाउस से निकलने के बाद हम कभी कभार पारिजात प्रकाशन जाते और पत्र-पत्रिकाएँ खरीदते। पारिजात में बैठने वाले लेखकों को हम प्रायः गंभीरता से नहीं लेते थे। आज कह सकता हूँ की यह हमारी अहमन्यता थी।

राजेंद्रनगर का वह चौराहा आज भी हमारी यादों में है जिसके किनारे एक छोटे-से फ्लैट में लतिका जी के साथ रेणु जी रहते थे। लतिका जी उस चौराहे पर कुछ सामान लेती हुई या कहीं आती-जाती हुई कभी-कभी दिखाई पड़तीं। सामने पड़ने पर हम आदर से प्रणाम करते। वे बहुत काम बोलती थीं। कभी-कभी हम रेणु जी के बारे में कुछ पूछते, पर वे कुछ जवाब नहीं देतीं। पटना से बाहर का कोई साहित्यकार आता तो हम उसे उस चौक पर ले जाते और वह फ्लैट दिखाते, जिसमें रेणु जी रहते थे।

हम कुछ मित्र सोचते कि काश इस चौराहे पर रेणु जी की एक मूर्ति होती और इस जगह का नाम रेणु चौराहा होता। लेकिन हमारे चाहने से क्या होता! 1990 के बाद, जब बिहार में लालू प्रसाद की

सरकार थी, इस जगह को लेकर विवाद छिड़ गया। रेणु समर्थक कुछ लोगों ने माँग की कि इस चौराहे का नाम 'रेणु चौराहा' हो। एक दूसरे ग्रुप की ओर से माँग उठी कि इस जगह का नाम 'रामावतार शास्त्री चौक' हो। रामावतार शास्त्री सी.पी.आई. के सांसद रह चुके थे। वे यादव जाति से थे। लालू प्रसाद सरकार को सी.पी.आई. का समर्थन प्राप्त था। रेणु चौराहे की माँग जिस ग्रुप ने उठाई उसमें अधिकतर रेणु जी की जाति के लोग थे। शास्त्री जी के लिए जिन लोगों ने माँग की वे अधिकतर यादव जाति के कामरेड थे। इन दोनों गुटों से अलग प्रेम कुमार मणि जैसे साहित्यकार थे, जो चाहते थे कि रेणु जी की ही मूर्ति वहाँ लगे और उस जगह का नाम 'रेणु चौराहा' हो। लेकिन हाथ रे राजनीति और जाति! जीत अंततः सरकारी पक्ष की हुई। रेणु समर्थक लोग एक-दूसरे का मुँह देखते रह गए। मूर्ति वहाँ रामावतार शास्त्री की लगी और उस चौक का नामकरण उनके नाम पर हुआ। लेकिन हम जैसे लोग उसे आज भी रेणु चौराहा ही कहते हैं। लेकिन हमारे कहने से क्या! बाद में रेणु की मूर्ति क्षतिपूर्ति के तौर पर कंकड़ बाग मुहल्ले में लगाई गई। लेकिन इस इलाके से रेणु की सक्रियता का कोई संबंध लगभग नहीं था।

अब उस जगह पर रेणु जी की कोई याद नहीं है। लतिका जी का निधन हो चुका है। रेणु जी को पहचानने वाले आसपास के दुकानदार भी नहीं रहे। वे भंगी औरतें भी अब नहीं रहीं जो लोहानीपुर के पहले कॉफी हाउस जाते हुए रेणु जी को मिलती थीं और छठ समेत तमाम तीज-त्यौहारों के प्रसाद रेणु जी को दिया करती थीं। अब सिर्फ हमारी स्मृतियों में कवि रवींद्र भारती के बताए हुए वे प्रसंग हैं कि रिक्शा से जाते हुए भंगी टोली की वे औरतें कैसे अधिकारपूर्वक प्रसाद देने के लिए रेणु को रोकती थीं और रेणु जी हाथ जोड़कर मुस्कुराते हुए प्रसाद ले लिया करते थे।

अब पटना में कुछ पुराने लोगों को छोड़ दें तो रेणु की स्मृति का कोई प्रतीक नहीं बचा है। वह चौराहा

भी राजनीति और जाति की दबंगई में दूसरे के नाम हो गया। कॉफी हाउस का वह कोना भी अब बहु मंजिली ईमारत में तब्दील हो गया। कॉफी बोर्ड का लीज़ जब ख़त्म हुआ तो उसे बचाने की प्रार्थना सरकार से पटना के साहित्यिक समाज ने की। लेकिन फणीश्वरनाथ रेणु की बैठकी का सबसे उज्ज्वल गवाह कॉफी हाउस बंद हो गया। साहित्यकार-राजनीतिज्ञ डॉ.जाबिर हुसैन के प्रयत्न से पटना आकाशवाणी के पास रेणु अतिथि गृह बना लेकिन वह भी सरकार की उदासीनता के चलते साहित्यकारों के उपयोग में नहीं है।

कॉफी हाउस में 'रेणु जी का कोना' अब भी हमारी यादों में झिलमिलाता है। रेणु जी के निधन के कुछ महीनों बाद की एक घटना याद आती है। एक बार मैं कॉफी हाउस पहुँचा तो रेणु जी वाले कोने में सोफे पर नागार्जुन बैठे दिखे। सामने कुछ पोस्टकार्ड रखे हुए थे। और पत्र लिख रहे थे। गर्मी का महीना था और शाम के चार बजे थे। लेखकों का वहाँ आना अभी शुरू नहीं हुआ था। चरण स्पर्श कर मैं सामने

बैठ गया। बाबा सामने के पोस्टकार्ड झोले में रखते हुए मेरी ओर मुख्रातिब हुए। शायद किसी बात न करने वाले के अभाव में वे चिट्ठी लिखकर समय काट रहे थे। मैंने पुछा कि बाबा एक दिन हमारे साथियों ने यह बात बताई कि आप किसी दिन डाक बंगला चौराहे पर फुटपाथी होटल में ज़मीन पर बैठकर रोटी खा रहे थे। उन्होंने 'हाँ' में सिर हिलाया। मैंने वही सवाल दुहराया। जो हमारे साथियों ने कुछ दिन पहले पुछा था। 'रेणु मजदूरों के उस होटल में रोटी खाते कि नहीं?' नागार्जुन ने शांत मन से कहा-'उस दिन भी कहा था, आज भी कह रहा हूँ. रेणु वहाँ रोटी नहीं खाते, पर वे उन लोगों के लिए गोली जरूर खा लेते। यह कहने के साथ नागार्जुन ने हाथ जोड़ लिए, मानों वे रेणु की स्मृति को नमन कर रहे हों।

कौन विश्वास करेगा कि देश-विदेश के सभी हिंदी विभागों में जिस रेणु की कोई न कोई कृति पढ़ाई जाती है, उसी रेणु की स्मृति का कोई कोना उस जगह नहीं है जो उनकी सक्रिय आवाजाही का गवाह था।

संपर्क : हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, Email : gopeshwar1955@gmail.com, M : 882672389

रेणु का महत्व पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांश'

रेणु का मस्तिष्क सही अर्थ में फ्रायड का मिस्टिक लेटरपैड है, जिसमें तद्वत् बाह्य का आग्रहण होता चलता है। रेणु देरिदा के उस परवर्ती सिद्धांत के पूर्ववर्ती निदर्शनकार हैं, जिसकी मान्यता यह निर्दिष्ट करती है कि भाषा वाचन के पूर्व लेखन है। इसे ही क्रोचे ने बाह्य का आभ्यन्तरीकरण कहा है। यह मूलतः क्रोचे की स्थापना और धारणा है। इसके बाद ही अंतर का बाह्यीकरण होता है। क्रोचे ने 'प्रतिमा' के विवेचन के क्रम में अपनी ये दो मौलिक स्थापनाएँ की थीं, जिसे हिंदी के मार्क्सवादी आलोचक और विश्वविद्यालयों के शिविरवादी आचार्य मुक्तिबोध की मौलिक स्थापना समझते हैं। अपरागतता कैसे मौलिकता बन कर प्रशंसित हो पाती है, उसका इससे उत्तम उदाहरण हिंदी में और कहीं नहीं मिलेगा। बाह्य का यह यथावत आभ्यन्तरीकरण ही मस्तिष्क का मिस्टिक लेटरपैड पर होने वाला लेखन है। यह आभ्यन्तरीकरण ही रेणु के यहाँ रिपोर्ताज की शैली बन जाता है। तद्रूपता का यह अभिव्यंजन या आन्तर का प्रस्तुतीकरण वाला बाह्यीकरण रेणु के लेखन का चरम उत्कर्ष है।

रेणु के हृदय में कविता की अनेक विध भंगिमाएँ हैं, जो उनके कथा-लेखन में अभूतपूर्व गद्यराग का सर्जन करती है। इस दृष्टि से रेणु अपने श्रेष्ठ हिंदी कथा-लेखन में मौलिक रूप में नई जमीन तोड़ने वाले अनन्वय कथाकार हैं। कथ्य के अनुरूप इसकी बाजीगरी रेणु को सिद्ध है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने प्रेमचन्द को 'उत्तर भारत की जनता का गाइड' कहा है। उनके इस कथन को स्मरण करते हुए मैं रेणु को उत्तर भारत के गाँवों का गाइड कहना चाहूँगा। रेणु अपने लेखन में सुख-दुःख जमींदारी, किसानी, वर्ग-वैषम्य, वर्ण-वैषम्य, प्रबल जाति-ग्रन्थि गांधीवाद, कांग्रेस पार्टी, समाजवादी पार्टी, साम्यवादी पार्टी, धर्म, प्रेम, काम-वासना, अवैध सबन्ध, चिकित्सा-उपचार, अशिक्षा, गरीबी, अर्थतंत्रात्मक स्वैच्छाचारी असंगतियों और लोकतंत्रात्मक विसंगतियों को कथा के माध्यम से ज्ञात कराने वाले बहुत बड़े समाजशास्त्री हैं। प्रेमचन्द जिस तरह साहित्य का लक्ष्य मनुष्य को ऊँचा उठाना मानते थे, उसी तरह रेणु भी मानते हैं। इसीलिए वह हमें हमारे क्षेत्र, हमारे देश में हमारा फैला मैला आँचल दिखाते हैं। पर वह यह मानते हैं कि इसी गंदगी में नीलोत्पल खिलेगा। वह मानते हैं कि मनुष्य बड़ा है। वह 'गिनिपिंग' नहीं है। उसे कोई परास्त नहीं कर सकता। वह विधेयात्मक उत्कर्ष प्राप्त कर सकता है। वह अपने जीवन के मैला आँचल को साफ कर निखार सकता है। पर हिंदी के त्रिभुवन सिंह जैसे आलोचक लेखक की भविष्यान्मुखता को समझ नहीं पाते हैं। मानव के शक्ति-सामर्थ्य और उसकी महानता के इस कथांश को पढ़ते ही अनायास वेदव्यास याद आने लगते हैं, जिन्होंने मानव-समाज को 'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि। नहि मानुषात् श्रेष्ठरंहि किंचित्' का संदेश दिया था। पर जब 'मैला आँचल' के उपान्त में उसकी सर्जनात्मकता से

यही संदेश मुखर होने लगता है तब वह मनुष्य के आत्मसामर्थ्य की प्रतीक्ष कराने लग जाता है।

रेणु के बायस्कोपिक मानस की पारदर्शिता में प्रतिबिम्बित उनका लेखन संरचनावादी है। उनके लेखन का फलक (Canvas) व्यापक (Wider) और साकल्यपरक (Wholeness Based) है। वह संरचनावादी लेखक हैं, जो जीवन और जगत को एक जैविक साकल्य (Organic whole) में देखते हैं। जिस तरह संरचनावादी लेखक जीवन को समग्रता में देखता और उसे अपनी रचना में उसी सामग्रता में रचता है, उसी तरह की अपनी कथा-सर्जना रेणु ने की है। 'मैला आँचल' इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। इसीलिए उसे 'लघुभारत' (Mini India) तक कह दिया गया है।

वैसे पाठक और आलोचक रेणु के कथा-साहित्य को नहीं समझ सकते, जो साहित्य में केवल वाक्यार्थ या अभिधेयार्थ तक सीमित रह जाते हैं। यह रेणु का संरचनावादी मानस ही है, जो पूरे गाँव की संरचना की स्थितिजन्य तनाव-स्थिति और उसकी एकान्विति को पर्त-दर-पर्त उद्घाटित कर देता है।

उत्तरसंरचनावाद ने पश्चिम में 1960 से आरंभ होने वाले दशक में अंतर-पाठीयता (Inter Textuality) की अवधारणा दी है। इस अवधारणा की मान्यता है कि कोई भी पाठ (Text) या साहित्य अपने-आप में शुद्ध मौलिक और निजी पाठ नहीं होता, बल्कि उस पाठ के रचने में उसका रचनाकार अपने से पहले रचे गए साहित्य-पाठों और वर्तमान में रचे जा चुके साहित्य-पाठों का अपने पाठ में संश्लेष करता है। वह उसके द्वारा अपनी रचना को सर्जनात्मकता और गहरी अर्थवत्ता प्रदान करता है। यही नहीं वह अपने पूर्व पाठों का भी अर्थ-विकास करता है। इस दृष्टि से रेणु एक अंतर-पाठीय कथाकार हैं। उन्होंने अपनी कृतियों में अनेक लोककथाओं, लोकगीतों, कलागीतों-प्रगीतों के अंतर-पाठों का सार्थक संश्लेष किया है और उससे अपने मन्तव्य को सार्थकता और सिद्धि प्रदान की है। विद्यापति, सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त

त्रिपाठी, निराला, रामधारी सिंह दिनकर आदि की कविताओं का अंतर-पाठ बहुत सटीक रूप में उनकी कथा-संरचना में सन्दर्भित होकर सिद्धि प्राप्त कर लेता है। उनकी यह मौलिकता है कि इस संकल्पना के आविर्भूत होने के एक दशक पहले ही वे अपने रचनाकाल (1950-1959) में वे इसका व्यावहारिक निदर्शन कर चुके होते हैं। रेणु के पूर्व हजारी प्रसाद द्विवेदी और अज्ञेय ने भी इसका सर्जनात्मक उपयोग अपनी उपन्यास-कृतियों में किया था।

रेणु ने पहली बार हिंदी में उस तथाकथित रस्टिक (Rustic) भाषा और रस्टिक गँवह जीवन-व्यापार को जिसे आज हम उपसंस्कृति (Sub-culture) कहते हैं, कथा-साहित्य में वर्णित, निरूपित और व्याख्यायित करने का साहस दिखाया। इसे उनके पहले और उनके समकाल का कोई कथाकार इस रूप में अंकित नहीं कर सका था। निर्मल वर्मा ने कथा-साहित्य पर बहुत गहराई से विचार करते हुए वर्तमान कथा-साहित्य में एक ऐसी स्थिति की संकल्पना की थी, जिसे उन्होंने 'उपन्यास का पुनर्जन्म' कहा था। संभव है, उन्होंने यह अर्थवान पद पश्चिम से प्राप्त किया हो। पर इससे कथा-लेखन की जिस स्थिति की ओर वह संकेत करना चाहते थे, उसकी आविर्भूति और सार्थकता रेणु के यहाँ प्राप्त होती है।

अपने लेखन में रेणु एक भारतीय अर्थशास्त्री भी हैं। नेहरू द्वारा आकल्पित भारत में जिसे उस युग का अर्थशास्त्री भी खुलकर नहीं कह सकता था, उसे रेणु ने 'मैला आँचल' में कह दिया है। प्रशांति मलेरिया और कालाजार जैसी बीमारी से ग्रस्त मेरीगंज क्षेत्र में इन पर अनुसंधान (रिसर्च) करने आया है। पर समय पूरा होते-न-होते वह इससे अधिक भयंकर और जटिल जिन बीमारियों का पता लगाता है, वह है जहालत यानी अशिक्षा और गरीबी। वह इनके कीटाणुओं को रेखांकित करता है। उन परिचित बीमारियों का तो दवाओं से उपचार संभव है। पर इनकी तो कोई दवा नहीं है। आजादी मिले तब छह (06) और आज इसके तिहत्तर (73) वर्ष पूरे हो चुके

है। पर आज भी गरीबी ज्यों-की-त्यों ही नहीं, आज वह उससे भी अधिक भयावह रूप ले चुकी है और शिक्षा को तो मत पूछिए। मानवीयता और बहुता, नैतिकता और ईमानदारी से रहित वर्तमान शिक्षा ने मर्यादा, दायित्व और कर्तव्य को भूलकर इसने जिस भ्रष्टाचार को जन्म दिया है, वह हमारी आँखों के सामने है। और जो अभी अशिक्षित हैं, उनकी पारी कब आ पाएगी, यह कौन बता पाएगा? बीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में प्रसिद्ध स्विस् अर्थशास्त्री गन्नार मिर्डल ने दो प्रसिद्ध पुस्तकें लिखीं-1. एशियन ड्रामा (चार खंडों में अंग्रेजी में प्रकाशित) और 2. पोवर्टी इन इंडिया। इस दूसरी पुस्तक में मिर्डल ने नेहरू-आकल्पित भारत की बुनियादी संकल्पना पर ही प्रहार किया है, जो नेहरू की औद्योगीकरण की संकल्पना थी। इस पुस्तक में उसकी जगह भारत की पहली नीति शिक्षा की और दूसरी कृषि की नहीं निर्धारित किए जाने की आलोचना की गई है और नेहरू की लागू की गई नीति को असमीचीन सिद्ध कर दिया गया है। रेणु मिर्डल से पंद्रह-सोलह वर्ष पूर्व इसकी पहचान कर चुके थे और इसे उन्होंने देश के भयानक रोग के रूप में निर्दिष्ट किया था। इसीलिए रेणु साहित्य-रुष्टा होने के बावजूद गहरी सामाजिक-राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि रखने वाले चिन्तक और विचारक थे।

कुछ सर्जक अधीती साहित्यकार होते हैं और कुछ आत्मलेखन तक ही सीमित होते हैं। हिंदी में चतुरसेन शास्त्री ने किसी और साहित्यकार का कोई भी लेखन आजीवन नहीं पढ़ा था। (यह उनका आत्म-स्वीकार है) पर रेणु ने हिंदी के आधुनिक श्रेष्ठ कवियों को पढ़ा था। क्या पन्त, क्या निराला और क्या दिनकर और क्या विद्यापति? इन सबका उपयोग उन्होंने अपनी सर्जना में किया।

‘निराला’ की एक अत्यन्त कारुणिक लघुकविता है- ‘गहन है यह अंधकार’! उसका पहला चरण है- “स्वार्थ ने अवगुंठनों से/हुआ है लुंठन हमारा/खड़ी है दीवार जड़ की होर कर/बोलते हैं लोग ज्यों मुँह फेर

कर/इस गगन में नहीं दिनकर/नहीं शशधर, नहीं तारा” ‘निराला’ की इस कविता पर बहुत कम आलोचकों ने गहराई में विचार किया होगा। कहते हैं, नलिन विलोचन शर्मा इन पंक्तियों को स्मृति से उचारते-दुहराते रो पड़ते थे। इसकी अर्थ-दीप्ति उन्हें व्याकुल कर देती थी। रेणु ने इस कारुणिक यथार्थ को अपने लेखन में भली-भाँति उद्घाटित कर दिया है। इन पंक्तियों की व्याख्यात्मक सर्जना करती हुई ममता ‘मैला आँचल’ में प्रशान्ति को पटना की स्थिति के विषय में पत्र लिखती है- “काले बाज़ार के अँधेरे में एक नई दुनिया की सृष्टि हो गई है, जहाँ सूरज नहीं उगता, चाँद नहीं चमकता और न सितारे ही जगमगाते हैं।” वह जागरूक करने वाली स्थिति रेणु के कथा-लेखन में विद्यमान है। वस्तुतः यह उनका ही कथान्वेदन है, जहाँ सही अर्थ में उपन्यास का पुनर्जन्म होता है।

कविता की दो गुणधर्मिता-आवृत्ति और सांगीतिकता- विशेषतः लयात्मकता रेणु के गद्यराग की प्राणधर्मा विशेषताएँ हैं। गेरार्ड मेनली हॉपकिन्स ने आवृत्ति को कविता की मूलभूत विशेषता और पहचान माना है। रोमन याकोब्सन इसी को ‘समान्तरता’ (Parallelism) कहते हैं, और जॉक देरिदा इसीको आवृत्ति कहते हैं। लोक-साहित्य में विशेषतः लोकगीत में ‘आवृत्ति’ उसकी प्राणधर्मा गुणात्मकता बन जाती है। रेणु स्वयं कवि रहे हैं। उनके कथा-लेखन में उनका कवि यत्र-तत्र-सर्वत्र मुखर हुआ है। कथाकार रेणु को क्या ध्वनि, क्या शब्द क्या वाक्य, क्या प्रोक्ति और क्या कथा-संरचना-सर्वत्र इस लयात्मक आवृत्ति की सिसृक्षा है और इसकी विवक्षा उनके यहाँ ऐसी है कि वह स्वयं इसके लिए अपनी कहानियों को ‘तुमरीधर्मा’ कह उठते हैं। तुमरी में बोल का बार-बार आवर्तन होता है, उसका दोहराव होता है। ‘तीसरी कसम’ में हिरामन तीन बार कसम खाता है अनेक बार उसकी पीठ में गुदगुदी लगती है। ‘मैला आँचल’ में यह तुमरीधर्मिता सर्वत्र व्याप्त है। उसकी अंतरपाठीयता में आने वाले

सारे लोकगीत इस ठुमरीधर्मिता को संपुष्ट करते हैं। कहना होगा कि रेणु के गद्यराग की सर्वोपरि विशेषता, ध्वनि के स्तर से लेकर कथन-वचन या प्रोक्ति के स्तर तक पर इसी ठुमरीधर्मिता की है। रेणु के द्वारा सटीक रूप में गृहीत चिंतन से निःसृत तथा उनके द्वारा प्रतिपादित यह 'ठुमरीधर्मिता', आवृत्ति का एक श्रेष्ठ मौलिक सैद्धान्तिक पारिभाषिक और पर्याय बन जाती है। संगीतकला के क्षेत्र से साहित्य में आनीत 'आवृत्ति' के लिए अनुपम पारिभाषिक बन गया है यह। यह है रेणु की देन।

'मैला आँचल' अपने विधान में एक लिरिकल उपन्यास है। कथानुविधान में उनका ठुमरीधर्मा होना मेरी इस स्थापना को संपुष्ट करता है। फिर भी उसमें भारत की आजादी के बाद का व्यापक ऐतिहासिक परिवेश है। मैं उसे तत्कालीन समाजशास्त्रीय उपनिषद के रूप में देखता हूँ। उस समय के समाज और देश का जितना व्यापक और गहन विश्लेषण हिंदी के इस साहित्यकार ने कर दिया है, वैसा विश्लेषण समाजशास्त्री श्यामाचरण दुबे के वश का नहीं था। यह उस समय के भारत का एक ऐसा समाजशास्त्रीय ज्ञानकोश है, जिसका संज्ञान लेकर तत्कालीन सही राजनेता अपने संकल्पित मन से अपने लिए करणीय की दिशा निर्धारित और निश्चित कर सकते थे और आज भी कर सकते हैं। इससे सामाजिकों को भ्रष्टाचार से आत्ममुक्त करने, रखने और समाज को भ्रष्टाचार-मुक्त करने हेतु अभिप्रेरणा प्राप्त की जा सकती थी। आज भी की जा सकती हैं। यदि रेणु के इस उपन्यास का अंग्रेजी अनुवाद हो चुका होता, तो मेरा यह विश्वास है कि 'मैला आँचल' नोबेल पुरस्कार प्राप्त कर सकता था।

रेणु नर-नारी की स्वाभाविक काम क्रीड़ा के चित्रोपम बिंबन तथा सांगीतिक गति-यति की क्रियात्मकता से जो उसका मौलिक अनुभवगम्य प्रत्यक्ष करा देते हैं वह विश्व-साहित्य में अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं हो सकता। ऐसे स्थलों पर वह अपनी स्मृति और कल्पना का जो मायामोहक संश्लेष करते हैं, वह

अद्वितीय है। प्रेमचन्द के गोदान का एक संदर्भ स्मरणीय है। झुनिया मंगल को जन्म दे चुकी होती है। इसके कुछ ही दिनों बाद गोवर झुनिया से कामाग्रह करता है। पर प्रेमचन्द ने वहाँ कामाग्रह शब्द का भी प्रयोग नहीं कर केवल 'आग्रह' शब्द का प्रयोग किया है, जिसे सुनकर झुनिया उसे कहती है- 'कितने पशु हो तुम'। काम का यह संदर्भ स्थूलता, मुखरता और दोनों के समान आवेग या सहमति का नहीं है। यह स्वाभाविक नहीं है। पर रेणु के यहाँ कमली और प्रशांत की कामक्रीड़ा आवेग, रक्त, मांसमज्जा और त्वचा की स्वाभाविक अद्वैतीकरण की क्रियात्मक क्रीड़ा है।

हिंदी कविता में प्रसाद ने कामायनी में श्रद्धा और मनु की काम-क्रीड़ा का बिंबात्मक प्रतीकीकरण के द्वारा सांकेतिक प्रत्यक्ष कराया है- दो काठों के संधि बीच/उस "निभृत गुफा में अपने/अग्निशिखा बुझ गई/जागने पर जैसे सुख-सपने।" सुरेंद्र वर्मा के उपन्यास 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' में काम-क्रीड़ा का खुलकर निरूपण किया गया है, पर वहाँ प्राकृतिक सहजता नहीं है। वहाँ प्रशिक्षणात्मक शब्द-कथन और प्रक्रिया-संकेतों का अभिव्यंजन है, जिससे वहाँ यह निरूपण या तो कामशास्त्रीय या वीभत्स हो उठता है या पाठक तक को कामोत्तेजित करने लग जाता है। वहाँ कलात्मक स्थिति के काव्यात्मक अभिव्यंजन का सर्वथा अभाव है। सांगीतिकता की मनोमुग्धता तो कही है ही नहीं। पर दूसरी ओर रेणु के कथ्य-निरूपण और वर्णन में काम-क्रीड़ा के एक-एक स्तर और उसकी परिणति सांगीतिकता के लयात्मक संकेतों से मुखर कर दी गई है। अनुपम है यह कथांश- "बिजली चमकी!

गुड़-गुड़म! गुड़-गुड़म!

रिं-रिं-ता-धिन ना

डिगा-दा-डिगा के मांदर और डिग्गदा के ताल पर दोनों की धुक-धुकी चल रही है, छम्म-छम्म! आज कमली इस इलाके में पहने जाने वाले सभी किस्म के गहनों से लदी है, बाँक, हँसुली, बाजू, कंगना, अनंत,

रेणु के देस में

चूर, झँझनी, यर्थात, झुनुक-झुनुक बजने वाली बेड़ियाँ, जिसे झँझनी कड़ा कहते हैं।...और वह तो देह की सिहरन पर भी खनकते हैं-

टुन-टुन-टुन,,

छम-छम!

गुड़गुड़म!

छम्म-छम्म छम्म-छम्म!

ओ !....प्रशांति महासागर!

टुन-टुन!

डॉक्टर! डा क ट र !

राजकमल.....!

कहना होगा कि यहाँ रति-क्रिया की गति-यति, उसकी एक-एक धड़कन-सिहरन, आवेग-त्वंरा लय और प्रशान्ति- इन सबके माध्यम से कथ्य प्रत्यक्ष और अनुभवगम्य हो उठता है। संगीत-कला का यह सान्दर्भिक कमाल अन्यत्र किसी भी भाषा-साहित्य के काम-क्रीड़ा निरूपण में दुर्लभ है।

रेणु की कहानियों के सामाजिक संदर्भों में अनेक निहितार्थ गर्भित-गोपित है, जिन्हें उद्घाटित करने की अभी अपेक्षा है। रेणु का कथा-साहित्य अपने देश, अपने काल, अपने पात्र, अपने समाज, अपने राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षिक और चिकित्सकीय संदर्भों को उजागर कर पाठक को ज्ञानवान बनाने वाला और चिंतन करने के लिए अभिप्रेरित करने वाला है। यह महज मनोरंजन कर चुक जाने वाला साहित्य नहीं है।

गुजराती साहित्यकार उमा शंकर जोशी ने 'मैला आँचल' की सर्जनात्मक भाषा को 'कटाक्ष' की भाषा कहा है। रेणु ने 'मैला आँचल' में अर्थ-द्योतन का यह काम कटाक्ष की भाषा से ही लिया है, जिसे ब्लैकमोर (Blackmur) भंगिमा (Gesture) कहते हैं। मनुष्यता में उनके इसी विश्वास के कारण 'मैला आँचल' में नौलोत्पल खिलता है। पर यह मुक्तिबोध के 'रक्तकमल' के विपरीत है।

रेणु भारतमाता के रोने की कारुणिकता को अपनी ठुमरीधर्मिता में मुखर करते हैं। पर इसे अब तक

कौन सुन पाए है? नागरिक? राजनेता? प्रशासक? राजनीतिक दल के सदस्य? या समाज-सुधारक? व्यास याद आते हैं- मैं दोनों बाँहें उठाकर पुकार-पुकार कर कह रहा हूँ, पर कोई नहीं सुनता। रेणु तो कथा की जुगत से इसे कहा भी तो उसे कौन सुन पाए है?

रेणु मिट्टी और मनुष्य से मुहब्बत करने वाले भावाकुल, पर चिन्तक कथाकार हैं। रेणु के चार साल बाद केदार नाथ सिंह भी मिट्टी और मनुष्य से मुहब्बत की अपेक्षा से उन्मथित होकर 'एक पारिवारिक प्रश्न' जैसी कविता की रचना कर जाते हैं। इसमें वह बताते हैं कि प्रेम का गुलाब रोपने के लिए कहीं कोई मिट्टी नहीं मिल पा रही है। जिस हृदय की मिट्टी में इसे रोपा जा सकता है उसके अनुकूल हृदय ही नहीं है- "मैं अपना नन्हा गुलाब कहाँ रोप दूँ?/ मुट्ठी में प्रश्न लिये/दौड़ रहा हूँ, वन-वन/पर्वत-पर्वत/ रेती-रेती/बेकार।" इससे चार वर्ष पहले ही रेणु मेरीगंज की कथा सुनाते और हृदय की मिट्टी में इस मुहब्बत के गुलाब को रोपने और विकसित करने की अप्रत्यक्षतः बात करते हैं।

बिहार की मिट्टी का एक महत्वपूर्ण साहित्यिक अवदान यह है कि उसने हिंदी को चार-चार महत्वपूर्ण गद्य-शैलीकार दिए हैं। इनमें तीन गद्य-शैलीकार रेणु से पहले हिंदी को मिल चुके हैं- 1.रामवृक्ष शर्मा, बेनीपुरी, 2.राजा राधिकरमण प्रसाद सिंह, 3.आचार्य शिवपूजन सहाय। चौथे गद्यशैलीकार के रूप में फणीश्वर नाथ 'रेणु' स्वयं आते हैं। पर रेणु इनमें सबसे आगे हैं। रेणु की गद्यशैली में स्थानीय रंगत, काव्यात्मकता, सांगीतिकता भंगिमा की विविधता और रिपोर्टाज की बिंबात्मकता के साथ-साथ उसकी यति-गतिपरकता का मनोहर योगदान मिलता है। गद्य को अमिताक्षरी रचना माना गया है। पर रेणु के रिपोर्टाज में यति-गति के प्रयोग और लयमयता की अर्थ-लहरियों के कारण उसमें संगीतिक काव्यात्मकता उसे हृदय गम्य बना देती है।

यद्यपि रेणु ने स्वयं अंचल (Region) और आंचलिक

उपन्यास (Regional Novel) की बात की है, पर उन्हें केवल आंचलिक उपन्यासकार के रूप में सीमित नहीं किया जा सकता। आंचलिकता कथ्य में नहीं, कथा की स्थलीयता में होती है, जिसे स्थानीय रंगत (Local Colour) कहा जाता है। वस्तुतः आंचलिकता होती है शिल्प-विधान और भाषा-शैली में। पर रेणु के प्रथम उपन्यास का कथ्य केवल मेरीगंज की स्थलीयता तक सीमित नहीं रहता। वह भारतीय ग्रामीण कथ्य का सर्वांगीण प्रतिनिधित्व करता है। अतः रेणु का मूल्यांकन केवल अंचल तक सीमित रह कर नहीं किया जा सकता। इसलिए रेणु का मूल्यांकन मुक्त रूप में बड़े फलक पर किया जाना चाहिए। रेणु की कथाकृति 'मैला आँचल' का शीर्षक पंत की 'भारत माता ग्रामवासिनी' कविता की एक पंक्ति- 'धूल-भरा मैला-सा आंचल' पर आधारित है। इस कविता-पंक्ति को रेणु ने अपने उपन्यास में आत्मसात किया है। मनुष्य के प्रति रेणु का अगाध विश्वास मनुष्य के प्रति उनके मानस का स्थायी भाव है। तभी वह मानते हैं कि मानव कोई 'गिनपिग' नहीं है। वह महानशक्ति-क्षमता से युक्त है। प्रश्न केवल उसके आत्म-जागरण का है। वह मैलापन की गहरी-से-गहरी धूल की पर्त को शत्रु-समुज्ज्वल बना देने में समर्थ है।

संस्कृत साहित्यकार मंखक ने लिखा है कि श्रेष्ठ साहित्यकार की बड़ी पहचान यह है कि वह भविष्यद्रष्टा होता है और भविष्य की जिन स्थितियों और भावी घटनाओं का उसे अनुमान हो जाता है, उन्हें वह अपने साहित्य में निरूपित भी कर देता है। इस निकष पर भी रेणु एक श्रेष्ठ और महान् साहित्यकार सिद्ध होते हैं। रेणु ने जिस भारत माता के जार-बेज़ार रोने की बात कही है, वह केवल उनकी तद्कालीनता का ही तथ्य-सत्य नहीं है, बल्कि इस स्थिति को भविष्यगर्भिता तक देखते हुए रचनाकार ने उसे सांतत्यक वर्तमान के रूप में उपस्थित कर दिया है। इसी प्रकार 'मैला आँचल' में लगाया जाने वाला 'जयप्रकाश जिंदा बाघ' का नारा भी है। यह

'जिंदा बाघ' के उच्चारण में हुई 'द' से घ जीभ की फिसलन नहीं है, बल्कि सोद्देश्य और साभिप्राय रूप में 'घ' के बतौर कथित और उच्चरित है। इसके लिखे जाने के ठीक इक्कीस (21) वर्षों बाद जयप्रकाश का 'जिन्दाबाघ' वाला रूप देश में देखने को मिलता है। ये दोनों ही स्थितियाँ परस्पर एक-दूसरे से संग्रथित रूप में जुड़ी हैं। कहना होगा कि रेणु जैसे साहित्यकार ने अपनी कृति में भारतीय राजनीति, प्रशासन और समाज-व्यवस्था की गहराई में पड़ताल करते हुए उसको अपनी कृति में जिस सीमा तक विचारणीय बना दिया, वहाँ तक भारत पर विचार करने वाले देश या विदेश के किसी समाजशास्त्री की पहुँच नहीं हो पाई। सोचता हूँ तो लगता है कि रेणु के दोनों उपर्युक्त कथनों में दूसरा कथन पहले कथन का उत्तर है। 'दुखारी प्रजा' (लोक) ने आँसू पोंछने-मिटाने के लिए बाघ की तरह की ही संकल्पदृढ़ता, संलक्ष्य-एकाग्रता और क्रियात्मक दृढ़ता की अपेक्षा है। इसे तथाकथित विकास का नारा देने वाले राजनीतिक दल और उनके लोक-नायक न देख पाए हैं और न देख पाएंगे। देश की इस आन्तरिक अवशता-विवशता की ओर सक्रिय होने की पारी भला कब आ पाएगी? काल और स्थल दोनों ही दृष्टियों से 'परती परिकथा' की परती का मानो निस्सीम रुदन-विस्तार है यह। रुदन की कारुणिकता में 'एपिकल' समस्या भले ही 'लिरिकल' प्रतीत होती हो, पर उसे समाधान तो 'एपिकल' ही चाहिए।

जब-जब मैं रेणु के कथा-साहित्य पर सोचता हूँ, तब-तब मुझे गांधी याद आते हैं। उन्होंने स्वतंत्र भारत के केंद्र में गाँव को रखा था। इसी के आधार पर वह भारत का विकास चाहते थे। आजादी मिलने के बाद की व्यवस्था गांधी के इस स्वप्न को यथार्थ बना सकती थी। पर ऐसा हो नहीं पाया। जवाहर लाल ने पश्चिमी आधुनिक नगरीकरण पर बल दिया। रेणु का 'मैला आँचल' गांधी के ग्राम-केंद्रण वाले स्वप्न का यथार्थ निरूपण है। इसीलिए डॉ. प्रशान्ति रोग के संक्रमण से जकड़े गाँव में रोग के कीटाणुओं

पर रिसर्च करने हेतु गाँव आता है। पर इस बीच शहर इसकी तुलना में कहीं अधिक गहरे रोग के संक्रमण से ग्रस्त हो जाता है। यह 'काला बाज़ार' का संक्रमण ही है, जो शहर को बुरी तरह अपनी गिरफ्त में ले लेता है। इसकी सूचना पटना से ममता प्रशांति को पत्र लिख कर देती है। इस कारण शहर का अँचल (क्षेत्र) और आँचल-दोनों ही मैला हो उठते हैं। 'काला बाज़ार' का मैल और इसके व्यापारियों के मन का मैल धीरे-धीरे शहर से गाँव की ओर भी जाएगा। इसे दिखाते हुए परोक्षतः रेणु गाँव से शहर की ओर होने वाले संभाव्य प्रस्थानीकरण को 'अनतगौन' को राकते हैं।

गाँव से शहर के प्रति उन्मुखीकरण को एक साथ हिंदी के अनेक उपन्यासों में निरूपित किया गया है। उदाहरण के लिए मैं यहाँ दो उपन्यासों को लेता हूँ। यह है प्रेमचंद का 'गोदान' और शिवप्रसाद सिंह का 'अलग-अलग वैतरणी' नामक उपन्यास। 'गोदान' में गोबर गाँव से शहर चला जाता है। 'अलग-अलग

वैतरणी' उपन्यास। दोनों में कई पात्रों का 'अनत गाँव' शहर की ओर होता है। पर 'मैला आँचल' में ऐसा नहीं होता। वहाँ गाँव से शहर की ओर उन्मुखीकरण नहीं है। रेणु के जीवन-विवेक चिंतन और लेखन की यह महत्वपूर्ण विशेषता है। उनका 'मैला आँचल' गांधीवादी ग्राम-केंद्रण पर बल देता है और इस अवधारणा को महत्वपूर्ण मानता है। पर यहाँ इस सारी अर्थगूँज को इतनी कलात्मकता से मुखर होने दिया गया है कि मुझे सहसा रिफ्लेक्शन (फ्रांसीसी साहित्य-चिन्तक) की परासंदेशीय (Hypograinic) और जॉक देरिदा (फ्रांसीसी दार्शनिक और भाषाशास्त्री) की अभिव्यक्त में निहित अव्यक्त की संकल्पना याद आ जाती है। निश्चय ही यह कलात्मकता रेणु के साहित्य-विवेक का प्रमाण है। भारत का सही विकास केवल तकनीकी उपकरणों के आयात और निर्माण से नहीं होगा, बल्कि मनुष्य के आन्तरिक विकास और मनुष्यता के सही विकास से ही संभव हो पाएगा।

संपर्क : 'साईकृपा' 58, लाल ऐविन्यू, डाकघर- छेहर्टा, अमृतसर, पिन-143105 (पंजाब), मो. 09878647468

राष्ट्र निर्माण की चिंता और रेणु

सुरेंद्र नारायण यादव

रेणु एक सरोकारी एवं महान राष्ट्र निर्माता रचनाकार थे। एक लेखक के रूप में उनकी चिंता भारत को सुखी; समृद्ध एवं समुन्नत राष्ट्र बनाने की थी। वे भारत को सामंतवादी मानसिकता से मुक्त एक सफल और श्रेष्ठ गणतंत्र बनाना चाहते थे। उनकी रचनाएँ राष्ट्र निर्माण की उनकी चिंताओं और योजनाओं से लबरेज हैं। बावजूद इसके उन्हें आंचलिक रचनाकार कहा और माना जाता रहा है। यह कतई सच नहीं है और इस तरह की मान्यता उनके महत्व को कमतर आँकने की कुत्सित प्रवृत्ति का परिचायक भी है। यहाँ यह साफ कर देना मैं आवश्यक समझता हूँ कि साहित्य की पद्धति चीजों को उपस्थापित करने की वही नहीं होती जो योजना आयोग अथवा नीति प्रतिपादक आलेखन की होती है। साहित्य कलावस्तु है। इसलिए उसकी पद्धति विज्ञान और शास्त्र की पद्धति से भिन्न होती है। शास्त्र तथ्यों और आँकड़ों में बोलता है। जबकि साहित्य संकेतों, घटनाओं और स्थितियों के माध्यम से बोलता है। साहित्य सबकुछ खोलकर नहीं कहता। यह उसकी संविदा के विरुद्ध है। सब कुछ खोलकर कह देनेवाला साहित्य साहित्य नहीं रहता वह घोषणापत्र हो जाता है। रेणु एक महान साहित्यकार इस कारण से हैं कि उनकी रचनाओं में उच्च कोटि के साहित्यिक गुण मौजूद हैं। किंतु साहित्य का वस्तुगत मूल्य उसमें निहित विचारों, चिंताओं और कार्यक्रमों की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता पर निर्भर करता है। साहित्य को समझने में पाठक का विवेक महत्वपूर्ण होता है। समीक्षक इस कार्य में उसकी सहायता करता है। रेणु को दुःख इस बात का भी है उनकी चिंताओं और सरोकारों को ठीक से समझा नहीं गया। अपनी रचनाओं में वे अपने दुःखों को कभी सीधे तो कभी प्रकारान्तर से व्यक्त करते रहे हैं। राष्ट्र निर्माण से जुड़ी उनकी चिंताएँ और योजनाएँ भारत के राष्ट्रीय यथार्थ के सूक्ष्म और गहन पर्यवेक्षण पर आधारित हैं। इस कारण उनमें समाजशास्त्रियों की गहन वैज्ञानिकता उपलब्ध होती है और निष्कर्षों की फलप्रदता का बहुत ऊँचा गणनात्मक मान भी पाया जाता है। उदाहरणों से देखें तो उनके लेखन की शुरुआत ही राष्ट्र निर्माण के उपक्रम से होती है। 'मैला आँचल' उनका पहला उपन्यास है और उसकी शुरुआत मेरीगंज नामक गाँव में मलेरिया सेंटर की स्थापना की कोशिशों से होती है। रेणु ने अपनी भूमिका में ही स्पष्ट कर दिया है कि मेरीगंज भारत के पिछड़े गाँवों का प्रतीक है। अतः मेरीगंज सिर्फ एक गाँव नहीं है। उसके संदर्भ में कही गई बातें भारत के उन तमाम गाँवों के संदर्भ में कही गई मानी जानी चाहिए जिनको मेरीगंज प्रतीकित कर रहा है और जिनका कि प्रतिनिधि बनकर वह 'मैला आँचल' उपन्यास में उपस्थित हुआ है। पर भारतीय समाज की यह सच्चाई नहीं है वहाँ कोई योजना लागू की जानी हो और सहजता से वह लागू हो ही जाए। राष्ट्र की प्रगति के मार्ग में जो अवरोध रहे हैं, वे यहाँ भी मौजूद ही हैं। रेणु के चिंतन और पर्यवेक्षण की वैज्ञानिकता इससे साबित होती है कि वे राष्ट्र निर्माण के साधकतत्त्वों की पहचान करने में सफल रहे हैं तो उन्होंने उन तत्त्वों को पहचानने में भी कतई भूल नहीं की है, जो उसके मार्ग में बाधक सिद्ध हो रहे हैं। सेंटर की स्थापना सरकारी योजना है। जिन्हें उससे लाभ मिलना है, यह उनका दायित्व है कि सरजमीन पर उसे

उतारने देने में मदद करें और सहूलियतें जुटाएँ। मलेरिया सेंटर की स्थापना से सबसे ज्यादा लाभ तो गरीबों को मिलना था। पर क्या यह मानना नैतिक होगा कि उसकी स्थापना में केवल गरीब लोग ही मदद करें? रेणु का दृढ़ मत है कि लाभ समाज के चाहे जिस वर्ग, समूह या व्यक्ति को मिले, पर राष्ट्र निर्माण में उनका दायित्व ज्यादा है, जिनके पास सामर्थ्य और संसाधन ज्यादा हैं। बालदेव गाँव के टोलों में घूम रहा है- सहयोग जुटाने के लिए। भगमान भगत की दूकान पर तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद से भेंट होती है। पर तहसीलदार की बातों से उनकी अगंभीरता साफ झलकती है। किंतु एकांत में ले जाकर सुमरित दास उनके कान में कुछ गुरुमन्त्र देता है। रेणु के इस पाठक को यह समझने में जरा भी कठिनाई नहीं है कि सुमरित दास ने क्या कहा होगा? तहसीलदार की समझ में अब यह बात आ गई कि अगर मदद में आनाकानी की तो सारा श्रेय सिपैहियाँटोली वाले ले जाएंगे। जहाँ श्रेय की लूट हो वहाँ कोई क्यों पीछे रहना चाहे? समय की नजाकत को देखते हुए तहसीलदार साहब की इतनी उदारता भी महनीय है। राष्ट्र निर्माण में सबसे बड़ा खतरा तो हरगौरी है, हरगौरीवादी मानसिकता है, जिसे ग्वाला के लीडरी करने में आपत्ति है। इसलिए उसे बेईमान भी कहा जा रहा है और यह भी कि आप तो अब लीडर ही हो गए हैं, कांग्रेस ऑफिस का चौका बरतन कौन करता होगा? बालदेव गांधी का चेला है, इसलिए वह किसी कार्य को 'श्रेय' के लोभ से नहीं करता, सेवाभाव से करता है। यह तो समाज का दायित्व है कि वह उसे श्रेय दे, जो वास्तव में उसका हकदार है, जो निस्वार्थ भाव से योजना को सरजमीं पर उतारने में जुटा हुआ है। हरगौरी की कोशिश श्रेय की लूट में हिस्सेदारी की नहीं है। क्योंकि उसकी वैसी कोई भूमिका मेरीगंज में देखने में नहीं आई है। वास्तविक अधिकारी को श्रेय से वंचित करना श्रेय की लड़ाई का एक दूसरा पहलू है। दूसरे-दूसरे रचनाकार भी इस लड़ाई की तसदीक

करते हैं। प्रसिद्ध व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई की व्यंग्य रचना 'ठिठुरता हुआ गणतंत्र' और श्रीलाल शुक्ल का उपन्यास 'रागदरबारी' भी यही कहता है। और इतिहास भी इससे अछूता नहीं है। राष्ट्रीय एसेम्बली के चुनाव में कुर्मियों को टिकट देने के सवाल पर बाल गंगाधर तिलक का बयान कि 'क्या एसेम्बली के भीतर हल चलवाना है?' दर्शनीय है। पंडित नेहरू सरदार बल्लभ भाई पटेल और बाबासाहब भीमराव अम्बेदकर को अपने मंत्रिमंडल में शामिल करने को तैयार नहीं थे। उन दोनों को मंत्रिमंडल में जगह दिलाने के लिए गांधी जी को अनशन की धमकी देनी पड़ी थी। जाहिर है कि रेणु राष्ट्र निर्माण के संदर्भ में जो कुछ कह रहे हैं वह उनके 'लेखकीय मन' की उपज नहीं है, भारतीय राष्ट्र का वास्तविक यथार्थ है। अगर पटेल न होते तो राष्ट्र के एकीकरण का क्या होता, अगर बालदेव न होता तो मेरीगंज में मलेरिया सेंटर की स्थापना का क्या होता? लछमी दासिन की बेबाक आलोचना ने गाँव के मुखिया लोगों को अपनी बेजा हरकतों से बाज आने को बाध्य कर दिया। रेणु के लेखन का प्रस्थानबिंदु भारत का राष्ट्रीय यथार्थ है। उन्हें आंचलिक कहना सही नहीं है और उन्हें रोमांटिक रचनाकार कहना भी उतना ही गलत है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी और पूरे स्वतंत्रता आंदोलन की संविदा यह थी कि भारत को एक 'लोकतांत्रिक' ही नहीं 'गणतांत्रिक' देश भी बनाना है। गणतंत्र का आधार गुण है, उसमें कुल-गोत्र और जाति-वंश की कोई भूमिका नहीं होती। अतः जिसमें भी गुण है और जिसके भीतर भी राष्ट्र निर्माण के प्रति निष्ठा है, वही राष्ट्र के लिए महत्वपूर्ण और मूल्यवान है। अस्तु, बालदेव उपयोगी है, चाहे वह ग्वाला ही क्यों न हो?

रेणु मानते हैं कि 'देश को स्वाधीन हुए एक दशक हो रहा है, किंतु प्रवीण चिंतन की परंपराहमारे देश में अभी अंकुरित ही नहीं हुई है। अन्य क्षेत्रों में जो कुछ भी हुआ है- चिंतन के क्षेत्र में कोई अग्रगति नहीं हुई है।' 'नवीनता' को स्वीकार करने की

सलाहियत जिनमें नहीं है, वे उल्टे-सीधे फतवे भी जारी करते हैं। रेणु ने एक घटना का उल्लेख किया है- 'हमारे एक प्रतिष्ठित लेखक-बंधु कोई डैम देखने गए थे। नवनिर्माण को देखकर रचनाकार प्रभावित अवश्य हुआ। किंतु 'डैम' के पास ही एक किसान से उसकी भेंट हो गई। किसान ने कहा- 'क्या देख रहे हैं बाबू साहेब? यह नदी तो विधवा हो गई। और हमारे मित्र कलाकार के मन में यह बात बैठ गई। उसका सारा उत्साह शेष हो गया। उसने देखा- वास्तव में नवनिर्माणकर्ताओं ने नदी का सुहाग लूट लिया है। नदी विधवा हो गई है। कवि का हृदय कातर हो गया और संभवतः नव-निर्माण-विमुख भी।' 'उपर्युक्त कातरता यदि राजनीतिक पूर्वग्रह की उपज नहीं तो नाबालिग चिंतन का अकाल परिपक्व फल अवश्य है।' जोतखीजी का यह प्रचार कि डॉक्टर लोग ही कुएँ में दवा डालकर हैजा फैलाते हैं' और यह कि "कुआँ में दवा डालकर सचमुच में हैजा फैलाया है। जब 'परती:परिकथा' का जितेंद्र ट्रैक्टर चलाकर परती को उधेड़ता है तो गाँव के ठाकुरबाड़ी के पुजारी सरबजीत चौबे भोले ग्रामीणों को यह समझाते हैं कि जितन गरु माता के पेट पर छुरी चला रहा है। उसके नाश के लिए ग्रामीणों से गौध्वनि करवाते हैं-बाँ...। नाबालिग चिंतन मानकर ऐसे चिंतनों की अनदेखी नहीं की जानी चाहिए। बल्कि राष्ट्र निर्माण के मार्ग के ये मुख्य अवरोधों में से हैं। इनकी खूब मजम्मत की जानी चाहिए। यथास्थितिवाद के ये शीर्ष पुरुष हुआ करते हैं। नई स्थिति और नई भूमिका के लायक कोई योग्यता इनमें नहीं है। इसलिए आज के ये शीर्ष पुरुष कल फर्श-पुरुष होने वाले हैं। अपने को शीर्ष पर बनाए रखने के लिए ये लगातार चेष्टारत हैं। कल को इन्हें कौन पूछनेवाला है? इनकी वास्तविक चिंता यह है। समाज और राष्ट्र को इनकी चिंता और इनके फतवों से सतर्क सावधान रहने की जरूरत है। बालदेव जोतखीजी की बातों को और नहीं सुन सकता- "नहीं जोतखी काका,। सिमरबनी के बारे में आप जो कह रहे हैं सो आप

इधर सिमरबनी गए हैं? नहीं। तब क्या देखिएगा। एक बार वहाँ जाकर देखिए- इसपिताल, इस्कूल, लड़की-इस्कूल, चरखा सेन्टर, रायबरेली, क्या नहीं है वहाँ? घर-घर में एक-बी-सी-डी. पास।" 'बालदेव के पास बेकार बहस करने के लिए समय नहीं है।' वर्तमान में पोशाक योजना, साइकिल योजना एवं मध्याह्न भोजन योजना आदि ऐसी योजनाएँ हैं जिनकी आलोचना खूब हो रही है। पर जिन तर्कों के आधार पर आलोचनाएँ हो रही हैं, वे वैसे ही हैं जैसा डैम बनाए जाने से नदी का विधवा हो जाना बताया गया है। पर डायन कोशी के साधने से ही परानपुर अंचल में जीवन विहँस पाए है, बन्ध्या धरती आसन्न प्रसवा हो सकी है।' जहाँ क्षणिक आशा की तरह सिर्फ दूब जम पाती थी, अब वहाँ की धरती तीन-तीन फसलें देने लगी है और इलाके में फूस की छप्परों की जगह केरोगेटेड टिन की छप्पर चमचमाने लगी है। रेणु नदी के विधवा होने के तर्क की न सिर्फ मजम्मत करते हैं, वरन पूरे समरम्भ के साथ डायन कोशी को साधने के उपक्रम के साथ खड़े हो जाते हैं। डायन कोशी को ऐतिहासिक यथार्थ के रूप में तत्कालीन प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू साधते हैं, तो साहित्यिक रचना में (परती : परिकथा उपन्यास में) जितेंद्र मिश्र के प्रयास से दुलारी दाय की धारा को बाँधने और नहर प्रणाली निकाले जाने के रूप में रचा गया है। मिस्टर रायचौधुरी के मुँह से रेणु की आशीवाणी ही जितेंद्र के प्रति फूटी है- 'तुमी पारबे, तुमी पारबे' जिस निस्स्वार्थता और दिल की गहराई से उपजी निष्ठा के साथ जितेंद्र कोशी डैम योजना को पूरा करने के उपक्रम से जुड़ा है, वह भारतीय समाज का एक दुर्लभ उदाहरण है। डॉक्टर रायचौधुरी को यह युवक नील अमलतास जैसा लगता है! "..... तुमी जे निजेई एक विरल वनस्पति।" रेणु की नजर में जितेंद्र विरल क्योंकर है? इसलिए कि इलाके में लोग तो बहुत हैं- पतनीदार, जमीन्दार से लेकर राजे-महाराजे तक। किंतु किसी के भीतर डायन कोशी को साधने और इलाके के लोगों को कष्ट से

स्थायी मुक्ति दिलाने की कामना जन्म तक नहीं लेती। ऐतिहासिक सच्चाई भी यही है कि भारत में जितेंद्र जैसे लोगों के लेहड़ें नहीं हैं। जैसे महाराणा प्रताप सिंह विरल थे, शिवाजी विरल थे, गांधी विरल थे, कुछ उसी प्रकार जितेंद्र भी विरल हैं। अगर उस जैसे राष्ट्र-निर्माताओं के लेहड़ें होते तो संभव था जितेंद्र को कम जद्दोजहद करनी होती। जिस उत्कटता के साथ उसे विरोध झेलना पड़ा था, उतना विरोध नहीं होता और समर्थकों-सहकारियों के बाहुल्य के कारण जितेंद्र अपने को कुछ अधिक मजबूत स्थिति में पाता। जितेंद्र अपने प्रयत्न में अकेला है और अकेला पाकर ही राष्ट्र निर्माण की विरोधी शक्तियाँ (यथा सरबजीत चौबे, लुत्तो, गरुडधुजझा आदि) उसका अंदर-बाहर से उतना विरोध नहीं कर पाते। दूसरी तरफ भारत जैसे देश की सरकार और उसकी मशीनरी-नौकरशाही अपने को भारतीय जनता का भाग्यविधाता मानकर बर्ताव करती है। बंद कमरे में योजना बनती है और उसे एकाएक सरजमीं पर उतारने का काम शुरू हो जाता है। योजना क्या है, उसकी लाभ-हानि क्या है- बिना यह कुछ बताये। उचित यह है कि जिस जनता के लाभ के लिए योजना बनाई गई है उनके बीच उसे प्रचारित कर लोगों को योजना से वाकिफ कराया जाए, उन्हें योजना की लाभ-हानि बतलाया जाए और इस प्रकार जिन्हें लाभ पहुँचाने के लिए योजना बनाई गई है, उन्हें उसके कार्यान्वयन का पहले समर्थक बनाया जाए, जनमत तैयार किया जाए और तब उन्हें योजना का भागीदार बनाया जाए। एकाएक आसमान से उतरी योजना को स्वाभाविक है कि लोग शक की निगाह से देखें। किंतु जनता की भागीदारी से नौकरशाही को भय है। वे गैलन भर पेट्रोल फूँक कर एक कप चाय नहीं पी सकेंगे। आज के दिन भी बहुत सी योजनाएँ ऐसी हैं जिनकी जानकारी उनको नहीं है, जिनके लिए वह है। विज्ञान के माध्यम से राष्ट्र का कायापलट करने की मंशा रखनेवाले पंडित नेहरू का रेणु-संस्करण है यह-जितेंद्र मिश्र। पर पंडित

नेहरू की नफासत आम जन के बीच उनकी अधुलनशीलता और वैशिष्ट्य से उपजा अलगाव-ये चीजें रेणु अपनी कल्पना के राष्ट्र नायक में नहीं देखना चाहते थे। परिणामतः आरंभ का जितेंद्र, पंडित नेहरू की नफासत और वैशिष्ट्य की छायाप्रति बना हुआ था। रेणु ने उसके परवर्ती चरित्र को जनता संस्करण तक प्रसंस्कृत कर दिया है। जितेंद्र के चरित्र का यह जनता संस्करण रेणु की काम्य गणतांत्रिकता को भी चरितार्थ और उद्धृत करता है। यह प्रकल्पित राष्ट्र-नायक पंचचक्र नाटक को अभिनीत करता है तो गाँवभर के कलाकारों को यथायोग्य भूमिका आवंटित करता है। गणतांत्रिकता सामंतवाद का ठीक विलोम है। सामंतवाद भूमिका का बँटवारा वंश और जाति के हिसाब से करता है, जबकि गणतंत्र में भूमिका के आवंटन में व्यक्ति की योग्यता प्रधान होती है। नेतृत्व के स्तर पर यह योग्यता अगर जितेंद्र मिश्र में है तो लुत्तों को नायक क्यों होना चाहिए? और कार्यकर्ता के स्तर पर बालदेव और कालीचरन बखूब हैं तो हरगौरी की सहमति की मुखापेक्षा क्यों जरूरी हो? ताजमनी और मलारी अपनी फन की माहिर हैं। इसलिए पंचचक्र नाटक में डायन कोशी और उसकी सौतेली बहन दुलारी दाय जैसी महत्वपूर्ण भूमिका इन निम्न कुलोत्पन्न कन्याओं को दे दी जाती है, न कि जाति और वंश की श्रेष्ठता के आधार पर लिलिया को।

गांधी जी प्रगति का पैमाना इस बात को मानते थे कि 'अंतिम व्यक्ति' के जीवन में कितना बदलाव आया। विज्ञान ने प्रगति-साधक उपकरणों का निर्माण किया। अब तहसीलदार साहब ट्रैक्टर खरीद लाये हैं। बीस हलवाहों के काम के लिए एक ड्राइवर ही काफी है। उन्नीस हलवाहे बेकार हो गए। पर कटिहार में जूटमिल के खुल जाने से उन बेकार हलवाहों जैसे श्रमिकों को जूटमिल में मजदूरी मिल जाती है। अब उनकी क्रयशक्ति इतनी बढ़ जाती है कि "रौतहट हाट में कटिहार मिल के कुल्ली लोग चार आने सेर खमर आलू हाथों-हाथ उठा लेते हैं। रेणु अर्थशास्त्र

के इस सामान्य ज्ञान से परिचित है कि अर्थ व्यवस्था के क्रमशः तीन स्तर होते हैं। सबसे निचले स्तर की अर्थव्यवस्था कृषि आधारित होती है। उससे उच्चतर अर्थव्यवस्था उद्योग पर आधारित होती है और सबसे विकसित अर्थ व्यवस्था सेवाक्षेत्र पर आधारित होती है। भारत को समृद्ध समुन्नत राष्ट्र बनाने के लिए आवश्यक था कि इसकी कृषि आधारित अर्थ व्यवस्था को क्रमशः उद्योग और सेवा-क्षेत्र की ओर अग्रसर किया जाए। कृषि का यांत्रिकीकरण, उसका आधुनिकीकरण भी पिछड़ेपन को दूर करने और उत्पादन वृद्धि के लिए निहायत आवश्यक था। रेणु की रचनाओं में कृषि के आधुनिकीकरण और यांत्रिकीकरण की शुरुआत तो मिलती ही है, उसकी सफलता और सत्परिणाम भी मिलता हुआ दीखता है। कृषि के यांत्रिकीकरण से बेकार हुए हाथों को उद्योग स्थापित कर रोजगार दिया जा सकता है और औद्योगिकीकरण भी संपन्न होता चला जा सकता है, जो कि अर्थ व्यवस्था के विकास का स्वाभाविक क्रम है। इसलिए 'जुलूस' उपन्यास का तालेवर छोटेस्तर पर ही सही पर औद्योगिकीकरण से जुड़कर निरंतर संपन्नता की सीढ़ियाँ लाँघता आसमान की ओर जा रहा है। उसका सिपाही मैनेजर जयराम सिंह कहता है-बिचनेस और "मिल चलाने वाले के हल आसमान में चलते हैं।" तालेवरवादी औद्योगिकीकरण ग्राम लक्ष्मियों-(ग्रामीण स्त्रियों) को आतंकित कर जाता है। रेणु का इशारा औद्योगिकीकरण के विरोध में नहीं है, पर जिस तरह तहसीलदार के हलवाहे ट्रैक्टर के आने से बेकार हो गए थे, उन्हें कटिहार जूट मिल में वैकल्पिक रोजगार मिल गया, वैसा ही रोजगार ग्राम-लक्ष्मियों को उन दिनों उपलब्ध नहीं हो पाया था, इसलिए वे आतंकित होती हैं। पूर्वी पाकिस्तान से आयी शरणार्थी पवि चटर्जी हस्तकला के सामान बनाकर अच्छी आयकर लेती हैं। इसलिए उसके उदास होने का वह कारण नहीं है।

मैक्स विक्टर बेलज कहते हैं- "मैं यह कभी नहीं चाहूँगा कि सरकार मेरे बच्चों के पेट भरे या फिर

उन्हें पहनने को कपड़े दे, मैं हमेशा यही चाहूँगा कि सरकार उन्हें शिक्षा मुहैया करने का ही काम करे।" आशय स्पष्ट है कि बच्चों को शिक्षा उपलब्ध हो जाए, वे शिक्षित हो जाए तो वे अपने लिए बाकी सभी चीजों का इन्तजाम कर लेंगे। इस देश के निम्नवर्ग की माली हालत का आलम यह है कि सात माह के बच्चे को बथुआ साग पर निर्भर रहना पड़ता है। निमोनिया का मरीज गीली धरती के कच्चे फर्श पर सोता है और जहाँ कड़ुआतेल (सरसों तेल) भी स्वर्गोपम भोग में गिना जाता है। देश की बहुत तरक्की हुई, पर उस तरक्की को विफल करने के प्रयास भी भीतर-भीतर साथ साथ चले। मेरीगंज में मलेरिया सेन्टर खुला तो बाँकीपुर जैसे शहर में मातृमंगल केंद्र बाल कल्याण केंद्र, वर्किंग वीमेन्स हॉस्टल जैसी संस्थाएँ भी खुलीं। रमला बनर्जी जैसी सहृदय कल्याण का मिनी महिला के अथ प्रयास से ये संस्थाएँ खुलीं। इस निर्धन देश की महिलाओं और बच्चों के कल्याणार्थ विश्व स्वास्थ्य संगठन ने दवाई, दुग्धचूर्ण आदि सामान भेजे। पर वीमेन्स वेलफेयर बोर्ड की आनरेरी सेक्रेटरी श्रीमती ज्योत्सना आनन्द ने लाभार्थियों के बीच उनका वितरण न कर कालाबाजारी में बेच दिया। बागे कहता है- 'जो व्यापार वह छिटपुटतौर पर कर रही थी उसी को अब बड़े पैमाने पर-पार्टनर रखकर कंपनी बनाकर करना होगा।' सरकार के आला अधिकारी डी. साहब, पी. साहब आदि का वरदहस्त इस कंपनी को प्राप्त है और तब ग्रामीण क्षेत्रों से प्रशिक्षण के लिए आई हुई लड़कियों के साथ बलात्कार की घटना होती है। 'मैला आँचल' की डॉ. ममता ने डॉ. प्रशांति को पत्र लिखकर सूचना दी है कि पटना में एक ऐसी दुनिया आबाद हो रही है जहाँ चाँद नहीं चमकता, सूरज नहीं निकलता, जहाँ माता-पुत्र और पिता-पुत्री जैसे संबंध का कोई मतलब नहीं है। एक खुली प्रकट दुनिया के समानांतरण एक अंधेरी दुनिया विकसित हो रही है। यह क्योंकि संभव हुआ- रेणु इसकी तह में जाते हैं और पड़ताल करते हैं। उन्हें एक चीज साफ नजर

आती है। वह यह कि किसी भी पद पर नियुक्ति के मापदंड जो होने चाहिए, वे नहीं हैं। इस देश में प्रतिभा का मतलब परीक्षाओं में अधिक अंक मान लिया गया। किसी भी पद के लिए शैक्षिक अंकों को एकमात्र वरीयता दी गई। उनकी निष्ठा की कहीं पड़ताल नहीं की गई। सरकार राष्ट्रीय हित में पदों का सृजन करती है और चाहती है कि लोग उन पदों पर बैठ कर राष्ट्र की सेवा करें। पर निष्ठा को दरकिनारा करने का ही परिणाम है बेला गुप्त जैसी समर्पित निष्ठावान समाजसेविका बोर्ड की सेक्रेटरी नहीं बनाई जाती है श्रीमती ज्योत्सना आनन्द। वह अपने रसूख, ऊँचे संपर्क और देहदान की उदारता के कारण वह पद पा लेती है। एक तरफ राष्ट्र-निर्माण और राष्ट्रसेवा के प्रति रमला बनर्जी और बेला गुप्ता की निष्ठा और दूसरी तरफ श्रीमती ज्योत्सना का संपूर्ण उपक्रम को विफल करने का कुत्सित प्रयास। तुरा यह कि प्रतियोगिता परीक्षाओं में अधिक अंक लाकर डी. साहब, पी. साहब सरकारी पदाधिकारी हुए हैं जिन्हें राष्ट्र के खजाने से वेतन दिया जा रहा है। वही पदाधिकारी राष्ट्र आयोजन के प्रयास में पलीता लगा रहा है और उद्देश्यों को प्राप्त करने की जगह उसे विफल करने में जुटा है। ऐसे लोगों की नजर में 'सत्यमेव जयते' केवल लिखकर टाँगनेवाला वाक्य भर है। सत्य की उनके अनुसार कहीं विजय नहीं होती। 'जहाँ सभी बालू की दीवार बना रहे हैं, वहाँ ईंट सीमेंट का घर कोई पागल ही बना देगा।' गबन करने वाली श्रीमती आनन्द साफ बच निकलती है और षडयंत्र पूर्वक निष्ठावती बेला गुप्त को हवालात में जगह दी जाती है। यह केवल रेणु का औपन्यासिक सच नहीं है, भारत देश का ऐतिहासिक यथार्थ है। पूर्व प्रधानमंत्री राजीव गांधी का बयान कि केंद्र से एक रुपया चलता है तो संबंधित व्यक्ति तक सिर्फ 18 पैसे ही पहुँचते हैं। 82 पैसे कहाँ चले जाते हैं? यह केवल नौकरशाही की बात नहीं है। नेपाली लड़कियों की सप्लाई करनेवाला दुलारचन्द्र कापरा कटहा थाना कांग्रेस का सेक्रेटरी हो गया है। छोटन

बाबू एम.एल.ए. हो गए हैं, छोआ की कालाबाजारी करनेवाले मिस्टर मंगरू मिनिस्टर हो गए हैं। वे अहिंसा की लाउंड्री में अपने कपड़े धुलवाते हैं। ये सभी रेणु साहित्य के पात्र हैं और उनकी निर्मिति के पीछे यथार्थ का आधार नहीं ही है, ऐसा कौन वह सकता है? जिनके पास पैसे हैं वे चन्दा दे देकर राजनीतिक दलों में ऊँची हैसियत बना लेते हैं। निष्ठा का झंडा ढोनेवाला गनपत गनपत ही रह जाता है। राजनीति सेवा की नहीं, शक्ति-संचय और काले कारनामों से सुरक्षा की ढालबन गई है। अंकों के पहाड़ के नीचे निष्ठा दबा दी गई है। निष्ठा हाशिये पर ढकेली जा चुकी है और अंक प्रतिशत प्रतिभा का एक मात्र पैमाना बन चुका है। रेणु की रचनाओं में कई सारे पात्र हैं जिनकी शिक्षा-दीक्षा का स्तर बहुत ऊँचा नहीं है। मसलन बालदेव, कालीचरन, मंगलादेवी, रमला बनर्जी, बेला गुप्त आदि। पर उनकी निष्ठा बड़ी है। भारत आज के दिन भी निष्ठा बनाम प्रतिभा का संघर्ष झेल रहा है। जिस देश और समाज में निष्ठा का मूल्य कम हो, अंक प्रतिशत का ज्यादा, उस राष्ट्र की तरक्की भारत जैसी गति से ही हो सकेगी। जमाना (भारतेतर विश्व) ज्येष्ठ जहाज पर और बंदा (भारत) बैलगाड़ी पर। 'येनकेन प्रकारेण आत्मोन्नति का कामी' राष्ट्रकामी नहीं हो सकता। राष्ट्र सेवा वही कर सकता है जो अपनी उन्नति को पीछे रखेगा, जैसा डॉ. प्रशांति ने किया है। विदेश जाने के सुनहरे अवसर को लात मारकर ग्राम वासिनी भारत माता की सेवा करने का संकल्प ले लिया। उसकी प्रतिज्ञा है- 'एक भी चेहरे पर मुस्कान ला सका तो अपनी साधना को सफल मानूँगा।' पर आत्मोन्नति को तरजीह देनेवाले डॉ. तरफदार की टिप्पणी है- 'भावुकता का दौरा भी एक खतरनाक रोग है।' निष्ठावानों की भावना की कद्र करने की जगह उसे रुग्ण मानसिकता का शिकार बताना राष्ट्र निर्माण के जब्बे को निरुत्साहित करना है। इसे राष्ट्रीय समस्या माना जाना चाहिए। रेणु एक अदभुत विलक्षण कलाकार हैं। उतने ही जितने कि वे

एक गंभीर समाजशास्त्री भी हैं। राष्ट्र और राष्ट्र सेवक पदाधिकारी एवं नेता (सभी रूपों को मिलाकर) के बीच अगर पति-पत्नी का रूपक कल्पित किया जाए तो हम देखते हैं कि श्रीमती आनन्द अपने हित को पतिहित से अलगकर देखती है। किसी पत्नी का अपने हित को पतिहित से अलग कर देखना मर्म को हिला डालने वाली घटना है। श्रीमती आनन्द की मानसिकता वाले नौकरशाह और नेता राष्ट्रहित से अलग अपने व्यक्तिहित की समानांतर दुनिया विकसित कर लेते हैं। जो नेता पदाधिकारी, कार्यकर्ता आत्मोन्नति के द्वीप नहीं सिरजता, जैसे गनपत, डॉ. प्रशांति आदि उन्हें रुग्ण मानसिकता का शिकार मान लिया जाता है। डॉ. ममता आश्चर्य से भौचक रह जाती है, और अकेले दम पर अंधेरी दुनिया से जूझती रहती है। कालीचरन और बेला गुप्त को जेल की हवा खानी पड़ती है, गनपत झंडा ढोते हुए ही जीवन के ढलान पर पहुँच जाता है। सामंती मानसिकता से निगडबद्ध नेता जैसे राजा कामरूप नारायण सिंह, कुबेर सिंह, छोटन बाबू आदि सुनहरे नारे देकर और लोक-लुभावन वायदे कर सत्ता के केंद्र में स्थापित होना चाहते हैं। राजा कामरूप नारायण सिंह का नारा है- 'रेण्ट फ्री लैण्ड, बगैर किसी खजाना के जमीन'। वे जितेंद्र से कहते हैं -देसकी है आजतक कोई पार्टी ऐसा क्रांतिकारी नारा? पर राजा कामरूप के चाल-चरित्र, जिस वैचारिक परिवेश में वे जन्मे और पले बढ़े हैं, उससे उनके अपने नारे के प्रति साफ-साफ अगंभीरता झलकती है। नारे सुनहरे हों और उनके प्रति गंभीरता भी हो तो क्या कहने? पर नारे देनेवाले किसी से भी ज्यादा बेहतर समझते हैं कि नारे सिर्फ नारे लगाने के लिए हैं। लोगों को गुमराह कर अपने लिए समर्थन जुटाने से अधिक उनकी कोई अहमियत नहीं है। जिन देशों और समाजों के नारेवालों ने नारों के प्रति वास्तविक निष्ठा और गंभीरता दिखाई वह देश-समाज ज्येष्ठ जहाज की गति से तरक्की कर गया। नकली निष्ठा और अगंभीरता से बरते गए नारों का यह देश बैलगाड़ी

की गति से रेंगकर आगे बढ़ पा रहा है। एक वर्ष बाद सन 1948 में आजाद हुए चीन की भारत की प्रगति से तुलना करने पर यह स्पष्ट तौर पर लक्षित किया जा सकता है।

व्यक्ति की योग्यता और निष्ठा के महत्व को जिन समाजों में सर्वोपरि महत्ता प्राप्त है, उन समाजों से भारतीय समाज भिन्न प्रकार का है। यही कारण है कि फुटंगी झा महतो से पूछता है 'कितने में लालटेन खरीद हुआ महतो?' वर्ग और जाति को योग्यता और प्रतिभा का प्रमाण मानने के चलन से परिचालित मानसिकता से संक्रमित फुटंगी झा महतो के पंचलैट का अवमूल्यन कर रहा है। रेणु आज होते तो फुटंगी झा से अवश्य पूछते- 'पंचलैट आपको लालटेन दिखाई पड़ता है, इसे आपकी प्रतिभा के स्तर का प्रमाण का स्तर क्यों नहीं माना जाना चाहिए? आँखें मोतिया से आक्रांत तो नहीं हो गई हैं, रुग्णताग्रस्त दृष्टि और हेय, तुच्छ साबित करने की अस्वस्थ मानसिकता किसी भी वस्तुस्थिति के ऊपर फतवे जारी करने का अधिकार नहीं रखती और वैसी कोई टिप्पणी विष्वास के लायक नहीं मानी जा सकती। पर मनुष्य-मनुष्य है। न तो वह हमेशा मिट्टी का माधो रहता है और न पत्थर की प्रतिक्रिया शून्य मूर्ति। महतो अंदर तक आहत हो जाता है। कहाँ तो भले आदमी को प्रशंसा करनी चाहिए थी, कलतक जिसके पास पंचलाइट नहीं था, आज उसने वह अर्जित कर लिया है। कहाँ तो वह पंचलाइट को लालटेन के स्तर तक अवमूल्यन कर रहा है। प्रशंसा न भी करते, पर सच को स्वीकार ही कर लेते कि हाँ वह पंचलाइट ही है, लालटेन नहीं है तो क्या बिगड़ जाता? पर फुटंगी यह कैसे गवारा कर ले कि उसके पास पंचलाइट न हो और महतो के पास वह हो जाए? पंचलाइट से वंचित करना तो उसके वश की बात नहीं रही, पर अवमूल्यन तो वह करा ही सकता है। शब्दों की बाजीगरी और फतवे जारी करने का परंपरा से प्राप्त अधिकार उसके पास है ही है। पिछड़ों और दलितों के पास भी प्रतिभा और निष्ठा है। इस सत्य को स्वीकार करना पड़ेगा। यह

सरकारों का विशेषकर समाजवादी, साम्यवादी और सामाजिक न्याय की संविदा के सहारे सत्ता में आयी सरकारों का विशेष दायित्व है। पर 21वीं सदी के भारत में भी शासन प्रशासन में उनकी पर्याप्त संख्या का न होना प्रमाणित करता है कि ऐसी सरकारें भी इस मामले में बहुत सफल नहीं रही हैं। जिन समीक्षकों और विद्वानों ने रेणु को आंचलिक कह कर उछाला है, उन्हें भी आंचलिकता से इतर रेणु का कोई महत्व नहीं दीखता। रेणु वैज्ञानिक समाजवादी हैं, शिल्प उनका अवश्य कलाकारोचित है। भारत की प्रगति के सूत्र और प्रगति के मार्ग की बाजाएँ- दोनों एक साथ और समान स्पष्टता के साथ रेणु को दिखाई पड़ते हैं। रेणु की दृष्टि न तो मोतियाग्रस्त है, न ही कलरब्लाइन्डनेस की शिकार और न तो उनकी निष्ठा राष्ट्र की प्रगति से तनिक भी विपथित राष्ट्रभक्ति के मामले में विरल किस्म के रचनाकार हैं रेणु। रोज रोज नहीं जन्मते हैं वे। भारतीय समाज की प्रगति में मुख्य बाधा श्रेय पर एक मात्र अपना ही अधिकार मानने की सामंतवादी मानसिकता है। जगह-जमीन और धनसंपत्तिवाला सामंतवाद ही सामंतवाद नहीं है। उसके अनेक रूप रंग हैं और जमाने के बदलते स्वरूप के समानांतर यह भी अपने रूप रंग को बदलता रहता है। किसी अधिकारी के वास्तविक मूल्य को मान्यता न देना भी सामंतवाद के निकट की सगोत्रीय मानसिकता है। पर अब जब महतो के पास पंचलाइट है तो वह फुटंगीझा से मान्यता के लिए गिड़गिड़ाएगा नहीं। बल्कि उसके भीतर जो विचार पहले से पक रहा था उसकी और पुष्टि हो रही है। वह फुटंगी झा के दृष्टिदोष को उजागर करके रहेगा - 'देखते नहीं हैं, पंचलैट है'। 'ये बामनटोली के लोग ऐसे ही ताब करते हैं। अपने घर की ढिबरी को भी बिजली बत्ती कहेंगे और दूसरों के पंचलैट को लालटेन।' राष्ट्र की प्रगति के लिए जिसके पास प्रतिभा और निष्ठा है, वही अलम है, जाति और वंश नहीं। पर यहाँ तो प्रतिभा को मान्यता नहीं दी जा रही है, क्यों कि वह महतो के पास है और दावेदार

वे हो रहे हैं जिनके पास ढिबरी ही है। वह आज भी महतो को मान्यता देने को तैयार नहीं है। सरकारें भी विफल हैं।

इस मानसिकता का एक दूसरा रूप वह भी है कि मलारी पढ़-लिख ही नहीं सके कुछ वैसा काम करे। परती: परिकथा की चमार कुलोत्पन्न बालिका आगे तक पढ़ना चाहती थी। परन्तु शिक्षकों और सहपाठियों के व्यवहार से तंग आकर उसे स्कूल छोड़ देना पड़ा। थोड़ी शिक्षा प्राप्तकर अधिक से अधिक मास्टरनी ही तो हो सकती है, हेड मिस्ट्रेस या प्रोफेसर तो नहीं। अगर शिक्षकों और सहपाठियों की कृपा नहीं होती तो वह बहुत आगे जा सकती थी। 'गरीब की लुगाई सब की भौजाई', हर कोई उसे भोग लेने की फिराक में रहता है, यहाँ तक कि ठाकुरबाड़ी का पुजारी सरबजीत चौबे भी। आदमी को हाँकते हाँकते उसका बाप सनकी हो गया है। उसकी लड़ाई सिर्फ वर्ग के बाहर ही नहीं है, भीतर भी है। एक तरफ भोग लेने की फिराक में रहनेवाले मनचलों से है तो दूसरी ओर उसे अपने वर्ग की जड़तासे भी लड़ना पड़ रहा है। समाज और राष्ट्र का दायित्व है कि उसका कोई सदस्य (बालक-बालिका) आत्मविकास के लिए जूझ रहा है तो उसे न सिर्फ अवसर उपलब्ध कराए, बल्कि सहूलियतें मुहैया कराने और उसके संघर्ष को न्यूनतम करने की कोशिश करे। पर कहाँ है वह राष्ट्रीय चिंता? वह राष्ट्र की प्राथमिकता में है ही नहीं। अगर होती तो उसकी पढ़ाई बंद क्यों होती? आज की तारीख में भी यह सच है। मायावती के शासन काल में कानपुर और लखनऊ के निकट एक एक दलित छात्र की हत्याकर दी गई। वे छात्र इन्जीनियरिंग की पढ़ाई के लिए नाम लिखाकर वापस घर लौट रहे थे। अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में एक दलित छात्र को ताने मारमार कर आत्महत्या के लिए विवश किया गया और जीन्यूज की सूचनानुसार निरंजन नाम के दलित युवक को जे.आर.एफ. पास करने के बाद भी शोधवृत्ति की राशि प्राप्त करने के लिए साढ़े चार साल तक जद्दोजहद करनी पड़ी।

जब जी न्यूज ने मामले को हाईलाईट कर यू.जी.सी. को राशि निर्गत करने के लिए बाध्य किया, तब जाकर दलित निरंजन को वह राशि प्राप्त हो सकी। प्रतिभा को यदि इस प्रकार से विकसित होने से रोकने का प्रयास होता रहेगा, जिस प्रतिभा का उपयोग राष्ट्रहित में हो सकता है, उसे विरत किया जाता रहेगा तो फिर राष्ट्र की तरक्की कैसे होगी? राष्ट्र निर्माण के श्रेय में पिछड़े और दलितों को हिस्सेदारी न देने की यह मानसिकता भी सामंतवाद का ही एक अलग रूप है। जो लोग अनधिकृत रूप से श्रेय पर काबिज हैं वे हर शू इस कोशिश में मुनविस हैं कि श्रेय का बँटवारा न हो अथवा इसे जितना संभव हो सके या तो स्थगित रखा जाए या जितना अधिक से अधिक टाला चला जा सके। श्रेय को अखंडित रखने की यह मानसिकता राष्ट्र की प्रगति में बाधक है, रेणु के ऐतिहासिक यथार्थ के पर्यवेक्षण का एक वैज्ञानिक निष्कर्ष यह भी है। अगर मलारी पढ़ती नहीं तब तो वह भी वही कर रही होती जो उसकी माँ करती रही है- मजदूरी और प्रसव कराने का निम्नस्तरीय कार्य। गांधी जब अंतिम व्यक्ति के जीवन में आए परिवर्तन को ही प्रगति का प्रमाण मानते हैं, तब बिना शिक्षा के यह परिवर्तन कैसे संभव है? हिरामन पिछले बीस साल से गाड़ीवानी कर रहा है। उसके द्वारा खाएँ गई 'तीसरी कसम' से भी यही ध्वनि निकलती है कि आगे भी वह गाड़ीवानी ही करता रहेगा। इस अंतिम व्यक्ति की जीवन स्थितियों में कोई परिवर्तन परिलक्षित नहीं होता। स्पष्ट है कि भारतीय राष्ट्र की प्रगति की प्रचेष्टा अभी संपूर्ण नहीं हुई है। हिरामन की मौजूदगी कम से कम यही तो बता रही है।

रेणु ने प्रगति के कुछ अतिमहत्वपूर्ण सूत्र दिए हैं। प्रगति की आधारभूत शर्त आधुनिक और नवीनतम अवधारणाओं को स्वीकार करना और अपनाना है। मलारी में यह चेतना आश्चर्यजनक रूप से मौजूद है। सन 1956 ई. में भारत में जीवन बीमा की शुरुआत होती है और सन 1957 में प्रकाशित

उपन्यास 'परती- परिकथा' की यह पात्रा अपना जीवन बीमा करवाती है। नौकरी में तरक्की पाने के लिए ट्रेनिंग करना आवश्यक है- यह वह जान गई है। इसलिए ट्रेनिंग करने मुजफ्फरपुर जाती है। कलावस्तु के निर्माता लेखक रेणु के शब्दों पर जाने की जरूरत नहीं है। जीवन-बीमा और ट्रेनिंग सन 56-57 ई. की नवीनतम अवधारणा हो सकती है, आज की नहीं। रेणु के शब्दों को पकड़े रहने की बजाएँ उनके संकेतों को समझना चाहिए। आज की नवीनतम अवधारणाएँ मोबाइल, कम्प्यूटर और इन्टरनेट हैं। इनके बिना आज कोई शिक्षित नहीं माना जा सकता और जिसके भी पास इनका कौशल नहीं है, दुनिया में उसके लिए अब कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं है।

देश की गतिविधियों से गहरे जुड़े होने के कारण रेणु को यात्राएँ भी करनी पड़ी थीं। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय का (जो ज्ञान का एक महत्वपूर्ण केंद्र रहा है), छात्र रहने के कारण, साथ ही अपने अपेक्षाकृत व्यापक संपर्क के कारण रेणु ने बखुद विज्ञान के चमत्कारों को देखा और उसकी शक्ति का साक्षात्कार किया था। विज्ञान में उत्पादकता की अपार क्षमता है। अतः किसी राष्ट्र के जीवन को समुन्नत बनाना है तो विज्ञान की इस क्षमता का उपयोग करना ही होगा। विज्ञान में देश और काल की दूरी को कम करने की भी क्षमता है और यह जीवन को सुरक्षित और सुविधाजनक बनाने के उपकरण भी प्रस्तुत करता है। जो काम शरीर से नहीं हो सकता, वह काम विज्ञान के माध्यम से किया जा सकता है। शरीरबल का जमाना जा चुका है, बुद्धिबल का जमाना आ चुका है। शरीरबल के द्वारा डायन कोशी को नहीं साधा जा सकता था। बुद्धिबल (विज्ञान) के द्वारा इस असंभव को संभव में बदलने में सफलता पाई जा सकी। 'परती परिकथा' का दन्ता राकस अपने शरीरबल से जलाभाव की समस्या को दूर करने के लिए पाँच पाँच कुंड खोद डालता है। कुंड खोदने लायक शरीरबल भी परानपुर के लोगों के

पास नहीं था। इस कार्य के लिए प्रबल पुरुषार्थ और शरीरबल के धनी दन्ता राकस का आह्वान करना पड़ा था। परन्तु आज की जरूरत दन्ता नहीं है, दन्ता का शरीरबल नहीं है। क्योंकि दन्ता के पास चाहे जितना भी पुरुषार्थ हो, वह अपने शरीरबल से डायन कोसी को नहीं साध सकता था। उसके करने से गर ऐसा हो पाता तो इलाके के लोग कब का उसका आह्वान कर चुके होते और कोशी के तांडव से अपने को सुरक्षित कर लिया होता। यह काम एकमात्र बुद्धिबल, जिसका प्राकट्य विज्ञान के रूप में हुआ है, से ही हो सकता है। जितेंद्र मिश्र उसी बुद्धिबल का- विज्ञान की शक्ति का- प्रतीक है। डॉ. राय चौधरी दन्ता के बारे में नहीं कहते कि तुमी पारबे। जितेंद्र के बारे में कहते हैं। कोशी के तांडव को नियंत्रित करने से परती लास्यमुखी हो गई है, उसके चेहरे पर अमृत हास्य खेलने लगा है। विज्ञान कम से कम चार प्रकार से मनुष्यता का कल्याण करता है। 1. उत्पादकता में वृद्धि लाकर 2. चिकित्सा के रूप में स्वास्थ्य संवर्धन एवं जीवन रक्षा के रूप में, 3. यंत्रोपकरणों के माध्यम से जीवन के सरल, सुगम और आसान बनाकर, जो काम मनुष्य आने हाथों और अंगों से नहीं कर सकता, उसे यंत्रों के सहयोग से कर डालता है, तथा 4. संचार साधनों के द्वारा लोगों के बीच संपर्क साधक और संदेश वाहक के रूप में। विज्ञान की सहायता से कोशी की बाढ़ से स्थायी निजात मिल गई, विध्वंश मचानेवाले उसके जल का सृजनात्मक उपयोग सिंचाई के रूप में होने लगा। नहर प्रणाली से वह जल परती पर फैले खेतों तक पहुँचने लगा और अन्न की अतिरिक्त मात्रा उपलब्ध होने लगी। कभी एक भी फसल न देनेवाली परती अब तीन-तीन फसलें उगाने लगी। चरखा हमारे स्वतंत्रता आंदोलन का नैतिक और वैचारिक अस्त्र हो सकता है। पर उसकी उत्पादकता बहुत सीमित है। भारत को हर क्षेत्र में उत्पादकता बढ़ाने की जरूरत थी, जीवन के जरूरियातों को पूरा करने के लिए भी और अतिरिक्त रोजगार सृजन के लिए भी।

विज्ञान के कारण कटिहार में जूटमिल खुली है, जहाँ अब बड़े पैमाने पर जूट-उत्पाद-बोरे-बनाए जा रहे हैं और वह तहसीलदार साहब के बेकार हो चुके उन्नीस हलवाहों को आजीविका भी उपलब्ध करा रही है। इसलिए रेणु चरखा के अर्थशास्त्र से पूरे सहमत नहीं दीखते-

**“चरखा हमार भतारपूत, चरखा हमार नाती
चरखा के बदौलत मोरा दुआर झूले हाथी।”**

लोगों को इस नैतिक अस्त्र से जोड़ने के लिए उस जमाने में यह भावात्मक नारा गढ़ा गया था। पर कोई अर्थशास्त्री भी इसकी उत्पादक क्षमता को सिद्ध नहीं कर सकता जिसकी बदौलत कोई इतना समृद्ध हो जाए कि हाथी पालने लगे। इसलिए रेणु चरखा के प्रति आलोचनात्मक भाव रखते हैं। अगर हिंदुस्तान और पूरी दुनिया चरखा पर निर्भर हो जाए तो शायद ही कपड़े की जरूरत को पूरा किया जा सके। कृत्रिम रेशे और मिलों के कारण आज कपड़ा इतने सस्ते में और इतनी प्रभूत मात्रा में हमें उपलब्ध है। कोटा-कन्दोल के जमाने से अब के जमाने की तुलना कर के देखा जा सकता है। चिकित्सा के रूप में विज्ञान ने मनुष्य को बीमारी और मौत से बचालिया, हैजा, प्लेग, चेचक, मलेरिया, कालाजार, टी.बी., पोलियो आदि बीमारियों से मनुष्य को सुरक्षा मिल सकी। ‘मैला आँचल’ में गनेस की जीवन रक्षा हुई, एक गरीब की बेटी की हैजा से रक्षा हुई और सबसे बढ़कर तहसीलदार साहब की दुनिया ही उजड़ने से बच गई। उन्हें ले देकर एक ही बेटी-कमला थी और अपार संपत्ति के मालिक थे तहसीलदार साहब। ट्रैक्टर खरीदा है, अब उसी से कोड़-कमान, कादो-गोड़ा, चौकी-बिधा- सब काम होने लगा। ट्रैन, मोटरकार, हवाईजहाज, पानी जहाज, बिजली, पंखा आदि होने से जीवन कितना सुविधाजनक हो गया है? संचार के साधन न होते तो गांधी जी की हत्या का समाचार मेरीगंज इतनी जल्दी कैसे पहुँचता ? ममता डॉ. प्रशांति को बाँकीपुर में विकसित हो रही अँधेरी दुनिया की सूचना कैसे देती? मिस डोरोथी टेलीफोनी दीदी कैसे बनती, मिस रेवा वर्मा रेडियो

एनाउन्सर कैसे बनती और सुश्री वीणा प्रसाद एयर पाएलट कैसे बनती? बहुत खुलासे की जरूरत नहीं है। विज्ञान को लेकर रेणु किसी भ्रम में नहीं हैं और मनुष्य के पक्ष में उसे वरदान के रूप में देखते हैं। विज्ञान के संदर्भ में उनकी सोच भावात्मक नहीं है, पूर्णतः वैज्ञानिक और यथार्थ पर्यवेक्षण पर आधारित है। विश्व के अन्य हिस्सों में विज्ञान के द्वारा जीवन का कायापलट होते हुए उन्होंने देखा और जाना है। जिस बड़े पैमाने पर विज्ञान के सहयोग से आज निर्माण हो रहा है, मनुष्य के हाथों के सहारे उतने बड़े पैमाने पर निर्माण संभव ही नहीं। अब मनुष्य के हाथ निर्माण नहीं करते, यंत्रों को संचालित करते हैं; निर्माण और उत्पादन तो अब यंत्र कर रहे हैं।

प्रगति के लिए गुणवत्ता की जरूरत होती है। यह जिसके भी पास है, वह राष्ट्र निर्माण के लिए ज्यादा उपयोगी है। विकसित देशों ने ऐसा कर ही प्रगति की है। भारत इस मामले में विकसित देशों से भिन्न है। इसी कारण भारत विकसित नहीं हो पा रहा। गणतंत्र का आधारगुण है। विकास का आधार भी गुण ही है। अतः रेणु भारत की प्रगति के लिए गणतंत्र को आवश्यक मानते हैं। गणतंत्र में व्यक्ति की महत्ता गुणों से होती है, जाति और वंश से नहीं और गुणवत्तावाले व्यक्ति को उचित महत्व गणतंत्र में ही मिलता है। रेणु ने जितेंद्र को केवल बुद्धिबल (विज्ञान) के प्रतीक के रूप में ही नहीं गढ़ा है, बल्कि उसे एक पूर्ण गणतांत्रिक व्यक्ति के रूप में भी प्रस्तुत किया है। गुण के समानुपात में महत्व मिलने से व्यक्ति के भीतर यह धारणा बद्ध मूल होती है कि उसके साथ उचित न्याय हुआ है। कालीचरन अगर फुलिया के मामले में उचित न्याय कर सकता है तो उसे पंच न मानने का क्या तुक है? उसे सिर्फ इसलिए पंच न माना जाए कि वह ऊँची जाति का नहीं है, कि वह ऊँचे खानदान का नहीं और बड़ा आदमी नहीं है, बड़ी हैसियत वाला नहीं है? कि वह खेलावन का बैल चराने वाले कुकरा का बेटा है, इसलिए? ऊँची हैसियत और ऊँची जाति के लोगों

की उपस्थिति में फुलिया के साथ उचित न्याय क्यों नहीं हो पा रहा था ? रामदास महन्थ क्यों नहीं बन पा रहा था, हैजे की सूई लगाने में डॉ. प्रशांति को जोतखी जी, हरगौरी, रामकिरपाल सिंह या तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद जैसे लोग क्यों सहयोग नहीं कर रहे थे? कालीचरन का दल और मंगलादेवी ही क्यों थी ? रेणु अपनी रचनाओं के माध्यम से यह संदेश देते दीखते हैं कि राष्ट्र निर्माण के लिए जो उपयोगी सिद्ध हो उसे जाति वंश की भावना से ऊपर उठकर उचित सम्मान दिया जाए और उसके अवदान को बहुमान दिया जाए। ताजमनी ने जितेंद्र के लिए जिस प्रकार की मंगल कामना की है और जिस तरह से उसका सहयोग किया है, गणतांत्रिक जितेंद्र उसे अपनी विचारणा के केंद्र में रखता है और यही कारण है कि नट्टिन कुल में पैदा हुई ताजमनी को भावी पत्नी के रूप में स्वीकार करता है। वह कतई जाति-वंश की भावना से ग्रस्त नहीं होता। तभी तो रेणु उसे गणतांत्रिकता का आदर्श मानते हैं और भिम्मल मामा के मुँह से बड़े पते की बात कहलवाते हैं- 'तांत्रिक का बेटा गणतांत्रिक'।⁴³ जिसके भी पास राष्ट्र की सेवा का निस्वार्थ भाव है, समर्पण और निष्ठा है, जिसके भी पास प्रतिभा और गुणवत्ता है, उसे अगर उचित बहुमान न मिलता हो तो क्या उसे चुप बैठ जाना चाहिए? रेणु का बेहिचक उत्तर है- नहीं। अपनी नियति को किसी और के रहमोकरम पर छोड़ने को रेणु उचित नहीं मानते। वे वैसे वंचित लोगों को अपनी माँग सामने रखने को कहते हैं। कालीचरन अब चुप नहीं है। वह जानना चाहता है, वह इसी गाँव का निवासी है, (यानी इसी देश का नागरिक है) फिर उसे पंच क्यों नहीं माना जा सकता? फुलिया के न्याय के पूर्व वह अपने को पंच मानने की माँग रखता है, उसके समर्थन में सैकड़ों हाथ उठ जाते हैं। इस न्यायपूर्ण माँग के सामने परंपरागत पंचों की एक नहीं चलती। एक नई रवायत जन्म लेती है। भारतीय सामंतवाद सिर्फ संपत्ति और शासन सत्ता से संबद्ध नहीं है। वह जाति से भी

संबद्ध है। रेणु सामंतवाद के इस जातिवादी चेहरे की सख्त मुखालफत करते हैं। वंचित निम्न वर्ग के लोग हुए हैं, अपहरण उनके अधिकारों का हुआ है। इसलिए अब उन्हें अपनी माँग रखने का वक्त आ गया है। प्रगति दो प्रकार की हो सकती है। इसका एक रूप वह है, जिसमें उन्नत लोगों की कुछ और उन्नति हो जाती है। जीडीपी में इससे भी वृद्धि हो जाती है। पर यह मात्रात्मक प्रगति है और वास्तविक नहीं है। वास्तविक प्रगति वह मानी जाती है कि जो लोग विपन्न हैं, निम्न जीवन स्थितियों में जी रहे हैं, उनका जीवन स्तर उँचा हो रहा है। इस प्रकार की प्रगति गुणात्मक प्रगति है और यही उसका वास्तविक स्वरूप भी है। निराला भी भिक्षुक को 'दाता भाग्यविधाता' को अपनी नियति स्वीकारने देना नहीं चाहते, रेणु भी नहीं। अब हर वंचित को खुद से अपनी नियति निर्धारित करनी है, अपने अधिकारों को पहचानना है, कोई उसे इससे वंचित कर रहा है या किसी और के आधिपत्य में चला गया है तो, उससे इसकी माँग करनी है, आसानी से मिल जाए तो ठीक अन्यथा उसे प्राप्त करने के लिए संघर्ष का रास्ता अख्तियार करना होगा। सूत्र रूप में कहें तो वे इस प्रकार हैं-

1. अधिकार की चेतना
2. अधिकार की माँग और
3. उसे प्राप्त करने के लिए संघर्ष

कालीचरन वंचित वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में है। इसलिए उसे अधिकार की चेतना है कि पंच बनना उसका अधिकार है। इस अधिकार की वह माँग करता है। जोतखी जी उसे उसका अधिकार देना नहीं चाहते। केवल माँग रखकर ही वह सन्तुष्ट नहीं हो जाता। उस दिन के इंतजार में चुप नहीं बैठ जाता, जब जोतखी जी आगे आकर कहें कि यह लो कालीचरन तुम अपना अधिकार ले लो। वंचक के उक्त प्रकार के फैसले का इंतजार संघर्ष को अनंतकाल तक विस्तारित कर देगा। अधिकार की लड़ाई में न मिलने पर संघर्ष की शुरुआत ही उसे उसका प्राप्तव्य दिला सकती है। इसलिए कालीचरन जोतखी जी के

फैसले का इंतजार नहीं कर संघर्ष आरम्भ कर देता है और न्यूनतम समय में उसे प्राप्त कर लेता है। समग्रतावादी रेणु यह स्पष्ट देख पा रहे हैं कि संपूर्ण निम्नवर्ग बालदेव, कालीचरन या लुत्तो की तरह चैतन्य नहीं हुआ है। निम्नवर्ग के जिस हिस्से में अधिकार की चेतना जागृत नहीं हुई है, उसी हिस्से का प्रतिनिधि 'तीसरी कसम' कहानी का नायक हिरामन है। हीराबाई उसकी हो सकती थी, उस पर हिरामन का अधिकार बनता था, पर वह अपनी दावेदारी ही पेश नहीं करता। हिरामन का समाज (व्यापक अर्थ में पूरा देश) उसकी शादी के प्रति गंभीर नहीं है। आखिर क्यों? और जब नहीं ही है तो उसे अपने भले और अपने उत्थान के लिए प्रयत्नशील होगा पड़ेगा। मगर वह भी सचेष्ट नहीं है और निरालोच्य भाव से प्रतीक्षारत है। चाहे जैसे और जिस किसी प्रकार से सही, एक औरत मिली थी जो उसकी अपनी हो सकती थी। पर उसके निरुत्साह और प्रयत्नहीनता के कारण द्वार तक आया हुआ अवसर अन्यत्र जाने को विवश है। अवसर रूपी हीराबाई उसके सुप्त पुरुषार्थ को संकेतों में झकझोरना चाहती है - 'महुआ घटवारिन को सौदागर ने खरीद जो लिया है गुरु जी।' पर एक ही अहमक है यह हिरामन। वह न जगता है, न सचेष्ट होता है। उल्टे एक 'तीसरी कसम' खा लेता है- 'भविष्य में किसी कंपनी की औरत को अपनी गाड़ी पर नहीं बैठाएगा। यानी वह भविष्य की संभावना के द्वार भी बंद कर लेता है। यह नहीं, कोई दूसरी ही हीराबाई उसे मिल सकती थी। कालांतर में उसके भीतर अधिकार की चेतना भी आ जा सकती थी। पर नहीं। इस प्रकार की पराउ, मुखता निम्न वर्ग की तरक्की के रास्ते का रोड़ा है। संघर्ष में मुनक्विस हुए बिना उसकी नियति बदलने वाली नहीं है। निम्नवर्ग के सामने कालीचरन लुत्तो, मलारी और ताजमनी का उदाहरण तो है ही। सबसे बेहतर उदाहरण मलारी का ही है। शिक्षा से जुड़े बिना निम्न वर्ग में न तो चेतना आ सकती है, न वह बड़ी भूमिका पा सकता है और न ही उपलब्ध

अवसर का लाभ उठा सकता है। निम्न जाति में पैदा मलारी शिक्षा से जुड़कर मजदूरी और प्रसव कराने जैसे जातिगत पेशे से मुक्त होकर उच्चस्तरीय भूमिका और उच्चतर जीवनस्तर प्राप्त कर लेती है। उसके मार्ग में काँटे कम नहीं हैं। पर वह उनसे उलझने में अपनी ऊर्जा, समय और संसाधन खर्च नहीं करती। कोई कुछ बोले उसका उत्तर देने के बजाय वह यह ज्यादा उचित समझती है कि अपना काम करते रहा जाए। वह सुन्नरिनैका की गीतकथा के अवसर पर ड्यूटी देती है, जीवन बीमा कराती है, ट्रेनिंग के लिए मुजफ्फरपुर जाती है। वह किसी के निर्णय और अनुमति की मुखापेक्षी नहीं बनी रहती। जो करना है सो करना है। वह नवीनतम अवधारणाओं से भी जुड़ती और उन्हें अपनाती है।

कुल मिलाकर हम यह देखते हैं कि रेणु के पास राष्ट्र निर्माण और उसकी प्रगति के लिए एक व्यापक साथ ही सर्वांगीण विचार और कार्ययोजना है। इससे जुड़े सभी पक्षों यथा- पक्ष और विपक्ष, विजायी और विरोधी-सभी अपेक्षित और संबद्ध कार्य कलापों को अपने संज्ञान में लेते हैं और राष्ट्र निर्माण संबंधी अपनी विचारणा को समग्रता प्रदान करते हैं। जो लोग रेणु को आंचलिक रचनाकार से अधिक नहीं मान पाए, मानना पड़ेगा कि वे उतने ही अहमक हैं जितना कि 'तीसरी कसम' का हीरामन है। ऐसे ही लोग 'तीसरी कसम' कहानी को एक रोमान्टिक प्रेम कहानी भर मानते हैं। वे लोग रेणु के लेखकीय महत्व के मामले में बहुत सुजान और सयाने नहीं हैं। और अगर वे रेणु के महत्व को अंदर अंदर महसूस कर रहे हैं, पर फिर भी आंचलिक और रोमांटिक कहे जा रहे हैं तो मानना पड़ेगा कि वे अवमूल्यन की

फुटंगी झा वाली कुटिल मानसिकता से ग्रस्त, प्रेरित और परिचालित हैं। राष्ट्र-निर्माण और राष्ट्र की प्रगति के मामले में रेणु ने जिस समग्रता और वैज्ञानिकता के साथ अपनी विचारणा अपनी रचनाओं के माध्यम से हमारे समक्ष रखी है, वह उन्हें एतदर्थ अप्रतिम रचनाकार घोषित करती है। हमें उस दिन का इंतजार है जब साहित्य जगत उनके इस अवदान को ठीक-ठीक समझ सकेगा और सरकारें उनकी विचारणा को कार्यान्वित करती दिखेंगी। रेणु के इस पाठक को उस दिन का भी इंतजार रहेगा, कोई दूसरा रचनाकार प्रगति संबंधी विचारणा के क्षेत्र में उनके द्वारा स्थापित कीर्तिमान को तोड़ेगा। गांधी जिस अन्तिम व्यक्ति के जीवन स्तर के बदलाव को प्रगति का प्रमाण मानते थे, रेणु कम से कम उस दिन तक तो अवश्य ही अपने सूत्रों के कारण इस मामले में सबसे महत्वपूर्ण रचनाकार बने रहेंगे। चर्चा और चर्चणा से उनकी आत्मा तृप्त नहीं हो सकेगी उसे कार्यान्वयन रूपी तर्पण का बेसब्री से इंतजार है। निर्णय, नियोक्ता एवं कार्यान्वयन के पदों पर काबिज 'फुटंगी झा' योग्यता और निष्ठा के पंचलाइट को लालटेन सिद्ध कर शासन प्रशासन के पदों पर पहुँचने ही नहीं देते। तभी 21वीं सदी आ जाने तक भी उनकी भागीदारी का प्रतिशत चिंताजनक रूप से न्यून है। राष्ट्र-लेखक का खिताब पाने के हकदार रेणु मात्र आंचलिक लेखक की मान्यता पर अटक गए हैं। सरकार रेणु के महत्व के प्रति संवेदनशील हो और निम्नवर्ग के महत्व के प्रति भी। निष्ठाहीन प्रतिभा राष्ट्र के लिए घातक है। प्रतिभा पर निष्ठा को तरजीह देकर ही हम रेणु को सच्ची श्रद्धांजलि दे सकते हैं। तभी उनकी आत्मा पूर्णकाम हो उपराम को प्राप्त हो सकेगी।

अंचल का प्रश्न, रेणु के उपन्यास और भारतीय राष्ट्र विद्या सिन्हा

अंचल, उपन्यास और भारतीय राष्ट्र पर सैधान्तिक बहसों, सोच-विचार, वाद-विवाद होते रहे हैं लेकिन आज के बदले हुए वैश्विक परिदृश्य में इस प्रश्न पर विचार चुनौतीपूर्ण तो है ही, इतिहास, साहित्य, मानववाद और तेजी से बदलती वैचारिकी के संदर्भों में एक साथ रोचक और जटिल भी है। रेणु को केंद्र में रखकर अंचल और भारतीय राष्ट्र की बात करते हुए सहज ही मन में एक सवाल उठता है कि क्या बिना जरा भी रोमांटिक हुए नैशनलिस्ट या आइडिअलिस्ट हुआ जा सकता है। अब रोमांटिक होने की बात ही करना आज के समय में खतरा उठाने से कम नहीं है और बिना रोमांटिक और आदर्शवादी हुए क्या आंचलिक उपन्यास लिखा जा सकता है बावजूद इसके कि राष्ट्र और आंचलिक उपन्यास के मूल में आधारशिला के रूप में यथार्थ ही उपस्थित रहता है।

प्रायः आंचलिक उपन्यासों को प्रकृति, पेड़, पौधों, रीति-रिवाज, स्थानीय भाषा, जीवन पद्धति और थोड़ी-बहुत समस्याओं और कुल मिलाकर विशिष्ट जनजीवन की सांस्कृतिक छवि के रोमांटिक भावुक रूप में देखने के कारण आंचलिकता की यथार्थपरक संभावनाओं को अनदेखा कर दिया गया। आंचलिकता वस्तुतः एक शैली या ढंग नहीं, एक अवधारणा और यथार्थवादी आधुनिक प्रक्रिया है।

विचार और विचार प्रक्रिया आधुनिकता के जितने महत्वपूर्ण हिस्से हैं रोमांटिसिज़्म नहीं क्योंकि हमें लगता है कि रोमांटिक होते ही विचार और वैचारिकता का निषेध होने लगता है। मैं भारत राष्ट्र के संदर्भ में स्वाधीनतापूर्व के दो विचारकों के नाम लेना चाहती हूँ। गांधी जी और बलगंगाधर तिलक। तत्कालीन इतिहास प्रमाणित करता है कि काल और स्थान के आधुनिक आचरण से राष्ट्रीयता का बोध उत्पन्न हुआ अर्थात् राजनीतिक और सामाजिक चेतना के सम्मिलित प्रभाव से राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। अपने विघटन काल में भारतीय सामंतवाद ने राष्ट्रीय एकता की जो पहचान खो दी थी उसे राजनैतिक जागरूकता की इस प्रखर अभिव्यक्ति द्वारा पुनः उपलब्ध करने का प्रयास भारतीय जन कर रहा था। इस जागरूकता की मानसिक आधारभूमि गढ़ने में तत्कालीन चिन्तक, विचारक, समाज सुधारक, नेता और साहित्यकार बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे थे। तिलक ने जनता को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध ललकारा-“आपको यह समझ लेना चाहिए कि जिस ताकत के बूते पर भारत में अंग्रेज सरकार अपनी हुकूमत चलाती है, उसमें आप खुद एक बहुत बड़ा तत्त्व हैं। आपको अपनी इस ताकत का अहसास होना चाहिए कि अगर आप चाहें तो प्रशासन की इस मशीन का चलना असंभव बना दे सकते हैं।”

अपनी सारी भावना प्रधानता बावजूद गांधी जी की राजनीतिक और सामाजिक विचारधारा संक्रांति काल में भारतीय जनमानस के पिछड़ेपन के अनुकूल सिद्ध हुई।

तिलक और गांधी दोनों ने अपने-अपने ढंग से भारतीय आध्यात्मिकता का इस्तेमाल राजनीतिक चेतना जगाने के लिये किया बहुसंख्यक जनमानस को चेतना के स्तर पर स्पर्श करने के लिए किया। लक्ष्य विचारधारा था लेकिन माध्यम भावनात्मक था। प्रत्येक देश अपने भूगोल, इतिहास, परंपराओं और वर्तमान के बीच के अपनी राष्ट्रीयता का स्वरूप गठित करता है। स्वतंत्रतापूर्व राष्ट्रीयता का स्वरूप राष्ट्र गौरव, स्वाधीनता स्वदेश, स्वशासन, स्वजाति, स्वभाषा जैसे शब्दों से संकेतित और व्यक्त होता था। स्वतंत्रता के बाद विकास योजनाओं और उनके कार्यान्वयन में राष्ट्र का स्वर गूँजा और विकास और जनाकांक्षा जहाँ अधूरे अपूर्ण रहे वहाँ अधिकार की माँग का लोकतंत्र व्यक्त हुआ।

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध और बीसवीं शती के आरंभिक तीन दशकों का वैचारिक चिंतन राजनीतिक पराधीनता, सामाजिक सुधार और मानवीय स्वाधीनता की चिंता से उद्दिग्ध और प्रेरित था। इस वैचारिक संघर्ष ने राष्ट्रीयता की धारणा, विद्रोह की धारणा और बुद्धि तथा विज्ञान की धारणा को उपलब्ध किया। यह पूरा वैचारिक उद्वेलन उन परिवर्तनों की देन है जो कि विशिष्ट भौगोलिक सीमा के भीतर ऐतिहासिक दबावों से उत्पन्न है। इस सापेक्ष, सक्रिय, सामाजिक, राजनीतिक चिंतन का प्रभाव पूरे जीवन विधान पर पड़ा इससे उत्पन्न यथार्थ से प्रेरित साहित्य की चेतना के रूप में स्थान और काल की भूमिका अनायास ही विशिष्ट और महत्वपूर्ण हो गई। स्थान से यथार्थ वास्तविकता की ठोस प्रकृति का सीधा संबंध तथा काल के नैरन्तर्यपूर्ण प्रवाह में निहित गतिशीलता और परिवर्तनशीलता का बोध हमें उस यथार्थवाद की ओर मोड़ता है जो उपन्यास के व्यक्तित्व की मूलभूत विशिष्टता और उसका आधार है। आइंस्टीन ने बलाघात पूर्वक कहा था कि सापेक्ष स्थान और काल में भी काल का आयाम स्थान ही बराबरी नहीं कर सकता। अतः इस संदर्भ में यह सहज ही अधिक उपयुक्त है कि स्थान की गतिशीलता को रेखांकित

किया जाना चाहिए बजाए इसके कि काल को स्थानीकृत किया जाए।

अर्थात् काल के गतिशील आयाम को स्थान में ढूँढ़ना अधिक औचित्यपूर्ण होगा बजाए काल को स्थानीकृत करने में। स्थान अपनी संरचना में जड़ और स्थिर होता है जबकि काल की पहचान ही गतिशीलता है। प्रत्येक क्षेत्र में नया काल-बोध यथार्थ और परिवर्तनशीलता की नई पहचान कराता है क्योंकि काल की गतिशीलता से उत्पन्न नई दृष्टि (परस्पेक्टिव) स्थानीयता से घिरे और उत्पन्न जीवन के ठोस संदर्भों को देखने का, उससे नया संबंध कायम करने का आधार देती हैं। इसी संदर्भ में अंचल का प्रश्न महत्वपूर्ण हो जाता है।

आंचलिकता को विचार और अवधारणा के स्तर पर आधुनिक काल की परिवर्तनशीलता के समानांतर और उसकी सापेक्षता में विकसित होते हुए देखना अधिक सार्थक होगा बजाए उसकी भौगोलिक और पारिभाषिक चौहदियाँ निश्चित करने के। स्वाधीनता और राष्ट्रीयता एक-दूसरे की सापेक्षता में अपनी सार्थकता सिद्ध करते हैं। आधुनिक काल की विचार सरणि में कोई भी मूल्य आत्यंतिक और निरपेक्ष नहीं रहा। इसी क्रम में आंचलिकता एक सरोकार बन कर आती है। एक ऐसा सरोकार जो स्वाधीनता और राष्ट्रीयता के मूल्यों को और अधिक गहरा बनाता है।

आधुनिक युग के मनुष्य के जीवन के सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक इन तमाम सरोकारों को आंचलिकता अपने व्यवहार से और अपनी प्रकृति से ठोस बनाती है। कुछ लोगों ने आंचलिकता में क्षेत्रवाद की अधिकता को रेखांकित करते हुए इसे राष्ट्रीयता की विरोधी धारणा माना है। और कुछ और लोगों ने आंचलिकता को संकीर्णता से सीधे जोड़कर मनुष्य की सार्वभौम समस्या के विरुद्ध तात्कालिक माना।

इस मत का उत्तर हमें इस प्रश्न में मिलता है कि क्या क्षेत्रीय समस्याओं की सच्चाई के विवेचन के बिना राष्ट्रीय सच्चाई पैदा हो सकती है। राष्ट्रीय

यथार्थ का अस्तित्व क्षेत्रीय वास्तविकताएँ ही मिल कर गठित करती हैं अन्यथा निरपेक्ष राष्ट्रीय यथार्थ का कोई अर्थ नहीं है। ठीक उसी प्रकार सार्वभौम के विकास की प्रक्रिया यह है कि जिन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों के बीच मनुष्य घिरा होता है उनका सामना करते हुए ही वह सार्वभौम तक पहुँचता है। यानी क्षेत्रीयता के बिना राष्ट्रीयता और पारिस्थितिक तात्कालिकता के बिना सार्वभौमता को उपलब्ध करना संभव नहीं है।

आधुनिक आंचलिक कथा साहित्य, उपन्यास पहले के स्थानीय रंग वाले उपन्यासों से केवल अपनी विविध आयामिता में ही अलग नहीं है अपितु, उसने ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय, आर्थिक और राजनीतिक विचारशास्त्रीय साहित्य से कहीं अधिक घनिष्ट और जटिल संबंध स्थापित कर लिया है। इस संदर्भ में ल्यूस ममफोर्ड ने अपनी पुस्तक 'द कल्चर ऑफ सिटीज़' में बड़ी बात को रेखांकित किया है। वस्तुतः 'आंचलिकतावाद' अपने वास्तविक अर्थ में राष्ट्रीय संस्कृति के विविध तत्वों का अध्ययन बन गया है इस उद्देश्य के साथ कि उनसे वैयक्तिक मूल्यों को बनाए रखते हुए आदर्शों और उपलब्धियों के स्तर पर उन्हें एक एकीकृत शृंखला के रूप में परिणत किया जा सके। 'क्षेत्रीयतावाद', 'स्थानीयतावाद' आदि शब्द अलगाववादी प्रवृत्तियों को व्यंजित करते हैं किंतु आंचलिकता इसके विरुद्ध एक संपूर्ण आवयविक एकत्व को धारण करती है तथा आंचलिक और राष्ट्रीय संस्कृति का विकास परंपरा और लोकजीवन की विरासत की समृद्ध और वैविध्यपूर्ण सामग्री को एकत्र करते हुए, नए और पुराने, विशिष्ट क्षेत्रों के वैशिष्ट्य से मिलकर एक राष्ट्रीयता के स्वाधीन और परस्पर निर्भर तत्वों के द्वारा वैविध्य में एकत्व की धारणा को दृढ़ करता है।"

स्वतंत्रता पूर्व 1930-35 के आस-पास राष्ट्रीय क्षितिज पर ग्रामीण जीवन को अलग-अलग तरह से काफी महत्व दिया गया। शहर से संपर्क में आने के कारण गाँव का आर्थिक राजनीतिक सामाजिक

सांस्कृतिक ढांचा बदल रहा था। इस बदलाव को ही आंचलिक उपन्यासकार ने अपनी सर्जनात्मक दृष्टि से स्थानीय सच्चाइयों के बीच मूर्त किया। वस्तुतः इस प्रकार का वैचारिक और अनुभूतिगत संगठनात्मक बदलाव गाँव या शहर के आर्थिक या सामाजिक पिछड़ेपन के बीच ही घटित हो सकता है। अतः सही अर्थ में आंचलिक उपन्यासकार वही है जो ऐसे अंचल और ऐसे लोगों को अपना विषय बनाए जो किसी आधुनिक घटना, विचार या व्यक्ति के हस्तक्षेप का सामना किसी न किसी रूप में कर रहे हों।

आंचलिकता के इतिहास की ओर ध्यान देने से यह भी स्पष्ट होता है कि आंचलिकता का आंदोलन सर्वाधिक व्यापक शक्तिशाली और सुगठित रूप में अमेरिकी साहित्य में दिखाई पड़ता है। इस आंदोलन को नव क्षितिज आंदोलन न्यू फ्रंटियर्स मूवमेंट भी कहा गया। उन लेखकों का कहना था कि अमरीकी राष्ट्रीयता और सार्वभौम संस्कृति के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि क्षेत्रीय जीवन की सारी विशिष्टताओं को उभार कर सामने रखा जाए। अर्थात् आंचलिकता एक ओर लेखकीय दृष्टि के द्वारा आधुनिक गतिशीलता को व्यंजित करने का सामर्थ्य रखती है तो दूसरी ओर अपनी स्थानीय विशिष्टता के द्वारा बृहत्तर राष्ट्रीय जीवन से भी जुड़ती हैं।

'आज के आंचलिक उपन्यास की संभावनाएँ ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के प्रयोग के कारण बहुत बढ़ गई हैं। यही कारण है कि यहाँ राष्ट्र के जीवन के प्रवाह का गत्यंकन क्रमशः राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक चक्रों से गुजरते हुए ही किया जा सकता है

हेलेन ई. हेंज

What is in a novel.

यह 'ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य' ही एक ही विशिष्ट भौगोलिक सीमा में बंधे जीवन से टकराता है। लेखकीय दृष्टि तमाम बोधों के रचनात्मक प्रयोग द्वारा स्थानीय भूगोल को हूबहू साकार करते हुए, अपने ऐतिहासिक बोध को इस प्रकार इसके साथ व्यवस्थित करती है

कि काल की गति का अनुभव इस लेखकीय व्यवस्था द्वारा उत्पन्न किए गए अंतरविरोधों के भीतर होने लगता है। काल की गति का अनुभव स्थान के भौगोलिक संयोग से ही संभव होता है। अतः आंचलिकता के कारगर होने की अनिवार्य शर्त है जड़ता का गति से संयोग, स्थान का काल से टकराना।

रेणु ने पूर्णिया जिला के एक हिस्से के एक गाँव मेरीगंज को पिछड़े गाँवों का प्रतीक मानकर अपने पहले उपन्यास मैला आंचल का क्षेत्र बनाया है।

रेणु ने पहली बार मैला आंचल में भारतीय किसान भूमि समस्या को उसकी सामाजिक और परिवेशगत जटिलताओं और परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में उठाया है।

‘जमीन के लिए गाँव में नई दलबंदी हुई है।... गरीबों और मजदूरों के टोलों पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। खेलावन के हलवाहों को कालीचरण ने हल जोतने से मना कर दिया है। तहसीलदार हरगौरी सिंह का नाई, धोबी और मोची बंद करने के लिए कालीचरण घर-घर घूम कर भाषण देता है। गाँव के सारे पुराने बाँध टूट गए हैं, मानो बाढ़ का नया पानी आया है।

यह नया पानी ऐतिहासिक दबावों से उत्पन्न नई चेतना है। डॉक्टर गाँव में मलेरिया और कालाजार पर रिसर्च करते हुए नतीजा निकालता है कि रोग की जड़ है-गरीबी और जहालत। (राष्ट्र की भी यही समस्याएँ हैं) ‘परती : परिकथा’ में लैंड सर्वे सेटलमेंट के संदर्भ में भूमि संबंध के अंतर्विरोधों से आगे बढ़कर भूमि संघर्ष के मुद्दे को रेणु ने उठाया है। नया सेटलमेंट पुराने सामंतवादी, जमींदारी ढाँचे को तोड़ता है तो उससे पारिवारिक, सामाजिक संबंध भी प्रभावित हुए हैं।

रेणु ने अपने दोनों आंचलिक उपन्यासों ‘मैला आंचल’ और ‘परती : परिकथा’ में समकालीन यथार्थ को बड़े पैमाने पर बहुविध आयामों में खोला है। उन्होंने सामाजिक परिवर्तनों को आर्थिक परिवर्तनों और राजनीतिक चेतना से उत्पन्न शक्ति के परिप्रेक्ष्य में अभिव्यक्त किया है। आर्थिक शक्ति कैसे पुरानी

जातिवादी संरचना को बदलती है और गाँव में शब्दों, प्रतीकों, झंडों, जुलूसों के रूप में आने वाली राजनीति स्थानीय जीवन के संदर्भों से टकराते हुए जीवन के मूलभूत प्रश्नों की कसौटी पर अपने को खरा साबित करती है या नहीं, ये सभी सवाल रेणु के आंचलिक उपन्यास उठाते हैं। मैला आंचल में कालीचरण की ‘समाजवादी विचारधारा’ अर्थवान, मूल्यवान है क्योंकि वह मेरीगंज के किसानों की भूमि समस्या सुलझाने की कोशिश करती है। डॉक्टर की खोज और राजनीति दोनों अपनी शुभेच्छु आंतरिकता से मनुष्य को बचाना चाहते हैं किंतु गरीबी, अशिक्षा, अंधविश्वास, जड़ता और पिछड़ेपन से घिरा मेरीगंज का समाज एक चुनौती है। ‘परती : परिकथा’ में परानपुर की लाखों एकड़ वंध्या, धूसर धरती की कथा रचना रेणु ने वर्तमान यथार्थ और लोकगाथा के विरोधी दिखते स्तरों पर की है। परानपुर के समाज की स्थितिशीलता को जमीन की बंदोबस्ती और कोशी परियोजना से उत्पन्न स्थितियाँ तोड़ती हैं। धर्म, राजनीति, व्यक्तिगत स्वार्थ अंधविश्वास के आपसी घात-प्रतिघात के बीच मानवीय संबंध में सामाजिक परिवर्तन आधुनिकता की अनुगूँज बनकर आता है।

रेणु ने आंचलिकता के आधार पर बहुविध समकालीन यथार्थ को सूक्ष्म जटिलताओं के साथ अपने साहित्य में घनीभूत (इनटेंसीफाई) किया है। एक स्थान विशेष के जीवन के समस्त कार्यव्यापारों के बीच यहाँ आंचलिकता सायास रचा गया वातावरण या परिवेश नहीं है बल्कि गतिशील परिवर्तनों को धारण करने वाले यथार्थ की एक प्रक्रिया है। प्रेमचंद का यथार्थबोध उनकी विचारधारा और उसके प्रभाव से मुक्त नहीं है जबकि रेणु के विचार भी स्थानीय जीवन के हूबहूपन का हिस्सा बनकर ही व्यक्त होते हैं। इन आंचलिक उपन्यासों में परिवर्तन के लिए छटपटाते भारतीय गाँवों की वह बेचैनी धड़कती है जो राष्ट्रीयता की मुख्य धारा में मिलने की आस लगाए बैठे हैं।

रेणु के उपन्यासों ने प्रमाणित कर दिया है कि

आंचलिकता न यथार्थ विरोधी है और न राष्ट्रीयता विरोधी।

धरती के सच और इतिहास की चेतना को रेणु ने एक साथ आत्मसात किया था। उनकी रचनाएं इसका प्रमाण हैं। गाँव के खेत खलिहान, पर्व त्योहार, गीत, कथा, रीति रिवाज, टोन भाषा बोली, मुहावरे मिजाज तेवर सोच, मानसिकता, क्रिया प्रतिक्रिया, जातिगठन सामाजिक बनावट, शक्ति संतुलन, धार्मिक, आर्थिक राजनीतिक यथार्थ, परिवर्तन जनित दबाव, इन सबकी आपसी टकराहटें, व्यक्ति समूह और समाज के आपसी रिश्ते, प्रकृति के रूप, प्रकृति और मनुष्य का संबंध—सब एक सानुपातिक संतुलन में बंधे रेणु के कथा विधान में इस तरह मूर्त होते हैं कि साक्षात् एक स्थान (गाँव) अपने सारे कार्य व्यापारों और धड़कनों के साथ उठ रहा हो।

रेणु अद्भुत किस्सागो थे, कुछ हद तक शरत की तरह। रेणु ने कथावाचन के साथ खुलकर प्रयोग किए। कथा के भीतर कथा, और अतीत के भीतर धड़कते हुए वर्तमान को रेणु बड़ी सहजता से प्रस्तुत करते हैं। कथावाचन में मौजूद जातीय संभावनाओं का उपयोग रेणु ने अपने आशय को व्यक्त करने के लिए किया है। अर्थ व्यंजनाओं के लिए स्थानीय संभावनाओं (लोकगीत के अंगों, प्रेमकथा, लोक कथाओं, गाथाओं, किंवदंतियों, विश्वासों, जनश्रुतियों) के

समानांतर व्यक्ति और समाज के संबंध से लेकर आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक राजनीतिक यथार्थ को रेणु गुंजित करते चलते हैं। रेणु की भाषा जीवन के स्पंदन से अनुशासित होती है। गीत की लय के समानांतर मूल कथा कैसे बजती रहती है और कथा स्वयं कैसे एक गीत बन जाती है, पशुपक्षियों के स्वर और वाद्यों से उत्पन्न ध्वनियाँ परिवेश में घुलमिल कर कथा संवेद्य को कैसे संपन्न करते हैं, यह रेणु के उपन्यासों और कहानियों को पढ़कर ही समझा जा सकता है। लोकगीत और लोक कथाओं का उपयोग रेणु ने यथार्थ को बहुस्तरीय अर्थवत्ता प्रदान करने के लिए किया है।

विचारधारा के स्तर पर आंचलिक कथा लेखन का लक्ष्य मानवतावाद की ओर उन्मुख है। कारलिस लेमाण्ड के अनुसार मानवतावाद राष्ट्र, जाति, धर्म और ऐसी नैतिक व्यवस्था में विश्वास रखता है जो संपूर्ण मानव मूल्यों को इहलौकिक अनुभवों और संबंध पर आधारित मानती है और जिनका चरम लक्ष्य पार्थिव सुख, स्वतंत्रता और प्रगति है, आर्थिक सांस्कृतिक और नैतिक प्रगति।

रेणु ने 'परती : परिकथा' में कहा है— समाज को मानवीय और मनुष्य को सामाजिक बनाना ही मुक्ति का एकमात्र पथ है। राष्ट्र और अँचल इस विचार के आधार पर एक दूसरे से संबद्ध हैं।

संपर्क : सी-28/ए, सेक्टर-26, नोएडा-201301 (उ.प्र.), मो. 9717050367

मैला आँचल और तत्कालीन राजनीति : कुछ प्रसंग

हितेन्द्र पटेल

भारतीय राजनीति का एक महत्वपूर्ण अध्याय यह है कि देश में 1940 के दशक में जो नई राजनीति उभरी वह राष्ट्रीय आंदोलन के गांधीवादी वर्चस्व की राजनीति (1920 से 1939) से भिन्न थी। ऐसी शक्तियाँ राजनीति के केंद्र में आ गईं जिसके कारण लोकतंत्र का एक नया चरण शुरू हुआ। इस चरण की परिणति भारत में ऐसे लोकतंत्र के आगमन से हुई जब देश के सभी लोगों को वोट देने का अधिकार मिला, ऐसे लोगों को भी जो न राजनीति समझते थे और न लोकतंत्र। इस कालखंड के इतिहास की ओर इसकी राजनीति के बारे में कम चर्चा होती है और अधिकतर विद्वान इससे बचते हैं। राजनैतिक इतिहास को साहित्य में भी ढूँढने वालों के लिए मैला आँचल एक प्रमुख टेक्स्ट है जो आजादी के पहले और उसके तुरंत बाद के समय की इस बदलती हुई राजनीति को समझने में बहुत महत्वपूर्ण टेक्स्ट है। इन वर्षों में कांग्रेस और उससे जुड़े लोग बदले, नए लोग आए और उसी दौर में कांग्रेस के भीतर से ही लोग निकल कर एक दूसरे तरह की राजनीति को भी मजबूत करने लगे और उसके सहारे एक क्रांति की बात सोचने लगे। ये भी समाज के भीतर के आंतरिक तनावों के कारण दुविधाग्रस्त हुए और जो इस नई राजनीति में उभरे थे वे भी भिन्न भिन्न दिशाओं में गए। कांग्रेस के गांधीभक्त लोग अप्रासंगिक हुए, हटाए गए और नए कांग्रेस में ऐसे लोग आ जुटे जो औपनिवेशिक समय में व्यवस्था के लोग थे। समाजवादी इस समय क्रांति के स्वप्न के साथ आए लेकिन वे भी सामाजिक संरचना के भीतर के तनावों के कारण अपने ही पार्टी के लोगों को भी अपने साथ नहीं रख पाए। इस पूरी कहानी में राजनीति और उसके साथ सामाजिक संरचना के साथ जटिल संपर्कों को समझने की कोशिश की जा सकती है। अगले तीन चार सालों में जो चुनावी राजनीति का नया दौर शुरू हुआ उसके साथ मैला आँचल के वर्णन विश्लेषण को जोड़कर देखने से हमें कुछ ऐसी बातें समझने में मदद मिलती है जिसके बारे में इतिहास और साहित्य आम तौर पर कम बोलना पसंद करता है। इस आलेख में यह कहने का प्रयास है कि राजनीति के उस परिवर्तन को अपने औपन्यासिक शिल्प के चमत्कार के साथ रेणु ने इस खूबी से पेश किया है कि पूरी राजनीति का वह मोड़ खुल कर सामने आ जाता है जो राजनीतिक शक्ति को उनके हाथों में ले गया जो आजादी के पहले शक्तिशाली थे और औपनिवेशिक व्यवस्था के साथ थे। इस प्रक्रिया में सुराज के लिए असली लड़ने, मरने और अपने को तन मन से खपा देने वाले लोगों को भुला दिया गया। इस करुण कथा के साथ रेणु ने राजनीति के दो स्तरों - नेताओं और जमीनी नेताओं के बीच के अंतर को नहीं भुलाया है। जमीनी स्तर पर गरीब रैयत लोग जमीन के लिए लड़ रहे थे और उनके बीच राजनैतिक वर्चस्व के लिए पार्टियाँ अपने अपने तरीके से लड़ रही थीं। इस लड़ाई में जमीनी स्तर पर

लड़ने वाले लोग, बाहर की राजनीति से जुड़े लोगों के लिए प्यादे ही थे जिसके द्वारा राजनैतिक शक्ति-नेता और आंदोलन के लिए समर्थन और भक्ति (कांग्रेस द्वारा) और राजनैतिक शक्ति और आर्थिक मदद (सोशलिस्ट पार्टी द्वारा) तो स्वीकार्य थी लेकिन राजनैतिक प्रक्रिया में उनके साथ भागीदारी नहीं थी।

एक आलोचक ने यह कहा है कि 'रेणु अपने साहित्य में राजनीतिक दृष्टि से मुक्त हैं...कभी कभी वह समाज के व्यापक संघर्षों से अपनी आँख मूँदे रहता है।' यह भी कहा गया है कि 'रेणु की कलम में एक चमत्कार है। अगर इस चमत्कारी प्रतिभा के साथ उस राजनैतिक जिसे उस राजनैतिक चेतना का थोड़ा और मिश्रण होता, जिसे अपने साथ लेकर वे गाँवों, मैदानों, सड़कों पर सक्रिय थे, तो उनके... जनजीवन के गहरे भावों की पकड़ और व्यापक होती। दूर तक मार करती।' यह कहा जा सकता है कि कम से कम मैला आँचल के संदर्भ में यह आलोचना सटीक नहीं है।

निश्चित रूप से आजादी पूर्व और बाद की राजनीति को उभारने में मैला आँचल सफल है और बाद में हुए राजनैतिक परिवर्तनों का पूर्वाभास इस उपन्यास में होता है। रेणु इस पूरे वृत्तांत में अपनी राजनीति को नहीं लाते। राजनैतिक इतिहास और उपन्यास में आए राजनैतिक इतिहास के टेक्स्ट में एक अंतर यह होता है कि इतिहासकार को एक निष्कर्ष या धारणा को प्रमाणित करना होता है और राजनैतिक उपन्यास में सभी अंतर्विरोधों को लेते हुए समग्रता में स्थितियों के रखने की भी सुविधा होती है। अपनी राजनीति को न लाते हुए अगर कोई उपन्यासकार राजनीति के परिप्रेक्ष्य को रखे तो वो शायद समय की बेहतर समझ दे सकता है। रेणु की सफलता अपनी राजनीति मुक्त दृष्टि के साथ उस महत्वपूर्ण समय की राजनीतिक जटिलता को रखने के कारण है जिसके बाद नए कांग्रेसी पुराने को कुचल सकते थे और क्रांति का दावा करने वाली

पार्टी के नेता उन छोटे नेताओं को चोर डाकू समझ सकते थे जिनके पैसे और संघर्ष से वे गाँव देहात में शक्तिशाली हुए थे। अपने को गांधी भक्त मानने वाला सच्चा कांग्रेसी लाभ और लोभ की राजनीति में लिप्त नए कांग्रेसी के हाथों मारा जाता है और क्रांति का स्वप्न देखने वाला एक सोशलिस्ट कार्यकर्ता डाकू के पास जाने के लिए विवश है ! बिहार की राजनीति का कोई भी गंभीर पाठक आने वाली राजनीति के पूर्वाभास देने वाले इस उपन्यास को एक राजनैतिक टेक्स्ट के रूप में देखना चाहेगा।

...

नवंबर 1951 को राम वृक्ष बेनीपुरी ने लिखा था - चुनाव की धूम है। ... भारत में यह पहला अवसर है जब उसकी सारी बालिग जनता वोट देने जा रही है। अद्वारह करोड़ मतदाता अपने झोपड़ों से, अपने दड़बों से निकलकर संसार को बताने जा रहे हैं की उन्हें कैसा राज पसंद है। देहातों में जाकर देख आया हूँ, लोगों में काफी हलचल है। कांग्रेस की सरकार से उनमें जो विकर्षण पैदा हो गया, उसके प्रदर्शन के लिए वे बेचैन हैं। मुझे ऐसा लगा कि एक राजनैतिक भूकंप होने जा रहा है। किंतु कुछ ऐसी बातें हैं, जिनसे निराशा ही निराशा हो रही है। ...कांग्रेस वाले ...नहीं चाहते कि जनता की दिलचस्पी चुनाव में हो। वे चाहते हैं कि जनता चुपचाप बैठी रहे और हर गाँव में उनके दो चार एजेन्ट हों, उन्हीं को लेकर वे चुनाव जीत लें !... उनका फाइदा इसी में है कि जनता बैठी रहे, वे राज करते रहें। सबसे बुरी बात यह है कि कांग्रेस ने लोगों के मन में किसी भी संस्था पर विश्वास नहीं रहने दिया है। ...'

वे यह भी कहते हैं -...वामपक्ष ... जड़ता को दूर कर सकता था-उसमें फूट है...कम्युनिस्टों का सबसे बुरा रोल। ...सोशलिस्ट पार्टी से ही लोगों की आशा थी। किंतु उसके ऊपर के लोगों में भी अजीब वैमनस्य है। ...पार्टी के नीचे के कार्यकर्ताओं में काफी जोश है, उमंग है। वे गाँव गाँव में दौड़ रहे हैं।...सोशलिस्ट पार्टी की जीत निश्चित थी ; किंतु सब जगह रुपये

का अभाव...गरीब खड़े किए जाए , सोशलिस्ट पार्टी की शान इसी में है, किंतु यह जनतंत्र तो है नहीं , यह तो धन तंत्र है ! ...उस दिन जयप्रकाश जी से कहा , दो लाख रुपये लाइये और बिहार में पार्टी की हुकूमत बनकर रहेगी। किंतु वे लावें कहाँ से? लोगों ने शोर मचा रखा है, सोशलिस्ट पार्टी को चुनाव लड़ने के लिए अमेरिका से पैसे मिले हैं। किंतु, पैसे कितने हैं और किस मुसीबत में जयप्रकाश जी उनका संग्रह कर पाते हैं, मैं स्वयं देख चुका हूँ। एक तो पैसे की कमी: फिर आपस में वैमनस्य। जात-पात भी गज़ब ढा रहा है।’

बेनीपुरी ने 1952 की शुरुआत में लिखा - ‘कांग्रेस का कितना पतन हो चुका है’ क्या इसी संस्था को लेकर पंडित नेहरू देश का नव-निर्माण करना चाहते हैं? यह तो असंभव है। कांग्रेस का समर्थन दो ही तबके कर रहे हैं...यहाँ के जुल्मी जमींदार के तहसीलदार और अमले कांग्रेस के कार्यकर्ता बने हुए हैं और वे लाठी से हाँककर कांग्रेस को वोट दिलाना चाह रहे हैं। ...1921 की एक घटना ताजा हो गई। उस समय चुंबक पाठक नामक एक युवक पर यहाँ के जमींदार के चमचों ने लठियों का भीषण प्रहार किया था। सायोगवश चुंबक पाठक जीवित हैं और वह लठियल भी जिसने उनके शरीर को लाठियों से चूर चूर कर दिया था। आज चुंबक पाठक सोशलिस्ट पार्टी के कार्यकर्ता हैं और वह लठियल आज भी लाठी के ज़ोर से कांग्रेस के लिए वोट मांग रहा है, सिर पर गांधी टोपी पहन कर!’

1952 में प्रकाशित मैला आँचल की राजनीति (यह मुख्यतः आजादी के पहले के समय से लेकर गांधी हत्या के बीच के समय पर केंद्रित है) के साथ राजनैतिक स्थिति पर रामबृक्ष बेनीपुरी के इस विवरण का संपर्क सीधा है। यह जो 1942 के बाद से लेकर 1952 के बीच की राजनीति है और उसमें जो परिवर्तन हैं, नई व्यवस्था और राजनीति से पुराने संपन्न लोगों के अपने को एडजस्ट करने और गरीब लोगों के संघर्ष करने की कहानी है उसपर ध्यान

रखने से मैला आँचल का महत्व इसमें वर्णित राजनीति के कारण और अधिक हो जाता है।

...

फणीश्वरनाथ रेणु (1921-1977) के बारे में नागार्जुन ने लिखा है कि ‘लाभ और लोभ की राजनीति से रेणु को उसी तरह नफरत थी, जिस तरह उनके साहित्य-गुरु सतीनाथ भादुड़ी महाशय को थी। 1972 वाले प्रादेशिक चुनाव में कई पार्टियों ने उन्हें टिकट देना चाहा, लेकिन रेणु ने कबूल नहीं किया। वे निर्दलीय चुनाव लड़े और हारे। राजनीति के बारे में रेणु के बारे में इतिहासकार रत्नेश्वर मिश्र का मानना है कि वे राजनीति के महत्व को कभी भूले नहीं और राजनीति से अलग नहीं हुए। रेणु की राजनीति के समझ कैसी थी और किस प्रकार वे लोक जीवन के साथ राजनीति को जोड़कर देखते थे यह उनके उपन्यासों को पढ़कर आसानी से समझा जा सकता है। इस संदर्भ में तीन बातें ध्यान में रखने की हैं। रेणु के बचपन के दो ढाई वर्ष नेपाल के विराटनगर में गुजरे थे और कोइराला परिवार के बटुक विद्यार्थियों के साथ हाई स्कूल का छात्र जीवन अररिया में बीता। दूसरी बात, उन्होंने विद्यार्थी जीवन के कुछ वर्ष काशी विद्यापीठ में बिताए थे। आचार्य नरेंद्र देव, मेहर अली, राममनोहर लोहिया, जयप्रकाश आदि से लेकर प्रताप सिंह, चन्द्रशेखर आजाद, राम प्रसाद बिस्मिल और प्रकट ‘अप्रकट व्यक्तियों से मानसिक लगाव की दृष्टि से बनारस में गुजरे वे कुछेक वर्ष रेणु के लिए महत्वपूर्ण साबित हुए। साहित्य साधना के संस्कार भी वहीं गहरे हुए। तीसरी बात है सतीनाथ भादुड़ी के साथ 1942 के आंदोलन के समय जेल में बिताए गए समय का प्रभाव।’ इन सबकी छाया उनके साहित्य में है, लेकिन वे अपनी राजनीति को अपने साहित्य पर लादते नहीं हैं।

भारतीय राजनीति के बारे में बात करते समय इसके सामाजिक रूपान्तरण के संदर्भ में राजनीति की क्रांतिकारी भूमिका के बारे में बात करना जरूरी है। उन्नीसवीं सदी से शुरू होकर राजनीति बीसवीं

सदी के दूसरे दशक में जनता के साथ जुड़ गई और इसके साथ ही एक तरह से समाज में एक लोकतान्त्रिक प्रक्रिया शुरू हो गई। लेकिन यह प्रक्रिया धीरे-धीरे ही बढ़ी। बड़े शहरों में राजनीति का प्रभाव आया लेकिन दूर दराज के इलाके पुराने नियमों और विचारों से चलते रहे, हालांकि राष्ट्रीय आंदोलन की धमक जहाँ-जहाँ पहुँची वहाँ-वहाँ लोगों ने नए युग के बारे में कल्पनाएँ की और उसके हिसाब से कुछ कुछ परिवर्तन भी होने लगे। बिहार के जिस क्षेत्र - मेरीगंज को पार्श्व में रखकर रेणु ने मैला आँचल में कथा क्षेत्र बनाया है, वह बिहार, बंगाल, नेपाल और असम से सांस्कृतिक रूप से जुड़ा हुआ क्षेत्र है। इस बात का रेणु ने ध्यान रखा है कि राजनीति और क्षेत्र के सांस्कृतिक स्वरूप के चित्रण के बीच एक संतुलन बना रहे पर गौर से पढ़ने से लगता है कि राजनीति की कथा ही मैला आँचल के केंद्र में है। सामाजिक और सांस्कृतिक चित्र उनके राजनैतिक औपन्यासिक वृत्तान्त में सहायक ही होते हैं।

राजनीतिक रूप से इस कथा में तीन समय की कथा अंतर्गुम्फित है - अंग्रेजों का, जमींदारों का और उनके तहसीलदारों का समय, जब देश में राजनैतिक आंदोलन नहीं था और गरीब मातबरों के रहमो करम पर थे।¹ 1942 से 1947 का जमाना जब अंग्रेज जा रहे थे और इलाके में कम से कम कुछ राजनीति से जुड़े लोगों में बेहतर कल की उम्मीद थी कि अब सुराज आएगा और तीसरा समय 1947 के बाद का जब स्वाधीनता मिलने के बाद का समय जब एक नई राजनैतिक व्यवस्था में जमीन और राजनीतिक वर्चस्व के लिए लड़ाई शुरू हुई। पहले से दूसरे समय को बेहतर दिखलाया गया है, लेकिन दूसरे से तीसरे समय को नैतिक रूप से बदतर ही दिखलाया गया है, जब भारत माता और जोर-जोर से रो रही है।

लोग इस इलाके में कब और कैसे आए, बसे और उनके बीच आपसी संबंध का इतिहास रेणु ने नहीं दिखलाया है लेकिन यह स्पष्ट कर दिया है कि जो अंग्रेजों और जमींदार के साथ संबंध बनाए हुए

कर व्यवस्था के संचालक थे वे धीरे-धीरे अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए स्वतंत्र थे। अंग्रेज देश पर सीधे शासन नहीं करते थे, वे स्थानीय लोगों के बीच अपने कारिंदों के सहारे ही शासन करते थे। इस पूरी प्रक्रिया में इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता था कि राज का रुतबा बना रहे। अंग्रेज साहब जब कभी आते, रुतबे से आते, लोगों में आतंक का माहौल हो जाता और वे सब कुछ कानूनी तरीके से करते हुए इलाके को एक तरह से उनके हवाले कर जाते जो अंग्रेजों और बड़े जमींदारों के प्रतिनिधि के रूप में कर वसूली करते थे और इस प्रक्रिया में राज और जमींदार के रुतबे को रखते हुए अपना शासन चलाए रखते थे।³

जो लोग इस इलाके में रहते थे उनमें एक सामाजिक विभाजन था जो जाति के आधार पर था। सभी जातियाँ अपनी जाति के हिसाब से अपना काम करती थी और उनको इस बात का एहसास कभी नहीं होता था कि उनका शोषण होता है और उन्हें संगठित होकर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहिए ताकि उनके दुख कम हो सकें।

रेणु ने पार्श्व में ऐसे संकेत दिए हैं कि यह व्यवस्था यँ ही नहीं चल रही थी इसे ताकत के जोर से ही चलाया जाता था।

रेणु ने जिस जगह से कथा को कहने की शुरुआत की है और आगे बढ़े हैं वह समय तब का है जब नया समय आ रहा है। बाहर की दुनिया से इस अलग थलग दुनिया का संपर्क बन रहा है और यहाँ का समाज बदल रहा है। इस बदलाव के समय से ही कथा आगे बढ़ती है। देश को आजादी मिलने के बाद यहाँ राज्य का शासन तंत्र उसी तरह प्रविष्ट होता है और उपस्थित रहता है जैसे पहले अंग्रेज राज्य व्यवस्था रहती थी। असली ताकत उनके हाथ में थी जो वहाँ की स्थिति में नियंता थे। नियंता पहले तहसीलदार थे जो अंग्रेज और जमींदार के प्रतिनिधि के रूप में थे और वे स्थानीय सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को स्थानीय हिसाब से साम

दाम दंड भेद से उसे चलाते थे। अब इस तरह से यह संभव न रहा। लोकतान्त्रिक राजनीति के दबाव के चलते वहाँ नियंत्रण के लिए बाहरी शक्तियाँ घुसने लगीं। विभिन्न राजनैतिक दलों के लोग इस इलाके में प्रभाव बनाने की कोशिश शुरु हुई। इस बदलते हुए समय में यह समाज कैसे बदलता है वही इस उपन्यास के मूल में है। इस उपन्यास की विशिष्टता इस बात में है कि कथा को आगे बढ़ाते हुए रेणु ने लोक-स्मृति, बदलाव के प्रयासों और उनके अंतर्विरोधों को इस खूबी से जोड़ा है कि पूरे अंचल की पीड़ा उभर कर सामने आ जाती है।

‘गाँव में रोज नया नया सेंटर खुल रहा है- ‘मलरिया सेंटर, काली टोपी सेंटर, लाल झंडा सेंटर और अब यह चरखा सेंटर’। बालदेव एक यादव जाति का संवेदनशील अशिक्षित लेकिन कांग्रेस के आंदोलन से जुड़ा गांधी भक्त है जो बाहर की राजनीति के बारे में सोचता हुआ एक बोध के साथ इस गाँव में रहता है। उस दौर में जब नए नए सेंटर खुल रहे हैं राजनीति के तीन घुव बनते हैं ‘कांग्रेसी (चरखा वाले), समाजवादी (लाल झंडा वाले) और हिंदूवादी (काली टोपी वाले)।

बालदेव कांग्रेसी अहिंसावादी है जिसको लगता है कि ‘गांधी महत्मा का रस्ता ही सबसे पुराना और सही रस्ता है। नई नई पाटी खुल रही है, मगर किसी का रस्ता ठीक नहीं है। सब हिंसावाद के रस्ते पर हैं।’⁴

उसी गाँव में एक कालीचरन यादव है जो बालदेव का चेला था पर इस नई परिस्थिति में कांग्रेस से आगे बढ़कर सोसलिस्ट पार्टी के लिए काम करने लगा है। वह सोसलिस्ट पार्टी का सदस्य बन गया है और इससे और लोगों को जोड़ने का काम करता है।

इस कड़ी में अन्य महत्वपूर्ण राजनीति के आदमी का नाम है बावन दास।⁵ जो कि दशकों से भक्ति भाव से गांधी के भक्त के रूप में सुराजी में नाम लिखाकर काम करता है। रेणु ने सुराजी बनने की प्रक्रिया को राजनीतिक आंदोलन से कम भावनात्मक

और आध्यात्मिक कारणों से अधिक जोड़कर देखा है, ऐसा प्रतीत होता है। तीन लोग एक साथ सुराजी बने थे ‘बावन दास, बालदेव और चुन्नी गोसाईं। गोसाईं जी ने तैवारी जी का भाषण सुना जिसको सुनकर तनुकलाल जी भी रोने लगे। उनको लगा चरखा, करघा, तिरंगा झंडा और खदर को छोड़कर सब मिथ्या है।’⁶

नए समय में लोगों को लगता है कि एक नया समय आ गया है। पहले दुसाध को घोड़ी पर चढ़ने पर उतारकर मारा गया था। ‘अब गांधी का ज़माना है।’

आजादी के बाद राजनीति के इलाके में आने में सहायक परिस्थितियाँ भी थीं जिसके कारण नए समीकरण बनने लगे। अब तहसीलदारी उतने फायदे की चीज न रही और कायस्थ तहसीलदार विश्वनाथ मल्लिक ने तहसीलदारी छोड़ दी और कांग्रेस में शामिल हो गए। इस नए समय में मैनेजर को चार सौ रुपए देकर राजपूत हरगौरी सिंह तहसीलदार बन गया।

आजादी के समय और उसके बाद चीजों के दाम बढ़े थे। उपन्यास में एक पात्र कहता है ‘सवा रुपए पर एक आदमी का पेट नहीं भरता, पाँच साल पहले पाँच आना मजदूरी मिलती थी उसी से घर भर के लोग खाते थे।’⁷ अनाज के दाम बढ़ने से तीन लोगों को लाभ हुआ था - कायस्थ तहसीलदार, राजपूत सिंह जी और खेलावन यादव। यह एक महत्वपूर्ण सूत्र है समय के बदलने के चरित्र का। पहले अंग्रेजी राज में सबकुछ एक तरह से कायस्थ तहसीलदार के हाथ में था, पर अब जो महंगाई आई उससे लाभ पाने वालों में राजपूत जमीनवाले और यादव भी थे।

इस परिस्थिति में गांधीवादी चरखे का अर्थशास्त्र किसी काम का न रहा। ऐसे लोग इससे जुड़े थे जो चरखे में, पानी के इलाज में विश्वास करने को कहते थे। कल का पिसा आटा नहीं खाते थे और चीनी नहीं गुड़ खाते थे। अब ऐसे लोगों की तुलना में

सोशलिस्ट लोग ज्यादा आकर्षक नारा दे रहे थे -जो जोतेगा सो बोएगा, जो बोएगा सो काटेगा, जो काटेगा वो बांटेगा!' कालीचरन अपने छोटे किसान और मजदूरों को कहता है - 'सोसलिस्ट पार्टी चाहती है कि आप अपने हक को पहचाने। आप भी आदमी हैं। आपको आदमी का हक मिलना चाहिए। मैं आप लोगों को मीठी बातों में भुलाना नहीं चाहता। वह कांग्रेसी का काम है। मैं आग लगाना चाहता हूँ।'⁸

एक ऐसी स्थिति आ चुकी है जहाँ आजादी की लड़ाई के दौरान की कहानी के नायकों की तुलना में ऐसे लोग धीरे धीरे राजनीति में प्रभावी हो रहे थे जो सीधे-सीधे बिना जमीन वाले और कम जमीन वाले लोगों को जमीन देने की बात करते थे। रेणु ने जमीन के कब्जे को बहुत महत्व दिया है और संघर्ष इस जमीन पर कब्जे को लेकर ही आगे बढ़ता दिखलाया है।

जो लोग इस इलाके में राजनीति करते हैं उनमें सोशलिस्ट और कांग्रेस के लोगों के अलावा राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के लोग भी हैं जो हिंदू राज के लिए संघर्ष कर रहे हैं, पर मेरीगंज इलाके में कोई मुसलमान है ही नहीं इसलिए उनकी राजनीति का असर सीमित है। रेणु ने तीन दलों को इस रूप में देखा है 'कांग्रेस (जिनके पास चरखा-करघा है) काली टोपी वाले हिंदू दल (जो लाठी भाले वाले हैं) और सोशलिस्ट (जिनके पास बम-पिस्तौल है)।

कालीचरन गाँव भर के हलवाहों, चरवाहों और मजदूरों का नेता है। लेकिन इस पार्टी के साथ कोई बड़ा आदमी नहीं है और इसको पैसे की बड़ी कमी रहती थी। लछ्मी जो एक मठ की कोठारिन है वह थोड़ा सहयोग करती है।

इस नई परिस्थिति में पैसा देने वालों का महत्व बढ़ा था। तहसीलदार कांग्रेस का सम्मानित सदस्य हो जाता है। चार सौ रुपए चन्दा देने के कारण वह जिला कांग्रेस का सदस्य भी बन जाता है। जिनके पास पैसा है और जो ज्यादा चन्दा दे सकते हैं वे इस नई परिस्थिति में राजनीति में महत्वपूर्ण होते हैं।

वामनदास और बालदेव जैसे लोगों के पास पैसा नहीं है इसलिए वे धीरे-धीरे इस नई राजनैतिक अवस्था में महत्वहीन होते जाते हैं। जिला कमेटी के मेम्बर तहसीलदार साहब हुए। बलदेव को कोई खबर नहीं दी गई। कपड़े की मेंबरी भी नहीं रही। नमक कानून (1930) के समय से जेल जाने के यह इनाम उनको मिला !

सोशलिस्ट लड़ते हैं और उनके शहर के नेताओं को लगता है कि मेरीगंज इलाके में कालीचरन गरीब किसानों और मजदूरों को संगठित कर सकते हैं। कालीचरन हर काम शहर के नेता से पूछ कर करता है और उसके लिए जब तक 'लाल पताका' में कुछ नहीं छपता वह राजनैतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं था। रेणु ने इस बात पर बल दिया है कि पैसे के बाद दूसरी चीज जो महत्वपूर्ण थी वह था प्रचार और संगठन।

उस समय कांग्रेस सरकार की ओर से एक एक्ट चालीस आया जिसके बारे में कांग्रेसी कार्यकर्ताओं की राय थी कि इससे जमींदारी खत्म होगी और अब गरीब किसानों को जिस जमीन को वे जोतते थे उसको अपने नाम से रजिस्ट्री कराने के लिए बस पूर्णिया कोर्ट जाकर आवेदन करने की जरूरत भर थी। उस समय सोशलिस्ट पार्टी के लोग जमीन दखल की बात कर रहे थे और इस समय कांग्रेस की ओर से जमीन के कब्जे के लिए जी जान से लगे गरीब किसानों को अपनी तरफ लाने के लिए यह जरूरी था।

कांग्रेस की इस कानूनी चाल का मुक़ाबला करने के लिए सोशलिस्टों के पास सिर्फ संगठन का सहारा था। संगठन की ओर से यह प्रचार करने का निर्देश आया कि इस एक्ट चालीस में नया कुछ नहीं है, सभी छोटे किसानों को संगठित होकर ज़मीन पर कब्जा कर लेना चाहिए और कोई किसी के विरुद्ध गवाही ही नहीं दे।

मेरीगंज में तीन तरह के लोग थे जो इस जमीन दखल की लड़ाई में थे। एक तरफ थे जमीन वाले

बड़े किसान -कायस्थ , राजपूत और अब यादव भी और दूसरी ओर थे पिछड़ी जातियों के मजदूर-किसान जिनमें यादव भी थे। इस लड़ाई में गाँव के बाहर रहने वाले आदिवादी संथाल भी थे जो जमीन पर खेती करते थे और कानूनी हिसाब से उनको उस जमीन का मालिक अब हो जाना चाहिए था जिनपर वे बहुत दिनों से खेती करते थे। वे गाँव से लगभग स्वतंत्र थे और उनके पास कालीचरण जैसे लोग नहीं थे जो उनको इस लड़ाई को आगे बढ़ने में नेतृत्व देते। इस समीकरण में रेणु ने बहुत सुंदर तरीके से दिखलाया है कि निम्न जातियों के मजदूर किस तरह से बड़े किसानों के बीच बंटे हुए थे। ततमा टोली और पासवान (दुसाध) टोले के मजदूर राजपूत बड़े किसान सिंह की ज़मीन पर काम करते थे। पोलिया टोला, धानुक टोला, कुर्मी टोला और केवट टोले के मजदूर कायस्थ तहसीलदार की जमीन पर और गुआर टोला और कोयरी टोले के मजदूर खेलवान यादव के खेतों में काम करते थे। संथाल स्वतंत्र थे।

रेणु के इस उपन्यास को हिंदी साहित्य में इस नई राजनीति और इससे जुड़े जमीन के संघर्ष को राजनैतिक और सामाजिक समीकरणों के साथ लाने का श्रेय दिया जा सकता है। इसके पूर्व बंगला के सतिनाथ भादुडी ने अपने अमर उपन्यास 'ढोडाय चरित', में ततमा टोली की कहानी को रखा था, लेकिन राजनीतिक दृष्टि से रेणु का उपन्यास अधिक बड़े फलक पर सीधे-सीधे यथार्थ को रखने वाला ऐसा उपन्यास है जिसने हिंदी उपन्यास को नई ऊँचाई दी इसको माना जा सकता है।

संथालों की जमीन के लिए की गई लड़ाई के प्रसंग को उतनी प्रमुखता से उपन्यास में स्थान नहीं दिया गया है और रणेन्द्र जैसे कथाकार ने रेणु के साहित्य में आदिवासियों के प्रश्न को गौण रखने के लिए उनकी आलोचना भी की है लेकिन पचास के दशक में रेणु ने एक बहुत महत्वपूर्ण बात रखी है कि आपस में बुरी तरह लड़ते हुए भी गाँव के लोग

(जिसमें ऊँची और निचली जातियों के अमीर-गरीब सब हैं) गाँव के बाहर के गरीब संथालों के खिलाफ खूनी लड़ाई लड़ते हैं और युद्ध करके उनको मार करके उनकी स्त्रियों का बलात्कार भी करने जैसा काम करते हैं। निश्चित रूप से इस जगह रेणु ने गाँव वालों के क्रूर पक्ष को छुपाने की कोशिश नहीं की है।

आजादी के बाद इस नए समय के इन परिवर्तनों को सामने रखने के कारण ही रेणु के मैला आँचल का ऐतिहासिक महत्व है। इस नए समय में स्थिति पहले से बेहतर हुई या बदतर इस प्रश्न का जवाब सीधे-सीधे देना संभव नहीं होता। बावनदास जो आजादी के लड़ाई में गांधी और जवाहरलाल के साथ मंच पर बैठा है और भक्ति भाव से भारत माता की सेवा में लगा हुआ था वह इस नए समय में अपने जैसे ही अहिंसावादी बालदेव से कहता है—'भारत माथा अब रो रही है, बालदेव!' वह देखता है कि अंग्रेज परस्त लोग जिनके विरुद्ध कांग्रेसी लड़े थे वे इस नए समय में शक्तिशाली हुए जा रहे थे। उसे याद आता है कि पिकेटिंग के जमाने में जिस मारवाड़ी के बेटे ने स्वयं सेवकों को पीटा था और जिसने पुलिस को पैसे देकर स्वयं सेवकों को बंदी बनाकर कोइलों से पिटवाया था वह नरपतनगर थाना कांग्रेस का सभापति बन बैठा है। उसी तरह जुआ कंपनी वाला जो नेपाली लड़कियों को भगाकर लाने वाला कटहा थाना कांग्रेस का सचिव बना हुआ है। बावनदास को लगता है कि भारत माता- और जोर जोर से रो रही है। (अंग्रेजों के राज में रोती थी अब और जोर-जोर से रो रही है।)⁹ उस समय उनको यह देखकर आश्चर्य हुआ कि चुन्नी गोसाईं जैसा आदमी भी कांग्रेस को छोड़कर सोशलिस्ट पार्टी में शामिल हो गया है।

परिस्थिति ऐसी है कि रैयतों की सुनने वाला कोई नहीं। रैयतों की दरखास्त खारिज हो जाती है और फैसला सुनकर सब रैयत रोने लगते हैं। कालीचरण जैसे लोग यह सोचते हैं कि जमींदार

लोग रैयतों को जमीन से बेदखल नहीं कर सकते। पर उसे इस बात का थोड़ा संतोष भी है कि अगर यह नहीं होता तो सारे रैयत कांग्रेस की ओर चले जाते। इस नई परिस्थिति में सब सोशलिस्ट पार्टी के साथ रहेंगे ऐसा उसे लगता है।

क्रांति पार्टी (सोशलिस्ट) में भी उथल पुथल मची है। कालीचरन जैसे लोग सोशलिस्ट पार्टी के कृष्णकांत मिश्र (सेक्रेटरी साहब) को बड़ा आदमी समझते हैं पर लीडर के घर के लोग कालीचरन जैसे लोगों को असभ्य और उजड़ु ही समझते हैं। राजनीति जमीनी स्तर पर एक तरह से चलती है और पार्टी के स्तर पर दूसरी तरह से।

जमीनी स्तर पर सोमा जट जैसे डकैतों का बहुत महत्व है जिसके पार्टी में आ जाने से इलाके के सारे बड़े आदमी ठीक हो जाएंगे, ऐसा सोचा जाता है। चलित्तर कर्मकार जिससे पार्टी को जमीनी स्तर पर बड़ी मदद मिलती उसे निकाल दिया गया क्योंकि 'सीमेंट में उसने बहुत पैसा गोलमाल कर दिया था' और साथ ही पार्टी को बंदूक पिस्तौल भी नहीं दिया।

पार्टी चाहती है कि बंदूक पिस्तौल सरकार को जमा किया जाए।

रैयतों की दरखास्त खारिज होने के बाद नए तहसीलदार ने घोषणा कर दी कि एक सौ रुपये बीघा सलामी देकर कोई भी रैयत जमीन की बंदोबस्ती करा ले। पैसा देकर जमीन का मालिक बनने की होड़ लग गई है। संथालों के पास जो जमीन थी उसे तहसीलदार साहब ले रहे हैं, दूसरों के नाम से, यह भी खबर थी।

कालीचरन इसका विरोध करता है और छोटी जातियों के लोगों ने बड़ी जातियों के लोगों के साथ सहयोग करना, उनका काम बंद कर दिया है। इस विकट स्थिति के बारे में बावनदास जिला कांग्रेस के नेताओं को खबर देने जाता है - 'गाँव में जुलुम हो रहा है।'¹⁰

रेणु की इस कथा में एक महत्वपूर्ण कोण है डॉ प्रशांत की उपस्थिति। उसके परिवार के बारे में

इतना ही कहा गया है कि वह एक निःसंतान बंगाली महिला को नदी में बहता हुआ मिला था और उस महिला ने उसे पुत्र के रूप में बड़ा किया था। पढ़ लिखकर प्रशांत डॉक्टर बना था और अपने समाज के प्रति दायित्व के पालन हेतु वह इस पिछड़े इलाके में आकर लोगों की सेवा के साथ-साथ मलेरिया के इलाज के लिए अनुसंधान कर रहा है। वह एक आदर्शवादी मध्यवर्ग का प्रतिनिधि है जो बाहर की दुनिया को मेरीगंज से जोड़ने का सूत्र है। उससे संथालियों को यह पता चलता है कि उनका जमीन पर अधिकार होना चाहिए। वे उस जमीन के लिए अपने अस्त्रों के साथ प्रस्तुत हैं।

पैसे और संगठन के अलावा तीसरी महत्वपूर्ण जरूरत यहाँ ताकत की है जिससे जमीनी लड़ाई की जा सके। सोशलिस्ट इस ताकत के लिए एक डकैत-लोहार चलित्तर कर्मकार के भरोसे हैं जो 1942 के दिनों से ही इस इलाके में एक खतरनाक व्यक्ति के रूप में सक्रिय था और दस खून करने के बाद भी पुलिस उसे नहीं पकड़ सकी थी।

बावनदास पूर्णिया जाकर देखता है कि वहाँ भी जुलुम हो रहा है ! कांग्रेस ऑफिस में जुलुम हो रहा है। राजपूत और भूमिहार के बीच में संगठन के चुनाव में लोग भिड़े हैं। जाति का ऐसा दबदबा देखकर बावनदास को लगता है कि-अब लोगों को चाहिए कि अपनी अपनी (कांग्रेसी) टोपी पर लिखवा लें -भूमिहार, राजपूत, कायस्थ, यादव, हरिजन ... कौन काजकर्ता किस पार्टी का है, समझ में नहीं आता।'¹¹

संथाल अपनी जमीन छोड़ने को तैयार नहीं, वे उसके लिए लड़ने को तैयार हैं।

दूसरी ओर गाँव के लोग पंचायत करते हैं और तहसीलदार साहब कालीचरन को समझाते हैं कि गाँव के लोग एक साथ रहें। सब मिल कर तय करते हैं कि -यदि गाँव के बाहर का कोई बाहरी हमला करे तो इसका मुकाबला सबको मिल कर करना होगा।...गाँव की जमीन गाँव में रहेगी।'

जमीन और गाँव के आधार पर बने इस समीकरण के हिसाब से संधाल 'बाहरी' होते हैं और उनका मुकाबला सबलोग मिलकर करते हैं। गाँव के 'बलदेव जी, बावनदास जी और कालीचरन सब एक हो गए।' यह संदेश संधालों के पास है। चुनका मांझी डाक्टर के पास गया जिसने कहा - 'तुम लोग जमीन के असल मालिक हो। कानून है, जिसने तीन साल तक जमीन को जोता बोया है, जमीन उसी की होगी, बावनदास बार-बार गांधी को चिट्ठी लिखता है। उधर से प्रणाम आता है, बस।

जमीन पर कब्जे के लिए 'गाँव वाले' संधालों से लड़ते हैं। खूनी लड़ाई होती है। दो सौ गाँव के आदमी थे और सामने थे दो दर्जन संधाल! संधाल टोली के चार आदमी मारे गए, सात घायल हुए और एक लड़के की हालत खराब थी। संधालिनों पर गाँव वाले टूट पड़े और उनके साथ बलात्कार किया। गाँव वालों में दस मारे गए, बारह बुरी तरह से जख्मी हुए। नए तहसीलदार हरगौरी की भी जान चली गई। पर, संधाल टोली को लूट लिया गया।¹²

इस कांड के बाद पुलिस आती है। पैसे खर्च हुए, लेकिन दरोगा राजपूत निकला और पाँच हजार में काम हो गया ... लेकिन गैर संधालों में कोई गिरफ्तार नहीं हुआ। नौ संधालों के अलावा जो लोग घायल होकर अस्पताल में पड़े थे सब गिरफ्तार हुए।

संधाल बेचारे मारे गए और जब उनसे पूछा गया तो सच बोले और फँस गए। दरोगा जी ने जब पूछा कि क्यों बीचड़ लूट रहे थे तो बिरसा ने जवाब दिया कि हम लगाया है। इसके बाद दरोगा जी ने झाड़-झपट के पूछा तो बिरसा के बाद सबों ने तुरंत कबूल कर लिया कि बीचड़ तहसीलदार का है। ... उखाड़ता क्यों था? जबाब मिला - जमींदारी परथा खत्म हो गई, लेकिन हमारे गाँव के जमींदारों ने मिलकर हमारी जमीन छुड़ा ली है ! ... इसलिए लूट लिया।

इस प्रसंग का जो वर्णन रेणु ने किया है वह इस उपन्यास का सबसे करुण हिस्सा है। शायद उससे भी अधिक करुण जिसमें आखिरकार गाँव के आदमियों

के बीच गांधी दूत के रूप में उपस्थित बावनदास की हत्या का विवरण है। यह प्रसंग शायद मैला आँचल में वर्णित राजनीति का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा है।

आदिवासी लोगों की हत्या और उनकी औरतों के साथ बलात्कार और फिर जाँच के बाद सोशलिस्ट पार्टी के ऑफिस में भीड़ लगी ... कालीचरन ने कहा कि आज सुराजी (कांग्रेसी), सोशलिस्ट और भगवान कीर्तन एक साथ गाए जाएंगे। उसमें गाया गया - भारत का वीर लड़ाका था, मस्ताना भगत सिंह ! ... सिंह? भगत सिंह कौन जात था?

मैला आँचल के दूसरे खंड में स्वराज बस मिलने वाला है। मुकदमा में भी सुराज मिला। सभी संधालों को यह जीवन कारावास हो गया। संधालों की ओर से पटना से जो बालिस्टर आया उसका खर्चा संधालिनों ने गहना बेचकर दिया। संधाल टोली की नई बंदोबस्ती की जमीन बाँट ली गई।

रेणु ने एक मारक वाक्य लिखा है - 'मुकदमा उतसब भी सुराज उतसब के दिन होगा? हाँ, सुराज उतसब दिन में मुकदमा उतसब रात में।'¹³

किसी भी संवेदनशील पाठक को यह प्रसंग भावुक कर सकता है कि सुराज उतसब में नौटंकी की बाई जी के बिलौज पर टका सटा जाएगा। ... संधाल लोग इस सुराज उतसब में नाचेंगे। ... संधालि ने खुद आकर कह गई हैं - नाचबौ। ... आज से ही पराटिस कर रहे हैं।'¹⁴

जब जनता सुराज की खुशी में जय-जयकार कर रही थी अपने नेताओं की तभी कोई चिल्लाया - 'यह आजादी झूठी है ! देश की जनता भूखी है!'

कालीचरन को पार्टी से कहा गया है कि सुराज सिर्फ कांग्रेसी को मिला है।

इस माहौल में बावनदास को सिर्फ गांधी का भरोसा है। उसको भरोसा है कि वे पार लगावेंगे।

उस समय खबर मिलती है कि देश में हिंदू मुसलमान का दंगा शुरू हो गया है। गांधी जी के अनशन की खबर भी है। आजकल नूवांखाली गए हैं। गांधी जी ने चिट्ठी भेजी है कि सन तीस में गांधी

आश्रम में जो आदमी पूर्णिया से आया था उसको नूवांखाली भेज दो। रामायण पढ़ेगा।

सोशलिस्ट पार्टी में भी दो गुट हो गया है। एक सेक्रेटरी का और दूसरा धरम पुरी जी का बसुदेव सेक्रेटरी के साथ है और कालीचरन को पुरी के दल का समझा जाता है।

बासुदेव और सुंदरलाल (सुनरा) को पुलिस गिरफ्तार कर लेती है। उसको सोमा जट ने आगे बढ़ा दिया था ऐसा कालीचरन को लगता है। उसको पता चल गया था कि ये लोग साहू के यहाँ डकैती करते हैं। वह सेक्रेटरी को बताने भी गया था पर वे पटना गए हुए थे। उसे लगता है कि चलित्तर से मेल जोल ठीक नहीं हुआ था और उससे बंदूक पिस्तौल लेना ठीक नहीं हुआ पार्टी के लिए। उसका नाम बासुदेव लेता है और पुलिस कालीचरन के पीछे लग जाती है। वह रुस्तम खाँ नाम रखकर छुप जाता है। इस बीच राजनीति गरमा जाती है और कुछ लोग मेले में यह छाप कर बाँटते हैं – 'कम्युनिस्ट पार्टी के लाल झंडा को बुलंदी से ढोने वाले चलित्तर कर्मकार के ऊपर से वारंट हटाओ।' ¹⁵

कालीचरन को पता चलता है कि पार्टी की तरफ से कहा गया है कि वह पार्टी का मेंबर नहीं है बस किसान सभा का दुअनिया मेंबर है। वह अपनी सफाई देना चाहता है कि इस डकैती से उसका कोई संपर्क नहीं है।

कालीचरन जब मंगला से मिलने जाता है तो वह गिरफ्तार कर लिया जाता है।

चलित्तर कर्मकार की खोज में पुलिस लगी है और वह डॉक्टर को भी गिरफ्तार करके पूछताछ के लिए ले जाती है। उस समय उसकी बड़ी चर्चा थी। उसपर पंद्रह हजार का इनाम था। 'नेताजी के सिंगापूर में आने समय गाँव-घर, घाट बाट, नाच तमाशा में लोग जैसी चर्चा करते थे, वैसी ही चर्चा चलित्तर की भी होती है।' ¹⁶

डॉक्टर को जेल में ही रहना पड़ता है। उस समय गांधी जी पटना की प्रार्थना सभी में रोज

प्रवचन देते हैं। वह जेल में बैठे-बैठे तहसीलदार की हँसी में कही हुई बात को याद करता है – 'जिस दिन धनी, जमींदार, सेठ और मिल वालों को लोग राह चलते कोढ़ी और पागल समझने लगेंगे उसी दिन, उसी दिन असल सुराज हो जाएगा।'

डेढ़ महीने जेल में रहने के बाद कचहरी में हाजिरी हुई। वहाँ उसे सेक्रेटरी साहब – कृष्णकान्त मिश्र जी दिखे। जय हिंदू कामरेड कहा चिल्लाकर। उन्होंने तुरंत मुंह फेर लिया। पूरे उपन्यास में राजनीति के दो चेहरे – एक जो निचले स्तर पर है और एक जो लीडरशिप पर आधारित है उपन्यास में अलग अलग चलते और निर्देशित होते दिखते हैं। रेणु जी एक वाक्य लिखते हैं – 'इसमें सेक्रेटरी साहब का क्या कसूर! चोर डकैतों से सभी भले लोगों को दूर रहना चाहिए। बासुदेव, सुनरा, सोमा, सनीचरा वगैरह आखिर डकैत ही तो हैं! कालीचरन सिक्रेटरी साहब और धरम पुरी जी से बात करना चाहता है। उसके बाद फाँसी-सूल्ली जो भी मिले वह खुशी खुशी झेल लेगा। पार्टी की इतनी बड़ी बदनामी कराके वह जी कर ही क्या करेगा!'

जेल में एक महत्वपूर्ण वार्तालाप है – बासुदेव और कालीचरन के बीच। कालीचरन कहता है – तुमको यही करना था? बासुदेव कहता है – 'जिस समय सात सौ रुपैया का पुलिंदा बाँधकर सिक्रेटरी साहब को देने गए थे, उस दिन क्यों नहीं पूछा कि कहाँ से इतना रुपैया वसूल हुआ?',

उसे चलित्तर कर्मकार से हुई मुलाक़ात की बात याद आती है। उसने कालीचरन को एक बार कहा था 'इस खाली हाथ पार्टी (सोशलिस्ट पार्टी के लोग अपनी पार्टी को इस नाम से भी बुलाते थे) में रहोगे तो सब दिन खाली हाथ ही रहोगे। ...,'

गाढ़े बिपत में कभी जरूरत पड़ने पर करमाकर की बाद याद आती है कालीचरन को।

कालीचरन जेल से भागता है और बड़ी मुश्किल से पार्टी ऑफिस पहुँचता है एक पल के लिए अपने को सुरक्षित महसूस करता है। लेकिन उसके समझाने

पर भी सेक्रेटरी उसे डकैत-बदमाश ही समझता है और कालीचरन को अब बस चलित्तर कर्मकार याद आता है।

पुलिस कलिया (कालीचरन) को ढूंढती हुई गाँव पहुँचती है तो गाँव का सुमिरत दास समझाता है कि सुसलिस्ट पार्टी का नाम भी नहीं लेना। पूछे तो कहना, हम लोग कांग्रेस में हैं। कालीचरन से कोई रिश्ता मत बताना...लाल झंडा जिसके घर से निकलेगा तुरत गिरफ़्तार (तार) हो जाएगा।

काली से गाँव अपने को एकदम अलग कर लेता है। बस उसकी अंधी माँ कहती है – 'मेरा बेटा...वह डकैत नहीं है दारोगा बाबू ...दुसमन लगा हुआ है उसके पीछे हुजूर! जाने सुरुज भगवान।

पुलिस अधिकारी गाँव वालों को संबोधित करके कहता है –चलित्तर कर्मकार को न तो देश से मतलब है, न गाँव से और न समाज से। उसका पेशा है डकैती करना, लूटना। वह समाज का दुश्मन है।

उसी समय यह खबर आती है कि गांधी जी मारे गए।

अंत में रेणु बावनदास को उपन्यास के केंद्र में लाते हैं। गांधी का यह भक्त जो समझ चुका है कि भारत माता और जोर जोर से रो रही है, उसे गांधी की मृत्यु के बाद लगता है कि 'सब पाटी समान।'।

बावनदास निरक्षर है लेकिन गांधी की चिट्ठी को हृदय की आँख से पढ़ सकता है। उसके पास गांधी की चिट्ठियाँ हैं जिसके एक एक शब्द पर निगाह डालकर लगता है वह सचमुच उसे पढ़ रहा है।

लेकिन उसका इस विश्वासी आदमी का मन फट गया है। बावनदास निकल पड़ता है। वह जगन्नाथ पुरी जाने की सोचता है और वह नागर नदी की ओर बढ़ता है। नगर नदी भारत और पाकिस्तान के बीच में बहती है। ठंड का समय है। रास्ते में पचासों गाड़ियाँ आ रही हैं। कपड़े और चीनी और सीमेंट से लदी गाड़ियाँ। वह उन गाड़ियों को रोकने के लिए खड़ा होता है। ये गाड़ियाँ दुलार चंद कापर की हैं। कापरा जुआ कंपनीवाला है जिसकी दुकान पर किसी

समय पिकेटिंग किया था कभी कांग्रेसी कार्यकर्ताओं ने। कापरा जुआ ही नहीं मोरंगिया लड़की और दारु गांजे का करवार करता था। वह आदमी अब कांग्रेस का सिकरेटरी हो गया है। गैर कानूनी ढंग से पूरा कारबार वह करता था। यह काम घूस देकर कापरा करता था और चोर रास्ते से अपना सामान ले जाता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि रेणु ने बावनदास के माध्यम से गांधी की पीड़ा को सामने रख दिया है। गांधी भी ऐसी ही स्थिति में थे। देश का कारवार हो रहा था, चोरबाजार का काम चल रहा था, जो लोग पहले अंग्रेज के समय में गलत काम करते थे वही अब कांग्रेस के आदमी बन गए थे, उनकी गाड़ियाँ चल रही थीं, सांप्रदायिक दंगे हो रहे थे और गांधी जैसा आदमी कह उठा था—'मुझे बुला लो अपने पास! क्या करूँगा इस दुनिया में रहकर। गांधी के पास भगवान थे और बावनदास के पास महत्मा जी (गांधी थे)।

रामबुझावन दास जो गाड़ियाँ ले जा रहा है पहले तो रात में अजनबी आकृति को देखकर घबड़ाता है पर यह देखकर कि सामने खड़ा व्यक्ति वामनदास है वह निश्चित होता है। दोनों एक दूसरे को सन तीस से जानते हैं। इन गाड़ियों को जो रात के अंधेरे में गैरकानूनी ढंग से रिश्वत देकर ले जायी जा रही हैं उसे रोकने के लिए वामन दास बीच सड़क पर खड़ा हो गया, जैसे शायद गांधी उनके लिए असुविधाजनक ढंग से खड़े थे जो सुराज के बाद शक्तिशाली हुई थे। गांधी की हत्या के बाद दो टांगों वाली मुर्गी (नेपाल से लाई हुई औरतें) भोज खाने गई हुई हैं इसलिए चार टांगों वाली मुर्गी का मांस खाते हुए नए 'कांग्रेसी' कापरा बावनदास को रास्ता छोड़ने के लिए कहते हैं। जिद्दी बावनदास खड़ा रहा ताकि पवित्तर दिन को कलंक न लगे। नए कांग्रेसी को पुराने कांग्रेसी के ऊपर से गाड़ी ले जाने में कोई भय और संकोच नहीं हुआ।

गाड़ियों के पास हो जाने के बाद हवलदार और

रामबुझवान सिंह बावनदास की चित्थी-चित्थी लाश, लहू के कीचड़ में लथपथ लाश को उठाकर चलते हैं... नगर नदी के उस पार पाकिस्तान में फेंकने के लिए। दुलार चंद कापरा बावन की झोली लेकर उनके पीछे पीछे जाता है।

भारत के ये लोग बावनदास की लाश को पाकिस्तान में फेंक आते हैं और अगली सुबह पाकिस्तान के पुलिस वाले उसे वापस भारत में फेंकने के लिए नदी के पुल से इस ओर आते हुए बीच में ही उसकी लाश को नदी में ही फेंक देते हैं। पाकिस्तानी सिपाही बावनदास की खंजरी को पानी में फेंकते हुए कहता है "डमरू बजा के रघुपति राघव गाते रहो"।

मेरीगंज गाँव के अब एकक्षत्र मालिक, जमींदार हो गए हैं अब विश्वनाथ मल्लिक।

इससे भी करुण दृश्य तब उपस्थित किया है रेणु ने जब बालदेव गांधी की लिखी चिट्ठियों को जलाने की कोशिश करता है। बावनदास ने उन चिट्ठियों को गांगुली बाबू के पहुँचा देने के लिए कहा था। लछ्मी इसे बर्दाश्त नहीं कर पाती। बलदेव (यादव) के मन में यह भाव उठता है कि वह 'अब अपने गाँव में रहेगा, अपने समाज में, अपनी जाति में रहेगा। ...जाति बहुत बड़ी चीज है। ...जाति की बात ऐसी है कि सभी बड़े बड़े लीडर अपनी अपनी जाति की पार्टी में हैं। ...यह तो राजनीति है।'।

अगले दिन लछ्मी के पास बलदेव रोते हैं।

इसके बाद शायद रेणु को लगा होगा कि ऐसा भीषण चित्र शायद ज्यादा हो जाएगा। संघर्ष का एक प्रतीक कालीचरन पुलिस से भागते हुए अपनी किरान्ती पार्टी से दूर होकर चलितर कर्मकार के बारे में सोचता है, मैले अंचल का 'गांधी' वामनदास की लाश नदी में फेंकी जा चुकी है और सुराजी बालदेव अपनी जाति की पार्टी में जाने के लिए तैयार है और दस बीघा (यही मिला था संथालियों को दमन करने की बुद्धि लगाकर गाँव के लिए जमीन के लिए खूनी खेल के पुरस्कार के रूप में) का घेराव लिए हुए जगह पर तहसीलदार खलिहान बनाता है। इस

दारुण समय में जब मठ मीना बाजार बना जा रहा है, उपन्यास में आशा की एक किरण दिए बिना रेणु का मन माना नहीं होगा। उन्होंने पता नहीं क्यों तहसीलदार का वैसे ही हृदय परिवर्तन दिखला दिया जैसे प्रेमचंद ने नमक का दरोगा में वंशीधर को अलोपीदीन द्वारा मैनेजर नियुक्त करके दिखलाया था। तहसीलदार की बेटी कमली और कथा-आशा 'नायक प्रशांत के गंधर्व विवाह से उत्पन्न पुत्र नीलोत्पल के जन्म के बाद यह तय करते हैं कि वे अपनी जमीन रोते हुए लोगों को लौटा देते हैं। पूरे सौ बीघे जमीन उन्होंने दे दी। उस समय उनके मुँह से रेणु कहवाते हैं - 'अरे, यह जमीन तो उन्हीं किसानों की है, नीलाम की हुई, जब्त की हुई; उन्हें वापस दे रहा हूँ।

प्रशांत को रेणु कैसे छोड़ देते! वह कहता है - 'मैं फिर काम शुरू करूँगा- यही, इसी गाँव से। मैं प्यार की खेती करना चाहता हूँ। आँसू से भीगी हुई धरती पर प्यार के पौधे लहलहायेंगे। मैं साधना करूँगा, ग्राम वासिनी भारत माता के मैले आँचल तले !

यथार्थ को सामने रखने के बाद आशा के साथ ही रेणु उस धरती के बारे में कहना चाहते थे जो आजादी के पहले और आजादी के बाद गांधी जी की मृत्यु के बीच के दौर में राजनैतिक रूप से बहुत तेजी से बदला।

संदर्भ :

1. इन तीनों बातों का उल्लेख नागार्जुन ने अपने आलेख 'फणीश्वरनाथ रेणु' में किया है जो उनकी रचनावली के छठे खंड में संकलित है। भागलपुर सेंट्रल जेल में बिताए गए दिनों का उसमें विशेष उल्लेख है जब कांग्रेसी, सोशलिस्ट, फॉरवर्ड ब्लॉक वाले, यानि कई पार्टियों के राजनीतिक नेता और कार्यकर्ता जेल में एक साथ थे। उसी समय कविता लिखने वाले रेणु को सतीनाथ ने सुझाव दिया कि कहानी लिखें। दोनों ढाई तीन साल जेल में साथ रहे। दस साल बाद मैला आँचल कागज पर उतरा।

2. रेणु ने अपनी विशिष्ट शैली में उस पुराने जमाने के बारे में इस तरह लिखा है - 'विश्वनाथ

मल्लिक (तहसीलदार) के पिता देवनाथ मल्लिक को पाँच रुपए माहवारी मिलती थी लेकिन ऊपरी आमदनी बहुत थी। तीन साल में अस्सी नब्बे बीघे धनहर जमीन के मालिक बन गए।... तहसीलदार के खेत में मजदूरी करने वाले को कभी मजदूरी नहीं मिलती थी। ... कमला नदी के बगल के गड्ढे में जोंक पाल कर रखा था। जो ... नजराना देने में देर करता था उसे गड्ढे में चार घंटे तक खड़ा करवा देते थे। वह जमाना तो बूढ़े तहसीलदार के साथ चला गया। (अध्याय 26) नीलकंठी के साहबों के जुल्म से ऊबकर किसानों ने बलवा शुरू किया तो जमींदारों ने अपने तहसीलदारों और पटवारियों को गुप्त रूप से हिदायत दी कि ज्यादा और जोर जुल्म मत करो और फिर उसके बाद यह कम हुआ। बिना जुल्म किए भी उनके पूर्वजों के किए ही उनकी धाक बनी रही थी। (अध्याय 26)

3. रेणु ने लिखा है – ‘कहावत थी कि जमदूत थोड़ा मोहलत भी दे सकता था पर तहसीलदार नहीं... बगैर जोत जमीनवाले भी गाँव छोड़कर नेपाल के जिले मोरंग भाग जाते थे...टैट लगते थे...तहसीलदार एक लिस्ट बनाता था...जिसने भी कुछ इधर उधर किया उसका नाम आ जाता।’ (अध्याय 26)

4. अध्याय 22

5. रेणु ने इसके बारे में लिखा है कि वह डेढ़ हाथ का साँवले रंग का अज्ञात कुलशील जन्मजात साधू था। वह रामकिशुन बाबू बंगाली और उनकी पत्नी

आभारानी के संपर्क में था। आभा रानी को उसमें ‘भगवान’ दिखते थे। गांधी जब इस इलाके में आए तो आभा रानी के इस ‘भगवान’ से मिले थे। 1934 के भूकंप के बाद गांधी जब इस इलाके में आए थे तो उनके साथ बामनदास भी घूमे थे। 1937 में जब जवाहरलाल नेहरू ने एक तूफानी दौरा किया था तो उन्हें बावनदास को देखकर एक अंग्रेजी पुस्तक ‘King of the Golden River’ के बौने का स्मरण हुआ था। भाषण देते हुए उनकी तस्वीर नेहरू के साथ ‘नेशनल हेराल्ड’ में छपी थी। 1942 के दौरान उन्होंने पुलिसवालों के घेरे में पुलिस के पाँव के नीचे से निकलाकर झंडा फहराया था ऐसा कहा जाता था। ‘उनको गांधी जानते हैं, नेहरू जी भी जानते हैं और राजेंद्रबाबू भी पहचानते हैं।’ उन्होंने पच्चीस दिन का एक बड़ा उपवास भी किया था।

6. अध्याय 25

7. अध्याय 23

8. अध्याय 29

9. अध्याय 25

10. अध्याय 34

11. अध्याय 35

12. अध्याय 39

13. दूसरा खंड , अध्याय 2

14. वही

15. खंड दो , अध्याय 12

16. अध्याय 16

संपर्क : इतिहासकार, प्रोफेसर, रवींद्र भारती विश्वविद्यालय, मो. : 9836450033

रेणु साहित्य और आंचलिक आधुनिकता

सदन झा

भूमिका

यह एक ऐतिहासिक संयोग भी हो सकता है कि महबूब खान की मशहूर सनिमा मदर इंडिया और फणीश्वरनाथ रेणु का दुसरा उपन्यास, 'परती : परिकथा' 1957 में एक मास के भीतर ही रिलीज हुआ। मदर इंडिया और परती: परिकथा दोनों ही भारत के ग्रामिण परिवेश के बदलाव की दास्तान है। मदर इंडिया की कहानी फ्लेश-वेक में चलती है जिसके घटना क्रम में हम एक ऐसे धरातल से प्रवेश करते हैं जो सन् पचास के नवभारत के सपनों की धरती है। एक इच्छित भारत जहाँ आपकी आँखें ट्रैक्टरों की घरघराहट, बिजली के तारों और बाँध के पानी की आशा सेच का चौंध हैं। मदर इंडिया एक औरत की कहानी है, एक गाँव की जो भारत के पूरे उत्तर पट्टी के किसी भी गाँव की हो सकती है। यह एक भारतीय गाँव है। यहाँ स्थान, क्षेत्र और जाति एवं बहतेरे अन्य विशिष्टताओं को खरचकर समतल कर दिया गया है।

मदर इंडिया सिनेमा की तरह, 'परती:परिकथा' भी एक गाँव के परिवेश के परिवर्तन की कहानी है। यहाँ भी बाँध बनता है, यहाँ भी सपने आकार लेते हैं नेहरुवादी विकासमुलक सपने। परती: परिकथा के अंत की ओर पाठक एक ऐसे ही जश्ना से रू-ब-रू होता है :

‘पाँचवाँ चक्र: उदघोषक की आवाज-निराश, हताश, कोसी-कवलित मानवों की टोली में जन-जागरण ने विद्रोह मंत्र फूँका-धु-तु-तु-तु-तु’! लड़ाई के नक्काशड़े बजते हैं। कोसी बह रही है, लहरें नाच रही है। अर्ध-नग्नश जनता का विशाल दल! पर्वत तोड़, हड़्यो! ...कौन जीतता है-मार जवानो, हड़्यो! एक डैम की प्रतिष्ठाया परदे पर! गड़-गड़, गड़-गड़ गर्-र-र-र-र-र!’

वीरान धरती का रंग बदल रहा है धीरे-धीरे-हरा, लाल, पीला, वैगनी। -हरे-भरे खेत परती:परिकथा, 645-46; (रेणु साहित्य, के सभी संदर्भ रेणु रचनावली से लिये गए हैं। देखें भारत यायावर(सं.), रेणु रचनावली (5 भागों में), दिल्ली : राजकमल, 1995)।

ये किस प्रकार का उत्सव है? यह कोशी, इस जायन, इस वीरान धरती और इसके गाँव में रेणु का वह कौन सा तान है जो हमें भारत के गाँवों को देखने का एक नया नजरिया देता है?

रेणु का गाँव

रेणू के गाँव और मदर इंडिया के गाँव में एक बड़ा फर्क है। रेणू के गाँव को उत्तर

भारत में किसी दूसरे क्षेत्र में प्रतिस्थापित नहीं किया जा सकता है। यह कोशी नदी के पूरब का गाँव है, इसे कोशी के पच्छिम भी नहीं सरका सकते। मदर इंडिया और 'परती: परिकथा' दो रूप हैं सन पचास के गाँव पर नेहरुवादी आधुनिकता के औपनिवेशिकता की। मदर इंडिया जिसमें आपकी कल्पना को इजाजत है जगह चुनने की क्योंकि स्थानिकता के विस्तार में जगह की विशिष्टताओं को खुरचकर समतल कर दिया गया है। परती परिकथा, जहाँ पाठक के स्थागन जनित कल्पना को जगह के ईर्द-गिर्द समेटने की कोशिश है। यह सिनेमा और यह उपन्यास दोनों ही भारत के गाँवों के पिछड़ेपन की कहानी है। एक में औरत के जीवन-चरित के तौर पर, दूसरे में धरती के टुकड़े की। यह पिछड़ा टुकड़ा है पूर्णिया जिला का एक गाँव।

धूसर, वीरान, अंत हीन प्रान्तपर।

पतिता भूमि, परती जमीन, वन्याप्र धरती।

धरती नहीं, धरती की लाश, जिसपर कफन की तरह फैली हुई है बालूचरों की पंक्तियाँ।

‘(परती : परिकथा, रेणु रचनावली 2:311)’

कैसी है यह जमीन? मदर-इंडिया की भूमि, पंत की जग जननि, जीवन विकासिनी पतिता कैसे? पंत की माता अपने कठोरतम क्षणों में भी उदासीन, विषणन या प्रवासिनी ही रही वह कभी पतिता नहीं हुई, कभी बन्यादास नहीं हुई। वह कौन सा तार है जिसके सहारे रेणु इस जमीन के गहराईयों, इसके अंत:मन में उतरते हैं और यह पूरा अंचल उनके लिये धरती की लाश के रूप में सामने आता है? सवाल यह भी कि एक पतिता और बन्या धरती या फिर धरती की लाश क्या महज चंद विशेषण मात्र हैं या इनका कुछ महत अभिप्राय भी है। यदि हाँ, तो क्या? क्या यह अभिप्राय महज कथा-वस्तु तक ही सीमित है? मेरा अनुमान है कि रेणु की पतिता भूमि और उसका अंत:मन हमें बहुत दूर तक ले जाता है जिसके सहारे रेणु न मात्र भारतीय गाँवों के चित्रांकन के अनछुए पहलुओं की ओर ध्यान दिलाते हैं बल्कि वे

आधुनिकता के साथ भी खेलते हैं।

—‘मन समझती हैं न आप।’— तीसरी कसम का हिरामन मोहक अंदाज में कहता है। हिराबाई को इसी अंचल की ओर ले जाते हुए। इसी के साथ शायद पहली बार बंबईया सनिमा के कैमरे ने प्रवेश किया। बैलगाड़ी पर क्षमा करें ‘कंपनी’ पर, तीसरी कसम में। सुब्रत मित्रा के कैमरे ने 1966 में पहली बार इस क्षेत्र की जमीन को देश के सामने परदे पर पेश किया। रेणु, अंचल के इसी मन को शब्दों में बयान कर रहे थे। मुझे बहुत ताज्जुब होता है कि बैलगाड़ी और उसके अनेक प्रकार जिसके संबंध में औपनिवेशिक दस्तावेजों और बाद के सरकारी कागजों से भी बहुत कुछ मिल जाता है। और, जिसका होना भारतीय गाँव के लोकप्रिय तस्वीर, पोस्टरों इत्यादि के लिये आज भी लाजिमी माना जाता है वह बैलगाड़ी भारतीय गाँवों पर शोध कर रहे एंथ्रोपोलोजिस्टज, समाजशास्त्री, इतिहासकार या फिर साहित्य के आलोचकों का मन क्यों नहीं खींचा? कुछ बातें महज कविता, कहानी, सनिमा, पोस्टरों में ही क्यों रह जाती? विश्लेषणात्मक फ्रेम का हिस्सा क्यों नहीं बन पाती?

इस गीत के शुरुआत में ही हिरामन कहता है कि यदि अपनी बोली में गाना सुनना है तो लीक छोड़नी पड़ेगी। यहाँ मेरे लिये महुआ घटवारिन का दर्द और सनिमा की हिराबाई का अत्रेत की ओर देखना बहुत मानीखेज है। गीत के अंत की ओर हिराबाई की आँख (जिसे सनिमाई भाषा में पोईट आफ व्यू। शाट्सी कहते हैं) और सामने फैले नदी के विस्तार के बीच एक अजीब सा विजुअल संवाद होता है मानो हिराबाई की अंत:पीड़ा, महुआ घटवारिन का दर्द और बाहर फैले अंचल का दर्द एकमेक हुआ जाए। रेणु ने इस जमीन को ‘कच्छ पपृष्टदसदृश भूमि! कछुआ पीठा?’ कहा है (परती:परिकथा, 311) और इसकी पीड़ा के दस्तावेजीकरण के लिये सुरती राय के रूप में एक घाट-हाकिम भी रेणु ने नियुक्त किए जो घाटों की कहानी का संग्रह कर रहा है।

घाट बरदिया का व्यवहार, करो बेगारी उतरो पार (परती: परिकथा, 324)। गौर तलब कि औपनिवेशिक काल में घाट-कर महत्वपूर्ण हुआ करता था।

लेकिन अंचल के इन ऊपर वर्णित प्रवेश-द्वारों की सीमाएं हैं इसीलिये रेणु ने इस धरती, इस लैण्डस्केप की जटिलता, इसकी समृद्धता को उकेड़ने के लिये महज बाहरवालों पर निर्भरता नहीं रखी। परती की परिकथा कई स्तरों पर चलती है।

चिरई-चुनमुन की कहानी पर परतीत न हो, संभव है।

परती की अंतहीन कहानी की एक परिकथा वह बूढ़ा भैंसवार भी कहता है। गँजेड़ी है तो क्या! गुनी आदमी जरा अमल पाँत तो लेता ही है (परती: परिकथा, 313)।

यह किस तरह की जमीन है। इसकी पीड़ा को और इस धरती से इस विवरण के नाते को हम इतिहास में किस तरह से देखें? इस जगह का नेहरुवादी आधुनिकता से क्या संबंध है?

यह कोशी अंचल है। पूर्णिया जिला। आज का पूर्णिया नहीं, रेणु के समय का और अंगरेजों के समय का पुरेनिया जिला। बहुत हाल तक, कहावत मशहूर था, 'ना जहर खाओ ना माहूर खाओ मरना है तो पूर्णिया जाओ'। एक प्रान्त जो अपने भौगोलिक और पर्यावरणीय असल कारकों से दुसरे क्षेत्रों से पीछे छुट गए। लेकिन रेणु का पूर्णिया और कफन ओढ़े धरती ढकी लाश, पिछड़ेपन की कहानी को अलग अंदाज में हमारे सामने लाता है या फिर कहें कि हम से यह कथा कुछ अलग अपेक्षा रखता है। लेकिन जिस खास सवाल कि ओर मेरा इशारा है वह यह कि यदि रेणु का गाँव भिन्न। है तो रेणु के शिल्प की भिन्नता के क्या मायने हुए? इस मायने को समझने के लिये इतिहास और साहित्य के बीच के संबंध की पड़ताल के सवाल क्या हों? क्या रेणु साहित्य हमें वह अंतर्दृष्टि देता है जो गाँव को देखने, रूपांकित करने, अध्ययन

करने या कहानी कहने के अंदाज पर सवालिया निशान लगाए?

रेणु का आंचलिक गाँव

सन् पचास का दशक भारत के लिए आमतौर पर आजादी के शुरुआती उम्मीदों, उहा-पोह और जद्दो - जहद के लिए जाना जाता है। नेहरु के सपनों का देश और उसी के अनुरूप ढलते एक काल के सफरनामे की तरह-भूख, निर्धनता, अनाज आयात, विभाजन की आग, दंगे-फसाद से लेकर पंच-वर्षीय योजना, महलानोविस और सांख्यिकी का बोलबाला, गुट-निरपेक्षता से लेकर बड़े-बड़े बाँधों को आधुनिक मंदिरों की शक्ल में पेश करता हुआ एक समय।

यह एक महाख्यान के गढ़े जाते हुए समय की विशालता के साथ हमारे सामने पेश किया जाता है जिसकी पेचीदगी एक ऐतिहासिक प्रसव-पीड़ा के नाम पर या तो भुला दी जाती है या फिर एक खास तरह से इसे परोसा जाता है। जैसे कि बड़े बाँध और नेहरु के पंच-वर्षीय योजनाओं की आलोचना करते हुए हम सन् पचास की ओर मुखातिब होते हैं। लेकिन क्या इन व्याख्याओं से अलग, नेहरु और बाँध से परे, इनकी आलोचना से भी इतर होकर पचास के उस गढ़े जाते हुए समय की ओर हम नजर नहीं डालें? मैं बात करना चाहता हूँ उस गढ़े जाते हुए समय के भाषा की। नहीं! भाषा चेतना की बात शायद मैं नहीं करना चाहता। चेतना, एक अलहेदा मुकाम की ओर हमें ले जा सकता है। मैं भाषा प्रयोगों की बात पर अटकना चाहता हूँ।

रेणु का आंचलिक गाँव तीन बातों पर टिका हुआ है। ये हैं, रेणु का अनोखा लहजा (उनके लेखनी में साहित्य के अनूठे रूपों के साथ खेलने की बाजीगरी) जो उन्हें प्रेमचंद के विरासत से अलग करती है; दूसरा, उनके द्वारा अंचल और गाँव के जीवन से जुड़े सूचनाओं का अपार संग्रह और उपयोग (ग्रामीण जीवन का लेखा-जोखा जो अद्भुत एन्थ्रोपोलोजिकल

डिटेल् और सुक्ष्म नजरिए से भरा पड़ा है) जिसे मैं अंचल का सांस्कृतिक स्मृति कहूँगा; और तीसरा, उनके कथा कहने का अनूठापन। ये तीन कुल मिलाकर अंचल की एक विशिष्ट छवि बनाते हैं जिसमें आंचलिक ग्राम्य के साथ अपनापे (belongingness) की अहम भूमिका है। यह अपनापा हमें एक खास ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में आंचलिक ग्राम्य का एक वैकल्पिक आर्काइव प्रदान करते हैं। यह अपनापा हमें 1950 के दशक के गाँव के एन्थ्रो पोलोजिकल-समाजशास्त्री में एक सिरे से नदारद दिखती है।

रेणु के कथा-शिल्प और उनके भाषा संबंधी प्रयोग के संबंध में बहुत कुछ लिखा गया है (खासकर देखें केथरीन हानसेन और इंदु प्रकाश पाण्डेय। भारत यायावर ने महज रेणु रचनावली मुहैया करने के साथ साथ रेणु को पढ़ने और गुणने के रास्ते भी दिखाए हैं। हिन्हीं साहित्य में रेणु पर लिखे महत्वपूर्ण आलोचनाओं का संदर्भ केथरीन हानसेन के शोध और लेख में मिल जाता है। इन सबके अलावे भी रेणु साहित्य पर बहुत कुछ मानीखेज लिखा गया है। जहाँ रेणु भाषा के उच्चारित रूप को खड़ी बोली हिंदी के उस लिखित परंपराके स्थान पर तरजीह देते हैं जो उन्नीसवीं सदी के अंत के दशकों तक जाती है। इसका सीधा संबंध रेणु के पात्रों के सामाजिक सरोकारों से जुड़ता है और रेणु के गाँव में अलग-अलग भाषा बोलने वाले अलग-अलग जाति के लोग अपनी भाषाई और जातिगत भिन्नताओं के द्वारा गाँव पर अपने दावेदारी पेश करते नजर आते हैं। यहाँ यह ताकीद कर देना लाजमी है की रेणु का गाँव अपने समकालीनता से असम्पृक्त नहीं है लेकिन यह प्रेमचंद के गाँव के समान राष्ट्र के स्पेस में विलीन भी नहीं है।

रेणु का गाँव दावेदारियों से अटा पड़ा है। ये दावे, भाषागत हैं। जमीन के हैं, जातिगत हैं और वैचारिक भी। 'परती:परिकथा' में 'सर्वे सेटलमेण्ट' के हाकिम

साहब परेशान हैं। परानपुर इस्टेकट की कोई भी जमा ऐसी नहीं जो बेदग हो। सभी जमा को लेकर एकाधिक खूनी मुकदमे हुए हैं; आदमी मरे हैं, मारे गए हैं।' (परती: परिकथा, 329)।

36 साल के अपने लेखनी के शुरुआत में फणीश्वरनाथ रेणु कवि बनना चाहते थे और इन 36 वर्षों में उन्होंने न मात्र साहित्य की हर विधा में मिशाल कायम किए वरन राजनीति में सक्रिय भागेदारी भी निभायी और चुनाव भी लड़े। रेणु उस समाज की जिंदगी से कटे नहीं थे जिसको वे कागज पर अक्षरों में रच रहे थे। यह तथ्य रेणु को अपने समकालीन लेखकों खासकर नई कहानी के पुरोधाओं से अलग करता है। यह उन्हें उस प्रचलित आधुनिक पद्धति से भी कुछ दूरी पर खड़ा रखता है जिस ज्ञान-अर्जन हेतु असम्पृक्तता पर बल दिया जाता था/है। रेणु का अपने अंचल की जिंदगी में इस सक्रियता का उनके शिल्प के लिये क्या मायने होगा? लोठार लुटसे ने यही सवाल उनसे पुछा और रेणु नई कहानी के लेखकों पर विफर उठे। नई कहानी के लेखकों के विपरीत रेणु शहर के बदले गाँव पर केंद्रित हैं। लेकिन जो रेणु को उनके समकालीन लेखकों से जोड़ता है वह है अंतः मन/आंतरिक पैठने की अदम्य चाह। नई कहानी के लेखक मानवीय चरित्र के भीतर उर्ध्वाधर घुसने की जदोजहद में हैं तो रेणु अंचल को मानवीय चरित्र देने की फिराक में। लेकिन रेणु अपने चरित्र को मनोविज्ञानिकों के समान सामने बैठकर नहीं अवलोकन करते वे खुद इस चरित्र के एक पात्र हैं। इस अंचल की जिंदगी में शामिल, फसल बोने-काटने में हिस्सेदार। रेणु के चरित्र अपने अंचल के इतिहास को साथ लेकर चलता है। लेकिन ये पात्र जो रेणु की जिंदगी से किसी न किसी रूप में जुड़े, इस अंचल के जीते जागते लोग हुआ करते थे, कभी भी स्वयं को इस अंचल से मुक्त नहीं कर पाते हैं। जितने बाबु प्राणपुर लौट आता है (परती :

परिकथा), डॉक्टर प्रशांत मेरीगंज आता तो है लेकिन फिर वहीं का होकर रह जाता है गोदान के मिस्टर मेहता की तरह उसके लिए गाँव मध्यवर्गीय तफरीह की जगह नहीं, काम करने का 'लेबोरेटरी' है। हिरामन हीराबाई के साथ अंचल नहीं छोड़ता है और न हीराबाई ही रुकती है। रेणु की आन्तरिकता अंचल के भाषा में ही नहीं रुकती है वरन वे इतिहास और भूगोल से निरंतर खेलते हैं। लेकिन गौर तलब हो की रेणु का न तो इतिहास ही आधुनिकता का इतिहास है और न ही उनका भूगोल सेक्युलर जगहों की निर्मितियों पर आधारित है। रेणु के कथा-साहित्य में इतिहास अतीत के चिन्हों के रूप में यत्र-तत्र बिखरा हुआ है जो समकालीन से जुदा नहीं होकर उनको पहचान देता है। यह सांस्कृतिक-अतीत है अपने बहुवचन में। कोशी के साथ रेणु का सरोकार इसका एक उदहारण है। कोशी मैया भी, भगवती भी, एक उन्मुक्त किशोरी भी और सास-ननद से सताई अबला से डायन बनी सबला भी। ध्यान देने लायक यह भी रेणु का लोक जगत लेखक के लिए किसी सांस्कृतिक भण्डार के सामान नहीं है जिसके लिए लेखक फोल्क्लोरिस्ट के सामान शुद्धतावादी नजरिया अपनाए। रेणु के सोहर, फाग, बटगमनी, समदरुन आदि गांधी-जवाहर से ताल्लुक रखते हैं। एक अजीब किस्म की रागधर्मिता है अपने समकालीन घटनाओं को समेटे हुए। यह मेरे दूसरे हिस्से से जुड़ा है जिसमें रेणु सन पचास के दशक के एक क्रोमनिक्लरर के रूप में हमारे सामने आते हैं।

रेणु का लेखन अनेक बहुवचनों से मिलकर बना है जिसमें प्रांत की सांस्कृतिक स्मृति, सामुदायिक और सामाजिक ताने-बाने और नैतिकता सभी कुछ शामिल तो है लेकिन इनका शामिल होना पहले से चले आ रहे साहित्यिक मान्यताओं और मानदण्डों को तोड़ता-मरोड़ता है जैसे 'मैला-आँचल' के दूसरे ही अध्याय में हम पाते हैं-तीन आने की लबनी ताड़ी,

रोक साला मोटरगाड़ी। इन बहुवचनों के बीच गाँव को स्थापित करने के लिये रेणु ने शिल्प से संबंधित बहुतेरे प्रयोग किए जिससे अतीत की संश्लिष्टता के साथ बदलते ग्रामीण समाज की कहानी एक विशिष्ट एस्थेटिक संवेदना के साथ सामने आयी और आंचलिक साहित्य की एक नई विधा का सूत्रपात हुआ।

रेणु के इस आंचलिकता को व्याख्यायित करने से पहले संक्षेप में इसकी जन्म-पत्री का उल्लेख बेमतलब नहीं होगा। पर, हमें प्रेमचंद से शुरुआत करनी होगी, जिनके सेवा सदन (1919) से हिंदी साहित्य, में उपन्यास को एक स्वतंत्र विधा का दर्जा हासिल हुआ। प्रेमचंद और उनके युग के लेखकों के लिये साहित्य का मुख्य उद्देश्य सामाजिक और राष्ट्रीय हितों की सेवा करना था। प्रेमचंद की लेखनी का नैतिक और राजनीतिक ओज एकतरफ तो गांधीवादी राष्ट्रवाद से आता था तो दूसरी तरफ आर्थिक और सामाजिक रूप से हासिये पर के लोगों के चित्रण से जिसका उद्देश्य समाज का यथार्थवादी रूप पेश करना और सामाजिक कुरीतियों का उदभाषण करना था। इसे बहुत से आलोचकों ने 'आर्दशोन्मुखी यथार्थवाद' कहा है। रँगभूमि (1925) का सूरदास और गोदान के गाँव और होरी (1936) स्वतः ही हमारे सामने आ खड़े होते हैं।

कुछ कुछ इसी लीक पर 1936 में प्रगतिवादी लेखक संघ (Progressive Writers Association or PWA) की स्थापना हुई। बंगाली साहित्य के प्रभावशाली रूझान जो एक सार्वभौमिक मानव की तलाश में लिप्त था (और जिसका सीधा असर उन्निसवीं सदी के अंत से विकसित हिंदी साहित्य पर भी खासा दिखता है), इसके विपरीत अब ऐसे आदमी की तलाश होने लगी जो अपने समाज और परिवेश से दमित हो। यहाँ PWA और बंगाली साहित्य के कल्लोल आंदोलन के बीच सीधा संबंध दिखता है। प्रेमचंद का 'आर्दशोन्मुखी यथार्थवाद' और कल्लोल

के क्षेत्रीय परिवेश का दबा-कुचला आदमी इन दोनों ने कहानी में समाजिक और आर्थिक पृष्ठ-भूमि के सक्षम और लेकिन लंबे दस्तावेजीकरण पर जोर दिया। गोदान इस सम्मिश्रण का अद्भुत उदाहरण है। बहुत दिनों तक और शायद आज भी इसे भारतीय गाँव का संपूर्ण लेखा जोखा माना जाता है। लेकिन गोदान में ग्रामीणों के मध्य राजनीतिक चेतना नदारद है। खड़ी बोली में लिखा उत्तर प्रदेश का यह गाँव अवधी, भोजपुरी या ब्रज नहीं के बराबर इस्तेमाल करता है। अंचल यहाँ अपने भाषाई विविधता से मरहूम है और यह गाँव जातियों से खाली।

रेणु या फिर राही मसुम रजा या अमृत लाल 'नागर का बूंद और समुद्र' इन्हीं बातों को लेकर सामने आते हैं, साहित्य के नए तेवर के साथ। समय के हिसाब से देखा जाए तो नागार्जुन रेणु से पहले आते हैं। इंदु प्रकाश पांडे ने इस पूरी प्रक्रिया को हमारे सामने रखा है (इन्दु प्रकाश पांडे, हिंदी के आंचलिक उपन्यासों में जीवन सत्य, दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, 1979)। लेकिन, रेणु के या फिर कहें तो हिंदी में आंचलिक साहित्य के उदय का इतिहास अभी लिखा जाना शेष है और इसके लिये जहाँ एक ओर उन्नीसवीं सदी के अंत से 1950 के दशक को फिर से खंगालने की जरूरत है (खासकर हिंदी साहित्य ने आधुनिकता के साथ किस तरह के संवाद स्थापित किए और किन स्तरों पर तथा किन क्षेत्रों में लोक को जीवंत बनाए रखा) वहीं 1936 से 1950 के बीच का साहित्यिक इतिहास पर गहन चिंतन की जरूरत है, खासकर मुझ जैसे कम अकल के लिये तो जरूर ही। लेकिन यहाँ हम रेणु के गाँव की ओर चलें और देखें कि वह किस तरह प्रेमचंद से भिन्न है और भारतीय गाँव की छवि में सेंध मारता है। रेणु के चरित्र अपने सामाजिक-भाषाई विशिष्टताओं से लिप्त हैं जहाँ हरेक की अपनी खास भाषाई पहचान है। इसीलिये महज एक ही अध्याय में हम

मैथिली, तत्सम, अर्ध-तत्सम, तदभव, नेपाली-हिंदी, संस्कृत-निष्ठ हिंदी और शुद्ध संस्कृत का इस्तेमाल देखते हैं। रेणु का यह प्रयोग उस खड़ी बोली के प्रचार-प्रसार का प्रतिरोध भी दिखता है जिसमें क्षेत्रीय भाषाओं को बोलियों का दर्जा देकर न मात्र दायम स्थान दे दिया गया पर साथ ही बोलने और लिखने के बीच एक नैतिक अंतर पर भी जोर दिया गया। रेणु इसके खिलाफ शब्द के उच्चारित और लिखित रूपों के अंतर के साथ खिलवाड़ करते हैं। इस खेल में इनकी प्रतिबद्धता उच्चारित और व्यवहारित अनुभवों की तरफ है लेकिन इस क्रम में भाषाई नैतिकता नया आयाम ग्रहण करने लगता है। जैसा कि कैथरिन हानसेन ने भी दिखाया है आधुनिक हिंदी गद्य जिसका अकथित नियम अर्ध-तत्सम के स्थान पर संस्कृत या फिर तत्सम का उपयोग था उसे रेणु ने मानने से इंकार कर दिया।

इस भाषाई प्रयोग का एक परिणाम यह भी हुआ कि हमारे सामने एक समृद्ध भाषाई आर्काइव है, इस अंचल का। यह आर्काइव कोशी क्षेत्र के ग्रामीण समाज के सीमांत पर दम तोड़ते चरित्रों और सामाजिक कामों का अद्भुत दस्तावेज भी है। इनकी कहानी ठेस(1957) का सिरचन एक सितल-पाटी बनाने वाला है। 'रसप्रिया' का पंचकौड़ी मृदंगिया (1955), तीसरी कसम का 'बहलमान' हिरामन (1955) ऐसे ही कुछ उदाहरण हैं जो ग्रामीण समाज के अंग तो हैं लेकिन सीधे-सीधे खेती से नहीं जुड़े हैं पर इन सबकी अपनी पहचान हैं, इनकी अपनी जिंदगी है जो समकालीन ग्राम अध्ययन में नदारद है। रेणु के ये चरित्र अपने विधा में महारथी हैं और इस रूप में काफी सबल हैं लेकिन ये सभी अत्यंत भावुक और कोमल अतः दुनियावी मामलों में कमजोर भी हैं जहाँ इनकी भावुकता की जरूरत सामाजिक संबंध के प्रचलित दायरों और वर्गीकरणों को तोड़ती चलती है। 'तीसरी कसम' में हिरामन और हिराबाई का

संबंध रोमांस और दोस्ती के साधारण परिभाषा के बीच कहीं नजर आता है। 'रस प्रिया' में बूढ़े मृदंगिया का एक छोटे बच्चे के प्रति आकर्षण अनेक तारों के बीच झुलता है जिसमें एक मृत प्राय संगीत की विरासत, घुमंतु उपाश्रयित संगीतकार की मार्मिकता और दयनीयता तथा गरीबी शामिल है।

लेकिन यदि रेणु के इस आर्काइव को हम ग्राम-समाज के सूचनाओं के लिये देखेंगे तो वह रेणु और साहित्य दोनों ही के लिये अन्याय होगा। यहाँ अपनापे और भावनाओं की प्रचुरता है जो रेणु के गाँव को उनके समकालीन बुद्धिजीवियों जैसे एम. एन. श्रीनिवास, एस. सी. दूबे और तमाम समाज-वैज्ञानिकों से रेणु को अलग करता है। रेणु के लिये जो सबसे अहम था वह उनके अपने शब्दों में स्वयं उनकी अपने आप की तलाश थी जिसका मतलब था मानव मात्र की खोज (रेणु रचनावली, 1:580)।

मैंने यहाँ ऊपर चार बातों का जिक्र किया है- आर्काइव, सूचना और भावनात्मकता के बीच का अंतर और सन पचास में अपने निज की तलाश। ये सब व्यापक विश्लेषण की माँग करते हैं जिसके लिये यहाँ समय और समीचीनता नहीं है लेकिन अपनी बातों को स्पष्ट करने के लिये मैं रेणु की एक कहानी 'समदिया' (1962) का उदाहरण देना चाहूँगा। यहाँ रेणु ने एक संवाद वाहक के द्वंद के द्वारा सूचना के प्रति वफादारी और अपने निज के भावना के प्रति ईमानदारी के बीच का कमसकस दिखाएँ है जिसमें अंत में लेखक सूचना संप्रेषण के बदले भावना के पक्ष में निर्णय दिया है लेकिन, पूर्ण विंदु लगाने से पहले यहाँ यह ताकीद कर देना लाजिमी कि इस कहानी में समदिया का आत्मे घनिष्ट रूप से उसके गाँव के आत्म (सम्मान) के साथ संलग्न है।

यह आत्म गाँव से जुड़ा है जो उस अंचल से जुड़ा है और इस जुड़ाव में अतीत की बड़ी अहम भागेदारी है। यह अतीत है अंचल के मलेरिया का,

यह है एक अंचल का पूर्ण-अरंय से बंध्यो-धरती बन जाने का। यह है नीलहे गोरों की स्मृतियों का। यह अतीत कम से कम दो स्तरों पर दर्शाया जा सकता है। पहला तो, पूर्णिया जिला में औपनिवेशिक काल में अंग्रेजी सरकार की नीतियों के कारण आए बदलावों के द्वारा। इस इतिहास में कोशी नदी को नियंत्रित करने की जद्दो-जहद है जिसके कारण कालाजार और मलेरिया ने इस जिले को डस लिया और हमे कहावत मिला न जहर खाओ ना माहुर, मरना है तो पूर्णिया जाओ।

दुसरे स्तर पर हमे लोक में संचित अति मिलता है जिसमे कोशी मैया भी है और डायन भी। जहाँ कोशी हरेक बंधन से अपने को बचाती अपने को मुक्त रखने में सफल है। रेणु इन दोनों स्तरों के साथ निरंतर खेलते हैं। रेणु का लोक बहुत से रूपों में आता है- कथा कहने के अंदाज में, कथा के क्रम में लोक-गीत, मुहावरे आदि में, कथा के भीतर की कथा में (परती:परिकथा में) और धरती के बन्यात से हो जाने के औपनिवेशिक स्मृति में। लेकिन यह सब हो रहा है उपन्यास, कहानी और कथा-रिपोर्टाज में जहाँ लेखक एक अंचल के गाँव को आथेंटिक तरीके से अभिव्यक्त करना चाहता है ऐसे रूप में जो आधुनिक है।

अलग तरह से देखें तो इसे कह सकते हैं रेणु का आधुनिकता के भीतर से आधुनिक समय के साथ खिलवाड़।

'मैला आँचल' में डॉक्टर प्रशांत कोशी क्षेत्र की मूल समस्या मलेरिया का समाधान खोज रहा है। लेकिन वह हल इसी क्षेत्र के वनस्पति में मौजूद है। यह क्षेत्र एक प्रयोगशाला है। डॉक्टर प्रशांत के लिए लेकिन इस प्रयोग के नियम और तरीके रेणु के अपने हैं। 'परती परिकथा' में जितने कछुआ पीठा परती में पानी ढूँढ रहा है जिस से वीरान धरती सुनहले रंग में रंग किन समस्या का हल उसे रहस्यमय ताम्रपत्र

में वर्णित जीवट पोखर की ओर ले जाता है। ये महज मिथक नहीं हैं लेखक लोक जगत के फकरे और लोक गीतों की तरह समकालीन समय को साथ लेते हुए इनका राजनैतिक इस्तेमाल करता है। एक ऐसे जगह की कहानी कहने के लिए जहाँ समय के साथ खेल तो बहुत खेले जा रहे लेकिन भिन्न-भिन्न तरीके से। किसी एक चौखटे में रहकर नहीं। पश्चिम से उधार लिए हुए आधुनिकता के चौखटे में खास तौर पर नहीं।

रेणु के यहाँ गाँव का अतीत है। यह इतिहास में विलीन नहीं। यहाँ गोदान श्रीनिवास के गाँवों की तरह इतिहास नदारद नहीं है। रेणु के गाँव के पास उसका न अतीत भी है और इतिहास भी। इन दोनों की सक्रिय भागेदारी इसलिए भी संभव हो पाई है क्योंकि रेणु अपने गाँव को महज समय केस के ल परस्था निकता से नंगा कर खड़ा नहीं कर रहे। यही कारण है कि रेणु के गाँव में समय भी बहुवचन में कई

स्तरों परकथा शिल्प से खिलवाड़ करता हमारे सामने आता है। एक क्षण में पण्डुकी की कहानी, अगले क्षण में कोशिका मैया की कहानी फिर अगले क्षण में धरती के लाश बनते जाने का इतिहास और नेहरू के सपनों के भारत का भीषण आशावाद।

लेकिन उस मोह का क्या करें जो रेणु की रचना के ठीक बीच में है? जो कोशी अंचल के लोगों को इस क्षेत्र की तमाम दिक्कतों के बावजूद अपनी ओर खींच लाता है। सन् 1995 में सहरसा जिले के सूरति पत्तिगाँव की? सालकी संसाखातून कहती है, कुछ नहीं बचा, न घर, न खेत-पथर, कुछ नहीं। कोशी सब बहाकर ले गई। कोशी हर साल करीब 80,000 लोगों को बेघर करती है। लोग बाग पंजाब, हरियाणा और दिल्ली का रुख करते हैं। लेकिन फिर से लौट आने के लिए, अपने पानी में डूबे घर की ओर। 'यह हमारा घर है, हम कहाँ जाए। जब पानी आता है हम महज बाँध के दूसरी तरफ इंतजार करते हैं।'

संपर्क : इतिहासकार, एसोसिएट प्रोफेसर, सेंटर फॉर सोशलस्टडीज, सूरत, मो. :9974556725

आंचलिक उपन्यास परंपरा, मैला अंचल और हिंदी की प्रगतिशील आलोचना

प्रियंकर पालीवाल

उपन्यास साहित्य की एक आधुनिक विधा है। इस विधा का विकास अक्सर औद्योगिक क्रांति, राष्ट्रवाद के विकास, शहरों के विकास और मध्यवर्ग के उदय से जोड़कर देखा जाता है। मुद्रण प्रौद्योगिकी के विकास ने उपन्यास विधा के विस्तार और प्रसार में सहायता की। उपन्यास लिखने की शुरुआत सत्रहवीं सदी में मुख्य रूप से इंग्लैंड और फ्रांस में हुई। अठारहवीं सदी में जाकर उपन्यास की विधा और भी फली फूली। चार्ल्स डिकिंस का उपन्यास 'पिकविक पेपर्स' इसी तरह एक पत्रिका में धारावाहिक रूप से प्रकाशित और लोकप्रिय हुआ था। इसलिए अक्सर उपन्यास को मध्यवर्ग की दास्तान या मध्यवर्ग का महाकाव्य कहा जाता है। अर्थात् इस विधा का उदय मध्यवर्ग और मुद्रण कला के विकास के साथ विन्यस्त है।

अंग्रेजी के 'रीजनल नॉवेल' को हिंदी में 'आंचलिक उपन्यास' नाम दिया गया। आंचलिक उपन्यास इस अर्थ में भिन्न हैं कि आंचलिक उपन्यासकारों ने सामान्य या विराट से अलग अपने अनुभव की सीमा में आने वाले अंचल को उपन्यास का विषय-क्षेत्र चुना। अंचल यानी विशिष्ट जनपद या क्षेत्र जो अपने आप में एक पूर्ण भौगोलिक और सांस्कृतिक इकाई है। अंचल में 'इक' प्रत्यय लगाने से अर्थ हुआ अंचल संबंधी। इसलिए आंचलिक उपन्यासों में सामान्यतः महानगरों से दूर किसी अल्पज्ञात अथवा उपेक्षित किंतु पहचाने जा सकने योग्य वास्तविक इलाके के भूदृश्यों, स्थानीय संस्कृति और लोकजीवन यानी उनके रीति-रिवाज़, बोली-बानी आदि का सघन चित्रण मिलता है।

आंचलिक उपन्यासकार किसी क्षेत्र विशेष पर ध्यान केंद्रित करता है और उस क्षेत्र तथा वहाँ के निवासियों को अपनी कथा का आधार बनाता है। अर्थात् 'आंचलिक उपन्यास वह है, जिसमें अपरिचित भूमियों और अज्ञात जातियों के वैविध्यपूर्ण जीवन का चित्रण हो। जिसमें वहाँ की भाषा, लोकोक्ति, लोक-कथायें, लोक-गीत, मुहावरे और लहजा, वेशभूषा, धर्म-जीवन, समाज तथा संस्कृति के अनुसार, उपन्यासों में लोकरंगों को उभारकर किसी अंचल विशेष का प्रतिनिधित्व करने वाले उपन्यासों को आंचलिक उपन्यास कहा जाएगा।'

अंग्रेजी के शुरुआती आंचलिक उपन्यासकारों में मारिया एडवर्थ का नाम लिया जाता है जिन्होंने अपने उपन्यास 'कैसल रैकरेंट' में आयरिश काउंटी और एस्टेट जीवन का वर्णन किया है। टॉमस हार्डी ने इंग्लैंड की डोरसेट काउंटी के अनुभवों पर केंद्रित अपने 'वैसेक्स नॉवेल्स' के लिए कहा 'द नॉवेल्स ऑफ कैरेक्टर एंड एनवायरमेंट'।

यही वजह है कि डॉ. रामदरश मिश्र लिखते हैं कि, 'आंचलिक उपन्यास तो अंचल के समग्र जीवन का उपन्यास है। उसका संबंध जनपद से होता है ऐसा नहीं, वह जनपद की ही कथा है।' , पर हमें यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि आंचलिक

उपन्यास अपने विशिष्ट स्थानीय चित्रण और शैली में आंचलिक हैं, संदेश या उद्देश्य में नहीं।

हालाँकि रेणु के 'मैला आंचल' के पहले शिवपूजन सहाय का उपन्यास 'देहाती दुनिया' (1925) नागार्जुन का 'बलचनमा' (1952) और शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' काशिकेय का 'बहती गंगा' (1952) प्रकाशित हो चुके थे पर एक विशिष्ट औपन्यासिक विधा के रूप में आंचलिक उपन्यास की चर्चा के प्रारंभ का श्रेय 'मैला आंचल' (1954) को जाता है। इस उपन्यास के लेखक ने तो उपन्यास की भूमिका में स्वयं ही इसे आंचलिक उपन्यास की संज्ञा दी है।

उपन्यास का कथा-क्षेत्र है बिहार के पूर्णिया जिले का एक गाँव मेरीगंज। मानो मेरीगंज नामक गाँव की हथेली पर सद्यस्वतंत्र भारत के ग्रामीण इलाके के तमाम राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक मुद्दों को – उसके सौंदर्य और कुरूपता को, उसके स्वास्थ्य और रुग्णता को रेणु ने रूपाकार दे दिया है।

अमेरिकी रीजनल नॉविलिस्ट जॉन स्टाइनबेक अपने उपन्यास 'कैनरी रो' (1945) की शुरुआत में लिखते हैं :

"Cannery Row in Monterey in California is a poem, a stink, a grating noise, a quality of light, a tone, a habit, a nostalgia, a dream.

Its inhabitant are, as the man once said, "whores, pimps, gambler and sons of bitches," by which he meant Everybody. Had the man looked through another peephole he might have said, "Saints and angels and martyrs and holymen" and he would have meant the same thing."

रेणु ने भी मैला आंचल की भूमिका में लिखा है, :
'इसमें फूल भी हैं शूल भी, धूल भी है, गुलाल भी, कीचड़ भी है चंदन भी, सुंदरता भी है कुरूपता भी – मैं किसी से दामन बचाकर नहीं निकल पाए।' निर्मल वर्मा ने जब रेणु को संत कहा था तो उनके

शब्द जैसे स्टाइनबेक के भावों की ही प्रतिध्वनि थे।

अब इस प्रश्न पर विचार करना उचित होगा कि हिंदी के प्रगतिशील आलोचकों द्वारा 'मैला आंचल' जैसे श्रेष्ठ उपन्यास की आलोचना के क्या कारण हैं। रामविलास शर्मा जैसा नीर-क्षीर विवेकी आलोचक किन आधारों या आशंकाओं के तहत मैला आंचल की, बल्कि ज्यादा सही यह कहना होगा कि आंचलिक उपन्यास-परंपरा की आलोचना करता है।

दरअसल पश्चिम में 'रीजनल नॉवेल', जिसे हिंदी में आंचलिक उपन्यास कहा गया, प्रकृतवाद से प्रभावित था जो उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में यूरोप में एक प्रभावी विचारधारा थी। प्रकृतवाद नग्न-यथार्थ की पक्षधरता का डार्विनवादी आधार पर खड़ा दृष्टिकोण था जो अपने ऊपर कोई नैतिक दबाव स्वीकार नहीं करता था। इस अतियथार्थवादी से दिखाई देते प्रकृतवादी साहित्य में एक किस्म का नियतिवादी समर्पण और निराशावाद का प्रगतिविरोधी कुहासा छाया हुआ था। कहीं-कहीं तो यह आदमी को लगभग पशु-स्तर पर उतार दे रहा था। चूंकि रीजनल नॉवेल प्रकृतवाद और रुमान के संयोग से रचा जा रहा ऐसा साहित्य था जो 'एब्सोल्यूट डिटर्मिनिज़्म' को मूल्य के रूप में स्थापित करता था, यही प्रगतिवादियों द्वारा इसके विरोध का मुख्य कारण था।

फ्रांसीसी उपन्यासकार एमिल ज़ोला साहित्य में इस प्रकृतवाद के पुरस्कर्ता थे। उनके उपन्यास L'ssommair (1877), Nana (1880), और Germinal (1885) इस नई प्रयोगवादी विधा के अंतर्गत आने वाले उपन्यास थे। बल्कि 1880 में प्रकृतवादी उपन्यासों को वैचारिक आधार और औचित्य प्रदान करते हुए एमिल ज़ोला एक निबंध 'द एक्सपेरीमेंटल नॉवेल' भी लिख चुके थे। अमेरिका में फ्रैंक नोरिस McTeague (1899) और The Octopus (1901) जैसे उपन्यास लिख चुके थे। वहाँ यह विधा थियोडोर ड्राइज़र, विलियम फॉकनर और जॉन स्टाइनबेक जैसे उपन्यासकारों में अपने

उत्कर्ष पर पहुँची।

अंग्रेजी और अमेरिकी साहित्य के अध्येता रामविलास शर्मा रीजनल नॉवेल की इस परंपरा से न केवल भली-भाँति परिचित थे बल्कि ब्लैक लिटरेचर पर (रिचर्ड राइट, राल्फ एलिसन और जेम्स बाल्डविन जैसे उपन्यासकारों पर) और रेणु जैसे ही खरे और चर्चित अमेरिकी आंचलिक उपन्यासकार (रीजनल नॉविलिस्ट) जॉन स्टाइनबैक (1902-1968) पर अपने छात्रों से शोध करवा रहे थे। स्टाइनबैक को 1962 में नोबेल पुरस्कार मिल ही चुका था।

सो यह कहने भर से काम नहीं चलेगा कि इस नई विधा के बारे में 'ऊ जानते ही नहीं थे' या 'उनके पास टूल नहीं थे'। सच यह है कि हिंदी साहित्य के अपने समकालीनों में वे इस विधा के बारे में शायद सबसे ज्यादा जानते थे। इसीलिए इसके खतरों से वाकिफ थे। इस खतरे के लक्षण कहीं-कहीं रेणु के रिपोर्टाजों में बाढ़ की भीषण भयावहता के बीच गुदगुदाने वाले 'लिरिकल वर्णन' में और रेणु के साहित्य में स्त्रियों के प्रति पुरुषों के लम्पट दृष्टिकोण में, खासकर बंगाली स्त्रियों के प्रति बिहारी पुरुष की लोभी और लम्पट दृष्टि में और बंगाली स्त्रियों को 'ईज़ी वर्च्यु वाली' स्त्री समझने वाले दृष्टिकोण में देखे जा सकते हैं।

इधर प्रयोगवादी कवि अज्ञेय और पूर्व प्रगतिशील उपन्यासकार निर्मल वर्मा ने शायद अपनी रेणु-प्रशंसा के अतिरेक से हिंदी आलोचना के प्रगतिवादी खेमे को 'अनसेटल' कर दिया था जिसका फल रेणु की अनअपेक्षित और अनुचित आलोचना के रूप में दिखाई देता है। यह असर रामविलास शर्मा और नामवर सिंह से लेकर विश्वनाथ त्रिपाठी तक, सभी प्रगतिशील आलोचकों की आलोचना में दिखाई देता है। अलबत्ता प्रो. नामवर सिंह ने इस अरुचि या आलोचना को वाचिक तक ही सीमित रखा। लिखने

की जहमत नहीं उठाई।

जॉन स्टाइनबैक की ही तरह रेणु में कहीं-कहीं प्रकृतवादी लक्षणों के बावजूद प्रकृतवाद का पूरमपूर प्रभाव नहीं दिखाई देता। नग्न-यथार्थ और नियतिवाद तथा अस्तित्व-रक्षा के लिए संघर्ष के वर्णन के बावजूद नैतिक दृष्टि की वह निरपेक्षता या नैतिकता का अभाव और निराशा का वैसा स्वर जो प्रकृतवाद का मुख्य लक्षण है, रेणु में कहीं दिखाई नहीं देता।

बल्कि अपने चुने हुए इलाके के आम आदमी के दुःख-सुख और परिवेश का एक नव-स्वतंत्र राष्ट्र के निर्माण के बुनियादी सपने से गुंथा वह लिरिकल वर्णन, गरीबी और ज़हालत के कीटाणुओं से ग्रस्त देश का वह अभावग्रस्त व मलिन लेकिन संभावनाशील इलाका अपने समस्त अंतर्विरोधों के साथ हमें खदबदाता दिखाई पड़ता है। बोली-बानी-रूप-रस-गंध से महमह करता जीवंत किंतु हमारे भ्रष्ट आचरण से मैला आंचल हम सबके सामने मूर्तिमान हो जाता है। अलबत्ता उम्मीद की एक किरण के साथ!

इसमें कोई दोराय नहीं कि 'मैला आंचल हिंदी' कथा-साहित्य की विशिष्ट उपलब्धि है और विश्व के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में गिने जाने योग्य है। रामविलास शर्मा की स्थापना जो भी हो इस उपन्यास को प्रेमचंद की परंपरा के उत्कर्ष के रूप में ही देखा जाना चाहिए। रामविलास जी बड़े आलोचक हैं पर मुक्तिबोध और रेणु को समझने में उनसे हुई गलती से हिंदी का पाठक परिचित है। हिंदी का औसत पाठक इन लेखकों के संबंध में रामविलास जी की राय को उचित 'इनडिफरेंस' के साथ देखता है और अपने पर कोई असर नहीं होने देता।

लोकरंग और स्थानीयता के साथ यथार्थ और रूमान और आदर्श का यही संगम फणीश्वरनाथ रेणु की ताकत है और यही एक उपन्यासकार के रूप में सामान्य पाठकों के बीच उनका महत्व।

आँसुओं में डूबी एक कथा जो मुस्कान की भाषा में कही गई (संदर्भ : मैला आँचल)

विजय बहादुर सिंह

जिन दिनों कलकत्ता विश्वविद्यालय का छात्र था, बी.ए. आनर्स तक की कक्षाओं में रेणु का प्रवेश नहीं हो पाया था। हृदय से हृदय अज्ञेय की 'शेखर एक जीवनी' तक उसकी सीमा रेखा थी। आगे की पढ़ाई के लिए ढेर सारी महत्वाकांक्षाएँ लिए मध्य प्रदेश के सागर विश्वविद्यालय, अपने सहपाठी योगेन्द्रनाथ श्रीवास्तव के साथ आया तो यहाँ के स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में आश्चर्यजनक अद्यतनता मिली। वे लेखक और कवि जो अपने प्रतिभा के बल पर साहित्य के समकालीन परिदृश्य पर अपनी निर्णायक पहचान बना चुके थे। वे सब यहाँ पढ़ने को मिले। कविता में धर्मवीर भारती और नागार्जुन तथा नाटक और उपन्यास में मोहन राकेश का 'आधे अधूरे' तथा रेणु का 'परती:परिकथा' हमारे समय और सामाजिक जीवन-बोध को लेकर पढ़ने को नसीब हुए। निश्चय ही इसके पीछे हमारे महान साहित्याचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की वह निर्णायक इतिहास-दृष्टि थी जिसमें सुखद गतिशीलता और सूक्ष्म मूल्य-बोध था। इसका कारण आचार्य की वह भूमिका भी थी जो इतने दृष्टि संपन्न थे कि साहित्य और सामाजिक जीवन के रिश्तों को एक ठीक-ठीकाने को पहचान मिला करती थी।

साहित्यिक कक्षाओं को परंपरा-बोध के साथ-साथ अगर समय-बोध वाली निगाह नहीं मिला तो युवा मानस को वे किस अंधी गुफा की ओर ठेल कर ले जाएंगी इसका असर हम हिंदी के समकालीन कथित आचार्यों की उपस्थिति बहुलता में देख सकते हैं।

रेणु के पहले उपन्यास 'मैला आँचल' के पहले संस्करण के साथ जो कुछ हुआ, उससे हम सब वाकिफ हैं। उपन्यास प्रायः अनदेखा सा ही रह गया। इसका एक बड़ा कारण उसकी भाषा और कहानी कहने का ढंग भी था हिंदी का पाठक वर्ग (जिसका अभ्यस्त नहीं ही था) न केवल सामाजिक जीवन बल्कि साहित्य में जब कोई अपने सृजन में चालू या कहें स्थापित शैलियों और मुहावरों को छोड़ नए रंग और ढंग अपनाता है उपेक्षा उसे झेलनी ही पड़ती है। यहाँ तक कि आलोचना-क्षेत्र में भी यह होता रहता है। रेणु और मुक्तिबोध के साथ भी यही सब हुआ। किन्तु वह समय भी आया जब चीजें बदलीं और ठीक-ठीकाने पहुँची। रेणु के साथ भी यह घटा। कथाशिल्पी रेणु महत्वपूर्ण होते चले गए।

यह उल्लेख भी जरूरी है कि रेणु केवल उपन्यासकार नहीं थे। 'तीसरी कसम' जैसी कहानी के कालजयी रचनाकार भी थे। संस्मरण, रेखाचित्र और रिपोर्टाज भी उनके द्वारा लिखे गए हैं। और इन सबसे ऊपर उनका वह जीवन जो पोलिटिकल

एक्टिविस्ट का था। आज़दी से पहले एक बड़े साम्राज्यवादी शासन से लड़ते हुए और उनका संघर्ष आज़ादी के बाद अपने ही लोकतंत्र में जन्म ले चुके तानाशाही रवैये के विरुद्ध, जिसकी अगुवाई सन् बयालीस के नायक और संपूर्ण क्रांति 1974 की अलख जगाने वाले जयप्रकाश कर रहे थे। प्रेमचंद, जैनेंद्र अपने समय के महानायक महात्मा गांधी के साथ थे, तो रेणु अपने समय के लोकनायक जयप्रकाश के साथ। नेपाल की राजाशाही के दमन और अत्याचारों से मुक्ति दिलाने के लिए कथाकार रेणु वहाँ की जनता की सशस्त्र क्रांति में भी शामिल थे। उनके लेखन में संघर्षों की छबियाँ हमें अपने समय में जीने का सलीका सिखाती है। फिर भी उनका लेखन न तो उपदेशात्मक है न लालित्य-निरपेक्ष। तथापि उसकी जीवंतता में न तो शोर है, न बड़बोलापन। जीवन और साहित्य यहाँ जैसी लयकारी करते हैं उसकी अनुभूति तभी की जा सकती है जब हमारे पास एक उन्मुक्त देशज निगाह हो।

-2-

उपन्यास लिखने से पहले रेणु ने अपने आस-पास कैसा जीवन देखा होगा, उसके तरह-तरह के जटिल और लगभग असाध्य रूपों ने उनके अति संवेदनशील व्यक्तित्व को कितना झकझोरा होगा, किस गहरी करुणा और वेदना ने उनके कार्यकर्ता और लेखक को प्रेरित और सक्रिय किया होगा, यह कहानी तो फिर भी परदे के पीछे और अनकही ही रह गई है। फिर भी अनुमान तो लगाया ही जा सकता है कि अपने देश समाज और अंचल को रेणु किन स्तरों और रूपों में प्यार करते थे और उसे लेकर उनके मन की बेचैनियाँ कितनी थीं। 'मैला आंचल' उनके इसी गहरे प्रेम और करुणा से फूटा कथा-संसार है जिसमें स्थानीय गाढ़े रंगों के बावजूद राष्ट्रीय जीवन की वे सारी प्रतिच्छबियाँ झिलमिल रही हैं जो आज भी घनघोर रूप से सघन होकर राष्ट्रीय वंदना का समारोह बन गई हैं। किन्तु यह वेदना रेणु के कथा-शिल्प का साथ पाकर मुस्कान की भाषा का

विडम्बनात्मक परिदृश्य बन गई हैं।

एक अंचल विशेष को मैला कहने वाले रेणु से पहले इस शब्द-युग्म का प्रयोग कल्पना-विहारी कवि समुत्रानंदन पंत ने 'भारतमाता ग्रामवासिनी' शीर्षक कविता में किया है रेणु ने जिसे उपन्यास के एक सौचपनवें पृष्ठ पर उद्धृत भी किया है -

भारत माता ग्रामवासिनी !

खेतों में फैला है श्यामल,

धूल भरा मैला-सा आंचल !

यों भक्ति कल्पना जीवियों और स्वप्न विहारियों में बहुत ज्यादा फर्क नहीं होता। एक समय आता है जब दोनों को ही यथार्थ की नंगी सचईयाँ अपने पाले में खींच लेती हैं। कवि पंत के साथ भी यह हुआ और कार्यकर्ता ऐक्टिविस्ट लेखक रेणु के भी।

याद करें तो सन पैंतीस-छत्तीस में 'गोदान' और 'कफन' वाले आदर्शवादी कथाकार प्रेमचंद भी कुछ कम उदास नहीं हो चुके थे और उनका आदर्शवाद खुदी ही उन्हें आत्म छल लगने लगा था। रचना के स्तर पर यद्यपि 'गोदान' (सन 36) और 'मैला आंचल' में लगभग अठारह बरसों या कहीं दो दशकों का फासला है किन्तु हकीकतों में कोई बहुत ज्यादा फर्क नहीं है। हाँ, कथा-दृष्टि और कथा-शिल्प में तो खूब-खूब फर्क है। अन्यथा प्रेमचंद के साथ उन्हीं के लगभग प्रतिकथाकार होकर विश्वम्भरनाथ शर्मा, 'कौशीक' और सुदर्शन उर्दू से आकर हिंदी में प्रेमचंद के पीठमर्द की तरह आ खड़े हैं। रेणु प्रेमचंद के पीठमर्द नहीं, अपने स्वतंत्र कथानायक हैं। लगभग हिंदी उपन्यास के चेहरे को बदल डालने वाले। पर उन्हीं प्रेमचंद की तरह ठीक ग्रामिण जीवन को जमीन पर उतर कर जबकि जैनेंद्र और अज्ञेय मध्यवर्गीय शहरी जीवन की ओर चले आए हैं। इसलिए रेणु एक तरह से प्रेमचंद की धारा का पुनर्प्रवर्तन और विकास करते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो हिंदी उपन्यास के चेहरे और चरित्र दोनों बदल डालने वाले पैरा रेणु के 'मैला आंचल' को उनकी कई कहानियों और दूसरे उपन्यास 'परती परिकथा'

के बाद पढ़ पाए। परिकथा मेरे एम.ए. के पाठ्यक्रम में था आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी उसे लेकर कुछ ज्यादा ही प्रदर्शित थे, इसका अनुमान लगाता हूँ तो कारण रेणु की वह बदली हुई दृष्टि थी जो आजादी के बाद के राष्ट्रीय विकास का भी यत्किंचित चित्रण ही करती हैं। यहाँ ट्रैक्टर की उपस्थिति हैं और सामंती अभिजात परिवार का स्वयं खेत जोतना है। आचार्य वैजपेयी इसे 'मैला आँचल' से अधिक महत्वपूर्ण जिन वजहों से मानते हैं उसका एक कारण यह कि मैला आँचल में (लेखक का राजनीतिक दृष्टिकोण) मुखर है और लेखक की भावधारा रोमांटिक प्रेमचर्या से प्रभावित है। 'परती पीरकथा' में लेखक ने राजनीतिक धारा के बदले अधिक व्यापक राष्ट्रीय प्रगति को केंद्र में रखा गया है। कथा-शिल्प की दृष्टि से भाव भी इसे 'मैला आँचल' से अधिक समृद्ध रचना मानते हैं। तथापि शिल्प से कहीं अधिक इसकी वस्तु अधिक समृद्ध है। उसके शब्द हैं - 'जान पड़ता है कि कोसी अंचल के कुछ वर्षों की सारी जीवन-गति ही उपन्यास में उठाकर रख दी गई है।'

प्रश्न यह कि फिर 'मैला आँचल' रेणु का इतना सम्मोहक सर्वप्रिय उपन्यास कैसे बन गया और क्यों बहुमान्य है? क्या हम कहें कि लेखक यहाँ अपने नित्याज अनुभवों और अनौपचारिक शिल्प में मौजूद हैं। कहें कि यहाँ न तो किसी प्रकार का कौशलपूर्ण तथा संपादन है न कैसी भी आत्मसजगता जो किसी लेखक को जरूरत से ज्यादा लेखक बनाए रखती है और वह निरन्तर किसी एक प्रायोजित उद्देश्य या संदेश से बंधा रहता है। यह देखना हो तो तुलसीदास और हमारे अपने जमाने के 'गोदान' से पहले के प्रेमचंद हमारे पास हैं। मैला आँचल के रेणु निश्चय ही ऐसे नहीं हैं। उनके सामने अकुलाते अनुभवों की समस्या अधिक दबाव बनाए हुए है। इस रूप में उनके देखने और रचने वाले लेखक के बीच एक लाग-डॉट सी बनी हुई है। हम पाठकों को भले ही उनका यह तनाव दिखता न हो पर है तो वह खूब। इसके बीच उनके दर्द की झाँकती परछाइयाँ भी

आती-जाती रहती हैं। इसलिए 'मैला आँचल' से हम पाठकों का समापन कुछ ज्यादा ही प्रगाढ़ होता जाता है। कारण यह कि जीवन यहाँ किसी लेखकीय फार्मूले में कैद नहीं है। वहाँ न तो कोई पूर्व निश्चित विधान है न सुनियोजित कथाकार।

एक अन्य अर्थ में यह उपन्यास जीवन के परंपरागत प्रतिबिंबों के साथ उन गतिशील धीमी पदचार्पों को भी मद्धिम आवाजाही को रेखांकित करता चलता है जो यह इशारे करती हैं कि जीवन की लय कभी थमती नहीं है। वह निरन्तर गतिशील है। रेणु की चर्चा के सन्दर्भ में हम प्रेमचंद और बंगला के शरतचन्द को भूल सकें - यह जरा मुश्किल सा काम है। प्रेमचंद ने हिंदी कथा-साहित्य का खास तौर से उपन्यास का जैसे मानक प्रारूप ही रच दिया है। वह कैसे रचा उसकी चर्चा का प्रसंग नहीं है। राष्ट्रीय जीवन के कथाकार होकर भी कथा-भूमि और उसकी सारी सामग्री वे ग्रामीण जीवन से ही लेते हैं बहुधा। फिर भी वे आंचलिक तो नहीं ही कहे और माने जाते। कारण उनके यहाँ वे मूलभूत समस्याएँ हैं जिन्हें हम भारतीय कृषक जीवन को त्रासदियों कह सकते हैं। स्वाधीनता आन्दोलन के महानयाक गांधी ने इन्हें उन अनेक स्तरों पर पहचाना था जिनमें से कुछेक को प्रेमचंद ने अपने लेखक के उद्देश्यों के रूप में अंगीकार कर लिया था। इससे भी बड़ी बात यह कि उन्होंने हिंदी उपन्यास-कला का और लोकप्रिय और सर्वमान्य ढाँचा भी रच दिया। प्रकारान्तर से एक ऐसी लकीर खींच दी जिसके आगे जाने के लिये उससे बीस गुने अधिक प्रतिभा और संवेदनशीलता को जरूरत थी।

दूसरी ओर शरतचन्द थे जिन्होंने रोमान और यथार्थ का ऐसा मार्मिक, साथ ही मनोहर कथा-संसार रचा जिनमें भावमयता यथार्थ पर हावी सी थी।

रेणु पर जब तब शरतचन्द के आस-पास का लेखक मानने का अभियान भी कुछ कम नहीं चलाया गया, पर चल नहीं पाए। क्योंकि रेणु रेणु थे। अपने

जिन अनुभवों के बल पर उन्होंने कलम उठाई थी, किन्तु जिस अंतर्दृष्टि के बल पर वे इन दोनों महानों के बावजूद एक मौलिक सर्जक के आत्मविश्वास से लैस थे वह दृष्टि उन्हें किन्हीं किताबों से नहीं उसी जीवन से मिली थी जो एक साथ रोना और मुस्कुराना जानता है। कोई भी लेखक इसे चाहकर भी झुठला नहीं सकता। पता नहीं रेणु की कोई आस्था किसी पौराणिक देवता में थी या नहीं या आस-पास का मनुष्य ही उनके लिए सबसे बड़ा देवता था। उसे उन्होंने अचूक गलतियाँ करते भी देखा था और प्रायश्चित्त करते भी। लालसा से भरी उमंगों में भी देखा था और जीवन के घने अंधेरों में रोते-झींकते भी। इसलिए वे निदाग सच और कलंकित झूठ वाले मुहावरे को मानने को राजी नहीं थे। जीवन को देखने की उनकी दृष्टि की समग्रता यही थी। ठीक अमृत और विष की तरह। इस रूप में उन्होंने चली आती पहली दृष्टि को अपने कथाकार के लिए अस्वीकार कर दिया।

दूसरे वे जान चुके थे कि प्रत्येक चरित्र ही एक स्वतंत्र उपन्यास है। इसलिए उसे किसी कथा में मात्र 'पात्र' की भूमिका में बरता नहीं जा सकता। यही कारण है कि प्रेमचंद की तरह उन्होंने कहानी की बहुत चिंता नहीं की। जीवन में घटते उन सारे दृश्यों को स्वतंत्र कहानियों की तरह रचते हुए एक ऐसे रंगारंग महोत्सव की सृष्टि की जिसमें आंचलिक विशिष्टताओं और उनकी स्थानीय सुगंधों की बेरोक-टोक आवाजाही थी। इस आवाजाही में जो नवाचार उन्होंने बरता वे संगीतमयी ध्वनियाँ थीं जिनका प्रयोग प्रेमचंद ने तो खैर नहीं ही किया, जैनेंद्र, अज्ञेय, यशपाल आदि ने भी करना जरूरी नहीं पाया। हाँ, कविता में ऐसे प्रयोग छायावाद के कवि पं. सुमित्रानंदन जरूर कर चुके थे। मुझे ऐसा लगता है कि रेणु कवि पंत में भीतर ही भीतर कहीं गहरे रूप में रमे हुए हैं। भाषा के स्तर पर भी उनके यहाँ शब्दों मुहावरों और कथनों की इनती बहुलता बहुरूपीयन और विविधता है कि वह मिथिलांचल के आर-पार

तक बेझिझक आती-जाती रहती है। मुझे लगता है कि भाषा की जीवंतता तभी है जब वह स्थानीय अनुगूंजो ही नहीं, चलती-फिरती बोल-चाल के रस से भी साराबोर हो। प्रकट रूप से रेणु तो यह करते ही हैं कृष्णा सोबती भी खूब ही करती हैं।

कहने का मन होता है कि क्या यह इन दोनों की औपन्यासिक स्वच्छन्दता है। इसलिए वह चला आता स्थापत्य टूटता है जिसके हम आदी हो चुके हैं। कहने की जरूरत है कि रेणु ने इसे पूरी मनमौज से तोड़ा है, बगैर किसी औपचारिक घोषणा के। फिर भी हम इसे दायित्वहीन मनमौज नहीं कह सकते। विपरीत इसके यह ऐसी ऐतिहासिक सजगता है जिसमें यह व्यंजना समाई हुई है कि उपन्यास के ढाँचे का एक स्वदेशी प्रारूप क्यों नहीं हो सकता। रेणु के उपन्यासों में यह खूब है।

मुझे निर्मल वर्मा का यह कथन आश्चर्यकरता है कि रेणु जी पहले कथाकार थे जिन्होंने भारतीय उपन्यास की जातीय संभावनाओं की तलाश की थी, शायद सजग रूप से नहीं शिल्प और सिद्धांत के स्तर पर तो अवश्य ही नहीं, बल्कि एक ऐसे रचनात्मक स्तर पर जिन्दगी का कच्चा माल स्वयं कलाकार के हाथों अपने प्राण, जो फार्म का दूसरा नाम है, खींच लेता है। ताकि वह एक नए खुले मुक्त ढाँचे में साँस ले सके। फार्म की असली उपलब्धि इसी प्राणक्ता में निहित हैं।

उन्होंने उपन्यास की नैरेटिव, कथात्मक परंपरा को तोड़ा था - उसे अलग-अलग 'एपीसोड' में बाँटा था, जिन्हें जोड़ने वाला कथा का सूत्र नहीं, परिवेश का ऐसा लैण्डस्केप था जो अपनी आत्यान्तिक लय में उपन्यास को रूप और फार्म देता है। रेणु जी के यहाँ समय में बंधी घटनाएँ नहीं ऊबड़-खाबड़ जिन्दगियों की यह लय, यह स्पन्दन उपन्यास के हिस्सों को एक-दूसरे से जोड़ता है।"

रेणुजी के ऐतिहासिक देन और हिंदी उपन्यास की उपलब्धि पर अत्यन्त मुग्ध हो निर्मल जी लिखते हैं - "रेणु ने जिस तीली से किसान के उदास, धूल-

धूसरित क्षितिज में छिपी नाटकीयता को आलोकित किया था उसी तीली से हिंदी के परंपरागत यथार्थवादी उपन्यास के ढाँचे को भी एकाएक ढहा भी दिया था।”

प्रश्न यह है कि इसकी जरूरत उन्हें किन वजहों से महसूस हुई. इसका समाधान हमें प्रेमचंद के इस पत्राचार में मिलता है जो उन्होंने अपने पाठकों की जिज्ञासाओं के प्रत्युत्तर में दिया है। एक प्रेमी पाठक ने उनसे यह जानना चाहा था कि अपनी कथाओं में वे गाँवों का जो चेहरा प्रस्तुत करते हैं क्या उत्तर भारत के गाँव सचमुच वैसे ही हैं। प्रेमचंद ने अपने उस पाठकों को जवाब देते हुए लिखा कि गाँव वैसे नहीं हैं पर स्वराज आन्दोलन में सहयोगी की भूमिका निभाने के लिए उन्हें ऐसे गाँवों की कल्पना करनी पड़ी है।

इस तुलना में रेणु को अपने यथार्थवाद का चेहरा बदलने की जरूरत तो वैसे भी थी क्योंकि वे स्वराज मिलन के बाद अपना लेखन कर रहे थे। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के बदल उठने पर एक समय-सचेत लेखक की यह मजबूरी बन जाती है कि वह ऐसा करे। इसे हम उर्दू के कुछेक महान शायरों और गालिब की शायरी के ग्रामर में आए बदलावों के सन्दर्भ में चाहें तो समझ सकते हैं। उर्दू के मशहूर आलोचक आले अहमद सरूर इस पर विचार करते हुए लिखते हैं - गालिब ने गजल की संकीर्णता का जिक्र करते हुए एक स्थल पर अपने बयान के लिए ज्यादा बसअतें (विस्तार) तलब की हैं। तब भी हैं तो वे गजले ही, और मानी भी यही जा रही हैं।

रेणु ने भी ग्रामिण केंद्रित उपन्यास में बहुत कुछ यही किया है। उन्होंने प्रेमचंद के देवतानुमा किसानों को आदमियत की जमीन पर उतार कर सच के कुछ अधिक करीब ला दिया और इसके लिए उन्होंने जो उद्यम किए उनमें गद्यकार रेणु से लाग-डॉट करते कवि रेणु भी बराबरी से खड़े हैं। कहीं-कहीं तो जैसे ललित निबंधकार भी अपनी मुस्कान बिखेर रहा है। भोलापन, सादगी, सरलता के साथ काइयाँपन,

बाँकापन, चालाकी, अस्तित्व की रक्षा के लिए किए जाते सच्चे झूठे/उपाएँ साहस, भय, दोमुँहापन लाचारी, खुराफात क्या नहीं है वहाँ। पर उसी के बीच डॉ. प्रशांति, तहसीलदार उनकी बेटी कमला सब के सब बावनदास से लेकर कालीचरन लछमी मंगला देवी तक अपने हिस्से की दुनिया में एकदम स्वयात्त और स्वतंत्र। फिर भी एक विशाल लोक समाज जो सबकी विलक्षणताओं को भरूपर आकास देता, साथ ही किसी घने कोहरे की चतुर्दिक उन पर छाया हुआ भी।

सामाजिक जीवन-मर्यादाओं की चुनौतियों के बीच वैयक्तिक स्वत्व को फड़फड़ाहट और उड़ान की जैसी लीलाएँ यहा चित्रित हैं वे रेणु की जीवन-दृष्टि को प्रोमदभासित करती हैं। उन्हें पढ़कर ही महसूस किया जा सकता है कि जीवन कोई फार्मूला नहीं है। मनुष्य उसकी कैद में तभी तक रहता है जब तक वह स्वयं को समाज-व्यवस्था का एक उत्पाद मात्र मानता है और भूला रहता है कि वह व्यवस्था नहीं सृष्टि का सृजन है। इसलिए शूद्र हो या ब्राह्मण या फिर गरीबी और जहालत में डूबता-उतराता हुआ एक पौरुषहीन इकाई जिस दिन भी उसे अपने इनसानीपन का बोध हो उठता है वह तमाम तरह के फंदों को तोड़कर उठ खड़ा होता है। ठीक गांधी की तरह। रेणु मानते हैं - मनुष्य अपराजेय है। ‘मैला आँचल’ के अंतिम पृष्ठों पर अंचल-फंचल को ही नहीं इतिहास-उतिहास को भी दरकिनार कर वे कुछेक कालजयी पंक्तियाँ लिखते हैं - “विधाता की सृष्टि में मानव ही सबसे बढ़कर शक्तिशाली है। इसको पराजित करना असंभव है... आदमी आदमी है, गिनोपिग नहीं।...सबरि ऊपर मानुष सत्य।” और उसका दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए ये पंक्तियाँ भी लिखते हैं - “चाय की प्याली प्रशांति के हाथ में देती हुई ममता पूछती है, “पढ़ गए ...महात्माजी की आखिरी लालसा?

मैं तो कहती हूँ, यह वह महाप्रकाश है जिसकी रोशनी में दुनिया निर्भय हजारों बरस का सफर तय कर सकती है।”

गैर कुल-शील के डॉ. प्रशांति, कुल-शील वाली कमला और पुत्र नीलोत्पल हिंदी उपन्यास के वे नए चेहरे हैं, जो ममता जैसी आत्मीय संगिनियों का बल और साथ पाकर एक ऐसी अखंड आस्था से भर उठते हैं जो उनमें यह विश्वास जगा पाने में समर्थ है कि भारत का समाज भले ही गरीबी, विषमता और जहालता को अपनी दुखद पहचान की तरह ओढ़-बिछा रहा हो किन्तु उसमें जैसी प्रचण्ड जिजीविषा है, अपराजेयता का सौंदर्य है कभी न खत्म होने वाला आशावाद और पौरुष है, वही एकदिन उस तमाम तरह के अंधकार पर छाकर वह प्रकाशपुंज बन जाएगा, जिससे इस देश की पहचान अब तक होती आई है। क्या खूबसूरत याद इस

सन्दर्भ में अपने आप पाँव-पाँव चलकर आ पहुँची है -“खड़े देखा, झेला हँसते, प्रलय में पले हुए हम वीर।” स्कन्दगुप्त-जयशंकर प्रसाद।

रेणु हमारे इसी परंपरागत जीवन-बोध के लेखक हैं। भले तो हमारा यह राष्ट्रीय जीवन ‘मैला-आँचल’ हो चुका हो पर हमारा जातीय मन बेतहाशा किसी उम्मीद भरे सवेरे की ओर भागा चला जा रहा है। क्योंकि यहीं तो उसका स्व-भाव है।

एक कथाकार के रूप में रेणु हमारे इसी जातीय मन के सर्जक हैं। उनको मात्र एक आंचलिक कथाकार कह और मानकर अकादमिक आचार्यत्व प्रदर्शित करने की हिमाकत हम नहीं कर सकते।

संपर्क : निराला नगर, दुष्यंत कुमार मार्ग, भोपाल - 562003, मो. : 9425030392

आजादी के स्वप्न और मैला आँचल हृषीकेश सुलभ

मैं अपनी पीढ़ी के उन सौभाग्यशाली लेखकों में हूँ, जिन्होंने फणीश्वरनाथ रेणु को सत्ता की अराजकता, क्रूरता और हिंसा के विरुद्ध लड़ते हुए देखा है। बाद में जिसे दूसरी आजादी का नाम दिया गया, उस आंदोलन में जयप्रकाश नारायण के शामिल होने के बाद पटना में जो पहला जुलूस निकला था, उसमें पीछे चल रहे थे रेणु, मुँह पर काली पट्टी बाँधे। इस जुलूस के पीछे-पीछे पंद्रह से बीस वर्ष की उम्रवाले कई अनाम युवा चल रहे थे। इस मौन जुलूस की मुखरता ने सत्ता के गलियारों में हड़कम्प मचा दी थी। फिर शुरु हुए संघर्ष के उथल-पुथल भरे दिन।

यह रेणु की तीसरी लड़ाई थी। आजादी के तीन दशक भी पूरे नहीं हुए थे और एक बार फिर गुलामी का अहसास घना हो गया था। इतना घना कि रेणु सन 42 के अपने नायक जयप्रकाश नारायण के साथ हो गए। 8 अप्रैल सन 74 के उस मौन जुलूस के बाद उन्होंने एक बार फिर से अपने को संघर्ष में झोंक दिया था। वह पुलिस से लुकते-छिपते फिर रहे थे। गिरफ्तार हुए। जेल से भूमिगत गतिविधियाँ चलाते रहे। फिर जेल से छूटे। अपनी रचना के शब्दों को और व्यापक बनाते हुए उन्होंने सत्ता के विरुद्ध जो अंतिम संघर्ष किया, उसके बारे में ये संक्षिप्त सूचनाएँ हैं।

मैला आँचल पर बात करने से पहले रेणु के रचनाकार और क्रांतिकारी व्यक्तित्व की निर्मिति पर थोड़ा गौर करना होगा। इस निर्मिति के केंद्र में रहे हैं उनके गहन भावनात्मक और सामाजिक अंतर्विरोध। ये अंतर्विरोध इतने तीखे और बेचैन कर देनेवाले थे कि रेणु का लेखक, राजनीतिक-सामाजिक कार्यकर्ता और क्रांतिकारी बनना सहज संभाव्य था। उनकी छोटी बहन महथी देवी ने एक संस्मरण सुनाया था। मैं यह संस्मरण सप्रयोजन सुना रहा हूँ ताकि हमसब उनके प्राणों में पलते उन सपनों की आरंभिक छवियों को छू सकें, जिनके टूटने की अनुगूँज मैला आँचल के शब्दों से निकलती है और लोकलय की तरह टीसती है। महथी देवी ने बताया था कि कैसे रेणु ने सन 42 से पहले पहली पत्नी का गहना बेचकर हैंडबिल छपवाया था। पत्नी गहना देने को तैयार नहीं थीं। रेणु ने कुँ में डूबने का नाट्य किया। सारे कपड़े उतारकर कुँ के पास रखा। एक बड़ा-सा पत्थर कुँ में फेंका और झाड़ी में छिप गए। रात के अँधेरे में कुँ में कुछ गिरने की आवाज सुनकर और उतरे हुए कपड़ों को देखकर सबने समझा, उन्होंने जान दे दी। गहने की निरर्थकता का बखान करते हुए

जब पत्नी ने रोना शुरू किया, तो रेणु झाड़ी से बाहर निकले। पत्नी ने गहना सौंप दिया। दूसरे दिन उसे बेचकर स्वतंत्रता आंदोलन की प्रचार-सामग्री छपी। ये थे सपनों की फसल को रोपने और पालने-पोसने के उनके दिन।पढ़ाई छोड़कर भागे। स्वतंत्रता संग्राम उफान पर था। सन 42 ने उन पर गहरा प्रभाव डाला। हज़ारीबाग जेल से जयप्रकाश नारायण की फरारी ने उन्हें चमत्कृत किया था। यह घटना रेणु की स्मृति का अंत तक हिस्सा बनी रही। देश आजाद हुआ, पर वह नेपाल की राजशाही के खिलाफ लड़ते रहे। उनके काँधे पर बंदूक भी थी। सन 50 के आसपास नेपाल की राजशाही का दमनचक्र तेज हुआ। थका देनेवाली इस जुनून भरी सक्रियता और अनियमित जीवन ने देह को तोड़कर रख दिया। अस्वस्थता का दौर चलता रहा। पटना आए। रेणु तब लेखक के रूप में प्रसिद्ध नहीं थे। इस बीच उन्होंने 'मैला आँचल' लिखा। एक ऐसा भविष्य रचा, जो सपनों के एक छोर से निकलकर दूसरे छोर पर टँगा हुआ था। मन-प्राण के भीतर से निकलकर पंछियों की तरह फुदकने ही वाले थे सपने कि उन्हें राजनीति की चील उठाकर ले भागी। देश समझे-बूझे इसके पहले ही चोरों-बटमारों के हाथ लग गई सपनों की यह गठरी। सन 54 में मैला आँचल के प्रकाशित होते ही सपनों और भविष्य के लुट जाने के हाहाकार की अनुगूँज ऐसे पसरी कि हिंदी का रचना-संसार विस्मित हुआ।

मैला आँचल को हिंदी में लगभग क्लासिक का दर्जा प्राप्त है। इसे गोदान के बाद हिंदी का सबसे महत्वपूर्ण उपन्यास माना जाता है। यथार्थ की नई छवियों, कहन के नए अंदाज और भाषा की नई त्वरा के कारण इसने पाठकों को मुग्ध और चमत्कृत किया। इसकी स्थानिकता को रेणु

ने अपने रचना-कौशल से महाकाव्यात्मक विस्तार दिया। मैला आँचल जिन रूतों से उपजा है यानी जिस यथार्थ के गर्भ से इसका कथ्य जनमता है, उस यथार्थ से इसकी अंतःप्रकृति और रूपरचना मिलकर एक दीर्घ कलात्मक प्रभाव रचती हैं। यह भारत की आजादी के संधिकाल की कथा है। हमारे गाँवों के भीतर बसी भारत माता और भारत माता के भीतर बसे बदहाल गाँवों की इस कथा में जीवन का मर्म एक गहन आलाप की तरह उभरता है और हमें भीतर तक मथता है। यहाँ वासनाओं और वृत्तियों की आवाजाही है, ग्रामीण जीवन के सामूहिक शील की अभिव्यक्ति है, परंपरा के नाम पर जीवन को रूढ़ियों में बाँधनेवाले संस्थानों का मिथ्याचार है; और हैं नई राजनीतिक चेतना की आड़ में लूट की संस्कृति का बीज बोते वंचकों की दुरभिसंधियाँ। 'मैला आँचल' में निष्कलुष प्रेम, दुविधा, घृणा, कुंठा, आत्मपीड़न, उत्सव, कोलाहल, संवेदना की आद्रता, संबंध का राग, आंदोलन, संघर्ष, युद्ध, वर्चस्व की राजनीति आदि तमाम रंग हैं, जो अपनी यात्रा तय करके एक विघटित होते लोक के अवसाद में रूपांतरित हो जाते हैं। यहाँ आंचलिकता का परिदृश्य अपने भीतर ऐसी घटनाओं को समेटे हुए है जिनका ऐतिहासिक अर्थ और महत्व है। मुक्ति का स्वप्न, 'मैला आँचल' का प्रमुख स्वप्न है। एक जनमते हुए नए देश की पीड़ा, आकार लेती हुई एक नई जिंदगी की छटपटाहट इन स्वप्नों में गुँथी हुई है। बालदेव साधारण और सामान्य ग्रामीणों का प्रतीक है। बालदेव को राजनीति का अवसरवाद कहीं का नहीं छोड़ता। वह चाहकर भी अवसरवाद की विवशता से मुक्त नहीं हो पाता। वह यह नहीं चाहता कि यह देश और समाज अपना भविष्य सामान्य लोगों के सपनों की उपेक्षा करते हुए रचे। उसके लिए

इतिहास में दर्ज होना उतना महत्व नहीं रखता। उसे यह बात उतनी नहीं टीसती कि वह इस नए आजाद भारत के लिए जरूरी नहीं रहा बल्कि, लोगों के टूटे सपनों-आकांक्षाओं की किरचों की चुभन उसे ज्यादा टीसती हैं। एकांतवास में आत्मसंघर्ष करते हुए असंख्य स्वतंत्रता सेनानियों की पीड़ा, बालदेव की अकथ पीड़ा से 'मैला आँचल' में अभिव्यक्ति पाती है। वह इतिहास के ऐसे स्थलों को अपने चरित्र से आविष्कृत और चिह्नित करता है, जहाँ मुक्ति के स्वप्नों की हत्या होती है। बावनदास स्वप्नों की शक्तिशाली उपस्थिति है। शक्तिशाली, पर हारी हुई, एक करुण उपस्थिति। यही रेणु के कौशल की विशिष्टता है कि बावनदास के व्यक्तित्व की दृढ़ता और उसके पराजय से पैदा हुए शोक को वह एक ऐसी आँख में तब्दील कर देते हैं, जिससे आनेवाले कल की भयावहता को देखा जा सके। वह यह भरोसा देता है कि यदि गहन अंधेरे में भी विश्वास की आँख से कोई देखे तो सच छुप नहीं सकता। जब बावनदास का सहज स्वर ऊपर उठता है और पंचम तक पहुँचता है, स्वप्नों की चीख सुनाई पड़ती है। इस चीख में शामिल हैं इतिहास के कई प्रसंग जैसे; वे लोग जो कल सत्याग्रह के दुश्मन थे और आज पार्टी के पदों पर बैठे हैं, महात्मा की तस्वीर के बल पर सरस्वती देवी की वासना से मुक्ति आदि। उपन्यास की कथा में नायक की तरह दिखनेवाले प्रशांत की उपस्थिति मुक्ति के स्वप्नों की एक अलग वीथि की तरह दिखती है। पर यह वीथि भी उसी चौराहे पर जाकर खुलती है, जहाँ बालदेव, बावनदास आदि खड़े हैं। प्रशांत बाहर से आया है। वह रेणु की दीर्घ आंचलिकता के विस्तार में समाहित नहीं होता, पर 'मैला आँचल' की कथा की अंतरंगता में उसकी और उसके स्वप्नों की अपनी जगह

है। उसके व्यक्तित्व की सांद्रता उसके स्वप्नों को अलग रंग और आभा देती है। वह मात्र शोधार्थी नहीं रह जाता। बथुआ और पाट के साग पर जीवन गुज़ारते, गरीबी, बीमारी, अशिक्षा, अज्ञानता और अंधविश्वास के दलदल में फँसे भोलेभाले लोगों का सुख-दुःख, उसका सुख-दुःख बन जाता है। ममता को लिखे उसके पत्र और उसकी डायरी के अंशों में उसके स्वप्नों की लहलहाती हुई फसल है। वह अपने इन स्वप्नों का मुरझाना देखने के लिए अभिशिप्त है। कालीचरन क्रांतिकारिता का नया चेहरा है। अपने ही लोगों द्वारा लहलुहान कालीचरन आज भी अपने स्वप्नों की लाश उठाए भटक रहा है। अपने जीवन-काल में मिथक बन चुके जिस नक्षत्र मालाकार को चलित्तर कर्मकार के नाम से रेणु ने रचा था उनके स्वप्नों की परिणति भी कालीचरन के स्वप्नों जैसी ही होती है। लक्ष्मी का स्वप्न आज भी भारतीय समाज के लिए प्रश्नचिह्न बना हुआ है। क्या वह हर काल और हर स्थिति में केवल दूसरों की लालसापूर्ति के लिए बनी है? क्या वह कभी अपनी पसंद के पुरुष का वरण कर सकेगी? वह 'मैला आँचल' में परतंत्रता का चरम बनकर उभरती है। उसके स्वप्नों की पीड़ा का अजरु नाद इतिहास पर लगातार चोट करता है। 'मैला आँचल' में सिर्फ मनुष्यों के स्वप्न ही नहीं हैं। उपकथाओं के माध्यम से रेणु माटी-पानी तक के स्वप्न रचते हैं और इनकी काँपती हुई विविधवर्णी छायाओं से यथार्थ की नई छवियों को आविष्कृत करते हैं।

स्वतंत्रता के 73 वर्ष पूरे हो चुके हैं और हम विकास तथा समृद्धि का एक नकली चेहरा लगाए पूरी दुनिया के सामने सीना तानकर घूमने का अभिनय कर रहे हैं। हमारे जीवन की निर्णायक शक्ति आज सिर्फ राजनीति है। और यह राजनीति

ठीक उसी तरह फूल-फल रही है, जिस तरह 'मैला आँचल' में चित्रित है। जातिवाद आज भी हमारे देश में राजनीति की धुरी है। संथालों और उनकी भूमि पर जबरन कब्ज़ा करनेवालों के बीच हुए जिस संघर्ष का चित्रण मैला आँचल में है, वह संघर्ष आज भी अपना रूप बदलकर देश भर में उपस्थित है। नन्दीग्राम, सिंगुर से लेकर बस्तर तक यह संघर्ष देखा जा सकता। देश के कोने-कोने में फैले असंख्य अनाम स्वतंत्रता सेनानियों ने बावनदास की पीड़ा को झेला है। गांधी के विचारों को विभ्रम में बदलने का षड़यंत्र आज भी जारी है। डाइन कोशी नदी की प्रलय-लीला ने इस वर्ष भी बथुआ और पाट का साग खाकर जीने के लिए विवश किया है।

'मैला आँचल' सिर्फ यथार्थ का प्रस्तुतीकरण नहीं है। रेणु भारतीय ग्रामीण जीवन के बाह्य और आंतरिक यथार्थ की जटिलता के भीतर एक सजग सर्जक की तरह उतरते हैं और भविष्य के संकेतों और पूर्वाभासों को उद्घाटित करते हैं। यहाँ परंपराएँ हैं, पर जड़ रूप में नहीं हैं। सतत नए अर्थों और प्रयोजनों की तलाश करती हुई परंपराओं के बीच रेणु कभी कमली के माध्यम

से, तो कभी लक्ष्मी या फुलिया के माध्यम से स्त्री-जीवन की नई व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। यहाँ सब कुछ कथ्य के भीतर तरलता के साथ घुला-मिला है और पाठक की विचार-प्रक्रिया को नया आधार देता है। 'मैला आँचल' भारतीय गाँवों के उस सांस्कृतिक विघटन की महागाथा है, जो आजादी के साथ-साथ आरंभ होती है। सत्ता और प्रभुता के खेल की अभिव्यक्ति करते हुए भी 'मैला आँचल' की रसमयता का प्रवाह बना रहता है।

बदहवास जीते समकालीन भारतीय समाज में प्रशांत के स्वप्न बहुत पीछे छूट चुके हैं। 'मैला आँचल' का यह स्वप्न आज मृतप्राय है। कमली और प्रशांत की प्रणय कथा आज रूढ़ि बन चुकी है।फिर भी, स्वप्न साकार हों या नहीं, उन्हें देखना ही रचनाधर्मिता की पहली शर्त है। मैला आँचल एक यथार्थपरक स्वप्न है, जो अपनी उर्वरा माटी का उल्लास, शोक कही जानेवाली कोशी का हाहाकार और मरते हुए स्वप्नों का अवसाद समेटे हुए है। 'मैला आँचल' जागती आँखों से देखा गया स्वप्न है, जो निर्विवाद रूप से भारतीय भाषाओं की श्रेष्ठ साहित्य-संपदा है।

संपर्क : पीरमुहानी, मुस्लिम कब्रिस्तान के पास, कदमकुआँ, पटना-800003, मो. : 9973494477

फणीश्वरनाथ रेणु की परती: परिकथा

उषाकिरण खान

रेणु यानी फणीश्वरनाथ रेणु की 'परती परिकथा' का पुनर्पाठ करने की मैंने ठानी। यह उनका शताब्दी वर्ष है। रेणु का नाम साहित्य की धार बदलने वाले हिंदी के लेखक के रूप में लिखा जाता है। हम पुरबिये हिंदी लेखक-पाठक उनका नाम बड़ी इज्जत से लेते हैं। प्रायः ग्रामीण कथा लेखकों को उनके उपन्यास पढ़ते वक्त बांग्ला लेखक याद आते हैं। 'मैला आँचल' पढ़ते समय 'ढोढ़ाई चरित मानस' याद आने लगता है तो 'परती परिकथा' पढ़ते वक्त ताराशंकर वन्द्योपाध्याय के गणदेवता याद आते रहते हैं। कारण हो सकता है परिवेश। पूर्णिया और बंगाल की सीमा एक है। मैथिली बांग्ला भाषा, संस्कार, रहन सहन खान पान एक है। जातीय अस्मिता एक सी है। और रेणु जी अपने समय को अपने स्थान के दुःख सुख को लिख रहे थे। जैसा कि 'ढोढ़ाई चरित' में; कोशी प्रांगणेर चिठी में कि गणदेवता में लिखा जा रहा था। परंतु मेरी दृष्टि से रेणु अतुलनीय थे। यदि तुलना की जा सकती है तो अपने क्लासिकल संस्कृत साहित्य से। समग्र रेणु का पढ़े तो आपको मान होगा कि आपने सबकुछ जान समझ लिया है। 'मैला आँचल' पढ़कर आपको अनुभव होगा कि परिवर्तन काफी सक्रिय हो चुके हैं। किस-किस क्षेत्र पर नजर है यह भी पता चल जाता है। मठ मंदिरों की अवस्थिति एक राजनीति को जन्म दे रही थी। जो निषेध की पूर्वपीढ़ि का विर्मित कर रही है। डॉक्टर की उपस्थिति, गाँव के युवक युवतियों का उसके निकट आना नई आशाओं का सृजन करता है तथा अंततः बावनदास की हत्या गांधी की हत्या को इंगित करते हुए विचार की हत्या जान पड़ती है। शव का इधर से उधर फेका जाना तो सीधे सीधे उत्तरदायित्व को फेका-फेकी है 'मैला आँचल' का सत्य आज विकराल रूप में हमारे सामने है।

'परती परिकथा' आजाद देश के गाँव की अनसुलझी कथा है। रेणु जी ने परती जमीन को लेकर, जोत और जोतदारों को लेकर सीधी बात कही है, जमीनों के ठीक से बँटवारे न होने के कारण नक्सलबाड़ी की समस्या से त्रस्त बिहार बंगाल को उन्होंने भाँप लिया था। 'परती परिकथा' नक्सलबाड़ी के उदय से पहले की कहानी है। रेणु जी एक कोमल मन के द्रष्टा लेखक थे। प्रकृति नदी और नारी की रचना बड़ी शिद्धत से वे करते थे। परती परिकथा की शुरुआत ही नदी कोशी के चालढाल से होती है। कोशी नदी आती है हहराती हुई और सालो साल बाढ़ की तबाही मचाकर धारा बदल लेती है। छोड़ जाती हैं असीमित बालु की राशि और परती जमीन। ऊँचे ऊँचे ढहों को काटकर नदी में मिला देती है और गहरी खाई को बालू के दूह में तब्दीलकर देती है। कोशी की यह फितरत है, वह परती छोड़ती चलती है। कोशी प्राचीन पूर्णिया जिले के कुरसेला में गंगा से मिलती है, अर्थात् साहित्य हो जाती है। कोशी के लोग जानते हैं कि लोक कथाओं में यह सात बहनों के रूप में जानी जाती है, सप्रकोशी।

हमारी पुरानी फितरत है प्रकृति में नारी को आरोपित करने की। हमारी सारी नदियाँ माता हैं मात्र दो नद उत्तर भारत में हैं शोणभद्र अर्थात् सोन नद और दामोदर नद।

कोशी की बड़ी बहन दुलारी दाय हैं जो शांत गंभीर स्वभाव की हैं। रेणु की 'परती:परिकथा' आने तक कोशी दुलारी दाय से गले मिलकर पच्छिम यानी मेरी कथा भूमि की ओर चली जाती है। यह लिखते मुझे रोमांच होता है कि रिलेरेस की तरह मुझे कलम पकड़ाकर रेणु जी तिरोधान हो जाते हैं। दुलारी दाय की भूमि परती हो गई है। परती परिकथा में संपूर्ण ग्रामीण राजनीति है। जगती जनता और अपनी घूटती पकड़ मजबूत करते सामंत, बीच बीच में खेल खेलते नवसामंत, नेता, चमचा सब। यह एक महपुराण सा समग्र उपन्यास है जिसमें कई उपन्यास निकल सकते हैं।

आज के लेखक लेखिका परती के पात्रों को जीवंत कर रहे हैं। रेणु के ठीक बाद उन्हीं कही भूमि के लेखक चंद्रकिशोर जाएसवाल और रामधारी सिंह दिवाकर ने उनकी परंपरा को अक्षुण्ण रखा। आज के समय में लिखने वाले लेखकों में भी सदा कदा रेणु की झलक मिलती है। रेणु के संघर्षों को लिखने में पूनम सिंह की चर्चा मैं करूंगी। उनके गाँव के नवधनाढ्यों के कोठे परकोठे बनाने को जो ईंटें बन रही हैं, भट्टे लग रहे हैं उसमें दबे हैं नौनिहाल। सुलगती ईंटों के धुँएँ में घुट रहे हैं पल-पल। परिकथा में जिस वक्त इरावती मल्लिक कोठी के चौकीदार की फटी-फटी आवाज सुन आधी नींद से जगी और अवज्ञा से उठकर बरामदे के सोफे से कमरे में सोने आयी कि उसे आमदखोर अजगर से डर नहीं लगता। उस वक्त उसके हाथ पैर काँप रहे थे। वह डरती सी सोई कि पहरेदार की खरखराती हँकपड़वा सी आवाज

'जागते रहो' की सुनकर भयाक्रांत हो गई। ऐसे समय गीताश्री की कहानी 'हँकपड़वा' की बेसाख्ता याद आई। गीताश्री ने भूली हुई प्रथा की याद दिलाकर रेणु की कथा भूमि को जाग्रत किया है इस कथा में।

महीचन रैदास की बेटी मलासी पर भूत आता है। जिस गहवर की जमीन जोतने से मिसर खानदान के वारिस को कोई नहीं रोक पाता। वह जमीन दुलारी दाय की धारा का छाड़न है। तभी मुझे सुरेंद्र स्निग्ध का उपन्यास 'छाड़न' याद आता है। स्निग्ध ने छाड़न में गह्रित ग्रामीण राजनीति का विवरण किया है जिसमें साम दाम तो है ही दंड भेद भी है।

यहाँ मलारी जमीन को बचाने के लिए भूत खेलने लगती है। भूत खेलना अर्थात् अपने शरीर को किसी काल्पनिक मृतक के हवाले कर देना होता है। जो कोई सामान्य अवस्था में न कह पाए उसे भूत के मुँह से कहवा कर पक्का किया जाता है। लोग डरकर उसकी बात पत्थर की लकीर की तरह समझकर मान भी जाते हैं। गीताश्री ने ऐसी ही परिस्थिति में भूतखेली कहानी में भूत चढ़ने का वर्णन करती है। रेणु जी ने पढ़ी लिखी दलित लड़की की समस्या की बात भी की है। अब जबकि यह सबकुछ आम हो गया है तब भी दलित स्त्री जो एक प्रकार से डलब दलित है, क्योंकि स्त्री तो किसी भी जाती वर्ग की दलित ही होती है, समस्या ज्यों की त्यों है।

इन दिनों आए हृषिकेश सुलभ का उपन्यास अग्निनील में रेणु जी के उपन्यासों की परंपरा के विस्तार की अनुगूँज दिखाई पड़ती है।

पूर्वाचलीय राजनीति की भूमि पर उपन्यास लिखे जा रहे हैं। मैं 'परती:परिकथा' के संदर्भ में कुछ स्वल्प बातें कर रही हूँ, वैसे उनकी कहानियों में अधिक सामाजिक सांस्कृतिक पक्ष हैं जो मेरी रूचि के हैं।

संपर्क : आदर्श कॉलोनी, श्रीकृष्ण नगर, पटना-800001, 8987041722

राजनीतिक परिदृश्य यहाँ भी है

तरसेम गुजराल

हम भारतीय अंग्रेजी सरकार के अत्याचारों से बेहद परेशान थे। परतंत्रता एक लंबे समय तक हमें झेलनी पड़ी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश के निचले तबके और निम्न-मध्यवर्ग को अनेक स्थलों पर अत्याचार और दबाव झेलना पड़ा, परंतु जीवन कभी संघर्ष की धूप, कभी राहत की छाँव में चलता रहा। 'पल्टू बाबू रोड' उपन्यास में काका के जरिए रेणु जीवन के प्रवाहमान की तरफ भी संकेत करते हैं।

रेणु के 'मैला आँचल' उपन्यास को 'पल्टू बाबू रोड' उपन्यास से कहीं अधिक चर्चा और ख्याति मिली। उसे कालजयी उपन्यास माना गया। अन्य भाषाओं के बारे में कह नहीं सकते, परंतु हिंदी आलोचना के क्षेत्र में जिस उपन्यासकार की एक कृति को अद्भुत मान्यता मिल गई उसकी अन्य कृतियाँ प्रशंसा के उस गर्दो गुबार के दबी रह जाती हैं अक्सर। 'पल्टू बाबू रोड' कोई इतना छोटा, इतना जटिल और ऐसा अवास्तविक उपन्यास नहीं है कि इसकी उपेक्षा की जाए।

'पल्टू बाबू रोड' एक दिलचस्प उपन्यास है। उसमें शुरू से अंत तक पढ़वा लेने की ताकत है। जीवन की सामग्री नहीं, जीवन जिस रूप में प्रगट होता है, हमारे सामने हैं। रचनाकार की संलग्नता, जीवनानुभव की सच्चाई प्रखरता के साथ प्रगट हुई है। चरित्र उदारता की जगह यथार्थवादी दृष्टि से निर्मित हुए हैं। वे अपनी कमजोरियों और अपनी ताकत के बूते खड़े हैं। उनकी अतिलोलुपता, अवसरवादिता और कुछ मक्कारी अगर जाहिर होती है तो वह ऐसे ही पात्र हैं जैसे समाज व्यवस्था उनको बना रही थी। अनैतिकता असर दिखा रही थी और प्रतिरोध इतना प्रबल नहीं था कि पतनोन्मुखता को उलट-पुलट दे। 'मैला आँचल' को जब एक आंचलिक उपन्यास की चौहदी तक ही सीमित किया जा रहा था तब निर्मल वर्मा ने कहा था, 'रेणु का महत्व उनकी आंचलिकता में नहीं, आंचलिकता के अतिक्रमण में निहित' है।

'पल्टू बाबू रोड' उपन्यास में बिजली का मुरलीमनोहर से प्रेम है। बेशक बिजली को धन बढ़ाने, शिखर पर पहुँचने के लिए भी संबंध बनाने पड़े, परंतु मुरलीमनोहर से भावुकता के उच्च स्तर पर टूटकर प्रेम किया। कंबल कुमारी और गोधनलाल के बीच गहरा प्रेम रहा, फिर छवि और गोधन के संबंध बने। प्रेम में डूब जाना कभी-कभी ऊब या स्थिरता से छुटकारा पाने हेतु भी होता है।

बिजली 'पल्टू बाबू रोड' उपन्यास के केंद्र में है। राय परिवार की संपन्नता, व्यवसाय और नाम के लिए समर्पित लड़की। उसका परिचय हम इस तरह पाते हैं- 'बिजली अपने काका बाबू की पर्सनल एसिस्टेंट ही नहीं, राय ऐंड ब्रदर्स, कांट्रेक्टर एंड ऑर्डर सप्लायर- बैरगाछी, जिला पूर्णिया के छपे लेटरपैड की तरह वह एक अंग है, काका बाबू कहीं जाने वाले हैं तो जरूरी कागजातों को रात में जगकर उसे टाइप करना होगा। 1920 में गृहस्वामिनी और गृहस्वामी की शादी हुई थी। शादी के पाँच दिन बाद बड़े दादा के यहाँ बेटी हुई थी। बड़े दादा और भाभी के गुजर जाने के बाद

वह इन्हीं के पास है ।

हरनाम सिंह का चेक नहीं आने पर लड्डू बाबू सोच रहे हैं- 'इस हरनाम सिंह को किसी तरह उल्लू नहीं बना सकी बिजली।' व्यापार के विस्तार के लिए बिजली को क्या-क्या पापड़ बेलने पड़ते हैं, इसका स्पष्ट संकेत है यहाँ।

घंटा को पसंद नहीं घर में छोगमल का आगमन। छोगमल तौफों से भरी पिटारी लाया। गृहस्वामिनी का रेडियो खराब था, उसके लिए रेडियो, बिजली के लिए आधुनिक स्वर्णमाला उसे पहनाते हुए चूम लिया। बिजली ने 'यह क्या किया आपने' कहने पर क्षमा मांग ली परन्तु फिर अपने को बंध जाने दिया बाजूबन्धन में। कारण? 'छोगमल ने पक्की बात की 'लड्डू बाबू का टेंडर जिस तरह हो, मंजूर करवा कर दम लूँगा।' छोगमल मुरली मनोहर मेहता का परिचय इस तरह दे रहा है-एक साथ सब कुछ है- कांग्रेसी भी, सोशलिस्ट भी, मजदूर लीडर भी और अखबार वाला भी। साला बोलता कम है, करता ज्यादा है। उसे लगता है कि मुरली मनोहर को हाथ में लिए बिना सप्लाई चलाना मुश्किल है। 'बिजली समझ गई छोगमल उसे 'कुमकी हाथी' बनाना चाहता है। यह मुरली बिजली को एक नजर देखने के लिए रोज मोड़ पर खड़ा रहता था। लड्डू बाबू से कहा- 'तब छोगमल को फल वाले व्यापार में अपना पूरा हिस्सा छोड़ना होगा।' मुरली से बिजली का पुराना प्रेम संबंध है। एक लंबे अंतराल के बाद मिलने पर 'धुक-धुक' सी होने लगी। घंटा से पूछ- 'मुरली बाबू को पुरानी बात... माने काकी या काका की बातें अब भी याद हैं ? घंटा ने दुष्टता भरी हंसी हस कर कहा- पुरानी बातों में एक ही बात याद है मुरली बाबू को '...समझती हो, बिनू दी ? बस एक ही बात। बिजली लजा गई। मधुर स्वप्न! मीठे सपने!!

मुरली बाबू का सहारा मिलते ही बिजली ने छोगमल को ठिकाने लगाने की बात सोची कहा- 'आप दया करके इस बार रेडियो का बिल भेज दीजिएगा।' छोगमल का चेहरा उतर गया। घंटा ने जलती पर तेल डालते हुए कहा कैमरे का भी।'

'छोगमल समझ गया, आज इस फूलबागान का प्रत्येक प्राणी आदर्श और नैतिकता की बोली बोलेगा।' रेणु स्थितियों की तल्खी को पूरी इबादत देते हैं जिससे संबंध के धूप-छाँही रंग स्पष्ट हो जाते हैं।

बिजली लिप्त भी होती है, अलिप्त भी हो जाती है। मुरलीमनोहर मेहता जब सेठ छोगमल की नीचता भरी बातें बिजली को बताता है, उसके पास एक ही जवाब है- 'बिजनेस इज बिजनेस!!' लड्डू बाबू के बिजनेस में बिजली को शामिल किए रखने पर, अपशब्द सुनने पर बिजली जो रज्जु साँस लेती है उसमें उसकी लाचारी छिपी है। यह मजबूरी की साँस थी। मुरली बाबू चाहते हैं, बिजली छोगमल के व्यापार से खुद को अलग कर ले। बिजली को यह संभव नहीं लगता। उसने मुरलीमनोहर से एकदम अपना हाथ छुड़ा लिया और कहा- 'मुरली मैं लोहा, सीमेंट और पत्थर का कारबार करती हूँ... और कोई व्यापार नहीं जानती। परंतु एक मूढ़ यह भी है कि वह अब सीमेंट और लोहे से समय बचाकर कविता की किताब पढ़ना चाहती है। वह घंटा से 'यौवन पथे' किताब लेती है। जो तस्वीर उसके मानस पर बन रही है, वह है 'कांग्रेस कमेटी के महिला-विभाग की इंचार्ज' बिजली- '...नायिका, बिजली वह हजारों-हजार जनता को जिधर चाहती है, मोड़ देती है... हजारों-हजार जनता, हमारों-हजार मुरलीमनोहर के मुखड़े'।

रेणु इस यथार्थ की पड़ताल को और वाणी दे रहे हैं जब नेतृत्व ग्रास रूट से नहीं आ रहा पिछले दरवाजे से दाखिल हो रहा है। यही कारण है कि जनता में असमानता, अमानवीयता और अनाचार के प्रति जबर्दस्त गुस्सा है। लड्डू बाबू सूचित करते हैं 'जिला कांग्रेस कमेटी में एक महिला विभाग खोला गया है जिसकी देशनायिका बिजली राय कर रही है। बिजली के नेता हो जाने से लड्डू बाबू जो कुछ टटोलकर देख रहे हैं, वह यह है- 'बिजली सीमेंट सप्लाईंग कंपनी के भविष्य को उज्ज्वलतर करने के लिए ही देश सेवा का व्रत ले रही है।

पलटू बाबू की कृपा से ही घंटा सोशलिस्ट

लीडर हो गया। 'पल्टू बाबू अपनी थैली से मशाला इस तरह निकालने लगे, मानो थैली में लीडरी हो...पल्टू बाबू ने पंद्रह मिनट के अंदर ही घंटा के मन में समाजवाद की मोटी बातें बैठा दीं।' घंटा ने कहा- 'लेकिन सुनते हैं खून से दस्तखत करवाता है। करवाता है तो कर देना। एक बूंद खून ही लगेगा न। और क्या ?'

मुरली बाबू जब कुछ अंतराल में फूलबगान आए तो हैरान होकर कहा- 'वाह ! खूब हिसाब लगाया है ! आधा घर कांग्रेसी और आधा सोशलिस्ट !!' घंटा विशुद्ध कामरेडों की भाषा बोल रहा है- 'मुरली दा ! प्रोलिटेरिएट सर्वहारा वर्ग के विरोधियों से मुझे कोई सीख नहीं लेनी है'। घंटा ने तय किया है कि अब वह पढ़ेगा नहीं। पढ़कर होगा भी क्या? 'विद्यार्थियों का संगठन मेरे हाथ में है। प्रिंसिपल और प्रोफेसर लोग मुझसे डरते हैं। जिस दिन चाहूँ, जिनको चाहूँ मुर्दा बना सकता हूँ, तो अब पढ़कर होगा क्या? प्रोफेसर बोलेगा, मैं जो अर्थशास्त्र पढ़ाता हूँ, वह ठीक है। मैं कहूँगा, सब पूँजीवादी अर्थशास्त्र के सिद्धान्त गलत हैं। बहस करूँगा और हारूँगा नहीं। फिर लड़ाई हो या संधि...कुछ होकर रहेगा। तो अब पढ़कर क्या होगा'। खगेन्द्र ठाकुर कहते हैं कि - 'आश्चर्य यह है कि लघु मानव जनता को भुलावा देने के लिए अपने व्यक्तित्व को भी चमत्कार मुक्त बनाने का प्रयत्न करते हैं। अनेक लुभावने नारों, उत्तेजक मुहावरों और चकाचौध कर देने वाले प्रतिकों की मदद से नेता अपना चमत्कारिकरण करते हैं। इसमें सफलता पा जाने पर जनता को ठगना आसान हो जाता है'।

बहती गंगा में हाथ धोने के लिए ये सभी कांग्रेस प्रार्थी के सदस्य बने थे। लड्डू बाबू को एक हजार रुपया देने पर कांग्रेस वालों ने स्वागतकारिणी का सदस्य बना दिया, जहाँ से लाभदायक सिद्धियों का रास्ता प्रशस्त होना था। परिणाम, 'लड्डू बाबू का कारबार फिर धूमधाम से चलाने लगा है। जिला कांग्रेस के दफ्तर में बिजली के लिए एक कमरा रिजर्व है... लड्डू बाबू के सभी काम घर पर ही किए जाते हैं और सबडिविजिनल ऑफिसर साहब आँख मूँदकर

उनके कागजात पर दस्तखत करते हैं'। परिदृश्य में कुंतला के आगमन से बिजली स्त्री सुलभ ईर्ष्या से भर उठी। 'जब से कुंतला इस कस्बे में आई है, बिजली के मन में एक हलचल मचा हुआ है। न जाने क्यों, उसको लगता है कि कुंतला सबकुछ छिन लेना चाहती है'। परंतु बिजली है तो सबकुछ है। लड्डू बाबू के फँसे हुए काम वही तो निकलवाती है। लड्डू बाबू कहते हैं, 'बिजू ! उस छोगमल का उद्धार कर दो आज, समझी। बिजली ने लड्डू बाबू को आश्वस्त कर दिया कि वे निश्चित रहें।

'पल्टू बाबू रोड' उपन्यास में फ्रायड के विचारों का घंटा के ऊपर प्रभाव नजर आता है। उसका मानना है कि मानव शुरुआत से ही सेक्सग्रस्त है। उसने लिबिडो को सामने रखा। जिसके मानी है, काम शक्तियाँ, प्रेम और स्नेह जिससे सुख की प्राप्ति होती है। लिबिडो कहा करता था, काम और प्रेम, प्रेम और काम बस यही है। फ्रायड मन की तुलना बर्फ से करते हैं। जैसे बर्फ को पानी में डालते हैं तो उसका 90 प्रतिशत पानी में तथा 10 प्रतिशत बाहर रहता है। 1930 में उन्होंने समलैंगिकता के खिलाफ बने कानून को हटाने का समर्थन किया था।

उपन्यास में घंटा फेलू से कहता है, 'यह रेडियो बंद करने के पीछे भी सेक्स है'। फेलू हैरान, बच्चे का अँगूठा चूसने से लेकर बूढ़े के पैर हिलाने तक तो खैर, किसी तरह समझ गया था फेला-कि इसके पीछे सेक्स हो सकता है। अब रेडियो बंद करने में भी सेक्स... दुखित भाव से कहा- 'यह साला सेक्स सर्वव्यापी है घंटा दा?' फ्रायड का असर इतना है कि घंटा और फेला आजकल संसार की प्रत्येक बात को यौन वैज्ञानिक, विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखते-परखते हैं। फेला के दिमाग पर नई तस्वीरों की छाया छाई हुई है। किताब पढ़ते समय उसे लगा, उसके सर के ऊपर से एक आँधी गुजर रही है... स्वस्थ स्त्री-पुरुष की तस्वीरें देखकर उसका जी छोटा हो गया। घंटा को सही साइकोएनालिसिस के लिए घर ही उपयुक्त लाइब्रेरी लगता है।

फेला के कमरे में पल्टू बाबू के अचानक आ जाने

पर जो किताब उनके पैरों पर गिरी, उसमें नंगी औरत की खुली तस्वीर देख उनकी आँखें चौंधिया गईं। इस कांड में गुरुदादू से किताब छीनते हुए घंटा ने कहा- 'इस विद्या का नाम आप नहीं जानते। नाम सुनने पर मतलब गल्ला भी नहीं समझिएगा। फ्रायड साहब का नाम सुना है?'

घंटा समझता है कि यौन विज्ञान की परिभाषाएँ सुना-सुनाकर फेला को प्रभावित करना कठिन होगा। अब मुरली बाबू का चरित्र विश्लेषण कर रहा है कि जिस मुरली बाबू को कांग्रेस में नए खून का नेता माना जाता है, 'वही मुरली बाबू-चोली, अँगिया, ब्लाउज, ब्रेसरी की समस्या पर बिनू दी से बात करता है'। खैर, लगता है रेणु फ्रायड को पसंद नहीं करते इसलिए घंटा बाद में सोशललिस्ट हो गया।

उपन्यास का नाम 'पल्टू बाबू रोड' है। पल्टू बाबू कोई धिरोदत्त, धीर ललित नायकत्व का क्षितिज छूने वाले चरित्र नहीं है। आजकल जो 'ग्रे-रोड' का मुहावरा चलन में है, उसी को छू रहे हैं। उपन्यास में पल्टू बाबू का पहला परिचय कुछ इस प्रकार है- 'पल्टू बाबू पनार नदी के बैरगाछ की घाट की ठेकेदारी करते हैं। आज, यह कहनेवाला कोई माई का लाल जीवित नहीं कि पल्टू बाबू ठेकेदार की चौकीदारी करते थे। पचासी वर्ष के बूढ़े पल्टू बाबू!'

लट्टू बाबू पल्टू बाबू के धर्म-पुत्र हैं, जिन्हें अपनी ही पदवी से उन्होंने शिक्षित किया। फूलबगान लट्टू बाबू का निवास स्थान है। 'पल्टू बाबू आज भी नियमपूर्वक साढ़े चार बजे भोर में फूलबगान पहुँच कर लट्टू बाबू को रोज वायु सेवन के लिए साथ ले जाते हैं। वहाँ उन्हें 'गुरुदादू' के नाम से संबोधित किया जाता है। घंटा के साथ फ्रायड की किताब को लेकर हुई घटना के बाद वह जल्दी फूलबगान में नहीं आए। लौटकर आए तो विविध तीर्थ स्थानों की यात्रा के उपरांत। घंटा ने महसूस किया- 'इस बूढ़े के पास बस यही एक अस्त्र है। मुस्कराकर !'

जब लट्टू बाबू बताते हैं कि छोगमल ने साझीदारी तोड़ दी है। दीवानी कचहरी में नालिश भी किया है। वह इस मामले को हल कर देते हैं। लोग मान गए

कि 'सचमुच पल्टू बाबू खेवैया हैं। जहाज का कप्तान!'

घंटा जब फ्रायड वाली किताब कांड पर कुपित हो गया था तब उसने पल्टू बाबू के चरित्र का वैज्ञानिक विश्लेषण कर डाला था। 'वह बूढ़ा बीमार है। उसकी इन हरकतों पर कभी किसी ने आँख-कान नहीं दिया। यथा' (क) रामा-छवि-कना अब बड़ी हो गई हैं। उनके अंग के गठन-गाठन में भी अब परिवर्तन होना शुरू हो गया है। लेकिन वह बूढ़ा अब भी उन्हें पकड़कर अपनी दाढ़ी से गुदगुदी लगाता है-उनकी देह में। (ख) नीचे, बरामदे पर गुरुदादू की गद्दी 'आराम कुर्सी' पिछले दस-बारह साल से एक ही जगह पर क्यों रहती है-बात यह है कि उस स्थान से बाथरूम का एक हिस्सा दिखलाई पड़ता है। सुबह-सुबह सद्यः स्नाता नारी देह की एक झलक देखने की वासना उनकी पूरी होती है। फेला की माँ...यानी काकी माँ की हाथ का पान ही वह क्यों खाता है? बिनू दी की पीठ पर हाथ क्यों फेरता है? वे दिन जब बिजली किशोरावस्था पार कर जवानी में कदम रख रही थी। फूलबगान में अनार के फले पेड़ के पास बिजली खड़ी थी। छोटी-छोटी पत्तियाँ...लाल-लाल छड़ी जैसी डालियाँ...और बिजली खड़ी! पल्टू बाबू को प्यास लग गई थी...! इसके बाद से पल्टू बाबू की कनपटी हमेशा गरम रहने लगी।' कुंतला को देखकर भी वैसी ही जलन होने लगी। बिजली ने तब वासना का उत्तर दो चाँटों से दिया था। अब कुंतला सपने में सताने लगी है, पल्टू बाबू को। गृहस्वामिनी का आंचर गुरुदादू के सामने ही सिर से खिसकता है। कुंतला को लेकर गुरुदादू के साथ किए शिकवे से ही सारी तस्वीर स्पष्ट हो जाती है- 'हमने क्या गलती की है? क्या त्रुटि हुई है हमारी ओर से?... तुम्हारी कौन-सी इच्छा पूरी नहीं की इस फूलबगान ने? तुम, तुम गुरुदादू! बिजली से तुम नाराज हो। लेकिन हमने क्या बिगाड़ा है तुम्हारा? बिजली ने तुम्हारा अपमान किया। तुम उस अपमान को पी गए और अब इतने दिनों के बाद उस अपमान का बदला ले रहे हो...? बोलो अब किसकी पूजा चाहिए तुम्हें?' कुंतला के साथ उनके संबंध जुड़ने

की बात सुनकर वह सोचती है- 'यह आदमी क्या है? आदमी या देवता या राक्षस? इसकी भूख आज तक नहीं मिटी ?... कुंतला ?'

बिजली को लगता है कि - मुरली, गोधन सभी गुरुदादू के सामने भेड़ हो जाते हैं। मिमियाते हैं। और ऐसा गुरुदादू खुद कुंतला के सामने भेड़ा कैसे हो जाते हैं? आश्चर्य !' यथार्थ की प्रतीति को अगर निकष बना दिया जाए तब भी उपन्यास का प्रभाव बना रहता है।

हरिवंश राय बच्चन को लगता था कि उनके सृजन का सारा कार्य उनके भीतर बैठी स्त्री ही करती है। फणीश्वरनाथ रेणु स्त्री पीड़ा, स्त्री उपेक्षा के प्रति संवेदनशील हैं। 'पल्टू बाबू रोड' उपन्यास में बिजली काकी माँ से कहती है, 'आमार मरन शुरू होयेछे !' रमा, छवि, कना एक ही साथ एक-दूसरे की ओर देखती हैं। इस 'मरन' का मतलब उन्हें समझ आने लगा है। अब 'उन लोगों ने इस कोडवर्ड का व्यवहार करना शुरू कर दिया है, क्योंकि मरन शुरू हो गया है। उनका भी'।

परिवार में एक लड़की के लिए वे दिन शारीरिक और मानसिक कष्ट के होते हैं। जब उसे एक तरह से एकांतवास दे दिया जाता है। 'बिजली तीन दिनों तक पूरा विश्राम लेती है। ऐसे समय । उन दिनों बिजली फ्राक पहनती थी... यह मरन शुरू होते ही फ्राक छोड़कर साड़ी पहनने लगी।' उपन्यास में स्पष्ट है कि मर्दवादी समाज में एक स्त्री की हैसियत क्या है। कुंतला के बारे में खलीफा कह रहा है, 'इस बनबिलार के मुँह से बचना तो समझ जाना कबूतरी! कौन बनबिलार? नया एस. डी. ओ. !... एक महिना भी नहीं हुआ है अभी । तीन-तीन कबूतरी को चट कर गया।... पहला नंबर 'लट्टू बाबू की कबूतरी। दूसरा नंबर अस्पताल की डॉक्टरनी और तीसरी है मार्टिनगंज की स्कूल मास्टरनी'।

'पल्टू बाबू रोड' उपन्यास की बिजली परिवार के हवन कुंड में एक लकड़ी का काम करती है। 'पल्टू बाबू के सामने बिजली चुपचाप खड़ी है, रौंदा हुआ फूल! छोगमल... मुरलीमनोहर मेहता और गोधन भी। चाँद सूरज नहीं जाने, लेकिन पल्टू बाबू जानते हैं, बिजली ने गोधन को भी अधरामृत...!' इनमें से प्रेम तो उसने मुरली से ही किया था बस ! विवशता ही ढोती रही।

कुंतला के वकालत कर आने पर समाज का स्वीकार का भाव स्पष्ट है। सारे बैरगाछी कस्बा में यह खबर तुरंत फैल गई... जनाना वकील!... हाकिम से रु-ब-रु बहस करेगी? जिरह करेगी...जुल्म हो गया।

परिदृश्य में कौआखोम के किसान संघर्ष का जिक्र है। बकाशत आंदोलन। 'जमींदार और किसानों के बीच में हैं कांग्रेस और सोशलिस्ट पार्टी वाले... कोर्ट में दोनों ओर से मुकदमे दायर किए जा रहे हैं, रोज। घटनास्थल पर दफा 144 लगा हुआ है। कौआखोम में पुलिस को गोली चलानी पड़ी। बाद में पता चला पुलिस ने नहीं, जमींदार ने गोली चलाई है। तीन आदमी मारे हैं और पाँच घायल। आज बदली हुई परिस्थितियों में भी किसान चैन की सांस नहीं ले पा रहे। किसानों की दशा खराब, समाज लाल फीताशाही और रिश्वत खोरी से परेशान।

उपन्यास एक अलग स्तर पर भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की उस गलती की ओर संकेत करता है कि सामंतों, व्यापारियों, जमींदारों, पूँजीपतियों के खिलाफ संघर्ष करना था, उन्हें राजनीति का हिस्सा बना दिया। वे ग्रास रूट से नहीं आए, अवसरवादिता की डोर थामकर आए और मुनाफाखोरी से लिप्त रहे।

उपन्यास 'पल्टू बाबू रोड' 'मैला आँचल' नहीं है। 'मैला आँचल' की प्रभाव क्षमता से अलग इसको पढ़ना होगा तभी इसका महत्व समझ में आएगा।

क्रूरतम समय और समाज से मुक्ति की चाहत अरुण होता

“वह संसार जहाँ तक पहुँची अब तक नहीं किरण है
जहाँ क्षितिज है शून्य, अभी तक अंबर तिमिर वरण है
देख जहाँ का दृश्य आज भी अंतःस्थल हिलता है
माँ को लज्जा वसन और शिशु को न क्षीर मिलता है
पूछ रहा है जहाँ चकित हो जन-जन देख अकाज
सात वर्ष हो गए राह में, अटका कहाँ स्वराज?

अटका कहाँ स्वराज? बोल दिल्ली! तू क्या कहती है?
तू रानी बन गई वेदना जनता क्यों सहती है?
सबके भाग्य दबा रखे हैं किसने अपने कर में?
उतरी थी जो विभा, हुई बंदिनी बता किस घर में
समर शेष है, यह प्रकाश बंदीगृह से छूटेगा
और नहीं तो तुझ पर पापिनी! महावज्र टूटेगा”

रामधारी सिंह दिनकर की कविता ‘समर शेष है’ की उपर्युक्त पंक्तियाँ आजादी के सात साल बाद लिखी गई थी। ठीक इसके सात वर्ष बाद यानी आजादी के चौदह वर्ष के वनवास के पश्चात फणीश्वरनाथ ‘रेणु’ के ‘दीर्घतपा’ उपन्यास का लेखन पूरा हो चुका था। रेणु ने ‘दीर्घतपा’ (बिहार ग्रंथ कुटीर, पटना से सितंबर 1963 में प्रकाशित) के पहले संस्करण की भूमिका में लिखा है-“यह उपन्यास 30 दिसंबर 1961 को पूरा हो चुका था। इसका परिवर्धित संस्करण हिंद पॉकेट बुक्स, दिल्ली के द्वारा 1972 में ‘कलंकमुक्ति’ के नाम से प्रकाशित हुआ। यह वर्ष आजादी का रजत जयंती वर्ष था। आज भारत को आज़ाद हुए तिहत्तर साल पूरे हो गए। लेकिन, दिनकर की काव्य-पंक्तियों का एक भी शब्द धूमिल नहीं हुआ है। ‘कलंकमुक्ति’ में निहित चिंताएँ आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई हैं। नहीं, वे अधिक विकट रूप में सामने हैं। कंपनी राज पराधीन भारत में था तो आज भी यह कायम है। भले ही हम आजाद मुल्क के नागरिक कहलाएँ, लेकिन आज भी भारत में कई ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ अंधकार का साम्राज्य व्याप्त है। अन्याय, अत्याचार, दमन, शोषण, भ्रष्टाचार, अनाचार आदि की तांडव लीलाएँ भयंकर रूप में जारी है। इनके तौर तरीके बदल गए हैं, लेकिन आम आदमी पर ढाए जाने वाले जुल्म-ऑ-सितम कम नहीं हो रहा है। आज भी लोग भूखे मर रहे हैं। गरीबी बढ़ती जा रही है। बेरोजगारी दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है। भारत के नागरिक सत्ता के झॉसे में आकर लोग ‘फील गुड’ के व्यर्थ भावों में भटक रहे हैं। लोकतंत्र बिकाऊ हो गया है। इसके सभी स्तंभ ढह चुके हैं। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ जैसे चाहें, देश की सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता को नचा रही हैं। कठपुतला

बनाए रखी हुई हैं। किसी ने कहा है न 'दुनिया की चाल बेदंगी, जो तब थी सो अब भी है।' ऐसे में आजादी को लेकर हमारे पूर्वजों के संजोए गए सपने चूर-चूर हुए। उनके संघर्ष और वलिदान की गाथाओं का नाजाएज फायदा उठाया गया समाज के मुट्ठी भर लोगों के द्वारा। स्पष्ट है कि जाग्रत और सचेतनशील रचनाकार की आँखों से तत्कालीन स्थितियाँ ओझल नहीं होती हैं। वह अपने समय के अंतर्विरोधों, विसंगतियों, विपर्ययों को अपनी रचना दृष्टि और जीवनदृष्टि से समन्वित करते हुए उन्हें उद्घाटित करने को अपना कर्म, धर्म और उद्देश्य समझता है। रेणु की औपन्यासिक कृति 'कलंकमुक्ति' भी इसी सोच का परिणाम है। लघु कलेवर वाले इस उपन्यास में देश भर में व्याप्त सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक पतनशीलता की परतों को रेशा-दर-रेशा उधेड़कर प्रस्तुत किया गया है। आज़ाद भारत में दलितों, पीड़ितों, उपेक्षितों और अवहेलितों के उत्थान के नाम पर सरकारी और गैर-सरकारी संस्थान बड़ी मात्रा में खोले गए। कहा यह गया कि इन संस्थाओं के माध्यम से बेवश और लाचार जनता की सदियों के दुःख और कष्ट दूर होंगे। उन्हें कलंक से मुक्ति मिलेगी। लेकिन, ऐसा हुआ नहीं। लेखक ने ऐसी संस्थाओं से जुड़े पदाधिकारियों, सत्तासीनों, तथाकथित समाजसेवियों के छद्म को उजागर करने में कोई कोताही नहीं बरती है। सत्तासीनों के पतनशील चरित्र, उनकी मानसिक विकारग्रस्तता, स्वार्थपरता, संवेदनहीनता, और लोकतंत्र की विडंबनाओं का कच्चा चिट्ठा प्रस्तुत करने में भी लेखक पीछे नहीं रहा है। इन्हीं कारणों से 'दीर्घतपा' उर्फ 'कलंकमुक्ति' का विशेष रूप से उल्लेख किया जाना आवश्यक प्रतीत होता है।

'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' रेणु के ही नहीं, हिंदी के महत्वपूर्ण उपन्यास हैं। 'मैला आँचल' कालजयी उपन्यास है। इन उपन्यासों में लोक और अंचल का जीवंत चित्रण हुआ है। रेणु के परवर्ती उपन्यासों 'पलटू बाबू रोड', 'जुलूस', 'कितने चौराहे' और 'कलंकमुक्ति' के धरातल उनके पूर्ववर्ती उपन्यासों

से भिन्न है। सच है कि 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' को जो महत्व मिला वैसा महत्व उनके अन्य उपन्यासों को हासिल नहीं हुआ। लेकिन, यह भी सच है कि अन्य उपन्यासों पर चर्चा न करना रचनाओं के साथ अन्यायसंगत है। उल्लेख किया जाना चाहिए कि रेणु ने इन उपन्यासों में अपने को रिपीट होने नहीं दिया है। कथा या अपनी चिंता को बार-बार दोहराया नहीं है। न केवल आकार, विषय, कथ्य, चिंता, बल्कि उसकी प्रस्तुति में भी रेणु के परवर्ती उपन्यासों में भिन्न स्वाद मौजूद है। पूँजी और सत्ता के गठजोड़ से समाज की पतनशीलता अधिक तेज होती है। समाज और राष्ट्र के क्रूर और वीभत्स यथार्थ को अंकित करने में लेखक ने कभी मुँह नहीं मोड़ा है। 'कलंकमुक्ति' के संदर्भ में इन मुद्दों की चर्चा अपेक्षित है।

'कलंकमुक्ति' प्रलेशबैक शैली में लिखी गई एक औपन्यासिक कृति है। इसकी कथा के केंद्र में बिहार की राजधानी पटना की गणपत सिंह लेन में अवस्थित 'खगड़ा मंज़िल' उर्फ 'विमेंस वेलफेयर बोर्ड के तत्वावधान में एक वर्किंग विमेंस हॉस्टल, मेटरनिटी सेंटर, शिल्प-केंद्र और शिशु कल्याण केंद्र चलाए जाते हैं। यह एक नायिका प्रधान उपन्यास है। कोई नायक नहीं है। बेला गुप्त इसकी नायिका है। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के जोश में गाँव छोड़ने वाली बेला गुप्त को अपने क्रांतिकारी साथी से धोखा और बलात्कार मिलता है। बेला गुप्त को अनपढ़ और साहसी मुनिया और उसकी बेटी रामरति से शरण मिलती है। रमला बैनर्जी से भी उसे सहारा मिलता है। उसे कामकाजी स्त्रियों के होस्टल में काम दिलवाती हैं। वह केवल हॉस्टल की सुपरिटेण्डेंट ही नहीं, अन्य केंद्रों की परिचारिका भी है। बेला गुप्त को अपने बीते जीवन का पश्चाताप करना है, वह जन साधारण की सेवा में जुट जाती हैं और निर्बल कमज़ोर युवतियों को सहारा देने में जुट जाती है ताकि वे शिक्षा के माध्यम से आत्मनिर्भर बन सकें। इस काम में भी उसे तमाम अड़चनें आती हैं। इसके लिए किसी रिश्तखोर या भ्रष्ट अफसर से जूझने से नहीं डरती है। सत्ता और

व्यवस्था के छल के परिणामस्वरूप निरपराध बेला गुप्त और उसकी निडर सहायिका रामरति को जेल की सजा होती है पाँच साल के लिए। जबकि होस्टल को चकलाघर में तब्दील कराने वाले और यूनीसेफ की दवाई तथा अन्य सहायताओं को गबन करने वाले मठाधीशों और अत्याचार करने वाले सरकारी अफसरों को कुछ नहीं होता है। न्यायालय में बेला गुप्त चुपचाप न्याय के इस अन्याय को स्वीकार कर लेती हैं। इसे बेला गुप्त की असफलता कहा जा सकता है। एक असफल नायिका के रूप में उसकी चर्चा की जा सकती है। लेकिन समझना चाहिए कि रेणु ने ऐसा अंत क्यों किया। दरअसल हमारी व्यवस्था इतनी भ्रष्ट और पतित हो चुकी है कि उसमें ईमानदारी का कोई महत्व नहीं रह गया है। सचाई वह है जिसे सत्ता कहती है। कर्तव्य निष्ठा तो बेवकूफी का पर्याय बन चुकी है। अरुण कमल की पंक्तियाँ याद आती हैं-

“देखो हत्यारे को मिलता राजपाट सम्मान

जिनके मुंह में कौर मांस के उनको मगही पान।”

‘कलंकमुक्ति’ में स्वतंत्र भारत के चित्र अंकित हैं। लेकिन स्वतंत्रता आंदोलन के दौर के आदर्श और स्वप्न का भी प्रसंगतता उल्लेख है। इससे उपन्यास के पाठकों के लिए अंतर्विरोधों को समझना आसान होता है। सिस्टर निवेदिता के आदर्शों से प्रेरित होकर रमला बनर्जी ने भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभाई थी और जनसेवा और जनहित के लिए अपने को समर्पित कर दिया था। तमाम जनहितकारी संस्थाओं की जन्मदात्री और पालनहार के रूप में उनकी प्रसिद्धि रही। उनके स्वभाव के बिल्कुल विपरीत मिसेज़ आनंद संस्था की ऑनरेरी सेक्रेटरी बनाई जाती है। वह बड़ी मैम है। बेला गुप्त छोटी मैम। बेला गुप्त में जनसेवा और देशसेवा की भावना भरी हुई थी। वह भ्रष्ट व्यवस्था से लड़ती है, जूझती है, टूटती भी है। खूब संघर्ष करती है। इस संघर्ष के माध्यम से भ्रष्ट तंत्र का नग्न यथार्थ भी पेश करती है। यह अलग मुद्दा है कि उसे ही जेल में डाल दिया जाता है। इसे आलोचक ‘अस्वाभाविक अंत’ मान सकते हैं। लेकिन सवाल

यह है कि आज हमारी व्यवस्था में पीड़ित को ही तो दंड मिल रहा है। आरोपी को बाइज़त बरी किया जा रहा है। पिछले दशक में यह प्रवृत्ति खूब विकसित हुई है। दंगाइयों, हत्यारों, बलात्कारियों के समर्थन में सत्ता जुलूस निकाल रही है और पीड़ितों को कारागार में ठूँसा जा रहा है। रेणु ने इसे 1961 में देख लिया था।

रेणु के उपन्यास की कथा भले ही संस्था तक सीमित लगे, लेकिन भ्रष्टाचार, बलात्कार, स्त्री उत्पीड़न, यौन-शोषण, रिश्वतखोरी आदि के जो चित्रण मिलते हैं, उनसे यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन और आज के समाज में अथवा जहाँ कहीं भी ये अमानवीय प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं, वहाँ तक इसकी कथा की व्याप्ति देखी जा सकती है। पुनः इस उपन्यास के मिस्टर आनंद, मिस्टर मोहंती, श्रीमती ज्योत्स्ना आनंद, मिस रेखा वर्मा, प्रोफेसर रमा निगम, मिस्टर बागे, कांति चटर्जी, कुंती देवी, डी साहब, पी साहब और भी बड़ी तादाद में पात्रों की मनस्थितियों, गतिविधियों और क्रियाकलापों से गुजर कर पतनोन्मुखी समाज की रूपरेखा मिल जाती है। महिला कल्याण से जुड़े लोग समाज के उच्चवर्गीय लोग हैं। पेशे से डॉक्टर, व्यवसायी, नेता और सरकारी पदाधिकारी। लेकिन हैं ये सभी भ्रष्ट और लोलुप। स्वार्थपरता, छल, प्रपंच आदि में आकंठ डूबे हुए इन पात्रों के माध्यम से हम रेणु के सामाजिक यथार्थ से भली-भाँति परिचित हो सकते हैं। हालाँकि, रमला बनर्जी, मिस बेला गुप्त, विभावती आदि कुछ ऐसे भी पात्र हैं जो सत्य के मार्ग पर चलकर समाज के समक्ष एक दृष्टांत प्रस्तुत करना चाहती हैं।

‘कलंकमुक्ति’ में रेणु की सबसे बड़ी चिंता है स्त्री-उत्पीड़न। रेणु रचनावली के संपादक भारत यायावर के अनुसार -‘पलटू बाबू रोड’ और ‘कलंकमुक्ति’ में आकर रेणु ने एक कठोर, विकृत और ह्रासोन्मुखी समाज को बड़े ही बेलौस ढंग से अपनी कथा का आधार बनाया है। यहाँ समाज के इस घृणित स्वरूप की पड़ताल रेणु बहुत भीतर जाकर करते हैं, पर उनका मन उस तरह इस चित्रण में नहीं रमता,

जिस तरह 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' की रचना में रमता रहा।" स्त्री के यौन-उत्पीड़न के माध्यम से उपन्यासकार की स्त्री दृष्टि का परिचय मिलता है।

रेणु को क्रांतिकारियों से कोई शिकायत नहीं थी। लेकिन उन्हें छद्म क्रांतिकारी सरज़ नापसंद थे। छद्म देश सेवक भी। बेला के पिता का प्रिय छात्र प्रियदर्शन, स्वस्थ तरुण बाँकेबिहारी जो उन दिनों काशी में पढ़ता था, जब गाँव आता, बेला के घर आकर दर्जनों क्रांतिकारी कहानियाँ सुना जाता। वह क्रांतिकारी पार्टी में शामिल था। उसने बेला से प्रेम का नाटक किया। पहले उसने बेला को अपनी पार्टी में महिला कार्यकर्ता के रूप में शामिल करने के लिए बाँके बिहारी ने गंभीर होकर कहा था- 'उसकी क्रांतिकारी पार्टी को महिला-कार्यकर्ता की सरज़ जरूरत है। ..बेला जैसी लड़की घर में कैद रहेगी तो 'भारत-माता' की बेड़ी कैसे टूटेगी? 'प्लेज' पर हस्ताक्षर करवाया। पार्टी के हुक्म के नाम पर उसे घर छोड़ने के लिए विवश किया। उपन्यासकार ने स्त्री-जीवन की दुर्दशा पर गहरी चिंता व्यक्त करते हुए मासूम बेला के जीवन के प्रारंभिक अध्याय का उद्घाटन करते हुए लिखा है—'घर से निकलने के बाद ही बाँके बिहारी ने 'सतीत्व' पर, पाप-पुण्य और देश की गुलामी पर बातें करते हुए कहा... सतीत्व क्या है? कुछ नहीं। ...पाप क्या है? पुण्य क्या है? ...देश को स्वतंत्र करना ही सबसे बड़ा पुण्य है। ...भूख लगती है। वैसे ही, देह की भूख है। ...बाँके ने अपनी भूख मिटाई।' यहाँ ध्यान देने की बात है कि बेला जैसी भोली-भाली लड़की बाँके बिहारी जैसे छद्मवेशधारी क्रांतिकारी के ही हवस का शिकार नहीं होती बल्कि सरफराज जैसे अन्य पुरुषों के हवस का शिकार होने को अभिशप्त हो गई। इस घटना से "बाबा ने आत्महत्या कर ली" महानदी में डूबकर। अध-पगली माँ न जाने कहाँ चली गई। इस समाचार से बेला रो नहीं पाई थी। तब से लेकर आजीवन उस जमे हुए आँसू को कलेजे पर लाद कर जिंदा है। यह आँसू "जीवन-भर समय-असमय इसी तरह झरेंगे, ढरेंगे।

बे-मोल —!!" और सपने में उसे मिसेज आनंद सुना रही थी— '...पापिनी! अभी क्या हुआ है? तेरी दुर्गति अभी बाँकी है। तुमने अपने गौ-जैसे बाप को कलपाए है। ...देश-सेवा-वा-वा-हा-हा-सेवा...तुम्हारी आरती उतारी जा रही है स्वतंत्र भारत में बेला देवी...सुकुमार घोष तुम्हारे पास सोयेगा-...आनन्द सोयेगा...डायरेक्टर सोयेगा...डायरेक्टर का किरानी सोयेगा-सभी सोयेंगे। तुम सेवा करोगी। तुम कुछ नहीं बोल सकती।'।

आज़ाद भारत में सबसे पहले बेला की आरती उतारी गई। जिस किशनगंज से उसका नाभि-नाल संबंध था वह छूटा हमेशा के लिए। तथाकथित समाज ने उसे वहाँ लौटने की शक्ति को कुचल दिया। लौटने लायक नहीं छोड़ा। लेकिन, यह रेणु की बेला है जिसने संघर्ष के मार्ग को चुना। यह अलग बात है कि उसे अपने जीवन के हर कदम पर लड़ाई जारी रखनी पड़ी, जूझना पड़ा। संघर्ष से उसे शक्ति मिलती रही। बीमार बच्चों और जरूरतमंद स्त्रियों की सेवा से वह अदम्य साहस और अपार जिजीविषा प्राप्त करती रही। इन्हीं के सहारे वह भ्रष्ट तंत्र का मुकाबला भी करती रही। यह भ्रष्ट तंत्र समाज की अतल गहराई तक धँसा हुआ है। इस व्यवस्था में सारी अनैतिकताएँ नैतिकताओं में तब्दील हो जाती हैं और अन्याय न्याय में। उपन्यास में टेंडर मंजूर करवाने के संदर्भ में हो अथवा सरकारी अनुदान के मामले में हो, रिश्वत को आधार नहीं बनाया गया है, बल्कि स्त्री-देह ही वह माध्यम है जिसे अधिकारियों और पदाधिकारियों के सामने परोसकर अपनी मनोवांछ पूरी की जाती है। उपन्यास में ज्योति कहती है- "कहाँ है आनंद? उसी के साथ जाना है न, नरबहादुर के कैप में? ठीक है, मैं तुम्हारा टेंडर मंजूर करवाने जा रही हूँ।" पिछले साठ-सत्तर साल से स्त्री देह के इस व्यापार को जीवन के हर क्षेत्र में रामवाण के रूप में स्थापित कर दिया है। वर्किंग विमेंस हॉस्टल की अंजु-मंजु ही नहीं, विभावती, गौरी तथा अन्य लड़कियों को भी इसका शिकार होना पड़ा। इनका शिकार करने वाली मिसेज़ आनंद ने हॉस्टल की नियमावली बदलवा दी—'होस्टल के सभी नियम-कानून को श्रीमती

आनन्द ने ही तोड़ा है और भुगतना पड़ रहा है, उसे। गौरी के आत्मदाह के बाद पुलिस इन्सपेक्टर ने तो साफ-साफ कह ही दिया है, “हम मिसेज आनन्द को नहीं जानते। होस्टल की सुपर आप हैं। हम तो आपसे ही पूछेंगे।...तब? उधर उस घोष ने तो सारी जिम्मेवारी बेला के ही सिर थोपी है। उसने स्पष्ट कहा कि ‘होस्टल के बारे में श्रीमती आनन्द कुछ भी नहीं जानती। सब बेला गुप्त..।’ रचनाकार के उपरोक्त संदर्भ को देखने से यह स्पष्ट होता है कि न केवल ‘कलंकमुक्ति’ के रचनाकाल में बल्कि आज इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक में भी स्त्रियों की स्थिति में कोई परिवर्तन परिलक्षित नहीं होता है। कहा जाना चाहिए कि आज तो यह स्थिति अधिक विकराल रूप धारण कर चुकी है। ऐसी सैकड़ों घटनाओं में से बस एक का उदाहरण प्रस्तुत करना अनुचित न होगा।

26 मई, 2018 को टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंस (टिस) की रिपोर्ट में पहली बार बिहार के मुजफ्फरपुर में हुए बालिका गृह में नाबालिग लड़कियों के साथ दरिदगी का मामला सामने आया था। सीबीआई ने इस मामले में दस महिलाओं सहित इक्कीस को आरोपी बनाया जो कि बालिका गृह की लड़कियों के साथ होने वाली दरिदगी को न केवल छिपाते रहे बल्कि बच्चियों को चुप रहने के लिए उनको यातनाएँ भी देते रहे। यही नहीं, मुजफ्फरपुर बालिका गृह में तैनात रसोईया से लेकर गेटकीपर तक पर लड़कियों के साथ कुकर्म के आरोप लगे जो बाद में सच साबित हुए। ब्रजेश ठाकुर, संरक्षक लड़कियों का यौन शोषण करता था। आला अधिकारियों तक लड़कियों पहुँचाता था। मुजफ्फरपुर और पटना में ब्रजेश ठाकुर ने अड्डे बना रखे थे जहाँ बालिका गृह की लड़कियों को भेजता था। इसमें बिहार सरकार के सामाजिक कल्याण विभाग के अधिकारी भी शामिल थे। तत्कालीन समाज कल्याण मंत्री श्रीमती मंजू वर्मा को इस्तीफा इसलिए देना पड़ा कि उनके पति के साथ ब्रजेश ठाकुर के अच्छे संबंध थे। यह विवरण इसलिए कि सबसे हैवानियत

भरे मामलों में से यह एक है। स्त्री के यौन शोषण और शारीरिक उत्पीड़न में कोई एक गिरोह भर नहीं, बल्कि पूरा तंत्र शामिल है। उपभोक्तावादी समय में मूल्य का अर्थ केवल बाज़ार मूल्य तक सीमित हो गया है। ऐसी स्थिति में हमारे समाज का अत्यधिक विकारग्रस्त और पतनोन्मुखी होना स्वाभाविक है जिसका दुस्वप्न पिछली शताब्दी के साठ के दशक में रेणु देख रहे थे। रेणु की स्त्री दृष्टि से परिचित होने के लिए ‘कितने चौराहे’ की शरबतिया, ‘कलंकमुक्ति’ की बेला गुप्त, के साथ ‘रसप्रिया’ की रमपतिया, ‘नैना जोगिन’ की रतनी, ‘जलवा’ की फ़ातिमा आदि स्त्री पात्रों को ध्यान में रखा जाना चाहिए। उनके इन स्त्री पात्रों के समन्वित अध्ययन से उनकी स्त्री दृष्टि के साथ-साथ उनकी समाज चिंता का भी एक वृहत्तर वितान निर्मित हो सकता है।

उपनिवेशवाद से लेकर आज के बाजारवादी समय तक भारत में व्याप्त इस मूल्यहीनता, भ्रष्टाचार, दमन-शोषण, निर्यातन आदि के कारणों का अन्वेषण करते हुए पूरन चंद्र जोशी ने अपनी पुस्तक ‘आजादी की आधी सदी : स्वप्न और यथार्थ’ (2000) में लिखा है-‘आजादी के पाँच दशकों का सामाजिक परिवर्तन के कार्यक्रमों से अवरोध और प्रतिरोध का हमारा अनुभव हमें यह सोचने पर विवश करता है कि आजादी के पहले राजनीतिक रडिकलिज्म और सामाजिक रूढ़िवादिता का गठजोड़, जो कल भारत की राजनीति और संस्कृति पर हावी था, क्या उसी प्रकार आजादी के बाद के दशकों में सक्रिय नहीं रहा है? आज प्रचंड पुनरुत्थानवाद का विस्फोट क्या इसी गठजोड़ का बैकलैश तो नहीं है, उसी की उग्र वैचारिक मानसिक प्रतिक्रिया तो नहीं है? या दूसरे शब्दों में, कल का रूढ़िवाद क्या आज निर्लज्ज रूप से अप्रच्छन्न (या खुला हुआ) पुनरुत्थानवाद बनकर तो प्रकट नहीं हुआ है?” ‘कलंकमुक्ति’ उपन्यास में हम एक ओर सामंती सोच तो दूसरी ओर औपनिवेशिक मानसिकता का गठजोड़ देखते हैं। इसके फलस्वरूप, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक क्षेत्रों में घोर पतनशीलता परिलक्षित होती है।

‘कलंकमुक्ति’ के पाठकों के समक्ष एक प्रश्न बार-बार खड़ा होता है कि न्यायालय में चश्मदीद गवाह, अपेक्षित सबूत आदि सबकुछ अपने पक्ष में होते हुए भी बेला ने अपने निरपराध होने के बारे में चुप्पी क्यों साध ली? न तो उसने चोरी की थी और न अपने कर्तव्य में अवहेलना। फिर पाँच साल के लिए जेल की सजा कबूल क्यों कर ली? उपन्यास के अंत में ‘लेखक की स्वीकारोक्ति’ में स्पष्ट उल्लेख है - “अब बंद करो अपना तमाशा! बहुत नाच चुकी! गौरी को मिल-जुलकर मार डाला लोगों ने। अब विभावरी रह गई है। भरी कचहरी में गांग वकीलों से जिरह करवाना चाहते हो न? - कचहरी में उस दिन तिल धरने की भी जगह नहीं रहेगी और - और - तुम्हें - रस मिलेगा जब वकील पूछेगा-बोलो तुमको कैसा लगा था? स्टॉक की गड़बड़ी, चोरी और दूसरे अभियोगों से अपने को बरी साबित करने के लिए - मैं सफ़ाई पेश करूँगी। और, तब मेरी कहानी तुम नहीं’ लिखेगी मिसेज़ आनंद, कुंतिदेवी, तारादेवी-। एक-से-एक दिलचस्प कहानियाँ।” स्पष्ट है कि बेला दीर्घतपा हो चुकी है। वह नहीं चाहती कि औरों के साथ भी वह हो जो उस पर गुजरी है। पुनः बेला का समाज और न्याय व्यवस्था पर पूरी तरह से विश्वास उठ चुका है। लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था की विडंबनाओं का वह शिकार होती है। ‘सत्यमेव जयते’ दिखाने के लिए है। असल में असत्य की विजय हो रही है। कलंकित जीवन से मुक्ति पाने की ललक एक यूटोपिया बनकर रह जाती है। ऐसा होना सबसे त्रासद है। इसलिए यदि ऐसा कहा जाए कि रेणु ने हमारे जाने-पहचाने समाज को अपनी सृजनधर्मिता के माध्यम से प्रकाशवान कर दिया है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

‘दीर्घतपा’ उर्फ़ ‘कलंकमुक्ति’ की सफलता-असफलता, सामर्थ्य-सीमा, कथ्य और शिल्प संबंधी

कमज़ोरियों आदि पर बहुत चर्चा हो चुकी है। इन मुद्दों पर स्वतंत्र ढंग से विचार किया जा सकता है। लेकिन, इस उपन्यास की सफलता अथवा असफलता की ज़िम्मेदारी स्वयं लेखक अपने ऊपर लेते हुए उपन्यास के अंत में कहता है- ‘और, अपने अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि कुछ ऐसे चरित्र होते हैं जो प्रान-प्रतिष्ठा पाते ही अपने सिराजनहारे के बांधे-बँधाए नियम-क़ानून, नीति अथवा ‘फ़ार्मूले’ को छोड़कर बाहर निकल आते हैं और अपने जीवन को अपने मन के मुताबिक़ गढ़ने लगते हैं। उनके अंदर, ज़िंदगी को बार-बार तोड़कर गढ़ने के लिए अगाध स्नेह की संजीवनी धारा सदैव बहती रहती है-पुण्या-पवित्रा - पुण्यमयी - पापहरा धारा !!”

यह उपन्यास रेणु की ‘पंचकन्या’ योजना की पहली कृति है। रेणु पाँच देवियों के आधार पर पाँच उपन्यास लिखना चाहते थे। बेला गुप्त के अलावा अन्य चार कन्याओं पर लिखना वे चाहते थे- यूथिका, फ़ातिमा, सरस्वती देवी और आयसा। लेकिन योजना पूरी नहीं हो सकी। बेला गुप्त ही सामने आ सकी। ‘पंचकन्या’ सीरिज़ के सामने आने से पूरा संभव था कि पाठक एक नए रेणु को अपने समक्ष पाते। बहरहाल, ‘कलंकमुक्ति’ रेणु की नई भावभूमि का उपन्यास है। इसमें शहरी जीवन के आर्थिक, सामाजिक, नैतिक और सांस्कृतिक स्तरों को उद्घाटित करने का सफल प्रयास हुआ है। इस उपन्यास में रेणु की स्वतंत्र एवं नवीन दृष्टि का उन्मेष हुआ है। उनकी दृष्टि में विवेक और मूल्यों के बिना समाज और राष्ट्र में अराजकता और भ्रष्ट व्यवस्था पनपती है। ज्ञान-विज्ञान से ही हम आर्थिक पिछड़ेपन और गतिरोध, विषमता और अन्याय से मुक्ति के प्रश्नों का हल खोज सकते हैं। अतः जीवन में इनका सुभग समन्वय होना अत्यंत आवश्यक है।

युवा बलिदान की आदर्शवादी गाथा

इतु सिंह

‘मैला आँचल’ फणीश्वरनाथ रेणु का युगांतकारी उपन्यास है। अपने पहले उपन्यास के साथ ही रेणु ने हिंदी साहित्य जगत में हलचल उपस्थित कर दी थी। इस उपन्यास की कथावस्तु के साथ ही इसकी वर्णन शैली ने भी एक नया प्रतिमान स्थापित कर दिया था। अपने पहले उपन्यास से रेणु को जो स्वीकृति मिली वह साहित्य जगत में दुर्लभ है। प्रेमचंद के बाद रेणु की कलम ने भारतीय जनता की नब्ज को पकड़ा था और उसकी वस्तुस्थिति को कथा के ताने-बाने में बुनकर पाठक के सामने रख दिया था। इसके बाद भी रेणु लगातार कहानियाँ और उपन्यास लिखते रहे और उनका पाठक वर्ग भी विस्तृत होता गया परंतु ‘मैला आँचल’ के मानक को तोड़ पानेवाली दूसरी रचना न रची जा सकी।

रेणु ने कुल 6 उपन्यासों की रचना की थी। मैला आँचल 1954 1/10/2 परती परिकथा ;1957, 3. दीर्घतपा या कलंकमुक्ति;1963 जुलूस, 4. 1965 पल्टूबाबू रोड ;1979 और कितने चौराहे;1966। इनमें से प्रकाशन की दृष्टि से अंतिम उपन्यास तो ‘पल्टूबाबू रोड’ है जो उनके मरणोपरांत सन् 1979 में प्रकाशित होता है पर यह उपन्यास 1959-1960 में ही लिखा जा चुका था और इसका प्रकाशन धारावाहिक रूप से ‘ज्योत्सना’ नामक पत्रिका में हो चुका था। अतः रचनाकाल के क्रम से जब हम देखते हैं तो ‘मैला आँचल’ से हिंदी उपन्यास लेखन में पदार्पण करनेवाले रेणु का अंतिम उपन्यास ‘कितने चौराहे’ ही है। यह उपन्यास 1966 में प्रकाशित हुआ था।

किसी भी रचनाकार की परवर्ती रचना की तुलना उसके पूर्ववर्ती रचनाओं से स्वाभाविक रूप से होती ही है और पाठक-समालोचक को यह उम्मीद रहती है कि बाद में आनेवाली रचनाओं में रचनाकार का श्रेष्ठतम देखने को मिलेगा, पर यह हमेशा घटित नहीं होता है। स्वाभाविक तौर पर रेणु के हर उपन्यास को कहीं न कहीं ‘मैला आँचल’ की कसौटी पर कसा जाता रहा, जिसके कारण अधिकांशतः उस रचना विशेष के साथ न्याय नहीं हुआ। रेणु ने आंचलिक उपन्यासों की जिस परंपरा की शुरुआत की थी, बाद में वे सजग रूप से उस चौखटे से बाहर निकलने का प्रयास कर रहे थे। ‘मैला आँचल’ और ‘परती परिकथा’ के बाद वे गाँव की जगह कस्बे या शहर को अपने उपन्यास का कथ्य बना रहे थे। दीर्घतपा, पल्टूबाबू रोड हो या जुलूस। इनकी कथा में शहर और कस्बे का जीवन अंकित है। यही नहीं अपने अंतिम उपन्यास में तो वे मुख्य कथा को अररिया के शहरी परिवेश में रचते हैं यद्यपि गाँव की कथा भी बीच-बीच में गौण रूप में आ जाती है।

‘कितने चौराहे’ उपन्यास को पढ़ते हुए निस्संदेह ‘मैला आँचल’ जैसे विशाल कैनवास का आभास तो नहीं मिलता है परंतु इस उपन्यास में वे किसी अंचल विशेष

की कथा न कहकर स्वतंत्रता पूर्व भारत के युवा समाज की कथा कह रहे थे। अब यदि रेणु के उपन्यासों की कथावस्तु को कालखंड की दृष्टि से देखें तो एक रोचक तथ्य सामने आता है कि उनके अंतिम उपन्यास का कालखंड उनके सभी उपन्यासों की तुलना में पीछे का है। 'मैला आँचल' में अगस्त 1945 से लेकर अप्रैल 1948 तक के कालखंड की कथा है। 'परती परिकथा' में 1955 से 1956 तक के कालखंड की, 'दीर्घतपा' में 1955 से 1956 तक की 'जुलूस' में 1961 के मात्र चार महीनों की तथा पल्लुबाबू रोड का कालखंड भी स्वातंत्र्योत्तर भारत ही है जबकि कितने चौराहे की कथावस्तु का कालखंड स्वतंत्रता पूर्व भारत का है। इस उपन्यास की मुख्य कथा का कालखंड 1930 से लेकर 1942 तक तथा एक प्रसंग 1965 का है। अतः हम कह सकते हैं कि रेणु 1965-66 में यह उपन्यास लिख रहे थे और आजादी के पहले के स्वतंत्रता की लड़ाई के परिवेश का नॉस्टेलजिक होकर चित्रण कर रहे थे।

अब हम इस उपन्यास के कथ्य की तुलना जब अन्य उपन्यासों से करते हैं तब भी यह उपन्यास भिन्न लगता है। 'मैला आँचल' से लेकर 'जुलूस' तक लेखक ने भारत के सामाजिक, राजनीतिक स्थिति का यथार्थवादी और सच्चा चित्र अंकित किया है। नैतिक पतन भ्रष्टाचार, निराशा के वातावरण को उजागर करनेवाले उपन्यासों की पंक्ति में कितने चौराहे, का कथ्य बिल्कुल ही अलग और अनोखा है। रेणु को लगातार पढ़ते रहनेवालों के हाथ जब यह उपन्यास आया होगा तो उन्हें जरूर लगा होगा कि यह उनका ही लिखा उपन्यास है तो यद्यपि भाषा, कहने की शैली आदि से रेणु पहचाने जा रहे हैं परंतु यह विचारणीय प्रश्न है कि स्वातंत्र्योत्तर भारत के विशेषकर पूर्वी भारत के लगातार विकृत होते जा रहे समाज और राजनीति की सच्ची तस्वीर आँकनेवाला यह कलाकार हठात् ऐसे आदर्शवादी कथा का ताना-बाना क्यों बुनता है।

अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि रेणु का साहित्य उनके जीवन से गहरे जुड़ा हुआ है। वे अपने जीवन में लगातार राजनीतिक गतिविधियों में सक्रिय रहे। स्वाधीनता संग्राम से लेकर, नेपाल के जन आंदोलन और अंतिम समय में जयप्रकाश नारायण के दूसरी आजादी के आंदोलन से भी जुड़े रहे। उनकी रचनाओं में भी देश की राजनीतिक हलचल की सच्ची छवियाँ देखी जाती हैं। विशेषकर आजादी के बाद क्रमशः पतन की ओर जाती राजनीति से वे बेहद क्षुब्ध रहा करते थे। उनके साक्षात्कार आदि में ही नहीं उनकी रचनाओं में भी उनकी यह पीड़ा झँकती है। वे पहले पहल राजनीति में सक्रिय रहे परंतु दलीय संकीर्ण राजनीतिक वातावरण से क्षुब्ध होकर वे 1952 से 1972 तक राजनीति से दूर हो गए थे। राजनीति और साहित्य में से किसी एक के चुनाव का प्रश्न आया तो उन्होंने साहित्य को चुना। उन्होंने इस संदर्भ में लिखा भी है। 'मैंने राजनीति को तिलांजलि दे दी, लेकिन जिन मूल्यों के लिए मैं पार्टी में आया था, वे मूल्य मेरे साथ रहे।' इन्हीं मूल्यों की रक्षा करते हुए जन पक्षधरता में वे लेखन करते रहे। अपने आसपास घटित होनेवाले यथार्थ को शब्दबद्ध करते रहे। यह सत्य ऐसा था जो कटु था, निष्ठुर था परंतु साथ ही उसमें जनता की शक्ति, सहनशीलता और नैतिक संस्कारों की भी दुनिया थी। कितने चौराहे; रेणु के अन्य उपन्यासों से इस लिए भी अलग दिखाई देता है कि यह उपन्यास पूर्णतया आदर्शवादी मूल्यों को वहन करनेवाला और उसी की स्थापना करनेवाला उपन्यास है। ऐसा नहीं है कि इस उपन्यास में निराशा और विकृतियाँ नहीं हैं परंतु वे कथानक पर हावी नहीं हैं। मुख्य कथा तो सकारात्मक विचारों का ही ब्यौरा है। अन्य उपन्यासों की तरह इसमें राजनीतिक भ्रष्टता, चारित्रिक पतनावस्था, धार्मिक संकीर्णता, अनैतिक काम संबंधों की आदि की गाथा नहीं है बल्कि ठीक इसके विपरीत त्यागपूर्ण राजनीति, देश भक्ति, समाज सेवा, मानवीयता, चारित्रिक उत्थान और आत्मोत्सर्ग की

कथा है।

‘कितने चौराहे’ उपन्यास रेणु के अन्य उपन्यासों की तरह यथार्थवादी न होकर एक विशुद्ध आदर्शवादी उपन्यास है। भारत के गाँवों को अपनी रचनाओं में साकार करनेवाले लेखकों में प्रेमचंद और रेणु का नाम सबसे पहले आता है परंतु उनकी साहित्य यात्रा एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत प्रतीत होती है। प्रेमचंद का अंतिम उपन्यास ‘गोदान’ उनके साहित्य भंडार की सर्वोच्च उपलब्धि है तो रेणु की पहली रचना ‘मैला आँचल’। प्रेमचंद की वैचारिक यात्रा आदर्शवाद से क्रमशः यथार्थवाद की ओर अग्रसित होती है तो रेणु ठीक इसके विपरीत यथार्थवाद से आदर्शवाद की ओर चलते दिखते हैं। ‘कितने चौराहे’ उपन्यास इसका साक्षात् प्रमाण है।

विचारणीय प्रश्न है कि आखिर रेणु ने यह नई लीक 1964-65 के आसपास क्यों पकड़ी। अपने अंचल की यथार्थवादी छवि आँकनेवाला रचनाकार पहली बार उस अंचल की आदर्शवादी छवि आँक रहा था। रेणुजी ने इस उपन्यास के संबंध में लिखा है कि, ‘जिसका मूल उद्देश्य व्यक्तिगत दुख-सुख’ स्वार्थ-मोह से ऊपर उठकर देश के लिए आत्मोसर्ग करने वालों के मानवीय संवेदनशील रूप को उभारना और पाठकों के मन में उनके प्रति श्रद्धा जगाना है ताकि वह परंपरा कायम रह सके।’ भारत यायावर अर्थात् समकालीन राजनीति और समाज में जो परोपकार और नैतिकता की परंपरा लगतार क्षय हो रही थी, रेणु इस उपन्यास के माध्यम से उसे कायम रखने का सपना देख रहे थे। वे याद दिलाना चाह रहे थे कि इस देश में ऐसे परोपकारी और त्यागी युवा भी थे जिनके बलिदान का प्रतिफल हमारी आजादी है। स्वतंत्रता की लड़ाई में सक्रिय हिस्सेदारी करते हुए स्वतंत्र भारत की जो परिकल्पना रेणु ने की थी, उसके एकदम विपरीत स्थिति बनते देख वे एकदम तिलमिला उठे। मैंने आजादी की लड़ाई आज के भारत के लिए नहीं लड़ी थी। अन्याय और भ्रष्टाचार अब तक मेरे लेखन का विषय रहा है और मैं सपने

देखता रहा हूँ कि यह कब खत्म हो। अपने सपनों को साकार करने के लिए जन संघर्ष में सक्रिय हो गया हूँ।’

स्पष्ट है कि वे इस उपन्यास को विशिष्ट उद्देश्य से लिख रहे थे और यह किशोरों और युवाओं को ध्यान में रखकर लिखा गया उपन्यास है। आजादी के बाद लगातार विकृत होती राजनीति ने केवल वरिष्ठों को ही नहीं युवाओं और किशोरों को भी खिन्न किया था। नई पीढ़ी के सामने लगातार जो घट रहा था वह उन्हें नैतिक रूप से हीन बना रहा था। समाज और देश के प्रति भक्ति और सेवा का आदर्श कहीं नजर नहीं आ रहा था हर तरफ लूट-खसोट का वातावरण था। ऐसे में रेणु बीते समय की ऐसी कथा की रचना करते हैं जिसका संबंध हमारे देश के ऐसे बलिदानी युवाओं से है जिन्होंने देश-सेवा और जन-सेवा में अपना सबकुछ न्यौच्छावर कर दिया था। संभवतः वे भारत के युवाओं को वह स्वर्णिम काल दिखा रहे थे जब देश का बच्चा बच्चा आजादी के लिए तत्पर था और ऐसे में उनको याद आते हैं ध्रुव कुंडू तथा उनके साथ शहीद हुए युवा साथी।

रेणु के अन्य उपन्यासों की तरह इसमें भी राजनीतिक घटनाओं की पृष्ठभूमि पर कथा का विकास होता है। काल की दृष्टि से इस उपन्यास में काफी लंबे समय की घटनाओं का वर्णन है। 1930 से लेकर 1965। 1930 से 1945 तक के समय का युग बोध सूझबूझ के साथ चित्रित है। अररिया के लोगों पर गांधीजी की गिरफ्तारी बाधा यतीन के बलिदान, भगत सिंह की फाँसी, 1934 का भूकंप, 1942 का आंदोलन आदि का क्या और कैसा प्रभाव पड़ा तथा वहाँ के युवाओं ने किस तरह से देश-सेवा की, यह सब दिखाना ही रेणु का लक्ष्य है।

रेणु ने कितने चौराहे उपन्यास की भूमिका नहीं लिखी है बल्कि एक समर्पण लिखा है –

किशोर शहीद ध्रुव कुंडू को

उन्होंने कहा - आगे मत बढ़ो, लौट जाओ।

तुमने कहा - झंडा फहराकर ही लौटूँगा।

उन्होंने कहा - गोली मार दूँगा।

तुमने छाती तान दी।

झंडा तुमने फहराया,

उन्होंने गोली दागी ..

गोली दाग दी !.....

इस उपन्यास का समर्पण ही लेखक की उपन्यास की मंशा को स्पष्ट करता है। ध्रुव कुंडू एक 13 साल का किशोर था जिसने 13 अगस्त 1942 में कटिहार में मुंसिफ कोर्ट पर तिरंगा झंडा फहराने के लिए शहादत दी थी। उनके साथ और 12 लोगों को भी गोली लगी थी। कुल 13 युवा शहीद हुए थे। ध्रुव कुंडू की शहादत के बाद उनके पिता ने अंग्रेजों से लोहा लेने के लिए 'ध्रुव दल' का गठन किया था। 'ध्रुव दल' का गठन जयप्रकाश नारायण से सलाह मशविरा कर किया गया था। वे इस दल के कमांडर इन चीफ भी रहे थे। रेणु लंबे समय तक जयप्रकाश नारायण के सानिध्य में रह, संभवतः ध्रुव कुंडू की शहादत पर उपन्यास लिखने का विचार रेणु को उन्हीं की संगति में मिला हो। ध्रुव की कथा को लेखक ज्यों का त्यों न कहकर उसे नए ढंग से पुनर्चित करते हैं और आजाद देश के किशोरों और युवाओं को देश के लिए बलिदान देने की शिक्षा देते हैं। इस उपन्यास में प्रियव्रत या प्रियोदा नामक पात्र ध्रुव कुंडू का ही औपन्यासिक रूपांतर है।

इस कथा का नायक और केंद्रीय पात्र मनमोहन नाम का बालक है। कथा का अंचल वही रेणु का पूर्णिया। मनमोहन को स्कॉलरशिप मिली है और वह अपने गाँव सिमरबनी को स्कूल छोड़कर अररिया कोर्ट हाई स्कूल जा रहा है। कथा के प्रवाह के साथ हम गाँव और अररिया शहर के परिवेश से परिचित होते हैं। गाँव और शहर के बीच के पार्थक्य को रचनाकार ने बड़ी सूक्ष्मता से उभारा है। शहर में आकर मनमोहन का परिचय भारत के राष्ट्रीय राजनीतिक हलचल से होता है। वह पढ़ने के साथ-साथ सक्रिय रूप से राजनीतिक और सामाजिक कार्यों में भाग लेने लगता है। कथा के सूत्र के साथ

पाठक का परिचय कई तरह के पात्रों से होता है। स्कूल-जीवन का रोचक वर्णन है उसमें कई लोगों को रेणु के व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं की झलक मिलती है। रेणु ने बताया है कि 1930 में गांधी की गिरफ्तारी की खबर के साथ स्कूल के विद्यार्थियों के द्वारा हड़ताल की घोषणा तथा बाद में सजा स्वरूप उनकी जो पिटाई हुई थी और मनमोहन की भी छड़ी से पिटाई की घटना में लेखक ने उसी घटना का पुनर्निर्माण किया है। मनमोहन के बचपन के अनुभव में रेणु के बचपन का अनुभव झाँकता है।

रेणु के कथा साहित्य में उनके आसपास का जीवन, घटनाएँ और व्यक्तित्व नज़र आते हैं। 'कितने चौराहे' उपन्यास पढ़ते हुए कई बार तो ऐसा लगता है कि वे मानों आत्मकथ्य लिख रहे हैं। बड़ी सहजता के साथ वे मनमोहन में स्वयं को और प्रियोदा में ध्रुव कुंडू को जीवंत कर रहे थे।

मनमोहन जब अररिया कोर्ट के स्कूल में आता है तो उसे निर्णय करना होता है कि वह जीवन का कौन सा पथ चुने। हर युवा के जीवन में ऐसे कितने ही चौराहे आते हैं जब उसे सजगता से निर्णय लेना होता है। मनमोहन के सामने कई बार इस तरह के चौराहे आते हैं और वह अपने विवेक से अपने लिए यथोचित मार्ग चुनता है। यह 13-14 वर्ष का बालक मनमोहन आश्चर्यजनक रूप से सही निर्णय लेता है और उसके अभिभावक भी उसके निर्णय को मानने के लिए बाध्य होते हैं। वह बेहद ही प्रतिभाशाली, साहसी और विवेकशील बालक है जो अपनी क्रियाओं द्वारा सबका मन जीत लेता है।

वैसे तो मनमोहन का परिवार बिल्कुल सामान्य ग्रामीण परिवार है परंतु मोहरिल मामा का परिवार कई मायनों में अनोखा है जिनके पास वह रहता है। वहाँ शरबतिया और मटरू की कथा आकर जुड़ती है। शहरी समाज में मनमोहन से कई तरह के साथी मिलते हैं जिनमें बुरे लोग भी हैं और अच्छे लोग भी। मनमोहन अपनी रुचि के अनुरूप साथियों का चुनाव करता है। कई बार वह एक अलौकिक बालक लगता

है। उसके काका उसे अवतारी पुरुष कहते हैं। वह नैसर्गिक मानवीय दुर्बलताओं पर विजयी होता है। देखा जाए तो ऐसा बालक दुर्लभ है जो हर तरह की मानवीय दुर्बलताओं पर विजयी होता है। मोहरिल मामा के घर में रहकर वह किसी दुर्व्यसन का शिकार नहीं होता है। उसे शरबतिया में अपनी माँ नजर आती है। नीलू के प्रति वह नैसर्गिक आकर्षण का अनुभव करता है परंतु अपने संयमी स्वभाव के कारण वह हर तरह की कामना पर विजय प्राप्त करता है। स्वाभाविक रूप से उसके जीवन की परिणति संन्यासी स्वामी सच्चिदानंद के रूप में होती है।

रेणु ने इस उपन्यास में इस तरह के कई चरित्रों की योजना की है जो आदर्श मनुष्य हैं, जैसे प्रियव्रत एक अद्भुत बालक के रूप में चित्रित है। वह सर्वगुण संपन्न बालक है, देश-प्रेम उसके रग-रग में है। अपनी सेवा भावना के बल पर मनुष्य ही नहीं पशुओं तक को अपने वश में कर लेता है। वह अवतारी बालक लगता है जिसके जीवन का लक्ष्य एकदम स्पष्ट है। वह 'दस और देश' की सेवा में जीवन बिताना चाहता है और उसके बारे में तरह-तरह की किंवदंतियाँ भी हैं जैसे वह पागल हाथी तक को वश में कर लेता है। वह खूँखार कुत्ते तक को वशीभूत कर लेता है। सबसे बड़ी बात वह एक ऐसी टोली 'किशोर क्लब' के नाम से तैयार करता है जो देश-प्रेम के मार्ग में सर्वस्व समर्पित करने को तैयार रहते हैं। उस क्लब के नियम परम नैतिक और आदर्शवादी हैं। उसके दल में सूर्यनारायण, कृत्यानंद, इब्रहिम, भोला, अशफ़ीलाल और मनमोहन हैं। वास्तव में मनमोहन के जीवन को दिशा देनेवाला व्यक्ति प्रियोदा ही है। शायद प्रियव्रत के माध्यम से ही रेणु समकालीन युवाओं के समक्ष एक आदर्श व्यक्ति का उदाहरण रख रहे थे। पूरे उपन्यास में उसका व्यक्तित्व छाया रहता है और उसकी शहादत में ध्रुव कुंडू की शहादत साकार हो जाती है।

इसी तरह उपन्यास में 'स्टुडेंट होम, के बड़े महाराज का जीवन और विचार भी अनुकरणीय हैं।

वे युवाओं को देश निर्माण के उद्देश्य से संस्कार देते हैं। किसी तरह के बाहरी भुलावे से प्रभावित हुए बिना लगातार अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते जाने का उपदेश वे मनमोहन को देते हैं और मनमोहन उसका अक्षरशः पालन भी करता है। 'देखो मोना, तुम्हारे ऊपर मुझे बहुत भरोसा है। कभी झोंक में आकर तुम भी पढ़ना-लिखना मत छोड़ बैठना।? अभी सीधे बढ़े चलो। राह में छाँव में कभी बैठना नहीं है। कितने चौराहे आएँगे। न दाएँ मुड़ना न बाएँ, सीधे चलते जाना।' महाराज का ऐसा प्रभाव है कि मोना के काका भी सब छोड़कर आंदोलन में भाग लेने लगते हैं।

इस उपन्यास में रेणु ने स्वाधीनता आंदोलन के उस परिवेश को हमारे सामने सजीव रूप से उपस्थित कर दिया है जिसमें भारत का हर वर्ग आंदोलित हो रहा था। अररिया शहर के आम नागरिक भी गांधी के आंदोलन से स्वयं को जोड़ रहे थे। आम जन में अंग्रेजी शासन का भय धीरे-धीरे टूट रहा था और गांधी का और उनके अनुयायियों का प्रभाव बढ़ रहा था। मोहरिल मामा की बेटी शरबतिया जब गांधी की चर्चा करती है तो उनका वर्णन एक अवतारी पुरुष की तरह करती है जो कि दैवी शक्ति से संपन्न है। वह कहती है। 'गांधी जी की गिरफ्तारी कोई ऐसी-वैसी गिरफ्तारी है। पिछली बार पकड़कर जेल में रखा। अंग्रेज साजेंट का माथा खराब हो गया। वह दौड़कर जेल के अंदर जाकर देखता है तो महात्माजी जेहल की कोठरी में बैठकर चरखा काट रहे हैं। और जेल के बाहर-महात्माजी के घर में जाकर देखा। वहाँ भी वे मौज से चरखा काट रहे हैं। गांधी को आमजन सचमुच दिव्य महात्मा के रूप में ही देखते थे।

मनमोहन अपने साथियों के साथ मिलकर गांधी के बताए हर नियम का पालन करता है। वह सक्रिय रूप से आंदोलन में भाग लेता है। नारे लगाता है, गीत गाता है, हड़ताल करता है, जरूरतमंदों की सेवा करता है। पहले तो आसपास से उनको उतनी मदद नहीं मिलती पर बाद में समाज का हर वर्ग इन

युवाओं के साथ खड़ा रहता है। लेखक ने बहुत से बलिदानों की चर्चा की है जिसमें खुदीराम बोस, बाघा जतीन, भगत सिंह के साथ गणेशशंकर विद्यार्थी का नाम भी आता है। देश में स्वाधीनता के लिए संघर्ष तो चल ही रहा था, साथ ही गरीबी और अशिक्षा थी, हिंदू-मुस्लिम विवाद भी था। इस उपन्यास में दंगों की भी चर्चा है जिसकी चपेट में आकर सूर्यनारायण और हफीज मास्टर मारे जाते हैं। सांप्रदायिकता के विषैले वातावरण में भी इनकी शहादत सांप्रदायिक सद्भाव का संदेश देती है।

उस कालखंड में ही 1934 में बिहार में भयावह भूकंप आया था और उसकी चर्चा करते हुए रेणु ने युवाओं को कर्तव्यपरायणता और संवेदनशीलता का संदेश दिया है। किस तरह मनमोहन और उसके साथी भूकंप पीड़ितों की सेवा करते हैं और उन्हें हर पीड़ित में अपने परिवार के लोग ही नज़र आते हैं। हर अघेड़ के चेहरे पर वह अपने बाबूजी के मुखड़े की छाया देखता। सभी घायल बीमार औरतें उसकी माँ हैं।

इस उपन्यास का एक और बहुत ही यादगार चरित्र हफीज मास्टर है, जो गांधी भक्त है और देश-प्रेम में इस हद तक बावला है कि लोग उसे पागल घोषित कर देते हैं। उसके चरित्र को पढ़कर हमें 'मैला आँचल' का बावनदास और मंटो का टोबाटेक सिंह याद आ जाते हैं। हफीज मास्टर की बातें, गीत और उनकी हरकते अस्वाभाविक लगते हुए भी उस समय लोगों के स्वाभाविक मनःस्थिति और देश-भक्ति के जज़्बे को ही दर्शाती हैं। पर उनकी कहानी का अंत करुण है दंगे में उनकी हत्या हो जाती है।

इस उपन्यास में भारत के ऐसे समय की कथा है जो देश-भक्ति से सराबोर था और आजादी के दीवाने प्राणोत्सर्ग के लिए उत्साहित थे। भारत छोड़ दो आंदोलन के साथ यह उपन्यास अपने सर्वोच्च शिखर पर पहुँचता है। प्रियोदा के नेतृत्व में अररिया के पोस्ट ऑफिस और ट्रेजरी पर तिरंगा झंडा फहराने की योजना बनती है। बहुत ही नाटकीय शैली में रेणु ने इस घटना को संवादों में ही रच डाला है। एक-एक

करके प्रियोदा, कृत्या, अशर्फी, भोला गोली से मारे जाते हैं मोना को आवाज़ दी जाती है पर नीलू उसे जकड़ लेती है और तपू झंडा फहराकर गोली से मारा जाता है। मनमोहन पश्चाताप की आग में जलते हुए पाँच साल जेल में रहता है। बाहर आकर वह घर नहीं लौटता संन्यास और सेवा का जीवन ग्रहण करता है।

इसके बाद कथा सन् 1965 के भारत-पाक युद्ध की समाप्ति की घटना पर जाकर फिर शुरू होती है जहाँ हम मनमोहन को स्वामी सच्चिदानंद के रूप में स्टुडेंट होम में पाते हैं। शायद इस छोटे से अंश को लेखक ने मात्र मनमोहन के पश्चाताप की आग को शीतल करने के लिए ही नहीं रचा था बल्कि इसके माध्यम से वह समकालीन युवाओं को संदेश देना चाह रहा था कि आजादी की लड़ाई और देश सेवा का क्रम रुका नहीं है। मनमोहन देश के लिए प्राणोत्सर्ग नहीं कर पाए परंतु उसके छोटा भाई जगमोहन युद्ध के मैदान में वही कार्य कर दिखाता है। देश को आज भी सेवाधर्मी युवाओं की उतनी ही जरूरत है जैसी आजादी के पहले थी।

उपन्यास के कथ्य के बाद जब हम शिल्प पर दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं कि इस उपन्यास में भी रेणु की आंचलिक चेतना का स्पर्श है किंतु इस उपन्यास को हम आंचलिक उपन्यास नहीं कह सकते हैं। लेखक ने भाषा के स्तर पर अररिया और पुर्णिया जिले की बहुभाषिकता को बनाए रखा है। इस उपन्यास में खड़ी बोली हिंदी के साथ ही मैथिली, भोजपुरी, उर्दू और बांग्ला भाषा का प्रयोग है। रेणु बहुभाषी थे और बांग्ला का उन्हें अच्छा ज्ञान था। उनके पहले के उपन्यासों में भी बांग्ला के गीतों का प्रयोग देखते हैं। इस उपन्यास के कई महत्वपूर्ण पात्र बांग्लाई हैं, जैसे प्रियव्रत, नील, बड़े महाराज आदि। इनके माध्यम से लेखक ने बांग्ला भाषा और गीत का बार-बार प्रयोग किया है। कहीं कहीं तो पूरा पूरा वाक्य ही बांग्ला में है पर उसके साथ उसकी हिंदी भी है। इसलिए वह बहुत स्वाभाविक लगता है। लोक भाषा से भी कई-कई शब्द आए हैं, मुहावरे आदि भी आंचल के भाषिक

विशिष्टता को उभारते हैं। रेणु की भाषा में नाटकीयता का तत्व भी उसे विशिष्ट बनाता है।

इस उपन्यास में लेखक ने लोक गीतों का बहुत सुंदर प्रयोग किया है। अधिकांश गीत देश भक्ति के ही हैं। मनमोहन के गीतों में देश-भक्ति, सांप्रदायिक सद्भाव, लोक जागरण का संदेश है। 'राम रहीम न जुदा भाई.' 'दिल को सच्चा रखना जी।' इन गीतों में गांधी की बार-बार चर्चा होती है। गाड़ीवान गाता है। 'चैत महिनवाँ रामा चैत महिनवाँ। गांधी बाबा गरले जेलखनवाँ हो रामा। सुनहु सुनहु भैया गांधी जी के बतिया। देखवा के करो आजाद भारतवासियो यो यो।' हाफिज मास्टर भी भोजपुरी में गाते हैं। 'जाए के पड़ी तोहरा जाए के पड़ी। एक दिन छोड़के तोरा भरथवा जाए के पड़ी ई ई। वे बांग्ला में भी गाते हैं। फिल्मी धुन पर नाच-नाच कर गाते हैं। 'मोरे चरखवा

के ना टूटे तार चरखवा चाल रहै। चरखा चलावै गांधी महतम, थर-थर काँपे सरकार अंगरेजिया।' खुदीराम के गीत को प्रियोदा सुनाते हैं। 'माँ बिदाय दावए फिरे आसीए फिरे आसी।' इन गीतों का प्रयोग इतनी सहजता एवं प्रसंगानुरूप है कि वह उपन्यास को अपेक्षित गति देता है।

उपन्यास की भाषा कुल मिलाकर इतनी प्रवाहपूर्ण है कि अल्पतम शब्दों में लेखक ने बड़ी-बड़ी घटनाओं को चित्रित कर दिया है। उपन्यास का कलेवर छोटा है परंतु इसमें एक बड़े कालखंड की महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं को समन्वित किया गया है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि यह उपन्यास रेणु का एक बिल्कुल अलग ही स्वाद का उपन्यास है जिसमें वे आदर्श भारतीय युवाओं के चरित्र की परिकल्पना सत्य घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में करते हैं।

संपर्क : एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, खिदिरपुर कॉलेज, कोलकाता - 700023, मो. : 9432355315

पूर्व से विस्थापन की अपूर्व कथा

मणिभूषण पाण्डेय

‘जुलूस’ उपन्यास सन् 1965 ई. में ‘भारतीय ज्ञानपीठ’ से प्रकाशित हुआ। जुलूस की भूमिका में ‘रेणु’ ने लिखा है - “पिछले कुछ वर्षों से मैं एक अद्भुत भ्रम में पड़ा हुआ हूँ। दिन-रात, सोते-बैठते, खाते-पीते - मुझे लगता है कि एक विशाल जुलूस के साथ चल रहा हूँ। अविराम ! यह जुलूस कहाँ जा रहा है, ये लोग कौन हैं, कहाँ जा रहे हैं क्या चाहते हैं - मैं कुछ नहीं जानता। इस महाकोलाहल में अपने मुँह से निकला हुआ नारा मुझे सुनाई पड़ता। चारों ओर एक बबण्डर मंडरा रहा है, धूल का।... इस भीड़ से निकलकर राजपथ के किनारे सुसज्जित ‘बॉलकनी’ में खड़ा होकर जुलूस को देखने की चेष्टा की है। किन्तु इस भीड़ से अलग होने की सामर्थ्य मुझमें नहीं। इस जुलूस में चलनेवाले नर-नारियों से - अपने आस-पास के लोगों से मेरा परिचय नहीं। लेकिन उनकी माया ममता में छिटककर अलग नहीं हो सकता!” यहाँ देश की आजादी और शरणार्थियों के जुलूस का जिक्र किया गया है। भूखे, नंगे और पीड़ितों की टोली आजादी और देश विभाजन के बाद जुलूस के रूप में एक जगह से दूसरी जगह जा रही है। अपने ‘डीह’ से विस्थापित होकर।

आजादी के साथ देश-विभाजन का अभिशाप भी जुड़ा हुआ है। इसके साथ सबसे बड़ा सच यह है कि आए दिन शरणार्थियों के काफिले आते जाते थे। आजादी के साथ भयंकर रक्तपात हुआ। कमलेश्वर के अनुसार - “उस भयंकर रक्तपात के बीच आंतरिक रूप से एक विघटन समा गया। आजाद होते ही व्यक्ति अपने आप में शरणार्थी होता चला गया...। “हिंदी साहित्य में देश विभाजन की त्रासदी पर अनेक उपन्यास लिखे गए हैं, पर ‘रेणु’ का ‘जुलूस’ उपन्यास विभाजन की विसंगति का जीवंत उदाहरण है। संभवतः यह पूर्वी बंगाल के शरणार्थियों पर हिंदी का अकेला उपन्यास है। ‘रेणु’ जुलूस उपन्यास में लोक-संस्कृति मूलक समाज के गठन का प्रयास करते हैं।

‘जुलूस’ उपन्यास की प्रमुख नायिका पवित्रा चटर्जी है। वह मूलतः पूर्वी बंगाल के मैमनसिंह जिले के जुमापुर गाँव की रहने वाली है। विभाजन से पहले पवित्रा का पड़ोसी ...गोड़ियर गाँव का असल नाम इसी गोढ़ी टोला से हुआ - जहाँ गोढ़ी (मछली मारने वाली जाति) लोग हैं - गोढ़िहार। गोढ़िहार से गोड़ियार।” आपस में अलग-थलग रहने वाले गोड़ियर गाँव के लोग बंगाली शरणार्थियों से द्वेष रखते समय एक हो जाते हैं। जाति को लेकर गाँव में हर कोई लंबा चौड़ा भाषण देता है। शरणार्थियों के लिए खुले स्कूल में गोड़िहार गाँव के लोग अपने बच्चों को पढ़ने नहीं भेजते। पवित्रा चाहती है कि बच्चे पढ़ें, वह गाँव वालों से बच्चों को स्कूल भेजने की ‘पैरवी’ करती है। गाँव वाले पवित्रा से कहते हैं - “बच्चे पढ़ने जाएंगे तो गाय-भैंस की रखवाली कौन करेगा? पढ़ने से बाबू हो जाएगा। फिर फुटानी छांटेगा। खेती-बारी कौन देखेगा?” गोड़ियर गाँव के रामजय का मानना है कि स्कूल सिर्फ शरणार्थियों

के लिए ही खुला है। वह पवित्रा से कहता है - "नहीं सभी के लिए नहीं। वह सिर्फ आप लोगों के बच्चों के लिए खुला है। पूछिए, कैसे? तो सुनिए उपन्यास में यह भी देखते हैं कि आप लोगों के स्कूल में सब बंगला चाल-ढाल, बोली-भाखा पढ़ाया-सिखाया जाएगा। वह पढ़ाई हम लोग पढ़कर क्या करेंगे जिससे कि सभी बंगाली हो जाएं और आप लोगों की तरह 'रिफूजी' बनकर इस जिला से उस जिला में 'खोपड़ी' तानते फिरें। जो न किया पुरखा, सो कर दे मुख्वा !... इस गाँव का एक बच्चा भी नहीं जाएगा आप लोगों के स्कूल में। आप खिलाफ बात बोलने आयी हैं? गोड़ियार गाँव के लोगों का मानना है कि उनके बच्चे उस स्कूल में जाएंगे तो उन्हें वहाँ पर बंगला में गाली सुनने को मिलेगा। पर वास्तविक स्थिति कुछ और ही है, गाला-गाली में बंगाली नहीं बल्कि गोड़ियार गाँव के बिहारी ही को दो कदम आगे हैं। 'रेणु' कि पवित्रा तो बिना किसी भेद-भाव के सबको शिक्षा देना चाहती है।

यदि बिहारियों में प्रांतियता की भावना प्रबल है तो बंगाली भी उनसे कम नहीं। वे बिहारियों को जंगली, असभ्य और राड़-बदमाश कहते हैं। ये यहाँ की मिट्टी और सूरज-चाँद तक की निंदा करते हैं। पवित्रा को इस बात की चिंता है कि - "गाँव के लोगों का यहाँ की मिट्टी से मोह क्यों नहीं हो रहा। तलवेर गोड़ी बंगाली शरणार्थी सहित सारे गाँव को भोज देता है। लेकिन भोज की बात शारदा बर्मन को अच्छी नहीं लगती। उसका मानना है - "इस भोज का क्या मतलब? इस लोगों के पास 'खिलान-पिलान' और कुछ लोगों के साथ 'मिलान' यह कैसी बात? गठिया रोग से पीड़ित गोपाल पाइन की घरवाली कहती है - "सब गेलो ! सब गेलौ !... समझो गया। ...सुनती हो, बंगला नहीं, सभी के बच्चों को हिन्दुस्तानी भाषा पढ़ना होगा।.... अपने (अर्थात् गोपाल पाइन) कह रहे थे कि स्कूल की नौकरी इस शर्त पर मिली है कि पहले खुद हिन्दुस्तानी भाषा पढ़कर परीक्खा देना होगा। अब देखो, जिस

देश में मास्टर को भी 'परीक्खा' देना पड़े वहाँ कोई मास्टर क्या पढ़ायेगा?... सब गेलो ! सब गेलो !!"

उपन्यास का घटनाकाल सन् 1961 ई. का है, आजादी के चौदह वर्ष बाद का। रेणु ने इन वर्षों के लिए कहा है - "चौदह वर्ष बनवास के...। ...चौदह वर्ष हुए स्वराज के... लगता है काम की बात हो। जुलूस का याद ताजा है अभी दो दो बार हुए आम चुनाव हो चुके हैं। देश में बड़े-बड़े काम हो रहे हैं। ब्लौक, कम्युनिटी हॉल, बी.डी.ओ.ही. एल.डब्ल्यू, सोशल आर्गनाइजर, एम.ओ.पी.ओ. - बहुत सारे 'ओ' वाले शब्दों का प्रचलन हो गया है। हर मैट्रिक-फेल नौजवान राजनीति में दाखिल हो गया है और प्रत्येक मिडल-पास कण्ट्राक्टरी के सपने देखता है - सोते - जागते, उठते-बैठते किसी कांग्रेसी बाबू का गुण-गान करता है।... आम चुनाव सामने हैं। प्रत्येक खादीधारी उम्मीदवार है और टिकट की पैरवी के लिए देश के कोने-कोने में पैतरे बाँधे जा रहे हैं।... समय पर वर्षा नहीं होती। असमय में बाढ़ आती है। ऋतुओं की 'महिमा' नष्ट हो चुकी है। सूरज-चाँद-तारों का भी कोई विश्वास नहीं- क्या जाने किस दिन अचानक उगना बंद कर दें, कुछ कहा नहीं जा सकता। कोई कहता है, देश आगे बढ़ा है। कोई इसे योजनाभर पीछे खिसका हुआ देखता है।... ज्योतिषियों ने अष्टग्रह योग के भयावह भविष्य की गणना की है। बड़े और पुराने नेताओं की अकाल मृत्यु से देश हर महीने अनाथ होता है। नेहरूजी अकेले पड़ते जा रहे हैं। उसके सभी पुराने और सच्चे साथी, बहादुर कॉमरेड, प्रस्थान कर रहे हैं।... रोशनी बुझ रही है - एक-एक कर।" 'रेणु' की नजर में आजादी के चौदह वर्ष बनवास के समान बीते हैं। इन चौदह वर्षों में देश में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ। बल्कि देश ने बहुत कुछ खोया ही। इन चौदह वर्षों में लोगों में आत्मविश्वास का भी तेजी से विकास हुआ है। सारा देश एक अज्ञात भय से भयभीत है। ग्रह-शांति के लिए लोग 'अष्टयाम' कीर्तन करते हैं।

सारे देश का मालिक भले ही भगवान हों, लेकिन

गोड़ियर गाँव के लिए सन् 1961 ई. का मालिक तालेवर गोढ़ी है। वह अपने गाँव का सबसे धनी और बदचलन आदमी है। यानी इन चौदह वर्षों में तालेवर गोढ़ी जैसे व्यक्तियों का ही वर्चस्व बढ़ा है। तालेवर गोढ़ी स्थानीय कांग्रेसियों को 'चोरवा' कहता है। उसे नेहरुजी से शिकायत है, यह कहता है - "अब सरकार बहादुर कहाँ? अब कांग्रेसी बहादुर कहो। अपना राज है - मन का मौज है। नेहरुजी को लगता है क्या-रुपया खर्च होता है ही। मरेगी पब्लिक!" स्थानीय कांग्रेसी कार्यकर्ता सरकारी फंड का रुपया लेकर भाग जाते हैं।

तालेवर गोढ़ी के आटा मील की आवाज सारे गाँव पर छायी रहती है। आटा मील के उदास आवाज की तरह सारे गाँव पर उदासी छायी रहती है। तालेवर गोढ़ी संगठन से डरता है, वह लोगों को संगठित नहीं होने देता। वह लोकसंस्कृति के मंचन से भी डरता है। यह अच्छी तरह जानता है कि लोक-संस्कृति से बहुत मजबूत संगठन बनाया जा सकता है, अतः वह नबीनगर के लोगों को नाच-गान करने से रोकता है। उन्हें कानून का डर दिखाता है। वह यह अच्छी जानता है कि - "अब जो नाच-पाटी बनेगी और इसके चलते जो संगठन होगा उसके सामने खुद तालेवर गोढ़ी 'फुस्स' हो जाएगा।" सबको 'फुस्स' करने वाला तालेवर गोढ़ी 'फुस्स' नहीं होना चाहता। वह लोगों से कहता है गान में समय बरबाद मत करो - फाँसी पर लटका दिये जाओगे।

दैवी-प्रकोप की चपेट में गोड़ियर गाँव सहित आस-पास के और दस गाँवों के लोग शिकार हुए हैं। प्रकृति के तांडव-नृत्य में बाद धान-पाट सबकुछ चला गया। वर्षा के ओले ने इन पौधों को हल्दी-मिरच की तरह पिस दिया। इस दैवी प्रकोप से तीन लोग अति प्रसन्न होते हैं। पहला तालेवर गोढ़ी, वह इस दैवी-प्रकोप से भरपूर फायदा उठायेगा। 'रेणु' लिखते हैं - 'इस बार, पौबारह।पानी पड़े, 'बज्जर' गिरे, भूकम्प हो, अकाल पड़े अथवा बाढ़ आवे - पैसोवालों की चांदी है। गहना-जेवर, गाय-भैंस, जमीन

बंधक लेकर कड़े सूद पर रुपया कर्ज देगा। इस बार गोड़ियर गाँव की सारी जमीन तालेवर गोढ़ी की पेट में चली जाएगी। तालेवर के हल आसमान में चलते हैं। दूसरे पंडित रामचन्द्र चौधरी हैं - "रोज अपनी जमीन में तालेवर गोढ़ी की फसल देखकर देह में आग लहक जाती थी। इस बार पंडित रामचन्द्र चौधरी भी रुपये लगावेगा - ड्योढ़े के सुद पर। इस दैवी प्रकोप के चलते सिर्फ पैसेवाले ही नहीं बल्कि और एक वर्ग अपने में है और वह है - 'पब्लिक वर्कर' अर्थात् 'देश-सेवा' करनेवाले। 'रेणु' इनकी असलियत को उजागर करते हुए लिखते हैं - "ऐसी विपत्तियों के समय-सरकारी रिलीफ और सार्वजनिक चन्दे के रुपये, कपड़े, अनाज, तेल-दवा इत्यादि बाँटने का मौका मिलता है, उन्हें ! बाँट-बाँटवारा में नगद लाभ होता ही है। इसके अलावा वोट माँगने के समय उनको तथा उनके प्रचारकों को बोलने में बल मिलता है - भाइयों आपको याद होगा - आप भूले नहीं होंगे कि फलाने बाबू ने बाढ़-पीड़ितों की सहायता नहीं की होती तो सारे इलाके के लोग डूबकर मर जाते... इसलिए ऐसी विपत्तियों की खबर सुनकर वे प्रसन्न हो जाते हैं...। भगवान का वरदान! 'प्रकृति के प्रकोप' ने सभी की आशाओं पर कमर भर पानी फेर दिया, लेकिन यही प्रकृति का प्रकोप कुछ लोगों के लिए भगवान का वरदान है। कमाई का जरिया है। प्रकृति के ताण्डव नृत्य में पचहतर झोपड़े उजड़े हैं और पन्द्रह लोग मरे हैं लेकिन कहीं भी शोक नहीं मनाया जाता। वे जीवन जीने के लिए भीख माँगते हैं। 'रेणु' के ही शब्दों में - "भिखारियों का दल अब गाँव से शहर को चला - जुलूस बनाकर !... भूखे, नंगे और पीड़ितों को टीलो ! "इन भिखारियों की टोली देखकर शहर के आत्मकेन्द्रिक लोगों की देह भी सिहर उठी थी। वे अपनी खिड़कियों से एकत्री, अठत्री, रुपया, कपड़ा, चावल, दाल - यथाशक्ति तथा भक्ति से दान देते हैं। प्रकृति के इस ताण्डव-नृत्य में उनका माल-जाल, खेत-खलिहान, घर-दुआर सब कुछ खत्म हो जाता है। इस सब चीजों को देख-सुनकर भी सरकार

कहती है - अभी रिलीफ फण्ड में पैसा नहीं है। पैसे की व्यवस्था की जा रही है।

आजादी के बाद सभी अकेले हो गए हैं, एक दूसरे से कटे हुए, निस्संग। आत्मीय और स्वजनों के बीच पारस्परिक सहानुभूति और सहयोगिता खत्म हो गई है। लोग अपने गाँव, समाज और अपने लोगों को भूल गए हैं। अकेलापन, आत्मकेन्द्रिकता, विच्छिन्नता घर कर गई है। वे अपनी सत्ता को भूल चुके हैं। शरणार्थियों को अपने देश की तरह वहाँ सबकुछ मिला, लेकिन वे यहाँ के लोगों से मिल नहीं पाए। अपने-आप को अलग-थलग ही रखें।

स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत रोजी-रोटी की समस्या

भयंकर रूप में उभरी। 'जुलूस' उपन्यास में पंडित रामचन्द्र चौधरी की निर्धनता की वजह से उसका बेटा कामदेव अवैध व्यापार (गांजे) करने लगता है। बाप-बेटा और माँ तीनों मिलकर गांजे का अवैध व्यापार करते हैं। निर्धनता इस कदर है कि उन्हें जेल जाने का भी डर नहीं है। कामदेव कहता है - "कितनी सजा होगी? ... चार या पाँच महीने? डेढ़ साल जेल में रहकर जेल का डर भी भाग गया है।.... निर्धनता, बेकारी, महंगाई और अशिक्षा के अभाव में गाँव में अवैध व्यापार का धंधा बढ़ता है।

'जुलूस' उपन्यास में 'रेणु' ने आजादी के चौदह वर्ष की सच्चाई को उजागर किया है।

संपर्क : 24/2, एम.जी. रोड, कोलकाता - 700 009

मानवता की तलाश का कलात्मक प्रयास

मैनेजर पाण्डेय

फणीश्वरनाथ 'रेणु' की पहली कहानी 'बटबाबा' 1941 में छपी थी, लेकिन कहानीकार के रूप में उन्हें लोकप्रियता नई कहानी के काल में मिली। उनका पहला कहानी-संग्रह 'तुमरी' 1959 में छपा। 1973 में अंतिम कहानी-संग्रह 'अग्निखोर' प्रकाशित हुआ। इस बीच 1967 में 'आदिम रात्रि की महक' नामक संग्रह सामने आया। 'रेणु' की कहानियों की संख्या बहुत नहीं है तुमरी उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण संग्रह है। 'रेणु' की कहानियों की इस चर्चा के केंद्र में 'तुमरी' ही है।

'रेणु' की कथायात्रा मुख्यतः नई कहानी के दौर में आरंभ होती है और अकहानी के मोड़ से गुजरती हुई काफी बाद तक चलती है। उनका कथायात्रा का अंत उनकी जीवन-यात्री के साथ ही होता है। 'रेणु' की कथायात्रा इस काल की हिंदी कहानी के विकास के पड़ावों से प्रभावित हुई है उसका अपना निजी स्वरूप है, लेकिन वह निजीपन समकालीन हिंदी कहानी से अनजान नहीं है। नई कहानी मुख्यतः शहरी मध्य वर्ग के जीवन के यथार्थ और भ्रमों की कहानी है, जबकि 'रेणु' ग्रामीण जनजीवना के यथार्थ के कहानीकार हैं। वे ग्रामीण जीवन में टूटते-बिखरते और जीवित मानवीय संबंध के कथाकार हैं। नई कहानी के दौर में गाँव के जीवन पर कहानियाँ लिखने वाले कुछ और भी कहानीकार थे। उनकी कहानियों में 'आह'! ग्राम्य-जीवन भी क्या है' का जो भाव है वह 'रेणु' की कहानियों में नहीं है। वे न तो गाँव के विरह में व्याकुल कथाकार हैं और न गाँव को जड़तका का गढ़ मानने वाले। उनकी दृष्टि ग्रामीण जीवन के संपूर्ण यथार्थ पर है, जिसमें 'फूल भी है शूल भी, कीचड़ भी चंदन भी।' नई कहानी में 'भोगा हुआ यथार्थ' का सिद्धांत प्रचलित था, व्यवहार में भोग का यथार्थ कहानियों का मुख्य विषय था। रेणु न भोगे हुए यथार्थ के सिद्धांत के कायल थे और न भोग के यथार्थ के कहानीकार। उनकी कहानियों में जो रोमांटिक तत्व है, उसका एक स्रोत नई कहानी है और दूसरा बंगला का कथा साहित्य। नई कहानी के काल में साहित्य को राजनीति से अलग रखने की जो हवा चली थी, उसका असर कहानीकार 'रेणु' पर भी पड़ा, यद्यपि वे जीवन में राजनीति से परहेज करने वाले व्यक्ति न थे। जब हिंदी साहित्य में अस्तित्ववाद की आँधी चल रही थी, तब भी वे उससे अप्रभावित रहे। उनकी कहानियों में न तो नई कहानी वाली मोह की रंगीनी है और न बाद के मोहभंग के काल का निषेधवाद। लोक-जीवन से गहरी आत्मीयता और लोक-संस्कृति में अटूट आस्था ने उनको अस्तित्ववादी प्रभावों से बचाया।

ऐसा नहीं कि 'रेणु' ने शहरी जीवन की कथा नहीं लिखी है। 'दीर्घतपा' में महिलाओं के जीवनसंघर्ष की व्यथा-कथा और परोपजीवी वर्गों के छल-छद्म की कथा मौजूद है। 'रेणु' के अधिकांश कथा-साहित्य में, चाहे उसके केंद्र में गाँव हो या शहर,

शोषित पीड़ित सामान्यजन, विशेष रूप से नारी के जीवन की त्रासद स्थितियों और अनुभवों की अभिव्यक्ति है और परोपजीवी वर्गों के जीवन के पाखंड, खोखलेपन और अमानवीयता का चित्र है। वे जनजीवन की ट्रेजेडी और अभिजात वर्ग के जीवन की कॉमेडी के कथाकार हैं। प्रमाण के लिए उपन्यासों और कहानियों के साथ 1966 के भयानक सूखे और 1975 की भीषण बाढ़ पर लिखे दो लंबे रिपोर्टाज के संग्रह 'ऋणजल धनजल' को देखा जा सकता है।

'रेणु' की कथा-रचना की वास्तविक जीवन ग्रामंचल ही है। वहीं से उन्होंने अपनी कथायात्रा आरंभ की और बाद में भी सार्थक रचनाशीलता के लिए वे बार-बार गाँवों की ओर लौटते रह हैं। वे हिंदी में आंचलिक कथाकार के रूप में विख्यात भी हैं और बदनाम भी। आंचलिकता को कथा-रचना की एक विशेष प्रवृत्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय 'मैला आँचल' को है। उससे आंचलिकता की चर्चा की शुरुआत हुई। फिर आंचलिकता की परंपरा की खोज शुरू हुई तो 'मैला आँचल' के पहले और बाद की कथाकृतियों पर आलोचकों की कृपादृष्टि पड़ी। 'मैला आँचल' की आंचलिकता की चर्चा के प्रसंग में जो कृतियाँ सामने आईं, उनका प्रशंसा होने लगी और 'रेणु' की आंचलिकता की निंदा।

'रेणु' स्वतंत्रता के बाद के दशक के हिंदी कथा-साहित्य को शहरी मध्यवर्ग के घरे से निकालकर ग्रामीण जीवन से जोड़नेवाले महत्वपूर्ण रचनाकार हैं। उनकी रचनाओं में आंचलिकता साहित्यिक फैशन के तहत नहीं है, जैसा कि 'मैला आँचल' की लोकप्रियता के प्रभाव में लिखी बाद की अनेक कृतियों में वह दिखाई देती है। उनके कथा-साहित्य में पूर्णिया जनपद के ग्रामांचल का आत्मीय चित्रण है, कुशलता और सहानुभूति के आँके गए परस्पर चित्रों का जो समूह है, उनके पीछे इस अंचल से रेणु का गहरा और सच्चा लगाव है। ग्रामांचल की प्रकृति, जनजीवन और लोक-संस्कृति से उनका लगाव सहज और स्वाभाविक है, किसी सिद्धांत के आग्रह से उपजी

बौद्धिक सहानुभूति के कारण नहीं, इसलिए इस लगाव में एक ऐसी दृढ़ता है जो कोरी बौद्धिक सहानुभूति में नहीं होती। आंचलिकता के लिए 'रेणु' बदनाम किए गए, आलोचनाओं के शिकार हुए। फिर भी उन्होंने अपनी रचना की वास्तविक जमीन नहीं छोड़ी। अपना पहला कहानी-संग्रह उस अंचल की जनता को समर्पित किया जिसके जीवन और संस्कृति का कलात्मक चित्रण उन कहानियों में है। समर्पण करते हुए उन्होंने लिखा 'तेरे लिए—मैंने लाखों के बोल सहे...'। इस समर्पण में वेदना है और विश्वास भी।

रेणु की कहानियों में आंचलिकता 'आँचल' और 'परती परिकथा' से कम है। कहानियों में पात्रों के जीवन-व्यवहार, अनुभव-संसार और सोच के पीछे आंचलिकता मौजूद है, लेकिन यहाँ आंचलिकता की जमीन पर प्रतिनिधिकता का विकास हुआ है। 'तीसरी कसम', 'ठेस' और 'जलवा' आदि केवल आंचलिक कहानियाँ नहीं हैं। 'रसप्रिया', 'संवदिया', 'लालपान की बेगम' जैसी कहानियों में आंचलिकता का रंग कुछ अधिक गहरा है। 'रेणु' निराधार-निराकार प्रतिनिधिकता के कहानीकार नहीं हैं। वे अपने पात्रों के क्रिया-कलाप, जीवनानुभव और सामाजिक स्थिति का चित्रण करते समय परिवेश और चेतना के संबंध पर बराबर दृष्टि रखते हैं वे मुख्यतः मानवीय संबंध के कहानीकार हैं, कहानियों में मानवीय संबंध के टूटने, बनने और बिखरने की जटिल प्रक्रिया व्यक्त होती दिखाई देती है। मानवीय संबंध हवा में पैदा नहीं होते, वे सामाजिक वास्तविकता की जमीन पर विशेष सांस्कृतिक चेतना की उपज होते हैं। यही कारण है कि 'तीसरी कसम' या 'रसप्रिया' जैसी कहानियों में मानवीय संबंधों के बनने या टूटने की प्रक्रिया का चित्रण करते समय उसके मूलभूत सामाजिक यथार्थ पर निगाह रखी गई है। 'रेणु' मानवीय संबंधों की कथा कहते समय मनुष्य विरोधी सामाजिक ढाँचे और शक्तियों पर नजर रखते हैं।

यह विचित्र बात है कि कुछ लोग लोक-जीवन

और लोक-संस्कृति से प्रेत करने की बात भी करते हैं और 'रेणु' की कहानियों में लोक-सांस्कृति की मौजूदगी पर ऐतराज भी करते हैं। वास्तव में ऐसे लोग लोक-संस्कृति का या तो उपयोग करना चाहते हैं या व्यापार। 'रेणु' लोक-संस्कृति से प्रेम करते हैं, इसलिए वे लोक-संस्कृति के दुरुपयोग और व्यापार दोनों का विरोध करते हैं। लोक-संस्कृति लोक-जीवन में बसती है। लोक-संस्कृति में 'रेणु' की आस्था इतनी गहरी है कि वे अमानवीय समाज को मानवीय बनाने के लिए "लोक-संस्कृतिमूलक समाज के गठन" की बात करते हैं। संभव है कुछ लोगों को 'रेणु' की यह बात रोमांटिक या आंचलिक लगे। 'रेणु' की कई कहानियों में लोक-संस्कृति के सौदागरों की आलोचना है। 'रेखाएँ : वृत्तचित्र' और 'भित्तिचित्र की मयूरी' ऐसी ही कहानियाँ हैं। महाजनी सभ्यता में दूसरी चीजों की तरह लोक-कला और लोक-संस्कृति भी बाजार और व्यापार की वस्तु बना दी जाती है। इस सभ्यता के चतुर खिलाड़ी लोक-कला के उत्थान के नाम पर उसका व्यापार करते हैं। ऊपर-ऊपर लोक-कला से प्रेम का नाटक और भीतर कमाऊ धंधा चलता है। 'भित्तिचित्र' की मयूरी में गाँव के सीधे-साधे कलाकारों की गरीबी, मजबूरी और भोलेपन से फायदा उठाकर कला और कलाकारों के शोषण की प्रक्रिया का पर्दाफास किया गया है। इस कहानी में सनातन लोक-कला और कलाकार से प्रेम का नाटक रचकर दोनों का शोषण करना चाहता है, भित्तिचित्र की कला के साथ कलाकार फुलपत्ती को भी भित्तिचित्र की मयूरी की तरह खरीदना चाहता है। लोक-कला के व्यापार के साथ वासना पूरी करने की कोशिश, कोढ़ में खाज। लोकजीवन में महाजनी सभ्यता की घुसपैठ को 'रेणु' ने बारीकी से देखा है। 'रेणु' लोक-संस्कृति से प्रेम करते हैं, इसलिए उसके स्वरूप और सम्मान की रक्षा करना जरूरी समझते हैं। लोक-कला के स्वरूप और सम्मान को खतरा पूँजीवाद से ही नहीं होता, सामंती ढाँचे से भी होता है। सामंती मानसिकता के लिए लोक-कला या तो मनबहलाव ही चीज होती

है या सजावट की। उसे लोक-कलाकार का काम बेगार लगता है, इसलिए कलाकार को बार-बार अपमान का सामना करना पड़ता है। 'ठेस' गाँव के सामंती परिवेश में जीने वाले कलाकार सिरचन के आहत मन और जागृत मानवीयता के व्यक्त करने वाली कहानी है।

'रेणु' की कई कहानियों का पूरा ताना-बाना लोकगीतों से बना है। ऐसी कहानियों में लोकगीत कहानी की संरचना का भीतरी तल बन जाता है। महुआ घटवारिन के गीत के अभाव में क्या 'तीसरी कसम' कहानी की कल्पना की जा सकती है? यह गीत 'तीसरी कसम' का प्रेरणास्रोत भी है और पूरी कहानी का छोटा रूप भी। लगता है जैसे यह गीत ही फैलकर कहानी बन गया हो। एक तरह से यह कहानी लंबा गीत ही है। कहानी पर कहानी की छाया है और गीत कहानी के भीतर भी है। इस गीत में हिरामन और हीराबाई का भविष्य है, उनके प्रेम का भी भविष्य है। कहानी पढ़ने के बाद पाठक के मन में गीत की अनुगूँज बनी रहती है। जो बात कई पन्नों में नहीं कही जा सकती उसे 'रेणु' लोकगीत की एक-दो पंक्तियों की मदद से कह देते हैं और जो प्रभाव कई पन्ने रंगने पर भी पैदा नहीं हो सकता, वह किसी लोकगीत की दो-चार पंक्तियों के प्रयोग से पैदा कर देते हैं। यही स्थिति 'रसप्रिया' में है। ऐसी कहानियों में रचनाकार की गहरी संवेदनशीलता और लोक-संस्कृति में निहित मानवीयता की अभिव्यक्ति होती है। कहानी में लोक-संस्कृति के विभिन्न रूपों और पक्षों का ऐसा कलात्मक रचाव बहुत कम कहानीकारों के यहाँ मिलता है। इन कहानियों को पढ़कर बिहार के ग्रामांचलों के जनजीवन में रची-बसी लोक-संस्कृति की विविधता और उदात्त मानवीयता का बोध होता है। जो लोग सार्वभौमिकता के लिए जनपदीय और जातीय जीवन तथा संस्कृति की उपेक्षा करते हैं, वे कहीं के नहीं होते - न घर के न घाट के।

'रेणु' की कहानियों के मुख्य विषय स्वतंत्रता के

बाद का भारतीय ग्रामीण का जीवन, खासतौर से बिहार के गाँवों की जनजीवन है। वे केवल लोक-संस्कृति के कथाकार नहीं हैं। सच बात यह है कि वे लोक-जीवन के आधार-किसान जीवन के यथार्थ-के कहानीकार हैं। उनकी कहानियों में केवल ग्रामीण जीवन के सौंदर्य और रस की ही अभिव्यक्ति नहीं है। वे जनजीवन में जड़ जमाए उन अंधविश्वासों को भी देखते हैं जो जनता की चेतना को विजड़ित किए हुए हैं, लेकिन वे गाँव वालों को किसी उद्धारक के जोश में धिक्कारते नहीं, उनके आत्मविश्वास को जमाने की कोशिश करते हैं। साधारण किसान परिवार गरीबी और चिंता में बारहों महीने जीने के बावजूद मेला-त्यौहार के मौके पर मिले सुख और उल्लास के क्षणों को हाथों से जाने नहीं देता। ऐसे क्षण उसे जीवन-संघर्ष को पार करने की शक्ति देते हैं। इन क्षणों को भी संभालने में हजार मुश्किलें सामने आती हैं। लेकिन मुश्किलों में जीने और कठिनाइयों पर काबू पाने में भारतीय किसान का काई जवाब नहीं। 'रेणु' किसान जीवन के ऐसे क्षणों को पूरी आत्मीयता और संवेदनशीलता के साथ चित्रित करते हैं। प्रमाण के लिए 'लाल पान की बेगम' कहानी को पढ़ा जा सकता है।

'रेणु' की कहानियों में स्वतंत्रता के बाद के बदलते हुए गाँव और किसान जीवन के यथार्थ की अभिव्यक्ति है। इन कहानियों में गाँव का बदलता परिवेश और बदलती हुई चेतना है, गाँव में बदलते वर्ग-संबंध, शोषण और नई चेतना के विकास की अभिव्यक्ति है। खासतौर से टूटती सामंती व्यवस्था और मानवीय रिश्तों के बनने-बिगड़ने की प्रक्रिया और इस प्रक्रिया से गुजरनेवालों की मानसिकता का चित्रण 'रेणु' की कहानियों में है। उत्तर भारत के गाँव और किसान जीवन का संपूर्ण चित्र देखने के लिए प्रेमचंद के साथ 'रेणु' की कहानियों को भी पढ़ना जरूरी है।

'रेणु' ने शहरी मध्यवर्ग के जीवन पर भी कहानियाँ लिखी हैं। ऐसी अधिकांश कहानियाँ 'अग्निखोर' में हैं जो उनकी परवर्ती कहानियों का संग्रह है। ये

कहानियाँ अकहानी और अकविता के दौर की हैं। इन पर उस दौर की मानसिकता का प्रभाव भी है। कुछ कहानियों में नएपन के नाम पर फैली विचित्रता और विरूपता के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। अधिकांश कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन में व्याप्त छद्म के किसी-न-किसी रूप को उजागर किया गया है। खासतौर से साहित्य और कला की दुनिया की सतही समस्याओं तक सीमित कहानियों में उस समय के सामाजिक जीवन की व्यापक समस्याओं और वास्तविकताओं की पहचान नहीं है। 'अग्निखोर' की अधिकांश कहानियों में 'रेणु' में यथार्थ-दृष्टि ही सतही नहीं हैं, ये कहानियाँ कलात्मक दृष्टि से भी कमजोर हैं। 'रेणु' अपनी कला के बारे में सजग थे, उसके विकास और ह्रास के प्रति सचेत भी थे। 'रेखाएँ : वृत्तचक्र' उनके अंतिम दिनों की आत्मकथात्मक कहानी है। इस कहानी में 'रेणु' ने लिखा है - 'जिस कंठ से मैं चंपाकली की तुनुक पंखुड़ियों के टूटने के शब्द को कुशलता से प्रस्तुत कर दिया करता था, उससे अब फटे झाँझ की-सी आवाज निकलती है।' क्या 'तुमरी' और 'अग्निखोर' की कहानियों की कला में वह फर्क है?

'रेणु' जीवन में लगातार राजनीति से जुड़े रहे। वे भरत छोड़ो आंदोलन में शामिल हुए और जेल गए। स्वतंत्रता के बाद भी जन-आंदोलन में वे गहरी दिलचस्पी लेते रहे। उन्होंने 'कितने चौराहे' शहीद ध्रुव कुंडू को समर्पित किया। वे बिहार के तानाशाही विरोधी आंदोलन में शामिल हुए। इन सबके बावजूद 'रेणु' ने राजनीतिक कहानियाँ कम ही लिखी हैं। 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' में राजनीति है, लेकिन राजनीतिक कहानियों का कम होना आश्चर्यजनक लगता है। 'रेणु' का राजनीतिक दृष्टिकोण सोशलिस्ट पार्टी और उनके नेताओं के संपर्क से बना था। कम्युनिस्ट विरोध इस दृष्टिकोण का एक मुद्दा रहा है। यह कम्युनिस्ट विरोधी 'रेणु' में भी है। साक्षी है उनका कहानी 'आत्म-साक्षी'। इसमें कम्युनिस्ट पार्टी की कार्य-पद्धति, 1964 के विभाजन,

नेताओं के चितरतर और इन सबके बीच एक सामान्य कार्यकर्ता की दुर्गति दिखाई गई है। कम्युनिस्ट पार्टी आलोचना से परे नहीं है, आलोचना करना कोई अपराध भी नहीं है, बशर्ते कि आलोचना गंभीरता से की जाए। 'रेणु' कम्युनिस्ट पार्टी की कार्यपद्धति और नेताओं के व्यवहार की गंभीर आलोचना करने के बदले उनका मजाक उड़ाते हैं, उनकी नीयत पर संदेह करते हैं। 'रेणु' की एक अच्छी राजनीतिक कहानी है 'जलवा', जिसमें स्वतंत्रता के बाद की अवसरवादी राजनीतिक और नेताओं के चरित्र का पर्दाफाश किया गया है। इसमें सांप्रदायिक और अवसरवादी राजनीतिक माहौल में देशभक्त और ईमानदार राजनीतिक व्यक्ति की विडंबनापूर्ण स्थिति दिखाई गई है जो स्वतंत्रता के बाद की राजनीति की एक आम बात बन गई है। 'जलवा' जैसी कहानियों के बावजूद यह सच है कि शहरी जीवन 'रेणु' की कहानियों की वास्तविक जमीन नहीं है। इन कहानियों में यथार्थबोध और कला के स्तर पर वह बात कहाँ, जो उनकी ग्रामीण जीवन की कहानियों में है।

कहानीकार 'रेणु' की रचनाशीलता का सार्थक रूप ग्रामीण जीवन की कहानियों में दिखाई देता है। इन्हीं कहानियों में उनका संवेदनात्मक उद्देश्य पूरी सफलता के साथ व्यक्त हुआ है। इन कहानियों का मुख्य उद्देश्य है अमानवीय परिस्थितियों के बीच और उनके विरोध में खड़ी मानवीयता की तलाश। मानवीयता की तलाश की यह प्रक्रिया दोहरी है—मानवीय संबंधों और भावनाओं के स्तर की तलाश और मनुष्य-विरोधी स्थितियों और शक्तियों की पहचान। यह दूसरी प्रक्रिया महत्वपूर्ण कहानियों में साथ-साथ चलती है। 'रसप्रिया', 'ठेस', 'तीसरी कसम', 'संवदिया' और 'जलवा' आदि कहानियों में अमानवीय परिस्थितियों के बीच मानवता के विकास का चित्रण है। रेणु मानवीयता का विकास सामान्यजन के जीवन में देखते हैं और मनुष्य-विरोधी शक्तियों के रूप में सामंत-वर्ग और उसकी सामाजिक मान्यताओं को दिखाते हैं। इन कहानियों में मानवीयता का एक

रुत लोक-संस्कृति है। 'रसप्रिया' के पंचकौड़ी मिरदंगिया, 'ठेस' के सिरचन, 'तीसरी कसम' के हिरामन और हीराबाई, 'लाल पान की बेगम' की बिरजू की माँ, 'जलवा' की फातिमादि और 'संवदिया' के हरगोबिन जैसे सामान्यजनों के जीवन, सामाजिक संबंध, सोच और भावनाओं में विरोधी परिस्थितियों के बावजूद मानवीयता का विकास दिखाई देता है। समाज में मानवीयता के अस्तित्व और विकास को निगल जाने के लिए हरदम तैयार है सामंती मूल्यव्यवस्था। मानवीयता को खतरा है, वर्ग-भेद, शोषण, गरीबी और फरेबी राजनीति से। शोषक वर्गों के अमानवीय आचरण का चित्रण कहानियों में है और रिपोर्टाज में भी। इन वर्गों के समाज-विरोधी दृष्टिकोण का पर्दाफाश इन दोनों तरह की रचनाओं में किया गया है। इन रचनाओं के मूल में गहरी मानवीय करुणा है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि करुणा संत का सौदा नहीं है। यह करुणा जनजीवन के यथार्थ के ज्ञान, मनुष्य-विरोधी शक्तियों की पहचान और शोषित-पीड़ित जनता की सच्ची सहानुभूति से उपजी है।

जिस समाज में मानवीयता का दमन होता है, वहाँ समाज-विरोधी मनुष्य बढ़ते हैं। 'रेणु' ऐसी समाज-व्यवस्था और शक्तियों का असली रूप सामने लाते हैं। वे जन-जीवन की मानवीयता का एक महत्वपूर्ण रुत लोक-संस्कृति को मानते हैं और लोक-संस्कृति में मानवीयता के विकास की संभावनाएँ देखते हैं। इसलिए 'समाज को मानवीय और मनुष्य को सामाजिक बनाने' के उद्देश्य से 'लोक-संस्कृतिसमूह समाज के गठन' की बात करते हैं। शोषण और उत्पीड़न से भरी अमानवीय स्थितियों में जीने वाली जनता सौंदर्य और रस से भरी-पूरी ऐसी जनसंस्कृति की रचना करती हैं, जिसमें उसके जीवन की वास्तविकताएँ और आकांक्षाएँ व्यक्ति होती हैं, उसकी मानवीयता प्रकट होती है। लोक-संस्कृतिसमूह समाज के गठन का अर्थ है जनता के जीवन की वास्तविकताओं को ध्यान में रखकर उसकी आकांक्षाओं के अनुरूप

ऐसे समाज का गठन, जिसमें उनकी मानवीयता की रक्षा संभव हो। संभव है कुछ लोग 'रेणु' की इस मानवीय पक्षधरता पर मुँह बिचकाएँ और इसे मानववाद कहकर खारिज करें। लेकिन लोक-संस्कृति की जमीन पर खड़े इस मानववाद के महत्व को समझने के लिए इसके सामने रेणु के समकालीन हिंदी कथा-साहित्य के आधुनिकतावादी हवाई विश्वमानववाद को रखकर देख लेना पर्याप्त होगा।

'रेणु' की कहानियों का पाठक महसूस करता है कि हम एक ऐसी दुनिया में जी रहे हैं, जिसमें मनुष्य विरोधी समाज-व्यवस्था है, उस व्यवस्था को बनाए रखने वाली मूल्य-व्यवस्था है और उस मूल्य-व्यवस्था से नियंत्रित मानवीय संबंधों का पीड़ित संसार है। इस व्यवस्था का ताना-बना मनुष्यविरोधी समाज और समाजविरोधी मनुष्यों से बना हुआ है। इस व्यवस्था में समाज-विरोधी मनुष्य फूलते-फलते हैं और समाज अधिकाधिक अमानवीय होता जाता है। एक ऐसी दुनिया जिसमें मनुष्य-विरोधी समाज और समाज-विरोधी समाज और समाज-व्यवस्था मनुष्य को असामाजिक बना रही हो, जहाँ समाज की मानवीय और मनुष्य की सामाजिकता दोनों खरटे में हों, जहाँ मानवीय संवेदना कुचली जा रही हो, मानवीय संबंध निरर्थक हो रहे हों, सामाजिक चेतना को अपराध माना जा रहा हो, राजनीतिक दावे और वादे झूठे साबित हों और इन सबको संभालने वाले शब्द बेमानी हो रहे हों, वहाँ क्या कला और कलाकार का एक दायित्व समाज की मानवीयता और मनुष्य की सामाजिकता की रक्षा करना नहीं है? रेणु अपनी कहानियों को इनसान की इनसानियत की तलाश का माध्यम बनाते हैं। जिन कहानियों में उन्हें अपने इस प्रयास में पूरी सफलता मिली है, वे ही उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं।

यह सच है कि जिस दुनिया में मनुष्य की सामाजिकता और समाज की मानवीयता खतरे में हों, उस दुनिया को बदले बिना और जो समाज-व्यवस्था असामाजिक मनुष्य और अमानवीय समाज

बना रही हो उसके मिटाए बिना सच्चे अर्थों में समाज को मानवीय और मनुष्य को सामाजिक बनाना संभव नहीं है। 'रेणु' ऐसे क्रांतिकारी दृष्टिकोण के कथाकार नहीं हैं। लेकिन पुरानी दुनिया को बदल कर नई दुनिया बनाने की प्रक्रिया में, सामाजिक परिवर्तन और विकास की प्रक्रिया में उन रचनाकारों की भूमिका भी महत्वपूर्ण होती है जो अमानवीय समाज व्यवस्था के भयानक तंत्र के बावजूद बची हुई मानवीयता और सामाजिकता की तलाश करते हैं। 'रेणु' ऐसे ही कहानीकार हैं। इनकी कहानियाँ मानवीयता की पहचान कराती हैं, उसमें आस्था जगाती हैं और मनुष्य-विरोधी व्यवस्था के विरुद्ध उठ खड़े होने की प्रेरणा देती हैं। जो पाठक रचनाओं से केवल ललकार सुनने के आदी हैं, संभव है, वे 'रेणु' की कहानियों से निराश हों। लेकिन अगर वे अपनी आदत के दायरे से निकलकर देखें तो 'रेणु' की कहानियों की सार्थकता समझ में आएगी।

ग्राम्शी ने लिखा है कि ऐतिहासिक यथार्थ की अभिव्यक्ति करने वाले दो लेखकों में से एक उस यथार्थ का कलाकार सिद्ध होता है और दूसरा केवल प्रवक्ता। आखिर क्यों? क्यों सूखा और बाढ़ पर लिखी 'रेणु' की रपट रचना बन जाती है और अनेक लेखकों की रचनाएँ-कहानियाँ और यहाँ तक की कविताएँ भी, निरी रपट लगती हैं? प्रत्येक महत्वपूर्ण कथाकार के सामने अपने युग के यथार्थ, जीवनानुभव और इन दोनों को जीनेवाले कथा के पात्रों के व्यक्तित्व को अधिक-से-अधिक संप्रेष्य बनाने की समस्या भी इस समस्या का सामना अपने ढंग से करते हैं। उसके इस निजी ढंग को जानना ही उनकी कला के मर्म को पहचानना है।

'टुमरी' की भूमिका में 'रेणु' ने लिखा है कि संग्रह की सभी कहानियाँ 'टुमरी धर्मा' हैं। कहानियों के 'टुमरी-धर्मा' होने का क्या अर्थ है? उन्होंने आगे लिखा है "एकाधिक कथाओं में, एक ही विशेष मुहूर्त को विभिन्न परिवेश में रखकर रूपायित किया गया है। इस संग्रह की सभी कहानियों का मूल स्वर

मानवीयता की तलाश है। विभिन्न कहानियों में जीवन के अलग-अलग संदर्भों, अनुभवों ओर भावों में मानवीयता की अभिव्यक्ति को रूपायित किया गया है। 'टुमरी' में मूल स्वर के साथ सहायक स्वर भी होते हैं। इन टुमरी-धर्मा कहानियों के कथागायक ने मूल स्वर के साथ सहायक स्वरों को भी साधा है, मानवीयता की तलाश की प्रक्रिया में अमानवीय स्थितियों को भी उजागर किया है : तभी मानवीयता की तलाश संदर्भ और पूर्णता के साथ व्यक्त हुई है।

टुमरी में एक कहानी है 'तीन बिन्दियाँ।' 'रेणु' की कहानियों की टुमरी-धर्मिता को समझने के लिए इस कहानी को पढ़ना जरूरी है। 'रेणु' कला के रूप की तथाकथिक विशुद्धता के समर्थक न थे। उनकी दृष्टि कला से उत्पन्न प्रभाव पर रहती थी। यही कारण है कि वे कहानी के रूप की प्रचलित विशुद्धता की रक्षा के बदले लोक-संस्कृति के तत्वों की मदद से उसे अधिक प्रभावशाली बनाने की कोशिश करते थे। उनकी कहानियों की संरचना भी टुमरी-धर्मा है। उसमें कहीं मूल कथा के भीतर सहायक कथा है और कहीं एक प्रसंग के साथ दूसरे प्रसंग जुड़े हुए हैं। मूल कथा से सहायक कथाओं और प्रसंगों की सुसंगति से कहानी का प्रभाव बढ़ता है।

'रेणु' की कहानियाँ पाठकों को आकर्षित करती हैं। इस आकर्षण का एक कारण संरचना और शिल्प की नवीनता है। कुछ कहानियों में लोककथा की-सी सहजता है और कुछ में स्वप्न पद्धति के शिल्प का प्रयोग। उनके उपन्यासों में ही नहीं, कहानियों में भी फिल्म-कला के अनेक तत्वों का उपयोग है। इस प्रसंग में उनकी कला-चेतना हिंदी के अनेक आधुनिकतावादी कथाकारों से अधिक आधुनिक है। कुछ कहानियों में फ्लैश-बैक टेकनिक का प्रयोग है और कुछ में दृश्यों में संयोजन का विधान। दृश्य संयोजन की विधि का उपयोग करते हुए वे कथा कहते ही नहीं, उसे देखते भी हैं। उनकी कहानियों में कथा कहने की स्मृति-निर्भर शिल्पविधि का बार-बार प्रयोग हुआ है। वे समसामयिक यथार्थ का

कहानी में सीधा साक्षात्कार करने के बदले उसे स्मृति की जाली से छनकर आने देते हैं। शायद इसीलिये उनकी कहानियों में समकालीन यथार्थ के कठोर और रूखे-सूखे पक्षों का चित्रण कम है। इस तरह वे प्रेमचंद से अधिक रवींद्र और शरत की परंपरा के कहानीकार हैं। उनकी कहानियों में बौद्धिकता से अधिक रागात्मकता है, स्थितियों के विश्लेषण से अधिक अनुभवों की अभिव्यक्ति है। उनका गद्य विवेचनात्मक कम है और काव्योचित बिंबों, प्रतीकों तथा संकोतों से भरा हुआ भावात्मक गद्य अधिक है। 'रेणु' की कहानियों में वस्तुओं को बारीकी से देखने की प्रवृत्ति और उनके एक-एक ब्योरे को सूक्ष्मता से चित्रित करने की क्षमता में होड़ दिखाई देती हैं। फलतः वहाँ वस्तुओं और संवेदना के चित्रों की बहुलता है। रूप, ध्वनि और गंध की ऐसी विकसित संवेदनशीलता के कहानीकार हिंदी में कम ही हैं। सघन इंद्रियबोध ओर तीव्र संवेदनशीलता के कारण कहानियों का रचित संसार पाठकों को बाँधता है। उनका पाठक यह महसूस करता है कि कहानियों की रचना के मूल में चित्रकार की दृष्टि, कवि की संवेदनशीलता और कथाकार की संबंध भावना का सामंजस्य है। यथार्थवाद को सीमित अर्थ में लेने वाले आलोचक कहानी की इस विशिष्ट रचनाशीलता पर ध्यान नहीं देते। 'रेणु' की कहानियों में जीवन की समस्याओं पर लंबा भाषण नहीं है। वे व्यक्तियों, वस्तुओं और स्थितियों का जीवंत चित्रण करते हुए उनका साक्षात्कार कराते हैं। इस प्रक्रिया में समस्याओं का बोध जगाकर पाठकों को सोचने की प्रेरणा देते हैं।

'रेणु' की सभी महत्वपूर्ण कहानियों में एक या दो अविस्मरणीय चरित्र हैं। मानवीयता की तलाश करने वाले कहानीकार के लिए यह स्वाभाविक ही है। कई कहानियों की कथा-वस्तु का ताना-बाना कहानी के एक या दो पात्रों के व्यक्तित्व की विशेषताओं को उजागर करने के लिए बुना गया है। कई बार दूसरे पात्र के चरित्र को चमकाने के लिए आए लगते हैं।

एक व्यक्ति की मानवीयता दूसरे व्यक्ति से उसके संबंध में प्रकट होती है, इसलिए कहानियों में मुख्य पात्र की मानवीयता की अभिव्यक्ति का अवसर उपस्थित करने के लिए दूसरे पात्र आते हैं। 'तीसरी कसम' के हिरामन, 'रसप्रिया' के पंचकौड़ी, 'संवदिया' के हरगोविंद और 'ठेस' के सिरचन के व्यक्तित्व में, विभिन्न जीवन संदर्भों में मानवीयता के अलग-अलग रूप और पक्ष व्यक्त हुए हैं।

गाँव के किसान अपना जीवन अकेले नहीं, पूरे परिवेश के साथ जीता है। उसके जीवन में साथ रहने वाले पशु-पक्षी भी सुख-दुःख के साथी होते हैं, उसके जीवन के नितांत निजी अनुभवों के हिस्सेदार होते हैं। भारतीय किसान जीवन की यह विशेषता या तो प्रेमचंद के कथा-साहित्य में मिलती है या नागार्जुन की कविताओं में। 'रेणु' भी किसान जीवन की इस विशेषता को पहचानते हैं। 'तीसरी कसम' में हिरामन की गाड़ी के बैल उसके एक-एक भाव को समझते हैं और हिरामन बैलों से अपने मन की हर बात कहता है। दोनों बैल हिरामन की खुशी में खुश और दुःख में दुखी होते हैं। 'रसप्रिया' में आसमान में चक्कर काटते चील की टिहकारी पंचकौड़ी के मन को बिजली की तरह भेद जाती है। चील की तीन बार टिहकारी से पंचकौड़ी की तीन मनःस्थितियाँ प्रकट होती हैं। 'रेणु' की संकेतों वाली कला की यह एक जानी-पहचानी पद्धति है, जिसका वे कई बार उपयोग करते हैं। वे कम-से-कम शब्दों का उपयोग करके अधिक-से-अधिक अर्थ पैदा करने की कला में माहिर हैं। उनकी कहानी में कुछ भी अनावश्यक नहीं होता, इसलिए कहानियों के पाठक बिना पढ़े पन्ना उलटकर काम नहीं चला सकते हैं। 'तीसरी कसम' में बैलों का और 'रसप्रिया' में चील की टिहकारी का जो उपयोग है, उस पर ध्यान न देने वाला पाठक कहानियों का पूरा अर्थ नहीं पा सकता।

कहानी के अधिकांश कुशल शिल्पियों की सफलता का रहस्य या तो उनकी कथा कहने की कला में होता है या वस्तु-वर्णन की क्षमता में अथवा

वस्तुस्थितियों और मनोदशाओं को चित्रित करने की कुशलता में। इन तीनों के पूर्ण सामंजस्य की केवल कल्पना की जा सकती है जो एक दुर्लभ स्थिति है। 'रेणु' कथा कहने की कला से अधिक कथा के भीतर प्रसंगवश आई या लाई गई हर चीज का बारीकी से वर्णन करने पर ध्यान देते हैं। निर्जीव वस्तुओं और अवाक् स्थितियों को सजीव और सवाक् बना देने वाली उनकी वर्णन-क्षमता पाठकों को प्रभावित करती है। इस वस्तु वर्णन से भी एक कदम आगे बढ़कर वे रूप, ध्वनि और भावदशाओं को चित्रित करने में विशेष रुचि लेते हैं। अरूप संवेदनाओं को साकार बनाने वाली चित्रण-कला उसकी कहानियों की सफलता का एक मुख्य कारण है।

कहानीकार 'रेणु' का उद्देश्य गाँव के जनजीवन के यथार्थ, संघर्ष, अनुभव और मानवीय संबंध की अभिव्यक्ति है। रचनाकार के रूप में उनके सामने समस्या है इस अभिव्यक्ति को अधिकाधिक प्रामाणिक और प्रभावशाली बनाने की। जनजीवन के यथार्थ और अनुभव की प्रामाणिक अभिव्यक्ति के लिए 'रेणु' ने उस यथार्थ और अनुभव-संसार से अभिन्न रूप से जुड़ी भाषा का सहारा लिया है। उन्होंने जनजीवन के यथार्थ और अनुभव को उसी जीवन की भाषा की मदद से नए ढंग से रचा है। 'रेणु' की रचनाशीलता इस बात में है कि उन्होंने यथार्थ और भाषा के आत्मीय संबंध को पहचानते हुए जनजीवन के यथार्थ और अनुभव को अधिक संवेद्य बनाया है और बोलचाल की भाषा को अधिक व्यंजक। कहानियों में ग्रामांचल के अनुभवों की विशिष्टता को व्यक्त करने के लिए उस जीवन में रची-बसी संस्कृति और भाषा का रचनात्मक जरूरत के अनुरूप उपयोग हुआ है। वे जनजीवन के अनुभव और यथार्थ को उस जीवन की भाषा, उसके मुहावरे और उस जीवन में मिले-जुले लोकगीतों की पंक्तियों की मदद से जिस प्रामाणिक और प्रभावी रूप में व्यक्त करते हैं, उसे किसी बाहरी, पराई और कृत्रिम भाषा में व्यक्त कर पाना कठिन है। 'रेणु' की भाषा की जनपदीयता जनपदीय बोली के

कुछ शब्दों तक सीमित नहीं है। वे बोलचाल की भाषा के मिजाज और उसकी ताकत को पहचानते हैं, इसलिए बोलचाल की भाषा के मुहावरे, अंदाजेबयों और कभी-कभी पूरे वाक्य को कहानी में इस तरह लाते हैं कि भाषा के मिजाज के साथ बोलने वालों का मिजाज और बोलने के ढंग के साथ सोचने का ढंग भी प्रकट हो जाता है। वे मैथिली, मगही और भोजपुरी के शब्दों, मुहावरों और वाक्यों का प्रयोग चमत्कार प्रदर्शन के लिए नहीं, जनजीवन के यथार्थ और अनुभव की प्रामाणिक अभिव्यक्ति के लिए करते हैं।

हम जिस यथार्थ को जीते हैं, उसी से हमारा अनुभव-संसार बनता है। अनुभव-संसार के भीतर इंद्रियबोध, भावबोध और सौंदर्यबोध का विकास होता है। हमारे इंद्रियबोध, भावबोध, सौंदर्यबोध और सोच के अनुरूप हमारी भाषा का स्वरूप विकसित होता है। 'रेणु' ग्रामीण पात्रों के अनुभव-संसार से उनके सौंदर्यबोध और भाषा के संबंध का बराबर ध्यान रखते हैं। एक उदाहरण देखिए - "हिरामन परदे के छेद से देखता है। हीराबाई एक दियासलाई की डिब्बी के बराबर आइने में अपने दाँत देख रही है।... मदनपुर मेले में एक बार बैलों को नन्हीं-चित्ति कौड़ियों की माला खरीद दी थी हिरामन ने। छोटी-छोटी नन्हीं कौड़ियों की पाँत।" हिरामन को हीराबाई के सुंदर दाँतों को देखकर न हीरे याद आते हैं और न मोती। जो जीवन में नहीं आए, वे स्मृति में कैसा आ सकते हैं? हिरामन का सौंदर्यबोध और उसको व्यक्त करने वाली भाषा उसके अनुभव-संसार से उपजी

है। 'रेणु' की कहानियों में ऐसे और कई उदाहरण मिल सकते हैं। 'रेणु' ग्रामीण पात्रों के अनुभव संसार और उससे निर्मित भाषा की सामी का ध्यान रखते हैं और उसका विस्तार भी करते हैं।

'रेणु' कहानी की कथा की रचना और कथावस्तु की संरचना में मौजूद रहते हैं। वे वातावरण के चित्रण और ब्योरों की सच्चाई में भी उपस्थित रहते हैं। कभी-कभी पात्रों के व्यक्तित्व और गतिविधि पर टिप्पणी भी करते हैं। इन सब जगहों पर 'रेणु' की अपनी भाषा होती है, लेकिन जहाँ पात्र स्वयं अपना दिल खोलते हैं, वहाँ 'रेणु' पीछे हट जाते हैं। 'तीसरी कसम' का हिरामन ठीक कहता है, "कचराही बोली में दो-चार सवाल-जवाब चल सकता है, दिल-खोल गप तो गाँव की बोली में ही की जा सकती है।" 'रेणु' ने गाँव की बोली की मदद से गाँववालों का दिल खोकर व्यापक पाठक समुदाय के सामने रखा है। ऐसा दिल खोल गल्प या गप वही रच सकता है जो गाँव की बोली और गाँववालों के दिल की एक-एक धड़कन से परिचित हो।

'रेणु' की कहानियों की भाषा जनजीवन के इतिहास और संस्कृति से संपृक्त है वह पुराने संदर्भों और नए संकेतों से भरी हुई, अनुभवों को खोलनेवाली भाषा है। वह पाठकों को ग्रामीण जीवन से आत्मीय बनाकर उस जीवन के अनुभवों की विशिष्टता को बोध कराने वाली भाषा है। वह ग्रामीण जीवन के यथार्थ को मूर्त, जीवंत और संवेद्य बनानेवाली स्पंदनशील भाषा है।

संपर्क : बी.बी./8ए, डी.डी.ए. फ्लैट्स, मुनीरका, नई दिल्ली-110067, मो. : 9810012910

रेणु : कहानीकार के रूप में

प्रेमकुमार मणि

रेणु का कहानीकार रूप उनके उपन्यासकार रूप से महत्व में कुछ अधिक ही है। हिंदी कहानियों में प्रेमचंद के बाद ग्रामीण छवियाँ कम मिलने लगी थीं। साहित्य में जो आधुनिक प्रवृत्तियाँ उभर रही थीं, उनके लिए नगरीय मध्यवर्ग का परिवेश अधिक उपयुक्त है, ऐसा लेखकों का मानना था। जैनेंद्र कुमार, यशपाल, अज्ञेय जैसे लेखकों ने ग्रामीण पृष्ठभूमि से स्वयं को लगभग अलग ही रखा हुआ था। आजादी के बाद साहित्य में जो युवा स्वर उभर रहे थे उनका भी यही हाल था। नई कहानी आंदोलन तो पूरे तौर पर मध्यवर्ग का साहित्यांदोलन था। जिसकी जड़ें नगरीय जीवन में थीं। ग्रामीण परिवेश-पृष्ठभूमि के साथ कोई समर्थ हिंदी लेखक कहानी क्षेत्र में उन दिनों नहीं था। ऐसे में ही रेणु अपने ठेठ ग्रामीण परिवेश और पूरे आंचलिक वितान के साथ हिंदी कहानी के परिदृश्य पर उभरते हैं और अपनी रचनात्मकता से एक हलचल पैदा कर देते हैं। गाँव हिंदी कहानी के केंद्र में एक बार फिर आता है और हम कह सकते हैं कि पहले की अपेक्षा अधिक ताकत और विश्वसनीयता से अपनी पहचान स्थापित करता है। कहा जा सकता है कि प्रेमचंद के बाद गाँव अपनी समग्रता में रेणु की कहानियों में ही स्थान पाता है। हिंदी कहानी को सबसे अधिक विश्वसनीय ग्रामीण पात्र रेणु ने ही दिए हैं। उनके पात्र हमें अपनी उस आंचलिक दुनिया में खींच ले जाते हैं, जो भारतीय गाँवों का प्रतिनिधित्व करते हैं, वे अपने दिल की बात अपनी पूरी रागात्मकता से प्रस्तुत करते हैं। उनकी कोशिश हमें अपने परिवेश में शामिल-समाहित कर लेने की होती है। इसलिए उनकी कहानियाँ एक कज्जल-विश्वसनीयता के घेरे में हमें बाँध लेती हैं। रेणु जब अपनी दुनिया के चित्र उकेर रहे होते हैं, तब इतने तन्मय हो जाते हैं कि उनके शब्द, चित्र और चेतना मिलकर एकाकार हो जाते हैं। हिंदी कहानी की किसी प्रचलित धारा अथवा आंदोलन से घोषित रूप में वह कभी नहीं जुड़ते। न ही कलावादी खेमे से न ही प्रगतिशील कहे जाने वाले मार्क्सवादी खेमे से, अपनी जगह वह खुद बनाते हैं। लेकिन यह जरूर है कि उनकी कहानियाँ हमें भारत के उस जीवन से जोड़ती हैं। जो हाशिये पर हैं। बिना किसी नारेबाजी अथवा बड़बोलेपन के उनकी कहानियाँ हमें भारत की मिहनतकश जनता की धड़कनों के करीब ले जाती हैं। आश्चर्य होता है कि जीवन की इतनी विविध छवियाँ उन्होंने किस तरह आत्मसात कीं। लोक जीवन के राग-अनुरागों, उनकी समझ, उनकी संवेदना और विवेक को उन्होंने अपने अंदाज में पकड़ने की कोशिश की है। परिवेश तो जितना रेणु की कहानियों में जीवंत हुआ है, उतना अन्य किसी हिंदी कहानीकार में नहीं। पात्र और परिवेश के किसी द्वैत की निर्मिति वह नहीं करते, बल्कि दोनों का अद्वैत गढ़ते हैं। यही रेणु की खूबी है। इस रूप में ही वह अनूठे-अप्रतिम हैं। हिंदी साहित्य को 'तीसरी कसम अर्थात् मारे गए गुलफाम' 'रसप्रिया', 'ठेस' 'आत्मसाक्षी', 'लाल पान की बेगम'

जैसी अविस्मरणीय कहानियाँ रेणु ने दी हैं। यदि उन्होंने और कुछ न लिख कर केवल 'तीसरी कसम' भी लिखा होता, तब भी गुलेरी जी की तरह वह हिंदी कथा जगत में अमर होते।

हम रेणु की कहानियों के विविध पक्षों पर यहाँ विचार करना चाहेंगे। लेकिन सबसे पहले उनकी कहानियों के विकास-क्रम को समझना चाहेंगे। संख्या के हिसाब से उन्होंने कुल जमा तिरसठ (63), कहानियाँ हिंदी-साहित्य को दी हैं। उनकी पहली कहानी 'बट-बाबा- 27 अगस्त 1944 के कोलकाता; तब कलकत्ता के साप्ताहिक 'विश्वमित्र' में प्रकाशित हुई। और अंतिम कहानी 'अगिनखोर' नई दिल्ली से प्रकाशित 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' के 5-12 नवंबर 1972 के अंक में। वय के हिसाब से अपनी पहली कहानी के प्रकाशित होने के समय रेणु तेईस वर्ष के थे और अंतिम कहानी के प्रकाशित होने के समय 51 वर्ष के। इस तरह 28 वर्षों के लेखन-काल में 63 कहानियाँ संख्या के हिसाब से बहुत अधिक नहीं कही जाएगी।

यदि उनकी कहानियों के विकास-क्रम की और सूक्ष्म जाँच करेंगे तब इस निष्कर्ष पर आएँगे कि 1944 से 1953 तक उनके कहानी-लेखन का अप्रेंटिसशिप अथवा आरंभिक दौर ही है। इस बीच उनकी पंद्रह कहानियाँ आती हैं। लेकिन इन सब से किसी भी कहानी को, उन्होंने अपने होते, अपने संकलन में नहीं लिया तो यही कहा जाएगा कि उन्हें स्वयं लेखक ने उल्लेखनीय नहीं समझा। इस मामले में मैं रेणु के साथ होना चाहूँगा। 1944 से 1953 तक की उनकी कहानियों को केवल संख्या के ख्याल से ही हम रेणु की कहानी स्वीकार करते हैं। फिर यह उनके लेखकीय विकास को समझने में सहायक होता है। लेकिन 1955 में इलाहाबाद से धर्मवीर भारती के संपादन में निकलने वाले 'निकष' में उनकी कहानी 'रसप्रिया' छपती है और यह उनके कहानीकार के नए अंदाज़ को प्रस्तुत करती है। 1956 में श्रीपत राय के संपादन में प्रकाशित होने

वाली 'कहानी' पत्रिका में 'लाल पान की बेगम' प्रकाशित होती है और उसके अगले वर्ष पटना से नर्मदेश्वर प्रसाद के संपादन में प्रकाशित होने वाली 'अपरूपरू' में उनकी कहानी 'तीसरी कसम' अर्थात् मारे गए गुलफाम' नाम से प्रकाशित होती है। 1959 में उनका पहला कहानी संकलन 'ठुमरी' शीर्षक से प्रकाशित होता है, जिसमें उनकी नौ कहानियाँ हैं। ये हैं -रसप्रिया, तीसरी कसम, लाल पान की बेगम, पंचलाइट, सिरपंचमी का सगुन, तीर्थोदक, तीन बिंदिया, ठेस और नित्यलीला। कहा जाना चाहिए कि 1955 से 1959 तक की अवधि उनकी कहानियों का स्वर्ण या सुनहला-काल है। हम कह सकते हैं कि उनका यह काल थोड़े उतार के साथ कुछ आगे तक चला। 1966 में उनका दूसरा संकलन 'आदिम रात्रि की महक' प्रकाशित हुआ। इस बीच 'संवदिया', 'एक आदिम रात्रि की महक', 'आत्मसाक्षी' 'जलवा' जैसी कहानियाँ उन्होंने लिखीं। 'आत्मसाक्षी' कहानी अलग-अलग कारणों से अज्ञेय और हिंदी-साहित्य के जर्मन अध्येता लोठार लुटसे को बहुत पसंद थी। इसी बीच रेणु की एक कहानी 'तीसरी कसम' पर फिल्म बनी और रेणु कुछ समय के लिए फ़िल्मी-प्राणी हो गए। कहानियाँ 1972 तक लिखीं और वे प्रकाशित भी हुईं, लेकिन रसप्रिया, तीसरी कसम, ठेस, पंचलाइट, लाल पान की बेगम या आत्मसाक्षी जैसी उल्लेखनीय कहानी वह नहीं लिख सके। 1966-67 के सूखे और 1975 में पटना नगर में आयी भीषण बाढ़ पर उनके रिपोर्ताज किसी कहानी से कम मोहक नहीं हैं। लेकिन उन्हें कहानी कहना शायद ज्यादाती होगी।

रेणु जिस ज़माने में थे, उसमें हिंदी की अनेक लब्धप्रतिष्ठ पत्रिकाएँ थीं। धर्मयुग, साप्ताहिक हिंदुस्तान, ज्ञानोदय, कल्पना, कहानी, माया, नई कहानियाँ और सारिका जैसी पत्रिकाएँ उन दिनों समादृत थीं। रेणु इन सब में प्रकाशित हुए हैं। धर्मयुग में उनकी पाँच और सारिका में चार कहानियाँ प्रकाशित हुईं। 'आत्मसाक्षी' माया पत्रिका में छपी थी। कल्पना, ज्ञानोदय, नई कहानियाँ, कहानी,

साप्ताहिक हिंदुस्तान में भी उनकी कहानियाँ प्रकाशित हुईं। जनता, समाज, राष्ट्र-संदेश' अवंतिकाए योगी और स्थापना जैसी पत्रिकाओं में भी वह छपते थे। लेकिन संख्या के हिसाब से उनकी कहानियाँ सबसे अधिक जिन दो पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई वे हैं - 'विश्वमित्र' और 'ज्योत्स्ना' उनके आरंभिक दौर की लगभग दस कहानियाँ विश्वमित्र में ही छपीं। इसी तरह 1962 से 1972 तक पटना से शिवेंद्र नारायण के संपादन में निकलने वाली 'ज्योत्स्ना' में उनकी कुल सत्रह कहानियाँ प्रकाशित हुईं।

सब मिला कर हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि उनके कथा-लेखन के तीन पड़ाव या चरण हैं। एक पड़ाव 1953 तक आता है। 1954 में अपने पहले ही उपन्यास 'मैला आँचल' के प्रकाशन से उन्हें जो प्रसिद्धि मिलती है, उससे उनमें एक लेखकीय जिम्मेदारी का बोध आता है। इसके बाद वह बहुत संभल कर लिखते हैं। यही कारण है, 1955 में प्रकाशित 'रसप्रिया' के बाद उन्होंने एक से एक अनेक अविस्मरणीय कहानियाँ लिखीं। उनका तीसरा पड़ाव 1966 में आरंभ होता है। 'तीसरी कसम' फिल्म की प्रसिद्धि ने पहले से ही ख्यातनाम रेणु को एक किंवदंती-पुरुष बना दिया, उनका लिखा अब कुछ भी छप सकता था। उनके लिखे के प्रकाशन से पत्रिकाओं की मर्यादा बढ़ जाती थी। इस कारण शायद बहुत नहीं चाहते हुए या फिर जैसा कि फ्रीलांस लेखक करते हैं, नियमित पारिश्रमिक के लिए भी रेणु ने अधिक लिखा होगा। ऐसा अधिकांश लेखक करते हैं। इसका बड़ा उदाहरण प्रेमचंद हैं या रूसी लेखक चेखव। रेणु की इस तरह की कहानियों में भी एक आकर्षण है। जैसे कि ज्योत्स्ना में ही फ़रवरी 1965 में छपी एक कहानी 'आज़ाद परिदे' गरीब परिवारों के आवारा हो रहे बच्चों की एक विश्वसनीय दास्ताँ बयाँ करती है ऐसे बच्चों पर इतने विश्वसनीय रूप से हिंदी में कोई दूसरी कहानी नहीं है, 'भित्तिचित्र की मयूरी' भी एक ऐसी ही कहानी है जिसमें लेखक ने अपनी ही एक कहानी

'ठेस' के पात्र सिरचन को फुलमत्ती और उसकी माँ के रूप में ला खड़ा किया है। लेकिन इस बीच रेणु ने 'अगिनखोर' जैसी कहानियाँ भी लिखी, जिसका कोई औचित्य समझ में नहीं आता, मुझे नहीं मालूम इसके लिए लेखक ने अन्यत्र कुछ लिखा है या नहीं। जैसा कि मैंने पहले ही कहा है कुछ कहानियाँ उन्होंने किसी न किसी दबाव में लिखी होंगी।

-2-

रेणु कहानियाँ लिखते नहीं, बुनते हैं, जैसे कबीर चादर बुनते थे और उसी तर्ज पर अपनी कविता भी, कबीर ने चादर बुनने की प्रक्रिया अपने एक पद में बतलायी है। ठोंक-ठोंक के बीनी चदरिया। वह चादर ठोंक-ठोंक कर बुनते हैं, ढीले-ढाले ढंग से नहीं, उनकी बुनावट का यह कसाव ही उनकी कला और कविता का उत्कर्ष है। मजाल नहीं कि एक शब्द या एक सूत का बेज़ा इस्तेमाल हो जाए। इस मायने में रेणु के आदर्श कबीर ही हैं। वह भी ठोंक-ठोंक कर अपनी कहानियाँ रचते हैं। शब्दों के महत्व अपनी जगह सुरक्षित हैं। लेकिन उनकी कहानियाँ पढ़ते समय शब्द अदृश्य होने लगते हैं और पाठक के मन में परिवेश मूर्तमान हो उभरने लगते हैं। जिसमें राग भी हैं, अनुराग भी। गीतात्मकता उनके उपन्यासों में भी है' लेकिन उसका सर्वांग रूप उनकी कहानियों में ही उभरता है, उपन्यासों में गीतात्मकता को पूरी तरह सुरक्षित रखना उसके धज अथवा कैनवास के कारण मुश्किल भी था। कहानियों में इसे सुरक्षित रखना रेणु के लिए संभव था। इसमें वह सफल भी दिखते हैं। 'रसप्रिया' उनकी ऐसी कहानी है जिसमें पंचकौड़ी मिरदंगिया के बहाने ग्रामीण जीवन में चल रहे, अनवरत रोमांस और उसकी परिणति को पूरे सौष्ठव के साथ वह रखते हैं। यह अद्भुत प्रेमकथा है। अधिकांश प्रेम कथाओं जैसी ट्रेजेडी से कुछ अलग इस कथा की ट्रेजेडी हमें समाज के आर्थिक-सामाजिक अंतर्संघर्ष और उसमें कलाकार की नियति पर सोचने के लिए विवश भी करती है। इस कहानी के रचनाकाल का ध्यान कीजिए - 1955। दुनिया की राजनीति में

शीतयुद्ध की महामारी है। दुनिया भर के लेखक इससे अपने अंदाज में निबट रहे हैं। लेकिन राजनीतिक तौर पर अन्य अधिकांश लेखकों से सचेत रेणु उन मनुष्य समूह की नियति को देखने की कोशिश कर रहे होते हैं जो चुपचाप अपने समय का इतिहास लिख रहे होते हैं। मोहना की माँ और पंचकौड़ी मिरदंगिया आपको चाहे जितने निरीह दिखें, वे भी अपने समय को अनेकानेक संकेतों से संबोधित कर रहे होते हैं। उनके पास भी बहुत कुछ है कहने के लिए। रेणु ऐसे ही मूक रहे पात्रों के कथावाचक हैं। रेणु यह नहीं मानते कि ग्रामीण सर्वहारा के जीवन में आर्थिक दुःख के सिवा और कुछ होता ही नहीं। वह यह भी कहना चाहते हैं कि उनका आर्थिक-सामाजिक दैन्य उनके जीवन को कई स्तरों पर विरूप कर देता है। उनका कुछ भी सुरक्षित नहीं रह जाता। उनका जीवन-राग मुश्किल में होता है। लेकिन चाहे जो होए ये मिहनतकश लोग जो आमतौर पर हमारे सामाजिक जीवन के हाशिये पर होते हैं, राग-अनुराग से विरत नहीं हो सकते। वह अपनी धड़कनों को खोना नहीं चाहते उनका महत्व समझते हैं। रेणु की अन्य कई कहानियों जैसे 'पंचलाइट', 'तीसरी कसम' 'अच्छे लोग' या फिर आखिरी दौर की कहानी 'भित्तिचित्र की मयूरी' में भी रागात्मकता के विविध रूपों को आप देख सकते हैं। 'पंचलाइट' के गोधन और मुनरी, 'तीसरी कसम' का हिरामन, 'अच्छे लोग' के उजागिर और बिरौलीवाली या, 'भित्तिचित्र' की मयूरी की फुलपतिया सब एक ही पीड़ा या रस में डूबे हुए पात्र हैं। इस बीच रेणु कृष्ण की पौराणिकता को लेकर भी एक बहुत खूब कहानी बुनते हैं 'नित्यलीला', इस कहानी की चर्चा कम ही हुई है। उनके प्रथम कहानी संकलन 'ठुमरी' में यह संकलित है। कृष्ण-लीला के एक ऐसे अभिराम दृश्य को रेणु गढ़ते हैं, जो कृष्ण की प्रचलित पौराणिकता में शायद नहीं है, लेकिन अपनी बुनावट और कथा में वह इतनी सरस और गीतात्मक है जिसे पढ़ कर ही जाना जा सकता है। पौराणिकता को नए अंदाज में

कहने का एक प्रचलन हमारे साहित्य में तेजी से उभरा है। लेकिन पौराणिकता का इस्तेमाल अपनी कथा रचना में हम कैसे करें, यह कोई रेणु से सीखे।

रेणु राजस्थानी लेखक विजयदान देथा की तरह लोककथाओं का पुनर्पाठ-पुनर्प्रस्तुति या पुनर्लेखन नहीं करते। मेरी जानकारी में उनकी कोई ऐसी कहानी नहीं है। जो किसी प्रचलित कथा की पुनर्प्रस्तुति हो, तीसरी कसम भी नहीं। हाँ, लोक जीवन के प्रचलित लोक गीतों, मुहावरों, अन्य जनश्रुतियों और सबसे बढ़कर उनके राग-अनुराग का इस्तेमाल अपनी कथा बुनने में वह अवश्य करते हैं। रेणु की कहानी 'तीसरी कसम' और देथा की कहानी 'दुविधा' में कुछ-कुछ साम्य है, लेकिन अपनी बुनावट में दोनों बिल्कुल अलग हैं। देथा ने एक प्रचलित राजस्थानी लोककथा को एक आधुनिक कहानी का रूप दिया है, लेकिन रेणु की 'तीसरी कसम' उनकी अपनी है। उसकी कथा-वस्तु को रेणु ने स्वयं गढ़ा-बुना है। वह उनकी मौलिक रचना है। हाँ, इसमें मुहुआ घटवारिन जैसी लोक-कथा या कई गीतों के खूबसूरत इस्तेमाल उन्होंने अपनी बुनावट में जरूर किए हैं। यह है लोकतत्वों के इस्तेमाल की कला। इसे रेणु पूरी दक्षता से करते हैं। उनकी यही दक्षता कला का स्वरूप ग्रहण कर लेती है, फिर इसकी नकल किसी के लिए भी मुश्किल हो जाती है। फिल्मकार शैलेंद्र ने 'तीसरी कसम' कहानी पर फिल्म बनाई, जो कई कारणों से चर्चित भी हुई। लेकिन उस फिल्म को देखने और कहानी को पढ़ने के अनुभव पृथक होते हैं। कहानी के लालित्य को फिल्म में हम अनुभव नहीं करते। कहानी-पाठ का जो प्रभाव एक संवेदनशील मन पर होता है, उसे फिल्म संभव नहीं कर पाती। रेणु की कहानियों की यह विशेषता ही कही जाएगी कि उसके रूपांतर से उसकी प्रभावित बिखर जाती है। खास कर जिस वातावरण को वह जो शब्दरूप देते हैं। उसका दृश्यांकन कतई संभव नहीं है। आलोचक डॉ सुरेंद्र चौधरी ने उनके इस महत्व को समझा था। सीधे उन्हें ही उद्धृत करना चाहूँगा। रेणु अपनी

कहानियों में वातावरण को बड़ी सावधानी से, पर अत्यंत सहजता के साथ संयोजित करते हैं। रंग-रेखाओं में उभारते हैं। उनका व्यक्त-अव्यक्त अर्थ हर दबाव के साथ प्रकट होता है। वातावरण की सघनता नई कहानियों में अपना विशिष्ट महत्व रखती है। प्रायः रेणु के समकालीन लेखकों ने वातावरण को कलात्मक-संश्लिष्टता दी है। उसे कहानी के बाहरी तत्व से भिन्न अंतरंग बनाया है। लेकिन रेणु में उसकी छविमयता और सघनता की अपनी विशेषताएँ हैं। यही कारण है कि रेणु को अक्सर आंचलिक कह कर इस पूरे आंदोलन के बदलावों से अलग भी रखने के प्रयास हुए हैं। इस बहस में पड़े बगैर कि रेणु वातावरण से ही आंचलिक रोमांसों के कहानीकार हैं या नहीं, मैं यहाँ सिर्फ इतना कहना चाहूँगा कि अन्य लेखकों की तुलना में रेणु का 'वातावरण' अपेक्षाकृत अधिक संवेद्य, सहज और स्पर्शयुक्त है। प्रतीक स्थितियों और अन्यपदेश के प्रयोग के बिना भी उनकी कहानियों के वातावरण को पहचाना जा सकता है। अपने वातावरण को कथा के श्रृपक के लिए प्रयोग में लाने के उदाहरण इन कहानियों में कम ही मिलेंगे। रेणु की कहानियों का वातावरण रहस्यहीन और प्रत्यक्ष होता है। जहाँ प्रत्यक्ष की छायाएँ रहती भी हैं, वहाँ उन्हें मानव-स्वभाव के साथ एक कर लेना रेणु को आता है। इस प्रकार रेणु की कहानियों का परिचित वातावरण भी हमें थकाता नहीं है, बार-बार नए कार्यकलापों, निष्कर्षों और परिणामों से जुड़ा होकर हमें ताज़ादम बनाता है।

रेणु की सबसे ग़ज़्ज़ और चर्चित कहानी 'तीसरी कसम' अर्थात् 'मारे गए गुलफाम' है। विधुर गाड़ीवान हिरामन की इस कथा का आरंभ ही होता है हिरामन गाड़ीवान की पीठ में गुदगुदी लगती है से। गाड़ीवान के जीवन में गुदगुदी कैसी ! लेकिन रेणु के गाड़ीवान में यह गुदगुदी ही उसकी आत्मा है। और इसके इर्द-गिर्द है उसका पूरा स्वरूप जिसमें उसके दोस्त-यार, उसकी भौजाई, उसके प्यारे बैल और उसके समय का सारा क्लेश है। महुआ घटवारिन की व्यथा है।

सौदागर है। उसका स्वरूप कैसा है। रेणु की जुबान में ही देखिए। "चालीस का हट्टा-कट्टा काला-कलूटा, देहाती नौजवान अपनी गाड़ी और अपने बैलों के सिवाय दुनिया की किसी और बात में विशेष दिलचस्पी नहीं लेता। घर में बड़ा भाई है। खेती करता है। बाल-बच्चेवाला आदमी है। हिरामन भाई से बढ़कर भाभी की इज्जत करता है। भाभी से डरता भी है। हिरामन की भी शादी हुई थी, बचपन में ही गौने के पहले ही दुल्हन मर गई। हिरामन को अपनी दुल्हन का चेहरा याद नहीं? दूसरी शादी, दूसरी शादी न करने के अनेक कारण हैं। भाभी की जिद्द, कुमारी लड़की से ही हिरामन की शादी करवाएगी। कुमारी का मतलब हुआ पाँच-सात साल की लड़की। कौन मानता है शारदा-कानून 'कोई लड़की वाला दोब्याहू को अपनी गरज में पड़ने पर ही दे सकता है। भाभी उसकी तीन-सत्त कर के बैठी है, सो बैठी है। भाभी के आगे भैया की भी नहीं चलती ! हिरामन ने तय कर लिया है, शादी नहीं करेगा। कौन बलाय मोल लेने जाए! ब्याह करके फिर गाड़ीवानी क्या करेगा कोई ! और सब कुछ छूट जाए, गाड़ीवानी नहीं छोड़ सकता हिरामन।" तो तीसरी कसम का नायक हिरामन ऐसा है। काला-कलूटा, चालीस साल का देहाती नौजवान। भारतीय काव्यशास्त्र ने नायक के लिए जो धीरललित, धीरोदात्त, धीरप्रशांत और धीरोद्धत के प्रतिमान बनाए हैं, उसमें हिरामन भला कहाँ प्रवेश पाने योग्य है, लेकिन समाजवादी रेणु उसे खड़ा करते हैं। साहित्य में नए व्याकरण भी खड़े करने हैं उन्हें। उनका हिरामन हीराबाई द्वारा परख लिया गया है। 'हीराबाई ने परख लिया, हिरामन सचमुच हीरा है। रेणु को हिरामन के व्यक्तित्व ही नहीं, उसके समाज और उसकी सोच की भी परवाह है। हिरामन आम से कुछ अलग है, खास किस्म का इन्सान। भाभी से बहुत डरता है, लिहाज करता है। विधुर हिरामन की दूसरी शादी न होने के भी कारण हैं। भाभी की जिद्द, कुमारी लड़की से ही हिरामन की शादी करवाएगी, गाँव के लोगों को भी शारदा-कानून

की जानकारी है, भले ही वे उसकी अवहेलना कर जाते हैं। और इन सबके बीच हिरामन तय करता है वह शादी नहीं करेगा। वह सब कुछ छोड़ सकता है गाड़ीवानी नहीं छोड़ सकता।

रेणु को समझना प्रगतिवादियों के लिए मुश्किल रहा। इसके कारण थे। प्रगतिवादियों का किताबी अध्ययन उन्हें जिस मार्क्सवादी समझ के नजदीक ला सका, वह यह तय करने में असमर्थ था कि श्रमिक अपने कारोबार से वैसा ही प्रेम करता है, जैसा कलाकार अपनी कला से या कवि अपनी कविता से। श्रम करना भार नहीं है, वह जीवन का गीत है, जिसके बिना श्रमिक नहीं रह सकता। हिरामन सबकुछ छोड़ सकता है किंतु गाड़ीवानी नहीं छोड़ सकता। जैसे कबीर ने बुनकरी और रैदास ने अपनी मोचीगीरी नहीं छोड़ी थी। हिंदी साहित्यालोचकों ने कभी इस बिंदु पर विचार करने की कोशिश नहीं की कि कबीर और रैदास की कविताओं में जो उल्लास है, वह तुलसी की कविताओं में क्यों नहीं है - कबीर या रैदास की कविताओं में हाहाकार कम है, जीवन का उल्लास अधिक है। इसके उलट तुलसी की कविताओं में उल्लास कम, हाहाकार अधिक है। इसका कारण संभवतः तुलसी का शारीरिक श्रम से दूर होना और दूसरों के श्रम पर जीने वाला होना है। तुलसी दूसरों के श्रम पर जीने-खाने वाले सामाजिक समूह से हैं। कबीर और रैदास स्वयं श्रमिक रचनाकार हैं। रेणु की कहानियों में अन्य प्रगतिवादी लेखकों के मुकाबले जीवन की हाय-हाय कम है और उल्लास कहीं अधिक है तो इसका एकमात्र कारण यह है कि उनके पात्र ही नहीं स्वयं लेखक रेणु भी ठेठ किसान पृष्ठभूमि से आते हैं। खेती से उनका दिल जुड़ा हुआ था। धान की रोपाई और कटाई के वक्रत वह सब कुछ छोड़ कर गाँव पहुँच जाते थे और खेतों में भी उतर जाते थे। वही समझ सकते थे कि हिरामन के लिए गाड़ीवानी कितना मायने रखता है। गाड़ी हाँकते हुए ही हीराबाई को वह महुआ घटवारिन की गीतात्मक कथा सुनाता है, जैसे कृष्ण अर्जुन को गीता सुना

रहे थे। रेणु को समझना प्रगतिवादियों के लिए इसीलिए मुश्किल रहा कि उन्हें साहित्य के पारम्परिक ढाँचों में रख कर परखना किसी के लिए भी संभव नहीं होता।

-3-

ठेठ प्रगतिवादी तबियत के आलोचकों को रेणु-साहित्य शायद इसलिए भी नहीं भाया कि रेणु ने सपाट मार्क्सवादी समझ की कोई परवाह नहीं की, किंतु जैसा कि इटालियन मार्क्सवादी चिंतक अंटोनिओ ग्राम्शी ने सांस्कृतिक वर्चस्व की चुनौतियों का अनुमान किया था, रेणु ने भी बिना ग्राम्शी के लेखन से परिचित हुए इस पर अपने तरीकों से विमर्श किया। रेणु का लेखन इसे बिना कोई वैचारिक बैनर लगाए रेखांकित करता है। रेणु ने सांस्कृतिक वर्चस्व की चुनौतियों को न केवल गंभीरता से समझा, बल्कि उनका मुकाबला भी किया था। ऐसा मुकाबला प्रेमचंद ने भी किया था। लेकिन रेणु प्रेमचंद से एक कदम आगे आते हैं। यह शायद इसलिए कि प्रेमचंद के मुकाबले के रेणु के समय सामाजिक, राजनीतिक स्थितियाँ अधिक साफ थीं। रेणु जब युवा ही थे। देश को औपनिवेशिक गुलामी से आजादी मिल गई थी। राष्ट्रीय आंदोलन के सिमट जाने से दूसरे प्रश्न अधिक स्पष्टता से उभर आए थे, रेणु का वर्णित लोक बहुत सीधा-सादा नहीं है, बहुत कुछ राजनीतिक भी है। यह ठीक है कि वह अनपढ़ है, किंतु जीवन की पेंचीदगियों को समझने में अक्षम और अपनी अस्मिता के प्रति लापरवाह कदापि नहीं है। जनतांत्रिक समाज में उसे केवल वोट करने का अधिकार मिला है, लेकिन उसे इस बात की प्रतीति हो गई है कि पुरोहितों, जमींदारों और महाजनों का जमाना कानूनन जा चुका है। अपनी बहुआयामी अस्मिता की परवाह उन्हें भी खूब है। जीवन में रोटी का अपना महत्व है, इसे वे समझते हैं, लेकिन वही सब कुछ नहीं है। किसी प्रगतिवादी कहानीकार की तुलना में उनकी कहानियों में सर्वहारा जनमन की धड़कन हम अधिक विश्वसनीयता से सुन सकते हैं। 'ठेस' कहानी का

सिरचन कलाकार है। रेणु के शब्दों में जाति का कारीगर। थोड़ा मुँहजोर है, लेकिन कामचोर नहीं। मोथी और पटेर जैसे घासों से एक से एक खूबसूरत शीतलपाटी, पटेर और आसनी बनाता है। उसकी कलाकारी मशहूर है। लेकिन इस लोक-शिल्पी की भी इज्जत है, आत्मसम्मान है। उसे दौलत नहीं चाहिए। प्रेम से सुस्वादु भोजन मिल जाए और पान का बीड़ा फिर तो उसके शिल्प का कमाल कोई देख ले। मानू के घर अपमानित सिरचन अपनी छुरी-हँसिया लेकर उठ जाता है। नहीं होगा उससे काम। लेकिन मानू के पान के बीड़े को वह कैसे भूल सकता है। विदा होते समय स्टेशन पर वह सारी फरमाइशें पहुंचा जाता है - 'सब चीज है दीदी' ! शीतलपाटी, चिक और एक जोड़ी आसनी, कुश की। मानू मोहर छाप वाली धोती का दाम देने लगती है, सिरचन जीभ को दाँत से काट कर दोनों हाथ जोड़ लेता है। उसे इनाम नहीं चाहिए। मानू बहन को वह उदास नहीं कर सकता। उसकी चाची ने उसे अपमानित किया है, उसने नहीं। और ऐसे में मानू क्यों नहीं फूट-फूट कर रोने लगे ! कुछ ऐसा ही हाल 'संवदिया' के हरगोबिन का है। रेणु के सर्वहारा पात्र आर्थिक स्तर पर भले निर्धन हों सांस्कृतिक स्तर पर अत्यंत संपन्न हैं। प्रेमचंद के घीसू-माधव यदि रेणु के यहाँ नहीं मिलते तो इसके कारण हैं।

'लाल पान की बेगम' की बिरजू की माँ कितनी छोटी-सी इच्छा पालती है। उसे बस अपनी बैलगाड़ी पर बैठ कर नाच देखने जाना है। उसका शौहर आने वाला है। आया नहीं है। इंतजार में वह चिड़चिड़ा हो रही है। जंगी की पतोहू के 'लाल पान की बेगम' का कटाक्ष झेलती बिरजू की माँ का तन मन जुड़ा जाता है, जब उसका शौहर गाड़ी लिए आ जाता है। उदार बनी बिरजू की माँ जंगी की पतोहू को भी गाड़ी पर निमंत्रित कर बैठाती है। यही तो जीवन है। भूलो और आगे बढ़ो। अपने दोनों बच्चों बिरजू और चम्पिया के संग वह जंगी की पतोहू के साथ गीत गाना चाहती है। रेणु का चित्रण देखिए।

बिरजू को गोद में लेकर बैठी उसकी माँ की इच्छा हुई कि वह भी साथ-साथ गीत गाए। बिरजू की माँ ने जंगी की पतोहू की ओर देखा, धीरे-धीरे गुनगुना रही है वह भी। कितनी प्यारी पतोहू है! गौने की साड़ी से एक खास किस्म की गंध निकलती है। ठीक ही तो कहा है उसने ! बिरजू की माँ बेगम है। लाल पान की बेगम। यह तो कोई बुरी बात नहीं है। हाँ, वह सचमुच लाल पान की बेगम है।

'ठुमरी' में जितनी कहानियाँ संकलित हैं, उनमें रेणु लोक-रंग और जनजीवन में अधिक निमग्न दिखते हैं। उनके पास इतना कुछ कहने के लिए है कि आश्चर्य होता है। रेणु ने इतना कुछ कहाँ देखा, जिया और संजोया। 'तीसरी कसम' में गाड़ीवानों की जिंदगी को उन्होंने जितनी आत्मीयता से उकेरा है, उसे देख कर आश्चर्य होता है। यह सब लेखक के अनुभव में आया कैसे वही रेणु जब सिरचन और फुलपत्ती या हरगोबिन की कहानी सुनाते हैं तब हम दाँतो तले ऊँगली दबाते हैं। लेकिन आश्चर्य कई गुना बढ़ जाता है, जब लेखक रेणु राजनीतिक मिथ्याचारों की बखिया उधेड़ने लगते हैं। मैंने पहले ही लिखा है कि 1955 से 1960, उनके लेखन का उत्कर्ष-काल है। इस बीच उनके राजनीतिक सरोकार हाइबरनेशन अथवा शीतनिष्क्रियता में चले गए थे। लेकिन ये प्रश्न उन्हें लगातार परेशान भी करते रहे। उनके लेखन में भी ये सवाल खूब मिलते हैं। सब जानते हैं रेणु लेखक होने के पूर्व एक राजनीतिक कार्यकर्ता थे। वह उस बिहार से थे, जहाँ 1934 में ही कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का गठन हो चुका था और जहाँ का समाजवादी आंदोलन मजबूत स्थिति में था। युवा रेणु इस आंदोलन के हिस्सा रहे थे। उन्होंने पड़ोसी मुल्क नेपाल में भी क्रांति की धजा फैलानी चाही थी, हालाँकि आरंभ से ही रेणु राजनीतिक तिकड़म-धंधों के विरुद्ध रहे। राजनीतिक दल में कार्यकर्ताओं, जो एक समय वह स्वयं थे, की अस्मिता के लिए वह आजीवन चिंतित रहे। हिंदी लेखकों में राजनीतिक दिलचस्पी और सक्रियता रखने वाले

यशपाल और राहुल जी भी रहे, लेकिन रेणु ने जिस तरह राजनीति को समझा था दूसरा कोई नहीं समझ सका। आजाद भारत के समाज में राजनीतिक कार्यकर्ता एक नया वर्ग था, बहुत कुछ औद्योगिक मजदूर वर्ग की तरह। इसे समझने के लिए कोई लेखक नहीं था। रेणु ने इसे अपना विषय बनाया था। 1945 में लिखी उनकी एक कहानी है 'पार्टी का भूत' इस कहानी में एक राजनीतिक कार्यकर्ता जाने कितने तरह के सवालों से जूझ रहा होता है। लेकिन राजनीतिक कार्यकर्ता के दर्द को 1965 में लिखी गई एक कहानी 'आत्मसाक्षी' में जिस तरह रखते हैं वह किसी को भी अतिरिक्त रूप से संवेदित कर जाती है। 1964 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का दो भागों में विभाजन हो जाता है। इसमें कम्युनिस्ट पार्टी का एक आम कार्यकर्ता गनपत अपने को इतना अकेला और असहाय पाता है कि पूरी राजनीति से ही उसका मोहभंग हो जाता है। 'उसको पार्टी से बर्खास्त कर दिया गया है।' वह पार्टी ऑफिस में ही रहता भी है, क्योंकि उसका कोई घर-बार नहीं है। पार्टी ऑफिस को उसने खुद खड़ा किया है। लेकिन अब उसे खाली करने के लिए कहा गया है। पिछले तीस-पैंतीस वर्षों से पार्टी के लिए डफली बजा-बजा कर भीख माँगने वाला और प्रचार करने वाला गनपत अचानक यह महसूस करता है कि वह गलत रास्ते पर था। परिवार, जाति, धर्म, समाज और हर अन्याय-अत्याचार से हमेशा लड़नेवाला लड़ाकू गनपत आज अखाड़े में हारे हुए पहलवान की तरह पड़ा हुआ है। सभी उसकी पीठ पर एक लात लगा कर, गाली देकर चले जाते हैं...पैंतीस साल तक साधु-संन्यासियों की तरह लँगोटबंद रहकर जीभ-मुँह और मन में लगाम लगा कर, उसने पब्लिक का काम किया। किसी का एक तिनका न चुराया, न पार्टी का एक पैसा गोलमाल किया। माँ-बाप, भाई-बहन, गाँव-समाज और परबतिया से भी बढ़ कर पार्टी और पार्टी के झंडे को प्यार किया। सब बे.का.र!! ? गनपत को लगता है कि चाँद-सूरज में भी दरार पड़ गई है।

दुनिया की हर चीज दो भागों में बँटी हुई-सी लगती है। हर आदमी के दो टुकड़े, दो मुखड़े और दरका हुआ दिल ! जिन बातों को आज तक पूंजीपतियों और साम्राज्यवादियों की और जंगबाजों की बात समझ कर अनसुनी कर देता था। आज वे ही बातें बार-बार याद आती हैं।

उसके भीतर से सवाल फूटते हैं। 'गनपत' तुम्हारे लीडर लोग, यानी तुम्हारी पार्टी, जाति और धर्म को अफीम कहती है। मगर तुम्हारे लीडर लोग अपने बच्चे-बच्चियों की शादी किसी दूसरी जाति में क्यों नहीं करते - लड़के की शादी में कॉमरेड रामलगन सरमा ने पचीस हजार रुपये तिलक में गिनवा लिया। तुम्हारे लीडरों के बच्चे दार्जिलिंग और देहरादून में पढ़ते हैं। तुम्हारे सेक्रेटरी की बीवी कांग्रेसी-मिनिस्टर होने के लिए जाति की गुटबंदी करती है। तुम्हारे?,

गनपत का मोहभंग एक पूरे राजनीतिक ढाँचे-से मोहभंग है, जिसे दलीय-जनतंत्र कहा जाता है। हर दल में लीडर पुरोहित, सामंत या पूंजीपति की तरह निरंकुश हो गया है। कार्यकर्ताओं की स्थिति सर्वहारा मजदूरों से भी बदतर हो चुकी है। रेणु स्वयं इस स्थिति में वर्षों रहे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। 'आत्मसाक्षी' के बाद उन्होंने कोई महत्वपूर्ण कहानी नहीं लिखी, हालाँकि उनकी कई कहानियाँ उसके बाद भी प्रकाशित हुईं। राजनीतिक रूप से भी रेणु इस बीच शिथिल रहे। लेकिन इस बार उनका सचमुच हाइबरनेशन था। 1974 में बिहार में थके-हारे और कभी उनके आदर्श रहे समाजवादी जयप्रकाश नारायण ने जब संपूर्ण-क्रांति का आह्वान किया, तब रेणु मानो उसका इंतजार ही कर रहे थे। दलविहीन जनतंत्र की सैद्धांतिकी रेणु को निश्चित ही अपने करीब लगी होगी। इसकी पृष्ठभूमि उनके मन में लंबे समय से विकसित हो रही थी। यह अलग बात है कि जेपी आंदोलन की विफलता और उसके मिथ्याचार को लेकर वह चुप नहीं रहते। उस आंदोलन के घोर दक्षिणपंथी रुझानों पर भी उनकी नजर होती ही होती।

पूरे राजनीतिक उपक्रम में विचारों का संकट एक अलग प्रसंग है। इस पर राजनीतिक दार्शनिकों को चिंता करनी होती है। लेकिन कार्यकर्ताओं की तकलीफों और दलों में उभर रहे पाखंडों पर तो लेखक को नजर रखनी ही होगी। हिंदी में यह काम बहुत कम लेखकों ने किया है। इसलिए रेणु अधिक महत्वपूर्ण दिखते हैं।

रेणु अपनी कहानियों द्वारा हमारी चेतना का एक नया आयाम विकसित करते हैं। उनका साहित्यिक नजरिया हिंदी साहित्य के सामान्य नजरिए से तनिक भिन्न है। उस पर बंगला साहित्य-संस्कृति के प्रभाव को अनदेखा नहीं किया जा सकता, लेकिन ध्यान देने की बात है कि शरतचंद्र और रवींद्रनाथ दोनों महार्घ साहित्याचार्यों को वह एक साथ आत्मसात किए प्रतीत होते हैं, रवींद्र ने जब पहली दफा ही यूरोप की यात्रा की थी तब महसूस किया था कि वहाँ औद्योगिक क्रांति ने सरंजाम चाहे जितने विकसित किए हों, उसने मनुष्य के सुकून को हर लिया है। इसके मुकाबले उनके बंगाल में गरीबी चाहे जैसी हो बाउल गीत भी हैं। रवींद्रनाथ टैगोर ने अपने साहित्य में मनुष्य के इस राग को बताए रखने की कोशिश

की। रेणु ने निःसंदेह इस परंपरा को अपने तरीके से आगे बढ़ाने की कोशिश की। इसी तरह प्रेमचंद से उन्होंने मिहनतकश तबके से जुड़ने की परंपरा को आत्मसात किया। यही कारण है कि आर्थिक और सामाजिक रूप से उत्पीड़ित और शोषित तबके की जितनी छवियाँ रेणु की कहानियों में मूर्तमान हुई हैं, उतनी शायद ही किसी दूसरे हिंदी लेखक की कहानियों में हुई हैं। वह इंगित करते हैं गाँव-कस्बों और धूल में पड़े ये अनमोल अपरूप ही भविष्य के भारत के असली नायक होंगे। हिरामन, पंचकौड़ी, हरगोबिन, सिरचन आदि ही नए भारत और उसके जनतंत्र का इतिहास रचेंगे। रेणु के पात्र न तो गँवार हैं, न ही अबोध। वे पूरी तरह सचेष्ट हैं। सामाजिक-आर्थिक बदलावों पर उनकी नजर है। सामाजिक गतिकी को रेणु सूक्ष्मता से समझते-बूझते हैं। उनका जन, उनके पात्र असहाय और रहम के पात्र नहीं हैं। रेणु अपने पात्रों से एकात्म हैं, वह उसके लिए तनिक भी बाहरी नहीं हैं, यही रेणु की विशेषता है। उनकी कहानियों पर विमर्श करते हुए हमें इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

संपर्क : 2, सूर्य विहार, आशियाना नगर, पटना-800025, मो. : 9431662211

रेणु की स्त्रियाँ

रोहिणी अग्रवाल

समय की निगहबानी में लगी चौकस नजर को जरा सा ढीला छोड़ दो तो न केवल उसकी रफ्तार खतरनाक ढंग से तेज हो जाती है, बल्कि निर्जीव जड़ संरचनाएँ भी अपना हमदम पाकर तेजी से भागने लगती हैं, और मनुष्य उनकी दौड़ में शामिल होने का भ्रम लेकर वहीं का वहीं खड़ा रहता है। दौड़ में होड़ अनायास शामिल हो जाती है और लक्ष्योन्मुखता भी - टॉलस्टॉय की कहानी 'कितनी जमीन' के नायक की तरह या कछुआ-खरगोश की नीति कथा की तरह। मनुष्य एवं संस्कृतियों के विकास के मूल में छिपी गति 'दौड़' की अपेक्षा 'चलना' क्रिया के सन्निकट स्वयं को पाती है क्योंकि 'चलना' में अपने समय और परिवेश के साथ 'जुड़ने' की उत्सुकता है; अपने ही बगलगीर किसी अजनबी के संग खरामा-खरामा चलते हुए बतकहियाँ करने की हिलेर है; इंद्रियों और चेतना के रास्ते बोध को बनाने वाले अनुभवों के संग जीवन की बहुपरतदार शिखरयत को पहचानने की धीरता है। 'चलना' संगति और संवाद का पर्याय है; 'दौड़ना' वर्चस्व और संवेदनशील वैयक्तिक दृष्टि का। 'चलना' में वक्त के भीतर छिपी जटिल-संश्लिष्ट परतों की शिनाख्त की वयस्कता है। 'दौड़ना' में कुहासे रच कर प्रतिद्वंद्वी की आँखों में धूल झोंकने की शाइस्तगी। आज धूल झोंकने के शौर्य से लेकर धूल भरी आँधियों के आसमान में अपने सांस्कृतिक महत्व को रचने की बदहवासी हमारे समय का चरित्र गढ़ रही है। इन सब के केंद्र में हैं हुंकारें और टंकारें; दंभ और जालसाजियाँ; शेखचिल्ली के सपने और झूठ के खोखले सिक्के को सोने की अशर्फी कहकर चलाने की धूर्ततायाँ। विश्रान्ति और विश्वास, सौहार्द और संवाद बिसरे युग की बातें हों मानो। चिल्ल पों ने शांति के धवल-तरल साम्राज्य को 'हथिया' लिया है क्योंकि शांति की निस्सीम निस्संगता में संवाद और आत्मालाप (एकलाप नहीं) के जरिए समय का संरक्षक और सर्जक बनने का भाव है। समय की रचना अपने वर्तमान की विसंगतियों से जूझने की वैचारिक निडरता में तो है ही, वर्तमान को परंपरा से जोड़कर मनुष्य, व्यवस्था एवं सत्ता के विकास के चरित्र को समझने की गंभीरता में भी है। भविष्य के सृजन का कोई भी रचनात्मक (वैचारिक एवं संवेदनात्मक) उपक्रम परंपरा के पुनरीक्षण के बिना संभव नहीं। आज की उत्तर आधुनिक संस्कृति यदि इतिहास, स्मृति, महावृत्तांत और नायक के अंत की बात करके मनुष्य को पल के भीतर स्थित कर पूंजी और सत्ता की अवैध संतानों - ग्लैमर और आतंक - के जरिए काबू में करना चाहती है, तो स्वप्नशील सर्जक स्वरों का दायित्व और भी गहरा हो जाता है कि परंपरा, साहित्य और व्यवस्थाओं का आलोचनात्मक पाठ कर वे समय को सूचना प्रौद्योगिकी द्वारा रचित भँवर से मुक्त कराएँ।

साहित्यिक कृति फ्रेम में कैद किसी रचनाकार का कल्पना-चित्र नहीं होती; उसके समय के समाजशास्त्र को रचती किसी एक बृहद सच्चाई का छोटा सा जीवंत अंश होती है। उल्लेखनीय है कि रची जाने के बाद भी वह अपूर्ण रहती है। यही वजह है कि 'पूर्णता' पाने की लालसा में अपने रचयिता की उँगली छोड़ आलोचक (कृति का गंभीर सर्जक पाठक) के संग-संग दूर समय की अ-समाप्त पगडंडियों पर निकल पड़ती है। आलोचक कृति का सह-सर्जक है - अपने समय की गूँज और अपेक्षाओं, जड़ हो जाने की विडंबना, सवाल और परिवर्तनशील आयामों को उसमें मिलाकर उसके सहारे अपने समय का चेहरा-चरित्र देखने का प्रयास भी करता है, और रचनाकार के समय के समाज एवं शास्त्र की पड़ताल करते हुए मनुष्य एवं संस्कृति के विकास की यात्रा के स्तर-गहराई दोनों को भी माप आता है। रचना के पाठ के भीतर अपने समय की अंतर्ध्वनियों और अंतर्पाठों को गूँथ कर उसे नवा बना देना आलोचक की रचनाशीलता है जो प्रकारांतर से कृति के बहाने अपने समय को रचने की आकांक्षा का रूप बनती है। रचना की परिक्रमा आलोचना का चरित्र नहीं; प्रतिस्पर्धी दौड़ में बंध कर अपने को सक्रिय (रचनात्मक?) दिखाने की अनुर्वर बेचारगी है।

लेखक के तौर पर अपनी आलोचनात्मक दृष्टि के तमाम जालों-जंजालों को झाड़कर और अपने वैचारिक संवेदनात्मक बोध को पाथेय बनाकर चलते हुए जब मैं फणीश्वरनाथ रेणु की कहानियों तक पहुँचती हूँ और स्त्री दृष्टि से उन पर विचार करने के लिए छह कहानियाँ चुनती हूँ (महज केस स्टडी की तरह), तो मानो निर्बंध बहाव को भटकाव में विघटित न होने देने के वैचारिक अनुशासन को अपने दृष्टि का सहचर बना लेना चाहती हूँ। ये कहानियाँ हैं - पंचलैट, लाल पान की बेगम, रसप्रिया, तीसरी कसम, नैना जोगिन और कस्बे की लड़की। रेणु को आंचलिक कथाकार कहकर उनकी जमीन, संवेदना और सरोकारों को छोटा करने का प्रयास किया जाता रहा है, किंतु

सच यह है कि हर रचनाकार अपना एक विशिष्ट लोकेल चुनकर जिस मनुष्य की बात करता है, वह अपूर्णताओं और दुर्बलताओं के साथ दिक्-काल के भीतर अपने से जूझता विश्वमानव ही है। वर्ण्य विषय के आधार पर लेखक की कोटियाँ बनाकर उनका अध्ययन करने की अकादमिक युक्ति साहित्य को 'विषय' बनाने और फिर 'पाठ्य विषय' को सरलीकृत कर परीक्षार्थी को परीक्षा में अधिकाधिक अंक बटोरने का सुभीता देने की बौद्धिक (गर्हित) कोशिश ही है क्योंकि साहित्य और जीवन एक पारस्परिक संगति में साथ-साथ चलते हुए कोण विशेष के जरिए मनुष्य के जीवन को विडंबनापूर्ण बनाने वाली अंतर्क्रियाओं-मानसिकताओं को उद्घाटित करते हैं। साहित्य वस्तु के स्तर पर समाज के अध्ययन की समाजशास्त्रीय पद्धति है, तो शिल्प के स्तर पर क्षण में बंधी मानवीय नियति को उसके तमाम आयामों के साथ दिक्-काल में प्रतिस्थापित कर देने की कला भी जो अपनी धड़कनों और संवेगों, सपनों और आकांक्षाओं की निर्भार छुन के साथ पाठक के भीतर तरंगायित होने लगती है। इसलिए साहित्य खंड, विचारधारा, काल, प्रवृत्ति में बंध कर मुझ तक नहीं आता; एक रिले रेस की तरह कौंधता है जहाँ एक विशेष कालखंड में अपनी चुनी हुई भूमिका के साथ रचनाकार समय को बुनने वाली व्याकुलताओं को अपनी दृष्टि के आलोक के साथ उद्घाटित करता है; और रिले रेस के अगले धावकों को अपना दाय विरासत के रूप में थमा कर परंपरा का प्रवाह अनवरत बनाए रखता है. रेणु की कहानियों के संक्षिप्त कलेवर में मानव मन की आकांक्षाओं और सपनों का समंदर ठाठें मार रहा है।

रेणु की खासियत है कि वह अपनी कहानियों को शब्दों के जरिए नहीं रचते। उन्हें जमीन में बो कर धान की संग-संग सटी झूमती महकती स्वर लहरियों में गूँथ देते हैं जहाँ से गीत की लय बिंब बनकर अंतर्मन के भीतर छिपी गोपन दृश्यावलियों को उद्घाटित करते चलती है। रेणु की कहानियों

की संरचना ऊपर से देखने में जितने सरल है, भीतर से उतनी ही संश्लिष्ट। वे पल, संवेग, मूड के रोमांटिक गायक की तरह सतह पर तिरती दिखाई देती हैं। लगता है कि प्रेमचंद की तरह अपने समय की व्याकुलताओं और सवालियों से उनका कोई सरोकार नहीं। न ही अपने पात्रों के साथ हमकदम होकर उन्हें किसी गंतव्य तक पहुँचाने की वैचारिक व्यस्तता उनमें दिखाई पड़ती है। बल्कि मस्ती में निर्द्वंद्व चलने और कहीं किसी भी मोड़ पर उन्हें वहीं छोड़ आगे निकल पड़ने की अधीरता रेणु की कहानियों की ऊपरी परत को रचती है जो पेंटिंग ब्रश के एक स्ट्रोक, संगीत के एक टुकड़ा आलाप, धूप की एक चौंध, हवा की सरसराहट, सुगंध की भीनी सी आहट की रचना कर पाठक को 'ठग' लेती है। लेकिन रेणु सही मायनों में कलाकार हैं। प्रेमचंद की तरह कलम के सिपाही नहीं, कलम के रसिया। जैनैद्र की तरह डेट नहीं। वे अमूर्त में समाज की जटिल संरचनाओं को पिरो कर पाठक से सघन संवेदना, बृहद अध्ययन और गहरी विश्लेषणात्मकता की माँग करते हैं। उनके यहाँ अभिधात्मक स्तर पर हवा में झूलते दृश्य हैं; तो व्यंजना के स्तर पर दृश्य का निर्माण करने वाली सामाजिक-मनोविश्लेषणवादी सच्चाइयाँ। रेणु की खूबी है कि पाठक के बोध के स्तर के अनुरूप ये कहानियाँ उन्हें संतुष्ट करती हैं। वे सैलानी पाठक को नौका-विहार का सुख देती हैं और पनडुब्बी बनकर गोताखोर पाठक को जिंदगी की अंदरूनी सच्चाइयों से दो-चार करा कर भविष्य की रणनीति बनाने की अंतर्दृष्टि भी देती हैं।

मैं 'पंचलैट; कहानी से अपनी बात शुरू करती हूँ। सतही तौर पर यह महतो टोले द्वारा पेट्रोमैक्स खरीद कर लाने की शौर्य कथा है जिसमें गाँव की अन्य आठ पंचायतों की प्रतिस्पर्धा में अपने को समकक्षता पर लाने के दबाव भी हैं और जातीय अभिमान को बनाए रखने की यथास्थितिवादी जकड़नें भी। यही वजह है कि पंचायत की भौतिक समृद्धि का पल पूरी महतो बिरादरी के लिए उत्सव की सामाजिकता बन

जाता है। रेणु बेहद सलीके से अपनी कहानियों की बुनाई करते हैं कि सैलानी और गोताखोर पाठक एक दूसरे से बिना टकराए रंसभंग की प्रतीति के बिना अपने-अपने हिस्से का कलश भरकर अमृतपान करते चलें। सैलानी पाठक के लिए पूरी कहानी एक उत्सव है - उमंग, उल्लास, आसन्न संकट की आशंका, और उससे उबरने की सयानी सूझें। पेट्रोमैक्स खरीद लाना जितना टेढ़ा काम है, उससे दुगुना टेढ़ा काम है उसे जलाकर जगर-मगर आलोक के सहारे अपनी 'जीत' का पाठ रचना। पूरे टोले में किसी को पंचलैट जलाना आता ही नहीं। जिसे आता है - गोधन को - वह जाति-बहिष्कृत है। तो? सरल सा उपाए - उसे जाति में समाहित कर लिया जाए - गोधन की शर्तों पर। व्यक्ति के मान से बढ़ा है जाति का मान। तब अपनी बेटी मुनरी को देखकर सलीमा के गीत गाने वाले गोधन पर नालिश ठोंक कर जाति बाहर करने का उपाए करती गुलरी काकी उसकी बलैयाँ लेते नहीं अघाती - गाओ बेटा, सलीमा के गीत गाओ। प्रेम और जातीय उल्लास की स्याही में डुबो कर रची इस कहानी में पात्रों की सादगी, सरलता, निष्कपटता और पारस्परिकता मंद आलाप की तरह पाठक के भीतर देर तक उतरती रहती है। लेकिन दरअसल कहानी यही से शुरू भी होती है। संवेदना और विजयोल्लास को विश्लेषण का बिंदु बनाकर वह सवाल उठाती है कि यदि प्रेम प्रकृति द्वारा मनुष्य को दिया गया सर्वोत्तम वरदान है तो इसकी अभिव्यक्ति पर व्यवस्था के प्रतिबंध क्यों? क्या इसलिए कि व्यवस्था अपने शासन और दीर्घायु के लिए मनुष्य नहीं, मोहरे चाहती है जो सोच-विचार की शक्ति से छूँछे महज सेवा और भक्ति को अपनी अस्मिता बना कर कृतार्थ होते रहें? प्रेम करना यथास्थितिवाद को झकझोर देना है। विवाह संस्था के प्रचलित रूप में हस्तक्षेप कर बिरादरी एवं बुजुर्गों की अधिनायकवादी सत्ता पर सवालिया निशान लगा देना है। प्रेम सुसंगठित जातीय चरित्र की समकक्षता में खड़े एक 'व्यक्ति' की भास्वर निर्णय संपन्नता और गत्यात्मकता है जो

यथास्थिति के बरक्स क्रांति, आस्था के बरक्स तर्क, शास्त्र के बरक्स मनुष्य की सत्ता को सर्वोपरि सिद्ध करती है। अपने ही कमजोर वैचारिक आधार पर टिकी व्यवस्थाएँ चुनौती और तर्क से घबराती हैं। इसलिए आज भी लोकतंत्र के भीतर कबीलाई संस्कृति खाप पंचायतों की दुर्दमनीय अमानुषिकताओं के सहारे स्वयं को जीवित रखे हुए है जो 'इज्जत' के नाम पर प्रेमी-युगल की हत्या से लेकर स्त्री के यौन-शोषण तक की क्रूरता में अपने एजेंडे को क्रियान्वित करते साफ देखी जा सकती है। कहानी के पन्नों में गोधन और गुलरी पंचलैट के फूटते प्रकाश में एक-दूसरे की आँख में आँख डाल कर प्रेम का एक नया रूपक रचते प्रणयी दिखाई पड़ते हैं - मनुष्यता के तमाम सौंदर्य और गति से आलोकित। लेकिन प्रेम की गर्दन को अपने शिकंजे में दबोच कर खड़ी समाज-व्यवस्था के लौह शृंखलाएँ लेखक (मनुष्य) के इस स्वप्न को नासूर बना देती हैं। कहानी रेणु के समय से चलकर 21वीं सदी की प्रतिगामी संस्कृति से टकराती है तो मानो पाठक से पूछती है - सोचो, विकास की बदहवास आँधी में मनुष्यता को कहाँ छोड़ आए तुम?

'सलीमा' के गीत रेणु की कहानियों में काफी जगह घेरते हैं। उनके गाँव अपनी जड़ता और नींद में डूबे कुंभकरण गाँव नहीं हैं, राजनीतिक हलचलों और समसामयिक परिवर्तनकामी लहरों से बुने गए हैं, जहाँ चेतना और जड़ता, परंपरा और आधुनिकता के द्वंद्व के बीच अपनी अवस्थिति को ढूँढ़ने का प्रयास जारी है। इस दृष्टि से उनके गाँव पूर्णिया अंचल का क्षेत्र विशेष न रह कर स्वतंत्र भारत की मानवीय जातीय राष्ट्रीय अस्मिता पाने के प्रयास में निरंतर अपने को खंगालती चेतना का इतिहास बन जाते हैं। सिनेमा के गीत प्रेम की तरलता को बुनकर नैतिक वर्जनाओं के घटाटोप के बरक्स स्त्री (पुरुष भी) की दमित यौन आकांक्षाओं को उभारते हैं। वे वर्चस्वादियों के लिए चुनौती हैं, नई पीढ़ी के लिए नए संघर्ष और अस्मिता की प्रेरणा। इन दोनों के बीच दोलायमान हैं आम आदमी की हसरतें जो प्रेम (मुक्ति/ वैयक्तिक

अस्मिता) भी चाहती हैं, और व्यवस्था (सुरक्षा कवच) के भीतर सिकुड़ कर अपने को महफूज कर लेना चाहती हैं। 'लाल पान की बेगम' कहानी में बिरजू की माई का बार-बार अपनी बेटी चंपिया को सिनेमा के गीत गाने से बरजना, और जंगी की पतोहू को इसलिए गरियाना कि वही 'सलीमा' की छूत गाँव में लाई है, इस बात का साक्ष्य है। रेणु एक बार फिर पाठक को चकमा दे कर एक ही कहानी में दोहरी बुनाई का कौशल उकेर जाते हैं। कहानी सतह पर मेला जाने के लिए उत्सुक बिरजू की माई के पल-पल बदलते रंग की महीन पच्चीकारी है जिसमें पाँच बीघा पाट और धान के खेतों और बैलों की जोड़ी के मालिक समृद्ध किसान की पत्नी होने का ठसका है; पैदल नहीं, 'अपनी' बैलगाड़ी में बैठ कर बलरामपुर मेला जाने का चाव है जिस का ऐलान कर वह अपनी ही केंद्रीयता में स्वयं मकड़ी की तरह घिर गई है; पति के देर शाम तक न लौटने पर उपहास से तिर-तिर कर आते गाँव भर के स्वरों से टकराने की आक्रामकता है, जिनमें चरित्र हनन की तमाम कटुताएँ दोनों ओर से भरपूर हैं; और फिर उन तमाम घटनाओं को भुलाकर मेला जाने की चिर-वांछित घड़ी में उसी जंगी की पतोहू, उसी राधे की बेटी और उसी लरेना की बीवी को हुलस-हुलस कर बुलाने का निष्कपट चाव है। बेटी और उसकी साथिनों को सलीमा के गीत गाने का अनुरोध करने के बाद बिरजू की माई का मेला देखने का चाव मद्धम हो गया है। उस चाव की जगह आभा बनकर छा गया है उल्लास जिसमें प्रकृति और परिवेश, संवाद और संगीत, साहचर्य और विश्वास जीवन-मेले को सतरंगी कांति से भर देते हैं। लेकिन इस कलात्मक संगीतमयी पच्चीकारी के नीचे जिंदगी की तल्लख सच्चाइयाँ हैं और नए युग का आह्वान करती देश की कुछ नई आर्थिक-राजनीतिक नीतियाँ। कृषि प्रधान देश की रीढ़ को मजबूत करने के लिए जमींदारी प्रथा का उन्मूलन जितना जरूरी है, उतना ही जरूरी है जमीन बंदोबस्त की नई नीतियों का निर्धारण। स्वतंत्र भारत में 1959

में लैंड सेटेलमेंट एक्ट के लागू होने का दौर किसानों को ही नहीं, कई-कई जातिगत टोलों में बँटे ग्रामीण समाज की आधारभूत संरचना को भी झकझोरने वाली परिघटना बना है जिसे आधार बनाकर रेणु 'परती : परिकथा' जैसा बृहद उपन्यास लिखते हैं। यह कहानी मानो उसी बृहद कथा की छलनी से छनी रेत के संग बह आई कुछ हीरक कणियों में से एक है। कहानी में स्त्रियों के गाली-गलौज, आरोप-प्रत्यारोप झगड़े का तूमार बाँधने के अलावा गोपन रहस्यों को उघाड़ने का माध्यम बनते हैं। तब पता चलता है कि रात-रात भर भक-भक जलती बिजली-बत्ती (टॉर्च), घोड़े की टाप की तरह नोकदार जूते की छाप, और किसी साहब के संग बिरजू की माई का संबंध जोड़ने वाला प्रकरण दरअसल बिरजू की माई और उसके पति की उस दुर्घर्ष संघर्ष कथा को कहता है जिसमें जमीन पर अपने हक के लिए वे जमींदार की धूर्तता (आश्वासन) और नृशंसता (धमकी) का प्रतिरोध कर अपने द्वारा बरसों से जोती जा रही जमीन पर दावा डालते हैं; और महज दावा ही नहीं करते, उस जमीन पर कब्ज़ा लेकर जमींदारी की आड़ में खड़ी पूंजी और सामंती ताकतों से टकराते हुए हाशिए की आवाज मुखर करते हैं। तब कहानी अपने चरित्रों के उल्लास में संघर्ष की कांति जोड़कर समय को गढ़ने का ऊर्जस्वी स्वर बन जाती है।

फणीश्वरनाथ रेणु की कहानियों में स्त्री प्रायः ज्यादा जगह नहीं घेरती। 'रसप्रिया' जैसी कहानियों में तो वह अलक्षित ही रह जाती है, या 'तीसरी क्रसम' जैसी कहानी (फ़िल्म नहीं जिसे कहानी के रूप में पढ़ कर अक्सर दोनों स्वायत्त विधाओं का घालमेल कर दिया जाता है) में वह संग-संग चलते हुए भी कथानायक के चरित्र गढ़ने की भूमिका निभाती है। लेकिन कहानी की भीतरी पड़ताल मानो अपनी संरचना को उलटते हुए उसे केंद्र में ले आती है। तब 'रसप्रिया' नए अ-संवेदनशील समय में एक विद्यापति की रसप्रिया गायन शैली एवं अन्य कलाओं के लुप्त होने की कथा और कलाकारों की दुर्दशा की रुदाली

मात्र नहीं रहती; स्त्री की दृष्टि से प्रेम की भीतरी अनुसुलझी गाँठों और तहों को सुलझाने की संवेदनशील चेष्टा बन जाती है। प्रेम दो हृदयों की परस्पर संयुक्ति की अनुभूतिप्रवण नवोन्मेषशालिनी चेतना है जो एक गहरी साझेदारी के साथ व्यवस्था की चुनौतियों से टकराने का हौसला भीतर पाती है। प्रेम देह से उगता है, दैहिक संवेगों के ज्वार में अपनी गति पाता है, लेकिन देह उसका अभीष्ट नहीं है। अभीष्ट है पारदर्शी विश्वास और संवाद के साथ अपने क्षितिज का विस्तार करते चलना। 'रसप्रिया' कोमल दूब की तरह उगे प्रेम की इस नरम दृढ़ प्रत्याशा के भंग होने के बाद की पीड़ा का बिंब है जिसे स्त्री, पुरुष से भिन्न, अपने देह और भविष्य पर अंकित एक त्रासद छाप की तरह भी झेलती है, और उसी मोहबिद्ध त्रासदी के भीतर से सृजन की राहें भी खोज लाती है। कलावंत मिरदंगिया सामंती मूल्यों से गढ़ा गया औसत पुरुष है। अपने ही अहं की रेशमी लच्छियों में उलझकर अपनी राह को फंदों में उलझाता-बाँधता। वह प्रेम का मर्म नहीं जानता। प्रेम का औजार की तरह इस्तेमाल करता है ताकि गुरु-पुत्री से नजदीकियाँ बढ़ा कर गुरु से कला हासिल कर ली जाए। कला मर्मज्ञता के लिए चुनी गई इस मक्कारी भरी रसिकता के दौरान जब बाल विधवा रमपतिया गर्भवती हो जाती है तब वह वहाँ से भाग निकलता है। भाग कर नई दिशाओं में पनाह लेकर पुरुष मानो अपने अतीत की स्लेट को धो-पोंछ डालता है। वह निःसंग है, और निर्मोही भी। वह अपना केंद्र खुद है और अपनी धुरी की परिक्रमा करके अपना आभामंडल रचने में विश्वास करता है। उसके 'साम्राज्य' में प्रजा उसी का अक्स हो सकती है या उसका प्रसाद। बीस बरस बाद उन्हीं-उन्हीं रास्तों-पगडंडियों पर लौटते हुए रमपतिया का स्मरण उसे जरा भी आहत नहीं करता। आहत करती है यह वेदना कि कितनी तेजी से 'सलीमा' के अधीन होता समय लोक-गायन और लोक-कलाओं को भूल फूहड़ता का अश्लील उत्सव मना रहा है; कि उस जैसा रसप्रिया गायक भिखारी बनने को बाध्य

हो गया है। रेणु कहानी में मिरदंगिया-रमपतिया के पुत्र मोहना को मृगछौने की तरह लाते हैं ताकि मिरदंगिया के भीतर जमे हुए रस-रसोत को तरल कर सकें। फिर मोहना की कला और फिर बातों के जरिए नेह के उसी रिश्ते को मजबूती से थामे खड़ी रमपतिया की तस्वीर उकरते हैं। भगोड़े प्रेमी के तमाम छल-छंद और विश्वासघात के बावजूद उसने मोहना को मिरदंगिया के 'अवतार' के रूप में गढ़ा है - पुत्र के जरिए प्रेम को जीते हुए। लेकिन प्रेमदीवानी रमपतिया को शरतचंद्र चट्टोपाध्याय की नायिका की तरह नहीं गढ़ते रेणु जो प्रिय को रुग्ण शिशु की तरह छाती से लगा कर मातृ छवि में अपनी अस्मिता को सिकोड़ लेती है। रेणु की स्त्री पुरुष को सहचर के रूप में ही पाना चाहती हैं - अपने आत्मसम्मान एवं आत्माभिमान को अक्षुण्ण रखते हुए। स्पेस देकर स्पेस पाने की प्रखरता रेणु की स्त्री का परिचय है। शिकवे-शिकायतें, आँसू, दैन्य समर्पण और रक्षणीया होने की कातर पुकारें रमपतिया की छवि नहीं गढ़ती। वह लचीली टहनी की तरह हरा भरा रहने (सकर्मकता) का हुनर भी जानती है और दृढ़ (आत्मनिर्भर) रहने का हौसला भी। इसलिए अकारण नहीं कि मोहना से उसकी माँ के आने की खबर सुन मिरदंगिया वहाँ से नौ दो ग्यारह हो जाता है। मिरदंगिया पितृसत्तात्मक व्यवस्था का उत्पाद है, स्त्री की मनुष्यता को तिरस्कृत करने वाला अ-संवेदनशील जैविक प्राणी जो व्यवस्था के इंगित पर चलते-चलते स्वयं अपनी मनुष्यता को भी विघटित करता चला है। कहानी का यह पाठ कलाकार के भीतर छुपे पितृसत्ताक पुरुष की छवि को उद्घाटित करते ही रमपतिया को पितृसत्तात्मक व्यवस्था की साजिशों को समझने की वैचारिक लौ का रूप दे देता है।

रेणु की कहानियों में स्त्री व्यवस्था की गहरी छानबीन का माध्यम बन कर आती है। 'तीसरी कसम' कहानी में हिरामन गाड़ीवान की प्रेमानुभूति और यौनाकांक्षाओं का जीवंत चित्रण है। वह निष्कपट सरल युवक 'स्त्री पदार्थ' (हजारीप्रसाद द्विवेदी का

शब्द) को अपने इतने करीब पाकर अकबका गया है। स्त्री को उसने तीन रूढ़ छवियों में जाना है - माँ, सती (पत्नी) और देह (वेश्या)। प्रेम की अपरिभाष्य हार्दिकता की अनुभूति में निमग्न वह आत्म-संकुचित युवक जान ही नहीं पाता कि प्रेम आत्मविस्तार का जरिया है - भीतर के संशयों, वासनाओं, अपेक्षाओं को धो डालकर अपने निष्कलुष सौंदर्य और मनुष्यता के साक्षात्कार का अप्रतिम पल। प्रेम चोट देने या चोट खाने का भौतिक खेल नहीं; प्रिय के जीवन के भीतर खुलती सरणियों की समान यात्रा कर उसकी विवशताओं-विडंबनाओं को जानने की उदात्त संवेदनात्मक यात्रा है। प्रेम को विवाह (वर्चस्व) और प्रेयसी को जमाने भर की नजर से बचा कर रख लेने की आकांक्षा (स्त्री को रक्षणीया समझने का संस्कार) हिरामन को रचती पितृसत्तात्मक व्यवस्था को प्रकाश में ले आते हैं। रेणु अपने चरित्रों के हाथों में क्रांति का झंडा नहीं थमाते। वे जानते हैं कि व्यवस्था से अकेले टकरा कर मंजिलें हासिल करना महज यूटोपिया है। टकराव से पहले शिनाख्त की बारीक समझ जरूरी है। पितृसत्ता/वर्ण व्यवस्था के संस्कारों से रचे-बसे पात्रों से वे ऐसी कोई अपेक्षा भी नहीं करते, लेकिन पाठक से एक निःसंग दूरी के साथ व्यवस्था की पड़ताल की समझदारी विकसित करने की अपेक्षा अवश्य करते हैं। तब हिरामन की प्रेम-सिहरनें औसत भारतीय युवक की दमित यौन-आकांक्षाओं का प्रतीक बन जाती हैं जो नैतिक वर्जनाओं का महिमामंडन करते हुए ब्रह्मचर्य के दर्प में अपनी नैसर्गिक दैहिक आवश्यकताओं को क्षरित करता चलता है; और संबंध की दहलीज से बाहर खड़ी स्त्री को जेंडर न्यूट्रल परिप्रेक्ष्य में देखने की अपेक्षा उसे देह से परे महसूस नहीं कर पाता। हीराबाई की अनुपस्थिति में बैलगाड़ी के टपरे में जाकर हीराबाई के बिछौने को प्रेम से सहलाना इसका उदाहरण है। हिरामन की प्रेमसिक्त अभिव्यक्ति पाठक के भीतर शृंगार की सरसता को जगाती है, लेकिन नायक के प्रति पाठकीय संवेदना को अपदस्थ करते ही पाठ का कोण बदलने की पूरी

संभावना बनी रहती है। तब पुरुष की यही प्रेमासक्ति कामुकता का रूप लेकर कलावंत नर्तकी को पतुरिया बनाने की व्यवस्थागत नृशंसता में उभरने लगती है, और फिर स्त्री को देह में रिड्यूस कर भोगने/खरीदने/मनमानी छूट लेने वाले पुरुष-अहं में तब्दील हो जाती है। कहानी के सतही पाठ को नजरअंदाज कर ठीक इसी स्थल पर हीराबाई गाड़ी में सवार 'जनान सवारी' न रहकर एक स्त्री के रूप में अपनी तमाम विडंबनाओं और सवालियों के साथ उभर आती है। नृत्य उसका पैशन है, लेकिन पेट पालने के लिए पेशा भी बन गया है। वह कुलीनता की चौहदियों से बाहर खड़ी हुई है, दमड़ी वाले हर पुरुष के लिए 'सुलभ' देह। लेकिन उसकी डबडबाई स्मृतियों में कुलीन घर और रक्त संबंध की गाढ़ी आत्मीयता है। साथ ही देह के बाजार की नियंता वर्चस्ववादी ताकतों का नारकीय अंडरवर्ल्ड भी जो आज भी पोर्न इंडस्ट्री और वुमन ट्रेफिकिंग के रूप में पुरुष की फैंलोसेंट्रिक सोच और करतूतों का नग्न प्रदर्शन करने से बाज नहीं आ रहा है। रेणु की कहानियाँ इतनी कमजोर नहीं कि लेखक की उंगली थाम कर अबोध बालक की तरह चलती रहें। वे नई सदी के प्रबुद्ध पाठक के संग चल कर अपने भीतर की अनुसुनी आवाजों को सुनाने के लिए व्यग्र हैं। वे जानती हैं कि परिवर्तन के चक्के पर घूमते हुए भी समय का भीतरी चक्र इतना जड़ है कि मनुष्य, समाज और व्यवस्था को आदिम गुलामी के मोह भरे बिंदु से मुक्त नहीं कर पाए। रेणु की कहानियाँ अपनी मुक्ति के साथ मानव-मुक्ति का स्वप्न लेकर चलती हैं।

वर्जिनिया वुल्फ 'अपना कमरा' पुस्तक में एक शिकायत करती हैं कि लेखक अपने लिंग से उपरत होकर प्रायः नहीं लिख पाते हैं। निसंदेह लिंग किसी भी रचनाकार के अनुभव और स्मृतियों को रचता है; उसे दृष्टि देकर अपने भीतर हरहराते वर्जनाओं-महत्वाकांक्षाओं के संसार को सामने लाने का स्वप्न देता है। लैंगिक स्थिति लेखक के आग्रह को पूर्वाग्रह भी बनाती है और लक्ष्य भी देती है। मनुष्य का संघर्ष

अपने पूर्वाग्रहों और दुर्बलताओं, वर्जनाओं और प्राथमिकताओं से लड़ते हुए भीतर के मनुष्य को समग्रता में पहचानने की अंतर्दृष्टि का विकास है। वर्जिनिया वुल्फ मानती हैं कि आत्म-विकास के इस बृहद लक्ष्य को पाना सरल नहीं। लेखक न चाहते हुए भी 'सत्य के सफेद प्रकाश' को नजरअंदाज करते हुए 'भावना के लाल प्रकाश' में आत्माभिव्यक्ति करने लगता है। उभयलिंगी मस्तिष्क पाकर ही जेंडर न्यूट्रल मनुष्य की रचना करना संभव है। रेणु अपनी रुचियों और संवेगों से संचालित होकर रचना करने वाले प्रवीण कथाकार हैं। उभयलिंगी होने का सजग श्रम उनका जीवन-संघर्ष नहीं बनता। तो भी उभयलिंगी मस्तिष्क - विवेकशील समग्र मनुष्य चेतना - का सतत प्रवाह उनकी रचनाओं में दिखाई पड़ता है। यह कौशल पात्रों को चरित्र का औदात्य देकर उन्हें समाजशास्त्रीय विश्लेषण का टूल और केस स्टडी सैंपल बना देने में है। 'नैना जोगिन' और 'कस्बे की लड़की' कहानियाँ इसका प्रमाण हैं जहाँ स्त्री स्वयं कथा के केंद्र में आकर अपनी ग्रंथियों और आकांक्षाओं को खोलती है। अलबत्ता यह तथ्य भी उतना ही महत्वपूर्ण है कि मुक्ति की उनकी दौड़ पितृसत्तात्मक व्यवस्था से टकराकर उसी व्यवस्था की वीथियों में पनाह लेने में ही खत्म होती है।

इन सबमें 'नैना जोगिन' की तो बात ही अलग है।

धनुष की खिंची हुई प्रत्यंचा है नैना जोगिन! साक्षात् भैरवी! दुर्वासा ऋषि का स्त्री अवतार!

कोसना, सरापना और अश्रवणीय गालियाँ देना 'जब तक नेरेटर के संग खड़ी है, नैना जोगिन को लेकर कटु हो रही हूँ - उफ़! कैसे स्त्री! रेणु की ही 'तीसरी कसम' की हीराबाई और 'लाल पान की बेगम' जैसी स्त्रियों को लजा देने वाली।

लेकिन नेरेटर के पार्श्व से निकल कर जब बीच मैदान में आती हूँ, और पाले में डटे दो प्रतिद्वंद्वियों की तरह दोनों को देखती हूँ, तो लगता है साहित्य को दूर से या ऊपर से देखकर निष्कर्ष बनाना ही

पाठक की सबसे बड़ी भूल है। उसे दबे पाँव कहानी में घुसना होता है - साँस बनकर; और पूरे परिवेश-पृष्ठभूमि के साथ जुड़कर गतिविधियों का लेखा-जोखा करना होता है। निष्कर्ष तब भी नहीं दे सकता वह। सिर्फ कुछ इंप्रेशंस, कुछ प्रभाव लेकर वह अपनी संवेदनात्मक संरचना में आने वाली हलचलों को रेखांकित कर सकता है।

मैं सबसे पहले नैना जोगिन को उस पर बुर्के की तरह ओढ़ाए गए विशेषण 'नैना जोगिन' से मुक्त करती हूँ। बुर्के के नीचे अब जो खड़ी है - आशंकाओं से थरथराती, ख्वाहिशों से उमगती - वह रतनी है। एक ऐसी निरुपाए स्त्री जिसका सात बरस की उम्र में यौन-शोषण किया जाता है; जो पंचायत और अदालत में दबंग अपराधी के खिलाफ न्याय की गुहार लगाती है तो पूरा गाँव एक अघोषित बहिष्कार कर देता है; जो नामर्द से मरदुए को झेल ही इसलिए रही है कि माँ बन कर जिंदगी की अतृप्तियों को पूरा कर सके। जिंदा रहना उसकी जिद है; अपमान को विष-मंत्र बना कर समाज को लौटा देना उसकी रणनीति। गालियाँ उसकी साँस में रच-बस गई हैं, लेकिन दरअसल वे उसका परिचय नहीं, न रोने के फैसले का बदला हुआ प्रचंड रूप हैं। छोटी-छोटी ख्वाहिशें हैं उसकी - प्यार और विश्वास का संरक्षण पाने की। नेरेटर बाबू से और भी ज्यादा क्योंकि उन्हीं से वह 'दूध का रिश्ता' मानती है। आत्मसम्मान की निजी लड़ाई में क्या सारे सामाजिक नेह-रिश्ते टूट जाते हैं? क्या विष-गाँठ से लड़ाई में समाज का तत्पर सहयोग मनुष्य का दायित्व नहीं? रतनी के मन में सवाल हैं और दूर तक पसरा है ठंडी उपेक्षा का बियाबान। लेकिन जब संवाद का झीना-सा सूत्र जिंदगी में पहली बार उसके हाथ लगता है तो वह मानो एक निष्कलुष चमकीला हृदय बन जाती है - रेणु की अन्य स्त्रियों जैसी - प्रेम में पगी, उत्साह से छलकती, सकारात्मकताओं से बुनी ओजस्वी और ममतामयी स्त्री।

रेणु की खासियत है कि अपने स्त्री पात्रों को

नेपथ्य में रखकर वे उनके जरिए पुरुष के अंतर्मन और व्यवस्था की रणनीतियों की पड़ताल करते हैं, लेकिन तमाम संवेदना के बावजूद स्वयं स्त्री की भीतरी गहराइयों की थाह वह नहीं ले पाते। यहाँ पहली बार वे नैना जोगिन के भीतर उतरने की कोशिश करते हैं। आतंक का पर्याय बनती निर्भीकता के भीतर छुपी शिशुवत असुरक्षा को बाहर उघाड़ लाना चाहते हैं और पाते हैं, आत्मनिर्भर, साहसी संघर्षशील स्त्री यदि आधुनिक स्त्री होने की कसौटी है तो इसका अर्थ कदापि नहीं कि वह पुरुषद्वेषी है। वह अपनी छिनी हुई जमीन और आत्मगौरव के लिए लड़ाई लड़ते-लड़ते भी माँ के रूप में, स्त्री के रूप में, मनुष्य के रूप में जिंदगी का उत्सव मना लेना चाहती है।

'नैना जोगिन' की संरचना रेणु की अन्य कहानियों की तरह केंद्रीय पात्र के चरित्र के साथ-साथ व्यवस्था के चरित्र की भी पड़ताल करती चलती है। रेणु पितृसत्तात्मक व्यवस्था और सामंती समाज व्यवस्था के अमानवीय आचरण पर उँगली उठा कर पाठक तक सवाल संप्रेषित करते हैं कि समाज की सामूहिकता का संरक्षण पाकर व्यवस्थाएँ यदि निरंतर बर्बर व अमानवीय हो रही हैं तो उन से टकराने वाली दमदार शख्सियत को 'अजूबा' घोषित कर हम दंडित क्यों करते हैं? क्या इसलिए की व्यवस्थाएँ हमारी मनुष्यता का आखेट करने के बावजूद हमें सुरक्षा के घेरे, और अपने से कमजोर का आखेट करने का सुख भी देती हैं? यह रेणु की कहानी-कला की खासियत है कि वे चरित्र-प्रधान कहानी को समय की शिनाख्त का अनूठा आख्यान बना देते हैं, और पाठक को रसग्राही निष्क्रिय माध्यम नहीं, वैचारिक संवेदना से खदबदाती अविराम चेतना का रूप दे देते हैं। इसलिए अपनी अंतिम परिणति में रतनी आधुनिक स्त्री की सकारात्मकताओं का पुंजीभूत रूप बनकर ही याद रहती है - जांबाज़ और लोचशील; कड़क और मुलायम!

'कस्बे की लड़की' कहानी अनायास राजेंद्र यादव के लघु उपन्यास 'शह और मात' और धर्मवीर भारती की कहानी 'गुलकी बन्नो' की याद ताजा कर देती है।

‘कस्बे की लड़की की सरोज दी काली हैं, बदनसूरत हैं, कुंवारी हैं। गुलकी बत्रो की तरह जरा सी कुबड़ी भी है और चलते हुए जरा सा लंगड़ाने का भ्रम भी देती हैं। लोगों की नजर में घुसी उपहास वृत्ति ने आत्महीनता और आत्मानादर के बियाबानों को उनके भीतर उगाया है। प्रेम और काम उसकी भी नैसर्गिक मानवीय आकांक्षाएँ हैं, लेकिन हमारा समाज इन्हें पुरुष की बपौती मानता है और पुरुष काम-सहचरी के रूप में गोरी, सुंदर, सुशील स्त्री की कामना करता है। आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर शिक्षिका सरोज दी अतृप्ति का मनोविज्ञान रचती हैं। इसलिए लुक-छिप कर पर्वटेंड मानसिकता वाले लंपट पुरुषों से मिला स्पर्श-सुख उन्हें पुलका जाता है। आश्चर्य है कि वह अपने क्रमिक विघटन की गति को भी पहचानती हैं और चेतना के द्वारों को भी मजबूती से थामे हुए हैं। यही वह बिंदु है जो उन्हें लंपट पुरुष का स्त्री संस्करण नहीं बनने देता, बल्कि स्त्री से नैसर्गिक जीवन के अधिकार छीनने वाली समाज व्यवस्था पर

सवाल उठाकर कहानी में धड़कती करुणा का विवेकशीलता के ऊर्ध्व छोरों तक उन्नयन कर देता है।

दरअसल रेणु की कहानियाँ अंचल की संस्कृति का समारोहपूर्ण उत्सव नहीं हैं, ‘मनुष्य’ के संधान और समय के सृजन की योग्यताएँ हैं। वे हवा का झोंका है जिसमें बगीचे से गुजरने के दौरान संगृहीत की गई सुवास और रंग की रेशमी तारे हैं तो व्यवस्था की बुनियाद में सड़ती जर्जरताओं की असहनीय बदबू भी। रेणु की कहानियाँ गोताखोर पाठक को तैरती कुलबुलाहटें हैं जो जाति और लिंग के विभाजनकारी समाज में गहरे धँसे होने के बावजूद जिस मनुष्य की परिकल्पना करती हैं, वह लिंग और जाति के अभिशाप से मुक्त संवेदनशील मानवीय अस्मिता है। यही रेणु की दार्शनिकता है - स्वप्न को सृजन के औदात्य तक ले जाकर सृष्टि को समन्वय और पारस्परिकता के स्पंदन से संचरित करना। गद्य में कविता का यूँ चले आना दरअसल दार्शनिक चिंतन को हृदय से जीने का नैतिक संतुलन और नैसर्गिक आह्लाद है।

संपर्क : 258 हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी, रोहतक, हरियाणा, 9416053847, rohini59@gmail.com

हुनरमंद चरित्रों की मानवीय उपस्थिति

नीरज खरे

‘संवेगों को कलात्मक महत्व देकर भावनाओं और विचारों की उपेक्षा यथार्थवाद नहीं है। रेणु की कहानियाँ संवेगों की नहीं हैं। उनमें मानवीय भावनाओं और विचारों की समृद्धि तो है ही, उनके मूर्त-अमूर्त कारकों की पहचान भी है। यही कारण है कि उनकी कहानियों का मानवीय सत्य विश्व के भीतर की कारक शक्तियों से स्वतंत्र नहीं है। मानवीय सत्य को ठहरे हुए ढाँचे में कैद करने की चेष्टा रेणु ने नहीं की है।

पात्रों के व्यक्तित्व को केवल आकार की विशेषता के रूप में रेणु ने चित्रित नहीं किया; ये पात्र व्यक्तित्व के प्रकार हैं। इनकी स्वलक्षणशीलता इन्हें स्वतंत्र व्यक्ति बनाती है। अवश्य ही ये साधारण होकर भी भीड़ के अनजाने चेहरे नहीं हैं। कहानियों में हर पात्र के साथ रेणु न्याय करते हैं। हर पात्र की सामाजिक जीवन के इतिहास से स्वतंत्र- अपने आप में कोई सिद्ध इकाई नहीं होती। वस्तुतः ऐसे पात्रों की सृष्टि के द्वारा वे जीवन की देश-काल-सापेक्ष स्थितियों का ही संयोजन करते हैं। ये पात्र निरावधि, कालातीत आत्माएँ नहीं हैं। इन्हें अपने देशकाल ने ही गढ़ा है; ये एक विशेष ऐतिहासिक परिस्थिति में जन्म लेने वाले पात्र हैं। ये पात्र अपने बाहर की वास्तविकता पर प्रतिक्रिया करते हुए अपना व्यक्तित्व निर्मित करते हैं। इस प्रकार इन पात्रों के साथ देश-काल का यथार्थ साकार होता है- संबंध की दुनिया लक्षित होती है। ये पात्र विचार और भावना की कई धाराओं का उत्सर्जन करते हैं।’

- सुरेंद्र चौधरी (लेख- रेणु: कहानियों का गंध परिवेश/हिंदी कहानी: रचना और परिस्थिति, सं. उदयशंकर, पृ 191 और 195-196)

हिंदी कहानी में प्रेमचंद के बाद ग्रामीण चरित्रों का विविध संसार सर्वाधिक रेणु के यहाँ मौजूद है। उन पात्रों की उपस्थिति में रेणु का कथा कौशल ग्राम्य जीवन और परिवेश को जीवंत और सच्चेपन में मूर्त करता है। पात्रों के व्यक्तित्व, अपने समय और परिवेश की पुनर्चना को कुछ कहानियों में खासतौर से गौर करना चाहिए- जिनमें पात्रों की जीवट, श्रमशील और इनसानियत में निराली मौजूदगी है। इस संदर्भ में ‘पहलवान की ढोलक’, ‘रसूल मिसतिरी’, ‘तीसरी कसम’, ‘रसप्रिया’, ‘ठेस’, ‘पंचलाइट’, ‘संवदिया’ और ‘भित्तिचित्र की मयूरी’ कहानियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके पात्रों का सामाजिक वर्ग प्रेमचंद के कथा पात्रों से बहुत अलग नहीं है पर उनकी कथात्मक परिणतियाँ अलग हैं। रेणु के पात्रों के संघर्ष और पीड़ा उनकी स्वभावगत मार्मिकता, लोक जीवन के उल्लास को बरतने की आकांक्षा और परिस्थिति की करुणा में कहीं नीचे दबी है। जो यदाकदा उनके भाव संसार में अनायास झलक भी आती है। उनके बहुत से कथा पात्र कला और संवेदना के वाहक हैं- वे प्रायः श्रमजीवी हैं- अपने हुनर, पेशे या लोक कला से प्रतिबद्ध होकर जीते हैं। रेणु की कहानियाँ जिस लोक संपृक्ति से परिवेश को भाषा में पुनर्सृजित करती हैं- उस लोक विरासत के सच्चे वारिस उनके

चरित्र हैं। वे जिस उत्साह और कार्यक्षमता से अपने हुनर को अंजाम देते हैं, - जैसे उनकी निजता और अनुभव से घुलमिल कर वह कला-विद्या मौलिकता का चरम पा लेती है। उस विरासत के छीजने और लुप्त होते- एक सांस्कृतिक जीवन के ढहने की पीड़ा भी हमारे समाज की सामूहिक पीड़ा होना चाहिए। इसे रेणु की कहानियाँ बेहद संजीदगी से स्वर देती हैं। उन्हें सिर्फ उन कलाबद्ध चरित्रों की 'निजता' में ही सीमित नहीं करना चाहिए। आज जब भूमंडलीकरण ने अपनी सज-धज के साथ जनपदीय संस्कृतियों का सर्वनाश कर सार्वभौमिक सांस्कृतिक साम्राज्य को फैला दिया है। ऐसे समय में रेणु की कहानियों और उनके कलाबद्ध पात्रों के साथ चलते हुए। रेणु की दूरदृष्टि का अंदाजा लगाया जा सकता है। कहानीकार को उस जीवन की अकृत्रिम और जमीन से उपजी देसजता पर भरोसा है। वे ग्राम्य जीवन से गहरे जुड़ी उसकी आर्थिकी की अनिवार्यता भी जानते थे। भले ही उसके संघर्ष का स्थान उनकी कहानियाँ कम देती हैं, पर उसके संकेत अनायास ही दे जाती हैं। वे यथार्थवाद और वैचारिकी के भार से कहानियों को बचाते हैं और अपनी कथात्मक शर्त पर उनके भारहीन रूपों की तलाश करते हैं। यह करते हुए रेणु ग्राम्य जीवन पर थोप दिए गए बदलावों के औचित्य यानी उनकी दिशाहीनता पर प्रश्न करते हैं। यह प्रश्न कभी पात्र के व्यवहार में और कभी कथा प्रवाह में घुला हुआ है। जिसे उभारने में परिवेश का पुनर्सृजन महती भूमिका निभाता है। इसीलिए उनकी कहानियाँ परंपरा में प्रतीत होते हुए भी उससे विचलन का मौलिक रास्ता प्रशस्त करती हैं।

जाहिर है वह रास्ता यथार्थ का विरोधी नहीं, बल्कि संरचनात्मक स्तर पर भाषाई यथार्थ को रचता है संवेदना का धरातल उससे अन्यत्र नहीं है। भाषा और संवेदना का ऐसा मेल हिंदी कहानी में दुर्लभ है। देखें कि उपर्युक्त कहानियों के पात्रों की सामाजिक विषमता, पीड़ा, अन्याय और शोषण को रेणु ने बहुत मुखरता से व्यक्त नहीं किया है, पर वह कहानी में

कैसे अंतर्भुक्त है, इसे प्रायः अनदेखा कर दिया जाता है। जबकि इसके जरिए ही कहानी के सामाजिक मर्म तक पहुँचने का रास्ता मिलता है। जाहिर है उपर्युक्त कहानियों की कुछ चर्चा इस संदर्भ में अपेक्षित है। 'पहलवान की ढोलक' (1944) कहानी पारंपरिक विद्या/कला से सत्ता के व्यवसायिक रिश्ते को परिभाषित करती है। पहलवान और उसके दो बेटों जैसे अनेक लोग मलेरिया की तदयुगीन महामारी के शिकार असमय हो गए- यह कहानी में अपने देशकाल की मौजूदगी है जिससे ग्रामीण जनता का संघर्ष व्यक्त है। यह तो एक बात है, उससे ज़्यादा समय का बदलाव जो एक हुनर यानी कुश्ती/मल्लयुद्ध जैसी ग्रामीण विद्या और उसके सिद्धहस्त गुरुओं के साथ जीवन-संस्कृति के एक पहलू को भी लील जाता है। पहलवान दंगल और उसके निमित्त ढोलक बजाने में अव्वल दर्जे का सिद्धहस्त है। राजा ने उसे सत्ता का आश्रय दिया, पर राज्य की कमान नए राजकुमार के लेते ही उसे सत्ता संरक्षण से विदाई दे दी गई। वजह कुश्ती-दंगल का स्थान घोड़े की रेस ने ले लिया था। वह विद्या अब अप्रसांगिक हो गई थी। अपने दो बेटों को ही अपनी विद्या सिखाता पहलवान आर्थिक बदहाली से जूझता है। यहाँ रेणु गाँवों में अनावृष्टि, अन्न की कमी, मलेरिया और हैजे के संयुक्त तांडव का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हैं। पहलवान अपने दो बेटों को पहलवानी की विरासत सौंपना चाहता है पर असमय ही पहले दोनों बेटों को खोकर खुद भी महामारी की भेंट चढ़ता है। गौरतलब है गाँव के असहाय, त्रासद और नीरव वातावरण में शक्ति का संचार करती ढोलक की आवाज, जो लोगों को मौत के भय से मुक्ति और उसे स्वीकारने का साहस भी देती थी। पहलवान अपनी स्वाभिमानी जीवटता का अपरिहार्य संग अंत तक नहीं छोड़ता। वह पराजित यानी 'चित' मृत्यु से ही हुआ। पहलवान-गुरु के स्वाभिमान और आत्मसंघर्ष का चरम उसकी जीवटता, हुनर के प्रति निष्ठा और उससे सटी हुई सामाजिक जवाबदेही में है। इसी तरह 'रसूल मिसितिरी' (1946)

मैं एक श्रमजीवी का हुनर और उसके पेशे में व्यावसायिकता को हटाकर मनुष्यता कहाँ तक व्याप्त है, जो रसूल के सामाजिक होने का सौंदर्य है। रसूल जो बिगड़ी हुई चीजों की मरम्मत करता है- साइकिल, स्टोव, पेट्रोमेक्स, हारमोनियम, और न जाने क्या-क्या। यह उसका रोजी-रोटी का साधन है, पर वह उसे और ज्यादा फायदे के लिए नहीं करता सिर्फ उसके लिए नहीं जीता, वह समस्याग्रस्त लोगों का मददगार है। वह चीजों की मरम्मत ही नहीं करता, लोगों के बिगड़े काम बनाने भी उतना ही दौड़ता है। दुखियों की सेवा और रोगियों का उपचार करता है। रेणु अपने पात्रों की वैचारिकता को विचारधारा के मुहावरे में नहीं, उनके लोकमन में गहरे बसी सामाजिकी में खोजते हैं। वे अपने पेशे में होकर भी उससे बँधे नहीं हैं। अपनी शर्त, खरेपन और तुनक मिजाजी के चलते ग्राहक भले लौट जाए, अगर जरूरतमंद आ जाए तो उसकी वेदना दूर करना उनकी प्राथमिकता है।

बहुचर्चित 'तीसरी कसम' (1956) को अनूठी प्रेमकथा में ही नहीं, हिरामन और हीराबाई की उपस्थिति को अपनी-अपनी सामाजिक हैसियत में भी देखना चाहिए। जहाँ दोनों का 'प्रेम' दुर्लभ है- कथा के बीच अपने-अपने पेशे में निपट अकेलेपन की सामाजिकी का नाजुक तंतु रेणु ने जोड़े रखा है, पर उसकी विशद व्याख्या की जा सकती है। यह कहानी ऐसे समय लिखी गई, जब आजाद देश में समय करवट ले रहा है। औद्योगीकरण में नई गति आ रही थी। ग्राम्य जीवन बदल रहा था। नेहरू युग के मशीनीकरण से औद्योगिक पूँजीवाद के विस्तार को नई गति मिली। इन परिवर्तनों ने लोक जीवन की पारंपरिकता को अपदस्थ किया। पूँजीवाद का रथ लोक संस्कृतियों को रौंदते हुए बढ़ता है। वह श्रम और कला का शोषक है। समूची बीसवीं सदी में जीवन के आधुनिक परिवर्तनों के साथ विकसित इस तंत्र का रिश्ता जगज़ाहिर है- कथित विकास का जो रास्ता बना और आज तक बनता गया- देश में जो

परिवर्तन हुए- खासतौर से आजादी के बाद ज़्यादा तेजी के साथ। उनका सीधा आघात पारंपरिक ग्रामीण जीवन शैली पर पड़ा। आजादी के कुछ ही वर्षों बाद साहित्य में आंचलिकता का आगमन इसी वजह माना गया। रेणु की कथा दृष्टि का केंद्र भी यही है। रेणु के पात्रों को अपने हुनर या पेशे से गहरा मानवीय अनुराग है। वे जीवन से विदा हो रही जीवन शैली, लोकाचारों, हुनर आदि चीजों के सच्चे वारिस हैं। हिरामन अक्सर 'जा रे जमाना!' कह कर उन्हें याद करता है। लोक जीवन की यह अनूठी स्मृति रेणु के कथा संसार में सजीव हुई। सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन से बीत रही वे स्थितियाँ सिर्फ स्मृतिमोह नहीं, रिक्त होती ऐसी जगह है- जिसमें बाज़ार अपनी पैठ बनाता रहा है। वैसे तो रेणु ने इसकी गहरी चिंता कई कहानियों में व्यक्त की है, पर 'तीसरी कसम' में इसका शब्दांकन अनूठा है। इसकी रचना, यथार्थवादी संरचना में सर्वथा मौलिक बदलाव प्रस्तावित करती है। वैसे तो यह प्रस्तावन रेणु की प्रायः हर कहानी कर सकती है, पर 'तीसरी कसम' उसका सर्वाधिक प्रतिनिधित्व करती है। कायदे से पहली बार यथार्थ से लदी हिंदी कहानी उसके भार से कतिपय मुक्त हुई। बोरों की लदनी ढोने वाली हिरामन की गाड़ी में इस बार कंपनी की औरत हीराबाई जो सवार थी। इसे महज संयोग कहा जाए या इसका लक्ष्यार्थ थोड़ा खींचकर कथा यात्रा में वस्तु निर्वाह से भी जोड़ा जा सकता है। रेणु व्यतीत स्थितियों और लोक संपदा को संजोने-जीने वाले चरित्रों की मार्मिक उपस्थिति कहानियों में दिखाते हैं। आजादी के बाद जिस 'नई सभ्यता' ने दस्तक दी थी, उसे रुकना नहीं था- यह स्वयं रेणु भी जानते थे, पर वे उसके आने के कारणों और विकल्पों के विमर्श की ओर ज़्यादा ध्यान नहीं दिलाते। ज़ाहिर है उनके संकेत कथा के ताने-बाने में हैं। आज विकास की जिस जीवन शैली का चरम है, रेणु इस भविष्य को भी जानते होंगे। अतः एक गहरी छटपटाहट उस जीवन से 'विछोह' की उनके यहाँ मौजूद है। उनके

पात्रों की स्वाभिमानी निजता का आत्म प्रतिरोध, पूंजीतंत्र की खिलाफत में खड़ा है। क्या यह स्वयं में 'यथार्थ' नहीं? कहानी के बिलकुल आरंभ में ही हिरामन पहली कसम खाकर उस कंट्रोल के जमाने में चोरबाज़ारी का हिस्सा बनने से अपने को अलग कर लेता है। समय बिलकुल आरंभ में ही दर्ज़ है। हालाँकि, उसने विपत्ति में पड़कर तात्कालिक सूझी चतुराई से गाड़ी वहीं छोड़, अपना और बैलों का बचाव किया था। लेकिन, बाद में ईमान के रास्ते चलने को ही वह श्रेष्ठ मानता है। उसने घाटा सह कर भी भाड़ा देने के लिए आधीदारी पर बैलों को जोता। फिर वह काम भी छोड़ा, बाँस की लदनी से तौबा कर दूसरी कसम खाएँ। वह सरकस कंपनी के बाघ को देने से मिली कमाई से फिर नई गाड़ी हासिल करता है। हिरामन ऐसा कर्मठ है। अपने बैलों और गाड़ीवानी से अगाध प्रेम करने वाला। 'और सब-कुछ छूट जाए, गाड़ीवानी नहीं छोड़ सकता हिरामन!' आरंभिक दोनों कसमें उसके नैतिक चरित्र को जानने का मजबूत आधार देती हैं। उनके यहाँ यथार्थ की अनुपस्थिति देखने वालों को इन सारे संदर्भों पर ज़रूर गौर करना चाहिए।

रेणु के कथा साहित्य के संदर्भ में 'आंचलिकता' बहुध्यात है। बल्कि इस पुराने मूल्यांकन को आज विमर्शों के दौर में थोड़ा बदला भी जा सकता है। ग्लोबल समय ने जिस तरह लोक जीवन की समस्त संरचना पर हमलाकर हमारी पारंपरिक अस्मिताओं का हक छीना है। ऐसे समय में क्यों न 'आंचलिकता' को भी एक ज़रूरी विमर्श माना जाए, तो रेणु 'आंचलिकता विमर्श' के प्रवर्तक कथाकार माने जाएंगे। उनकी प्रायः हर कहानी में आंचलिकता का अंतर्वस्तु से प्रगाढ़ संबंध है। 'तीसरी कसम' में जिसकी व्याप्ति और सघनता सर्वाधिक है। उसे रेणु के रचनात्मक सरोकारों और आंचलिक सौंदर्य बोध का समग्र रूपक माना जा सकता है। इसमें आंचलिक उपादानों की शृंखला है- बैलगाड़ी और बैलों से हिरामन का आत्मीय रिश्ता, लोक कथा, लोक विश्वास, लोक नृत्य,

लोकगीत, लोक नाट्य, प्रकृति, पर्व, विस्मृत हो चुके लोक व्यवहार के आत्मतीय वार्तालाप- उस जीवन की बोली-बानी के लुप्त हो गए शब्दों की बसाहट तो एक बात है। इसके अलावा इन्हें जोड़ने वाली महत्वपूर्ण कड़ी अंचल का रूपक 'मेला'- जो स्वयं में लोक जीवन की अनेक शिल्पकालाओं, चित्रकारी, दस्तकारी से निर्मित अनेक वस्तुओं की मौजूदगी के साथ, गायन-वादन-नृत्य से मोहता था। कठपुतली, बंदर-भालू के नाच, जादू आदि के खेल-तमाशे भी उसका हिस्सा होते थे। कहानी में 'नौटंकी' मेले का अहम हिस्सा है। इससे अधिक हिरामन और हीराबाई न भुलाए जाने वाले हुनरमंदों का जोड़ा है- जिनकी यह कहानी है। हीराबाई पेशेवर-ख्यात कलाकार-नौटंकी की विद्या में पारंगत है। नौटंकी का बरास्ते मेला, बाज़ार से क्या रिश्ता है- यह हीराबाई के एक कंपनी से दूसरी के मंच या बैनर पर काम करने से समझना चाहिए। कहानी में हीराबाई के लिए 'कंपनी की औरत' का कई बार जिक्र अकारण नहीं आता! इसमें कला पर हावी बाज़ार के ब्रांड की ध्वनि है। हालाँकि यह ध्वनि आज पसर रही कॉरपोरेट संस्कृति और भूमंडलीय बाज़ारवाद की भयावहता में अत्यंत सीमित लग सकती है, लेकिन इस यथार्थ की अर्थवत्ता को कहानी किसी अतिरिक्त कोशिश के व्यक्त कर देती है। हिरामन पेशे से गाड़ीवान है, पर अपने अंतरमन से जमीनी लोक कलाकार- उसे इस रूप में शायद कोई नहीं जानता। उसके कलाकार मन को ही नहीं, उसके व्यक्तित्व के 'हीरा' रूप को पहली बार हीराबाई ने ही परखा है। कलाएँ व्यक्ति को निर्मल, संवेदनशील और नेक बनाती हैं- इसके प्रतिस्पर्धियों तो दोनों पात्र हैं, पर हीराबाई की कला बाज़ार और व्यवसाय को भलीभाँति जानती ही नहीं उसके अधीन है। हिरामन की कला को बाज़ार यानी पेशे ने छुआ भी नहीं है। इसलिए कला उसके व्यक्तित्व से अनायास लिपटी है। रेणु ने लिखा है- 'कहाँ हीरामन और कहाँ हीराबाई! बहुत फर्क है!' दरअसल कहानी का सौंदर्य और मार्मिकता इसी फर्क में है, पर दोनों

के हुनरमंदी के रूप में मेल होना- उनको जोड़ने वाली बेहद ज़रूरी कड़ी है।

‘रसप्रिया’ (1955) की प्रेमकथा में जाति भेद और स्त्री नियति का प्रश्न घुला हुआ है। जिसे उस प्रेम की मार्मिकता के बिना समझा नहीं जा सकता। ज़ाहिर है पंचकौड़ी मिरदंगिया का प्रेम सिर्फ रमपतिया से ही नहीं, रसप्रिया की गायकी और मिरदंग बजाने से भी है। बल्कि कहना चाहिए कि एक के बिना दूसरे का कोई वजूद नहीं है। रेणु के कलाकार व्यावसायिक नहीं हैं, कला उनका पेशा हो सकती है, पर वे पेशेवर नहीं हैं। कला उन्हें जीने का फक्र देती है- वह साहस देती है कि उनकी जिदें मनुष्यता के तने सिर सी खड़ी रहती हैं। मिरदंगिया का स्वाभिमान अपने को भिखारी कहे जाने के प्रतिवाद में व्यक्त होता है- ‘किसने कहा तुमसे कि मैं भीख माँगता हूँ? मिरदंग बजाकर पदावली गाकर, लोगों को रिझाकर पेट पालता हूँ....’ गायकी विद्या सीखने के लिए उसने अपनी जाति छुपा ली थी, पर रमपतिया को पाने के लिए अपनी जाति नहीं छुपाता, वह ऐसा नैतिक चरित्र भी है। मिरदंगिया जाति से बहरदार है और उसके माध्यम से रेणु जातिगत भेद का संदर्भ जोड़ते हैं। और, इस कारण उनकी कुछ चुनिंदा कहानियों में इसे रखा जा सकता है, जिनमें वे निचली मानी गई जातियों के प्रति गाँव के सामंती और वर्ण भेद का उत्पीड़न भी दिखाते हैं। जिसे ‘ठेस’ (1957) में सिरचन के प्रति चाची के बर्ताव में भी देखना चाहिए। कहानी में सिरचन की मौजूदगी कला, श्रम और मनुष्यता के बारे में बहुत कुछ कहती है। ‘रसप्रिया’ के मिरदंगिया और ‘ठेस’ के सिरचन की सामाजिक नियति को एक मानते हुए सुरेंद्र चौधरी ने लिखा है- ‘दोनों ही एक दुनिया के लोग हैं। नई दुनिया की नई कला, नई संस्कृति है। उसका बदला हुआ शिल्प संसार है। सामुदायिक संस्कृति के इस विध्वंस की पीड़ा को मूर्त करती ये दोनों कहानियाँ रेणु के भाव संसार की जीवित प्रतिकृतियाँ हैं।’ (लेख- रेणु: कहानियों का रचना संसार/हिंदी कहानी: रचना और

परिस्थिति, सं. उदयशंकर, पृ. 203) ‘ठेस’ का सिरचन मूलतः कारीगर है। वह भूमिहीन किसान है, केवल हुनर के बूते गुजर करना मुश्किल हुआ तो उसे खेतिहर मजदूर भी बनना पड़ा। उसका मन जितनी तल्लीनता और सुरुचि से शीतलपाटी और चिक बुनने में रमता है, उतना खेती-बारी की मजदूरी में नहीं। यह काम तो वह मजदूरी में ही करता है। वह मूलतः सच्चा और स्वाभिमानी ग्राम-शिल्पी है। वह ‘मुहँजोर’ है, पर ‘कामचोर’ नहीं। रेणु ने लिखा है- ‘बिना मजदूरी के पेट-भर भात पर काम करनेवाला कारीगर। दूध के साथ कोई मिठाई न मिले, तो कोई बात नहीं, किंतु बात में जरा भी झाल वह नहीं बरदाश्त कर सकता।’ हवेली में चाची के तीखे कथन से कलाकार के दिल में ठेस लगी तो हनहनाता हुआ अधूरी बुनी चिक छोड़कर जो गया तो काम पूरा करने आया ही नहीं। लेकिन कलाकार की संवेदनशीलता और इंसानियत देखिए। ससुराल के लिए विदा होती मानू को शीतलपाटी, चिक और एक जोड़ा आसनी उपहार में दे जाता है कि ससुराल में उसे सिर नीचा न करना पड़े। आधुनिकता के आने से परिवर्तन सिर्फ ग्राम-शिल्प और लोक कलाओं को ही अपदस्थ नहीं कर रहे- सामाजिक व्यवहार को भी बदल रहे हैं। रेणु की नजर इन परिवर्तनों पर सूक्ष्मता से जाती है। सामाजिक श्रेष्ठता और सामंती सोच चाची के बर्ताव में झलकती है, लेकिन जिस वर्ग के पास वह संवेदना, मूल्यनिष्ठा और परिवर्तन निरपेक्षता बची हुई है- रेणु उसकी पक्षधरता में कहानी लिखते हैं। प्रगतिशील आलोचना प्रेमचंद या उनके बाद के बहुतेरे कहानीकारों की व्यक्त संघर्षशील वैचारिक चेतना को सहजता से पहचान लेती है, पर रेणु के अव्यक्त स्वरों की पहचान नहीं कर पाई! प्रगतिशीलता की दुहाई देने वालों को रेणु को परखते समय अपनी नज़र ज़रूर साफ कर लेना चाहिए।

यह बात उनकी हर कहानी के लोक संदर्भ में देखनी चाहिए। यहाँ चर्चा विशेषतः कहानियों के उन पात्रों की है जिनमें उनकी किसी कला या हुनर

का खास संदर्भ हैं। जिसे रेणु की सबसे छोटे आकारों की कहानियों में से एक 'पंचलाइट' (1958) में भी देखा जा सकता है। यह कहानी बड़ी सहजता से आंचलिक चरित्रों और गाँवों की सामाजिकी के बरअक्स अपने समय की कई परतों को सहेजे हैं- जिसे रेणु बिना विस्तार दिए मात्र पेट्रोमेक्स खरीदे जाने और उसको जलाए जाने के एक रेखीय और अत्यंत लघु वृत्त में कह जाते हैं। भारत के ग्रामीण जीवन में पंचायतों की उपस्थिति और उनके रूपों की पृष्ठभूमि में ही इस कहानी पर विचार करना चाहिए। इसके लिखे जाने के ठीक पहले ही 1957 में बलबंत राय मेहता समिति ने त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था लागू करने का सुझाव दिया था। इसे तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने 2 अक्टूबर 1959 को लागू किया। प्रेमचंद 'पंच परमेश्वर' (1916) में ग्रामीण जनता के लिए महुँगी न्याय व्यवस्था की अपेक्षा पंचायतों की उपयोगिता रेखांकित पहले ही करते हैं। यह कहानी पंचायत और पंचों की नैतिकता के प्रति लेखक की गहन आस्था को व्यक्त करती है। इससे उन पंचायतों का पता चलता है- जब किसी मामले के उचित समाधान या निपटारे के लिए अवसर विशेष पर गाँवों में पंचायत बुलाकर पंच चुना जाता था। पंच स्थायी न होकर बदलते भी रहते थे। रेणु की 'पंचलाइट' में राजनीतिक-प्रशासनिक स्तर पर पंचायती राज व्यवस्था शुरू होने के पहले की गोत्र या जाति आधारित पंचायत या पंचायतों का जिक्र है। भारत में खाप पंचायतों का इतिहास वैसे भी काफी पुराना है। गोत्र और जाति की जटिल संरचना वाले देश के ग्रामीण सामाजिक जीवन में विवाह आदि जातिगत मसलों को लेकर इन पंचायतों की अहम भूमिका रही है। यहाँ तक कि जाति विरुद्ध प्रेम और विवाह को लेकर उनकी दंडात्मक कार्यवाही काफी सख्त और अमानवीय भी रही है और उनसे जुड़ी ख़बरें जब-तब चर्चा में भी रहती आयी हैं। प्रेमचंद गाँवों की सामूहिक पंचायत का संकेत करते हैं, वहीं रेणु की कहानी में एक ही गाँव में टोलों या

जाति आधारित पंचायतों का उल्लेख है। आजादी का एक दशक बीतते न बीतते जातिगत अस्मिता विभाजित होने लगी थी। इसका जिक्र रेणु 'पंचलाइट' के आरंभ में ही करते हैं- 'पिछले पंद्रह महीने से दंड-जुरमाने के पैसे जमा करके महतो टोली के पंचों ने पेट्रोमेक्स खरीदा है इस बार रामनवमी के मेले में। गाँव में सब मिलाकर आठ पंचायतें हैं। हरेक जाति की अलग-अलग 'सभाचट्टी' है।' पंचायतों के इस जातिगत विभाजन पर राजनीतिक रंग भी चढ़ने लगे थे। हालांकि रेणु की कहानी बहुत साफ़तौर पर इसके बारे में कुछ नहीं कहती, उन पंचायतों की कोई राजनीतिक-प्रशासनिक भूमिका भी नहीं थी। फिर भी आज के जाति आधारित राजनीतिक संदर्भों का एक झीना सा अंदाज ज़रूर लगाया जा सकता है।

कहानी में महतो टोली की जातिगत पंचायत की संक्षिप्त चर्चा के बाद पंचों के सरदार और टोली के लोगों का पेट्रोमेक्स को लेकर कौतूहल आंचलिक प्रभाव और रोचकता का अनिवार्य केंद्र बन जाता है। आधुनिकीकरण का एक खास संबंध नई चीजों के आने से भी गहरे जुड़ता है। उन्हें लेकर ग्रामीण समाज अपने लोक ज्ञान और बोली-बानी की कसौटी पर नामकरण करके स्वीकारता है। पेट्रोमेक्स जिसे गाँव के लोग पंचलाइट (पंचलैट) कहते हैं। साठ के दशक का समय-बदलाव जीवन में नई चीजों के आने से हुए थे। नई चीजें पुरानी चीजों को अपदस्थ करती हैं। समाज में बाज़ार उनके जरिए ही अपनी पैठ बनाना शुरू करता है। खास मौकों के लिए ढिबरी-लालटेन की जगह पेट्रोमेक्स आया था। उसे खरीदना दूसरी जातियों की पंचायतों से प्रतिस्पर्धा में महतो टोली के लिए प्रतिष्ठा का सवाल है। तब बिजुली गाँव-गाँव तक नहीं पहुँची थी। पेट्रोमेक्स के बहाने 'कल-कब्जेवाली चीज़' कहकर रेणु बड़ी सूक्ष्मता से नेहरू युग के मशीनीकृत बदलावों की ओर भी संकेत कर देते हैं। तभी बाज़ारवाद की पूर्वपीठिका यानी उसका रास्ता प्रशस्त हुआ। चीजों की ज़रूरत प्रतिस्पर्धा में भी इज़ाद होती है। बाज़ार ने ही

सामाजिक वर्गभेद की नींव डाली, जिसे रेणु स्पर्श करते हुए तो जान पड़ते हैं पर मुख्यार्थ नहीं बनाते। फिर भी आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीकरण के समय उपभोक्तावाद के नकारात्मक प्रभाव की जो कहानियाँ निरंतर लिखी जाती रही हैं, उनका बीज रूप 'पंचलाइट' में हैं और एक दूसरे स्तर पर 'ठेस' में भी। इसके बावजूद कि 'पंचलाइट' अंत में जाकर आधुनिकीकरण के स्वीकार की कहानी बन जाती है।

बहरहाल, कहानी में स्वीकार के दूसरे ध्वन्यार्थ को देखना चाहिए जो मुख्यार्थ बन जाता है। कथा के केंद्र में ग्रामीण समाज का जातियों में बँटा जीवन है- जिसमें प्रेम की उन्मुक्तता सहजता स्वीकार नहीं। जाहिर है सिनेमा का गाना गाकर मुनरी के लिए की गई गोधन की प्रेमाभिव्यक्ति के चलते ही उसे पंचायत से बहिष्कृत होना पड़ा। प्रेम और उसकी जीत का नाजुक तंतु कहानी को रीढ़ की तरह थामें है, जबकि 'पंचलाइट' की चर्चा प्रेम कहानी के रूप में नहीं होती। कहानी जाति की प्रतिष्ठा को खारिज करते हुए प्रेम को प्रतिष्ठित करती है। सरदार का कथन गौर करें- 'जाति की बंदिश ही क्या, जबकि जाति की इज्जत ही पानी में बही जा रही है। क्यों जी दीवान?' गोधन के यत्न से पंचलाइट दीप्त होती है जिसकी रोशनी न सिर्फ गोधन की काबिलियत सिद्ध करती है, बल्कि कथा में छिपा प्रेम का घटक खिल पड़ता है। जाति की बंदिश टूटती है, पंचायत प्रेम को मान देती है। अपनी जाति की आन पर हुआ पंचों का यह रुख सकारात्मक है। गोधन को पास बुलाकर सरदार कहते हैं- 'तुमने जाति की इज्जत रखी है। तुम्हारा सात खून माफ़। खूब गाओ सलीमा का गाना!' उधर मुनरी की माँ गुलरी का आमंत्रण, 'आज रात मेरे घर खाना खाना।' रेणु अंतिम अंश लिखते हैं- 'गोधन ने फिर एक बार मुनरी की ओर देखा। मुनरी की पलकें झुक गईं। कीर्तनिया लोगों ने एक कीर्तन समाप्त कर जय-ध्वनि की- 'जय हो! जय हो!...पंचलैट के प्रकाश में पेड़-पौधों का पत्ता-पत्ता पुलकित हो रहा था।' यहाँ प्रेमचंद के आदर्शवाद की

गूँज है- अंदाज रेणु का अपना है। रेणु ने जो कहानियाँ अंचल के हुनरमंद श्रमजीवी पात्रों के जीवट, नेक दिली और स्वाभिमान को लेकर रची हैं- 'पंचलाइट' को भी उनके साथ रखा जा सकता है। वैसे गोधन सुपरिचित ग्राम-शिल्पी या लोक कलाकार नहीं है। लेकिन, गोधन पेट्रोमेक्स जलाने का हुनर जानता है। और, उसका मान अंततः हुक्का-पानी बंद करने वाली पंचायत ने भी रखा। उसे गुलरी काकी का नेह, मुनरी का प्रेम और जाति में पुनः वापसी हुनर के कारण ही मिली। रेणु के हुनरमंद पात्र व्यावसायिक नहीं हैं। हुनर उन्हें जीने का फक्र और साहस देता है। पंचलाइट जलाने गोधन पंचायत के बुलाने से राजी नहीं हुआ, गुलरी के मान-मनउल पर ही आया था। कहानीकार के रूप में रेणु की चर्चा में अक्सर प्रेमचंद का संदर्भ उनसे सर्वाधिक जोड़ा जाता है। इसलिए कि प्रेमचंद की तरह गाँव और ग्रामीण पात्रों के अनुभव उनके यहाँ भी बहुतायत हैं। जमीन उनकी भी वही है, पर उस जमीन पर खड़े होकर ग्रामीण जीवन की ओर देखने की नजर उनकी अलहदा है। इसीलिए रेणु के 'आंचलिक' मुहावरे से 'यथार्थ' का रिश्ता जानने के लिए अलग नज़रिए की ज़रूरत है।

जाहिर है इसी अलग नज़रिए से 'संवदिया' (1962) कहानी में पितृसत्तात्मक समाज में विधवा स्त्री की सामाजिक नियति को जाना जा सकता है और निम्नवर्गीय हरगोबिन की ग्राम्य अपनापे से जन्मी मूल्यनिष्ठा को भी। रेणु की कहानियों में बहुत से पात्र निम्नवर्ग से आने वाले भूमिहीन किसान हैं वे अपनी पेशेगत जाति के मुताबिक टहलुआ हैं- संपन्न लोगों की यजमानी करते हैं। ग्रामीण समाज की जातिगत संरचना में नाई, कहार, कुम्हार, बढ़ई, लुहार आदि पेशेगत जातियों के अलावा कुछ दलित जातियाँ भी उन भूमिहीनों में शामिल हैं- पर रेणु की कहानियों में पिछड़ी जातियों की अपेक्षा दलित पात्र कम ही मिलेंगे। हालाँकि 'संवदिया' किसी कलाकार पात्र की कहानी नहीं है, पर बदलाव की नियति झेलते एक पेशे को आत्मीयता से करने वाले टहलुआ

की है। जब गाँव-गाँव डाकघर खुल जाने से संवाद ले जाने वाले संवदिए अप्रसांगिक हो गए हैं। अपनी हवेली की संपत्ति से वंचित और परिजनों द्वारा तिरस्कृत बड़ी बहुरिया के साथ खड़ा कौन होता है? एक निम्नवर्गीय आदमी संवदिया जो उनके सम्मान को अपने गाँव की आन समझता है। रेणु के चरित्रों में इंसानियत का चरम राग फूटता है। कथा के अंत में जाकर उसकी विषाद भरी कारुणिकता को रेणु ही सुना सकते हैं।

आज लोक जीवन का चेहरा ग्लोबल बाजार से पटा पड़ा है। रेणु ने अंचलों की अस्मिता पर प्रश्न खड़ा किया था, अब पूर्णविराम लग चुका है। पता नहीं अब रेणु के उन शिल्पियों और हुनरमंदों के क्या हाल हैं? जिनका हक मॉल, अर्बन हाट और फूहड़ शोर ने छीन लिया है। पूँजी तंत्र हमेशा से ही श्रम और कला का शोषक ही नहीं, वह इनकी नियामक सत्ता यानी लोक संस्कृति का विनाशक है। रेणु के कलावंत या हुनरमंद पात्र आत्मसजग और मूल्यनिष्ठ हैं, वे बाजार से अप्रभावित हैं। इसे उनके आखिरी दौर की कहानी 'भित्तिचित्र की मयूरी' (1972) में खासतौर पर गौर किया जा सकता है। जिसमें मधुबनी चित्रकारी की कलाकार फुलपतिया की माँ 'कुटीर शिल्प पटना' का आमंत्रण ठुकराकर गाँव में ही रहकर अपनी कला साधना करते हुए, नई पीढ़ी के लिए उस कला का प्रशिक्षण देने राजी होती हैं। रेणु की कहानियों में जीवन से विदा हो रही जीवन शैली, लोक जीवन की अनूठी स्मृति की तरह सजीव है। आधुनिक परिवर्तन ग्राम्य जीवन के अनुकूल नहीं, उन पर लादे जा रहे थे। उन परिवर्तनों की दिशाहीनता और गैरज़रूरत को अनजाने ही उनकी कहानियाँ रेखांकित कर जाती हैं। वे उन परिवर्तनों के दुष्प्रभावों को पात्रों के व्यवहार और उनकी मनःस्थितियों में उभारते हैं। जब ये परिवर्तन उनकी निजता पर हमला करते हैं तो भावानोन्मेष की प्रतिकारी मुद्रा उन परिवर्तनों की निरर्थकता को व्यंजित कर देती है। ज़ाहिर है जिनके संकेत कथा के ताने-बाने

में भी हैं। आज विकास की जिस जीवन शैली का चरम है, रेणु उसके भविष्य को भी जानते होंगे। बीता संसार फिर लौटेगा नहीं, इसीलिए उसका कारुणिक विलाप उनके यहाँ मौजूद है। रेणु के समय लोक संपदा के 'आंचलिक' सरोकार लुप्त होने की आहट दे रहे थे, आज वे लुप्त हो चुके हैं। यह जानते हुए भी कि किसी बेटी का ब्याह सबकी मर्जी से ही रचा जाता है, पर विदाई के वक्त माँ-पिता उससे हिलक कर रोते हैं। बेटी ब्याह कर फिर बेटी नहीं रहेगी, वह दूसरे रूप में होगी। इसे अगर 'आंचलिकता' के समग्र रूपक में लिया जाए तो रेणु उस कारुणिक भावभीनी विदाई को हर संभव मार्मिक जीवंतता में प्रस्तुत करते हैं। कहानीकार द्वारा उसकी प्रस्तुति ही उस नई कतिपय अपरिहार्य 'सभ्यता' का प्रतिपक्ष है। वह अब संभव हो या न हो, यह अलग बात है, लेकिन वह प्रतिपक्ष अपने चरित्रों में दिखाते हैं।

प्रेमचंद रेणु से करीब दो दशक पूर्व हिंदी कहानी में युगांतकारी मोड़ दे चुके थे। आजादी पूर्व ग्रामीण जीवन की अनेक चुनौतियों और संघर्षों के साथ भारतीय समाज का व्यापक फलक उनके यहाँ मौजूद है। रेणु के यहाँ आजादी के बाद के गाँव हैं। जब औद्योगीकरण, मशीनी परिवर्तन और आधुनिकता ने गाँवों की ओर रुख किया था। गाँवों की विरासत और सांस्कृतिक पहचान बीत न जाए, यही यथार्थवाद के समानांतर कथा साहित्य में 'आंचलिकता' आने का एक बुनियादी कारण था। जिसके मानक कथाकार रेणु हैं। नई कहानी के अनेक ग्राम संवेदना के कहानीकार यथार्थवाद और आंचलिकता का परस्पर विरोध नहीं मानते। रेणु की कहानियाँ अपनी बुनावट, प्रकृति और कथा सौंदर्य में सर्वथा अलग पहचान के साथ आती हैं, जिन्हें 'आंचलिक' कहा गया था। प्रेमचंद यथार्थवादी कहानीकार हैं- आंचलिक नहीं, यह उनके समय की चिंता भी नहीं थी। ग्राम्य जीवन में परिवर्तन आजादी के बाद उपजी परिस्थितियों से बड़ी तेजी से हुआ। इस परिप्रेक्ष्य के साथ दोनों

कथाकारों की कथा-दृष्टि को समानांतर देखने से ही रेणु की कहानियाँ, प्रेमचंद की भूमि पर होते हुए भी उनके कथा-बोध से अलग रास्ता अखि़यार करती हैं। जो भिन्न रास्ता रेणु के समकालीन शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय ओर शेखर जोशी की कहानियाँ नहीं बनाती, जबकि आंचलिक संदर्भ उनके यहाँ भी कम नहीं हैं। उनकी कहानियों में आंचलिक स्पर्श होने के बावजूद संरचना और चेतना का स्तर बहुत कुछ प्रेमचंद के ही ज्यादा करीब है।

प्रेमचंद के बाद उनकी विरासत को यों तो अनेक कथाकारों ने नए आयाम दिए, पर रेणु ने इसे पहली बार मौलिक और नई पहचान दी। रेणु पाँचवें और विशेषतः छठे दशक में कहानी को सर्वथा अलग पहचान देते हैं। ज़ाहिर है यह दौर नई कहानी आंदोलन का समय है- जहाँ नगरी कथा के साथ आंचलिक और ग्राम कथा के नाम चले थे। प्रेमचंद और उनकी परंपरा के बहुत से कहानीकारों ने शोषण, उत्पीड़न और वर्ण व्यवस्था आधारित जातिगत भेद को यथार्थ बोध के अनेक स्तरों पर उभारा। रेणु के यहाँ अगर उसका तीव्र विरोध नहीं है, तो इसे उनकी सीमा नहीं मानना चाहिए। उनका मूल्यांकन उनके सृजन की अपनी मौलिक भूमि पर होना चाहिए। जो उनके यहाँ नहीं है, उसका रोना रोकर कमियाँ गिनाकर रेणु का सटीक मूल्यांकन नहीं हो सकता। रेणु अपनी कहानियों को ग्राम्य-यथार्थ के इन संघर्षों से सीधे टकराने नहीं देते या टकराते भी हैं तो बहुत हल्के। वे इस प्रक्रिया में एक नायाब अनुभव संसार की पुनर्सर्जना करते हैं। इसके रास्ते विपन्न और निचली मानी गई जाति-वर्ग के चरित्रों की परिवेशगत निष्ठा और मानवीयता से परिचित कराते हैं। अँचलों और आंचलिक चरित्रों की गहरी जानकारी उन्हें है।

उनकी कथा प्रकृति में मोहकता रेशे-रेशे में है। आंचलिकता का यथार्थ से स्वभावतः विरोध नहीं है, पर रेणु के यहाँ आंचलिकता कहानी का फार्म धर लेती है। यथार्थ भी आंचलिकता के साथ कभी-कभी सूक्ष्म स्तर पर सहवर्ती बनकर आता है, किसी वैचारिक चेतना के सीधे स्तर पर नहीं। रेणु इसी अर्थ में विशुद्ध आंचलिक कथाकार हैं- जिसकी कसौटी उनकी कहानियाँ पूरा करती हैं। रेणु की यह मौलिकता प्रेमचंदीय चेतना की विरोधी नहीं, उनके यहाँ अनुपस्थित का पूरक है। प्रेमचंद के बरअक्स रेणु की कथा-दृष्टि पर तुलनात्मक विचार इसलिए आवश्यक है कि इन दोनों ने गाँवों को केंद्र में रखा है। लेकिन, अपनी मौलिक और परस्पर अलग कथा दृष्टियों से देखा। प्रेमचंद ने अँचल या लोक संस्कृति के उपादानों को साधन रूप में अपनाकर स्वाधीनता पूर्व अपने प्रखर यथार्थ बोध से अपनी कहानियों की परिधि व्यापक बनाई। रेणु ने स्वाधीनता बाद बदल रहे ग्राम जीवन में व्यतीत हो चली स्थितियों को मार्मिकता से प्रस्तुत किया। रेणु ने आंचलिकता की संभव विविधताओं के साथ साध्य माना और संवेदना के विलक्षण संसार को कहानियों में रूपायित किया। ज़ाहिर है यह संसार उन कलाजीवी-हुनरमंद पात्रों के बिना निश्चय ही अधूरा रहता, जिनकी चर्चा यहाँ कुछ कहानियों के संदर्भों के साथ की गई है। रेणु जैसे चरित्र हिंदी कहानी में अन्यत्र दुर्लभ हैं। वे कारीगरों, दस्तकारों, शिल्पकारों, गायकी-नृत्य आदि के कलाजनित्र श्रम मूल्यों को पहचानने वाले कहानीकार हैं। जिनकी उपस्थिति लोक जीवन में राग और रंग भरकर सामाजिकी का अपरिहार्य सांस्कृतिक रूप हैं। रेणु की कहानियाँ लोक स्मृतियों के मानवीय इतिहास को अपने अविस्मृत चरित्रों के जरिए बार-बार जीवंत करती रहेंगी।

तेरे लिए लाखों के बोल सहे

पंकज साहा

विजयमोहन सिंह ने 'आज की कहानी' नामक पुस्तक में हिंदी कहानी का प्रस्थान बिंदु गुलेरी जी की कहानी 'सुखमय जीवन'(1911) को माना है। इसी संदर्भ में उन्होंने गुलेरी जी की दूसरी कहानी 'बुद्ध का काँटा'(1911-15) और तीसरी कहानी 'उसने कहा था'(1915) की भी चर्चा की है। पुस्तक का दूसरा लेख प्रेमचंद की कहानियों पर और तीसरा लेख मुक्तिबोध की कहानियों पर है। चौथे लेख में मोहन राकेश की कहानियों पर चर्चा है और लेख का शीर्षक है—'हिंदी कहानी का तीसरा व्यक्तित्व'। गुलेरी, प्रेमचंद और मुक्तिबोध में से हिंदी कहानी का पहला और दूसरा व्यक्तित्व कौन हैं, यह स्पष्ट नहीं है। मुक्तिबोध की कहानियों के प्रसंग में एक जगह वे लिखते हैं, 'प्रेमचंद और रेणु में हम भारतीय गाँवों का 'माइक्रोस्कोपिक' तथा 'मैक्रोस्कोपिक'—दोनों प्रकार के चित्र देखते हैं। लेकिन मुक्तिबोध की कहानियों के कस्बे और छोटे शहर? वे कौन-सा भारत दिखाते हैं ? वह भारत जो सबसे दयनीय और सबसे 'जानकार' है।'

उसके बाद तत्कालीन समस्त सुप्रसिद्ध कहानीकारों, यहाँ तक कि अ-कहानी पर भी विस्तार से चर्चा की गई है, सिवाय आंचलिक कहानियों के, सिवाय रेणु के। जबकि पुस्तक के दूसरे फ्लैप पर श्री गिरिधर राठी ने लिखा है, 'एक तरह से यह हिंदी कहानी की वर्णमाला है : प्रेमचंद से लेकर नई कहानी, अ-कहानी और साठोत्तरी कहानी का परिदृश्य।'

यह बहाना नहीं बनाया जा सकता है कि हिंदी कहानी की इस वर्णमाला में 'रेणु' नामक वर्ण गलती से छूट गया है। कारण काशीनाथ सिंह पर चर्चा करते हुए लेखक अत्यंत व्यंग्यात्मक लहजे में चुटकी लेते हुए कहता है, 'काशीनाथ सिंह मुख्यतः इसी विडंबनात्मक अतिनाटकीयता(मेलोड्रामा) के कहानीकार हैं। 'संकट' कहानी में यह विडंबना बड़े स्थूल ढंग से व्यक्त की गई है और उसमें 'रेणु ब्रंड' चुटकुलेबाजी भी है।'

विजयमोहन जी ने अपनी यह पुस्तक 'आधुनिक हिंदी कहानी के प्रथम समीक्षक डॉ. नामवर सिंह को' समर्पित की है। नामवर जी रेणु जी की प्रतिभा के अत्यंत कायल थे और उन्होंने उनके 'मैला आंचल' की काफी प्रशंसा भी की थी, परंतु उन्होंने उसपर कुछ लिखा नहीं और हिंदी कहानी पर विस्तार से चर्चा करने के बावजूद एक कहानीकार के रूप में रेणु जी की उपेक्षा की। मधुरेश जी के शब्दों में, 'सब कहीं उनका आग्रह कहानी की पाठ-प्रक्रिया के आधार पर कहानी की संपूर्णता पर केंद्रित था। नामवर सिंह द्वारा पाठ-विश्लेषण के लिए चुनी गई कहानियों पर आपत्ति हो सकती थी और वह हुई भी। भीष्म साहनी, अमरकांत, रेणु आदि महत्वपूर्ण कहानीकारों की लगभग उपेक्षा करते हुए उन्होंने निर्मल वर्मा को जिस तरह स्थापित किया, वह आज की उनकी आलोचना-विवेक का सर्वाधिक अंधेरा पक्ष है।'

'सारिका' में कुसुम अंसल ने सुरेंद्र तिवारी जी का साक्षात्कार लेते हुए एक सवाल

किया था, 'नामवर सिंह तो उन्हीं को लेखक मानते हैं, जिनको वे जानते हैं। अगर कोई उनसे परिचित नहीं है तो वह लेखक ही नहीं है। ऐसी सोच के लोग हिंदी में आलोचना के मानदंड का दंभ भरते हैं।'

इस पर सुरेंद्र जी ने कहा था, 'मुझे लगता है कि आलोचना का जो रूप बिगड़ा है, उसमें दूसरी बातों का ज्यादा महत्व है। पॉलिटिकल कमिटमेंट, आइडियोलोजी आदि के सिद्धांतों पर जो आलोचना होगी, वह सही आलोचना कैसे हो सकती है?'

सुरेंद्र जी की बात एक हद तक सही लगती है, क्योंकि हिंदी के दो बड़े आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा और डॉ. नामवर सिंह रेणु जी से परिचित थे। दोनों उनकी प्रतिभा के प्रशंसक भी थे, बावजूद इसके डॉ. नामवर सिंह ने उनकी उपेक्षा की और डॉ. रामविलास शर्मा ने तो रेणु जी के 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' की अपने कटु प्रहारों द्वारा धजियाँ उड़ाकर रख दी।

ऐसा नहीं है कि रेणु जी का कोई पॉलिटिकल कमिटमेंट या आइडियोलोजी नहीं थी। वे सोशलिस्ट पार्टी के सक्रिय कार्यकर्ता थे और नेपाल की मुक्ति के प्रथम संघर्ष में उन्होंने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया था। प्रकृति से वे अत्यंत विद्रोही व्यक्ति थे। राजनीति में सक्रिय भाग लेने के कारण 1952-53 में वे गंभीर रूप से बीमार पड़े। 1953 में स्वस्थ होने के बाद उन्होंने राजनीति छोड़ दी और अपना सारा जीवन साहित्य-सृजन में लगा दिया।

व्यापक रूप से भले ही जनवाद को देश और काल के संदर्भ में अलग-अलग रूप से पारिभाषित किया गया हो, परंतु सच तो यह है कि वर्तमान अर्थ में जनवाद की अवधारणा हर देश में पूँजीवाद के उदय के साथ अस्तित्व में आयी। हमारे देश में सन 1857 का सिपाही-विद्रोह हालाँकि तत्कालीन सामंतों एवं असंतुष्ट देशी राजाओं का ही विद्रोह था, लेकिन उसमें जनवादी चेतना थी, क्योंकि वह विद्रोह साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के विरुद्ध था।

इस तरह हम कह सकते हैं कि हिंदी-साहित्य में प्रगतिवादी दौर के बहुत पहले से ही लेखकों में

राष्ट्रीय एवं जनवादी चेतना मौजूद थी और यह बाद में भी रही। भले ही वे मार्क्सवादी नहीं थे, लेकिन जिनमें मानवीय मूल्यों के प्रति गहरी आस्था थी और जो देश की प्रगतिशील चेतना के रहनुमा थे। इनमें भारतेन्दु, प्रेमचंद, निराला, पंत, अमृतलाल नागर, शिवमंगल सिंह 'सुमन', दिनकर, भरतभूषण अग्रवाल, नेमिचंद्र जैन, अंचल, उपेंद्रनाथ अशक, कृष्ण चंदर, फणीश्वरनाथ रेणु प्रभृति अनेक कवि-लेखक थे, जिनकी समाज की प्रगतिशील शक्तियों एवं मानवता के प्रति पूरी सहानुभूति थी।

रेणु को आंचलिक कहानीकार की संज्ञा देकर उनकी जनवादी दृष्टि की आलोचकों ने प्रायः उपेक्षा की है। परंतु सच्चाई यह है कि जिस शोषित और पीड़ित वर्ग की पक्षधरता के लिए किसी रचना को जनवादी घोषित किया जाता है, 'रेणु की कहानियों में यह शोषित और पीड़ित जन सामान्य बहुत पहले ही प्रतिष्ठित हो चुका था। उनकी अधिकतर कहानियों के पात्र उस तबके के हैं, जो श्रमजीवी हैं और भरपूर श्रम के बावजूद खाली पेट रहना या अभावों में जूझते रहना जिनकी नियति है।'

'रसप्रिया', 'ठेस', 'सिरपंचमी का सगुन', 'पंचलाइट', 'लाल पान की बेगम', 'तीसरी कसम' आदि रेणु की ऐसी कहानियाँ हैं, जिनमें शोषित एवं आम आदमी की आशाओं-आकांक्षाओं, दुख-दर्दों, सपनों-संकल्पों को बड़े ही आत्मीय ढंग से चित्रित किया गया है। उनकी 'पंचलाइट' कहानी गाँव की सड़ी-गली राजनीति की जिंदा तस्वीर प्रस्तुत करती है। सामाजिक विसंगतियाँ, नीच जाति का दर्द आदि उनकी 'रसप्रिया' कहानी में चित्रित है। इस कहानी में नीच जाति का मिरदंगिया एक ब्रह्मण के बेटे को 'बेटा' कह देता है, तो वह मार खाते-खाते बचता है। उनकी 'तीसरी कसम' कहानी यों तो प्रेम की उदात्तता के लिए अत्यधिक चर्चित है, लेकिन इसमें नारी का शोषण भी दिखलाया गया है। कंपनी का मालिक हीराबाई का शोषण करता है। गरीब हिरामन उसे शोषण से मुक्त करना चाहता है, लेकिन वह अपने आपको मजबूर पाता है। इसी तरह उनकी अन्य

कहानियों में भी ग्रामीण जीवन, ग्रामीणों का शोषण एवं लेखक की हमदर्दी दिखलाई पड़ती है।

रेणु जी का पहला कहानी-संग्रह 'ठुमरी' 1959 में प्रकाशित हुआ था। इसकी कई कहानियों के अनुवाद अन्य भारतीय भाषाओं में हो चुके हैं। इसकी एक कहानी 'तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम' पर एक फिल्म भी बन चुकी है। यह फिल्म इतनी चर्चित हुई कि इसे राष्ट्रपति द्वारा 'स्वर्ण पदक' भी दिया जा चुका है। इस संग्रह की अन्य कहानियाँ भी अत्यंत उच्च कोटि की हैं। बावजूद इसके बटरोही जी द्वारा संपादित 'हिंदी कहानी के अठारह कदम' (वाणी प्रकाशन) पुस्तक में रेणु जी की एक भी कहानी को शामिल नहीं किया गया है। पुस्तक की भूमिका में 'स्वातंत्र्योत्तर कहानी-युग' शीर्षक के अंतर्गत बटरोही जी ने आंचलिक कहानीकारों की एक लंबी सूची दी है, जिसमें रेणु जी की सिर्फ 'तीसरी कसम' कहानी का नाम है, जबकि श्री विद्यासागर नौटियाल की तीन आंचलिक कहानियाँ—

'भैंस का कट्या', 'यह बामणपन टूटे' और 'फट जा पंचधार' के नाम उन्होंने गिनाये हैं। अगर आंचलिकता का होना किसी कहानी का दोष माना जाए, तो इस संग्रह में शामिल बंगमहिला की कहानी 'दुलाईवाली' और विद्यासागर नौटियाल की कहानी 'फट जा पंचधार' को शामिल नहीं करना चाहिए था। लेकिन उनका मंसूबा ऐसा लगता नहीं है। 'दुलाईवाली' को अधिकांश विद्वान हिंदी की पहली कहानी मानते हैं। उसमें आंचलिकता है। फिर भी, हिंदी कहानी के अठारह कदमों में उसे पहला कदम मानकर संपादक ने अगर उसे शामिल किया है, तो यह स्वागत-योग्य भी है। परंतु विद्यासागर नौटियाल जी की आंचलिक कहानी 'फट जा पंचधार' को इस संकलन में शामिल करना और रेणु जी की किसी भी कहानी, विशेषकर 'तीसरी कसम' को शामिल न करना संपादक का पक्षपातपूर्ण दुराग्रह लगता है। नौटियाल जी बड़े लेखक हैं और वे 1949 से कहानियाँ लिख रहे हैं, बावजूद इसके वे रेणु जी की तरह सुप्रसिद्ध नहीं हैं और न रेणु जी की तरह

उनका विशाल पाठक-वर्ग है। डॉ. नगेंद्र ने 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' पुस्तक में एक कहानीकार के रूप में कहीं भी उनका जिक्र नहीं किया है, जबकि रेणु जी की प्रशंसा वे इन शब्दों में करते हैं, 'रोमैंटिक यथार्थ का सर्वाधिक चटकीला, समग्र और आत्मीयतापूर्ण रंग रेणु की कहानियों में मिलता है। वे आदिम रसगंधों के कथाकार हैं। गाँव की धूल-माटी, आँगन की धूप, बैलों की घंटियाँ, धान की झुकी हुई बालियाँ, गमकता चावल, मेला-ठेला, हँसी-ठिठोली आदि के वर्णन में गाँव ही नहीं, पूरा अंचल उभर आता है। इस दृष्टि से 'लाल पान की बेगम' और 'तीसरी कसम' विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।'

इससे अधिक ताज्जुब की बात तो यह है कि हिंदी की सुप्रसिद्ध पत्रिका 'नवनीत' ने जनवरी, 2009 अंक में हिंदी की दस कालजयी कहानियों को प्रकाशित किया था। उसमें गुलेरी जी की 'उसने कहा था', प्रेमचंद की 'बालक', यशपाल की 'परदा' और 'फूलो का कुर्ता', सुभद्रा कुमारी चौहान की 'ग्रामीणा', अज्ञेय की 'शरणदाता', मन्नू भंडारी की 'स्त्री सुबोधिनी', उषा प्रियंवदा की 'वापसी', प्रभु जोशी की 'पितृऋण' और बाबुराव बागुल की 'जब मैंने जाति चुरायी' कहानियाँ शामिल हैं। आवरण कथा में सुप्रसिद्ध लेखक-आलोचक डॉ. रमेशचंद्र शाह का लेख 'कालजयी साहित्य की पहचान' और श्री आनंद प्रकाश दीक्षित का लेख 'सारा साहित्य कालजयी क्यों नहीं होता' हैं। ये दोनों बड़े लेखक हैं और जाहिर है दोनों ने मिलकर ही उपर्युक्त कालजयी कहानियों की पहचान की होगी। आज ग्यारह वर्षों के बाद उन्हें फिर से दस कालजयी कहानियों की सूची बनाने के लिए कहा जाएगा, तो लगता नहीं है कि वे जहाँ थे, वहीं अड़े रहेंगे। उपर्युक्त कहानियों में से कुछ कहानियों को वे जरूर छाँटेंगे, कुछ नया अवश्य जोड़ेंगे, लेकिन उनमें रेणु जी की कोई कहानी आ पाएगी, इसमें संदेह है। कारण यह है कि रमेशचंद्र शाह जी ने कालजयी कहानी के अनेक गुण बताने के बाद लिखा है, 'और अंतिम बात, जो मैं कहना चाहता हूँ वह यह कि जो रामचंद्र शुक्ल ने

‘बहुवस्तुस्पर्शिनी प्रतिभा’ की बात कही थी, वह भी एक कालजयी गुण है। विरोधों का सामंजस्य, हँसने और रोने की पराकाष्ठाओं को एक साथ प्रकट कर सकना एक विचित्र अद्वैत में, जो कि मनुष्य का जीवन है तथा बहुत सारी वस्तुओं को, बहुत सारी स्थितियों को, बहुत सारी बातों को एक साथ छू सकने की जो क्षमता होती है, वह कालजयी कहानी की क्षमता होती है।

रेणु-साहित्य की बात करें, तो उनके ‘मैला आँचल’ में उपर्युक्त सारे गुण हैं, पर यहाँ चर्चा उनकी कहानियों की हो रही है। उनकी ‘ठुमरी’ की सारी कहानियाँ चाहे वह ‘रसप्रिया’ हो, चाहे ‘तीर्थोदक’, चाहे ‘ठेस’, ‘पंचलाइट’, ‘सिर पंचमी का सगुन’, ‘लाल पान की बेगम’, ‘नित्य लीला’ या ‘तीसरी कसम’। इनमें एक अद्भुत स्वयंभू नाद है। इसकी सारी कहानियों में आंचलिकता का संगीत है, जो ठुमरी गायन की तरह पाठकों को रस से सराबोर कर देता है। ‘रेणु का पाठक कहानी पढ़ता नहीं, देखता है।

एक-एक ध्वनि, एक-एक गंध, एक-एक रंग को महज महसूस करता हुआ उसे जीता है, उसके गहरे अर्थों को जानकर चकित होता है।

रेणु जी का दूसरा कहानी-संग्रह ‘आदिम रात्रि की महक’(1967) में चौदह कहानियाँ हैं एवं तीसरा कहानी-संग्रह ‘अग्निकोश’(1973) में ग्यारह कहानियाँ हैं। इनके अलावा डॉ. भारत यायावर ने रेणु जी की कुछ अप्रकाशित कहानियों को क्रमशः ‘एक श्रावणी दोपहरी की धूप’(1984), ‘अच्छा आदमी’ (1986) एवं ‘प्राणों में घुले हुए रंग’(1991) नाम से प्रकाशित करवाया है, जिनमें रेणु जी की लगभग बत्तीस कहानियाँ हैं। उनकी समस्त कहानियों में जो कॉमन बात है, वह है अपने अंचल एवं उसके आस-पास के निम्न वर्ग के लोगों, शोषितों की आशा-आकांक्षाओं को लेकर उनके सुख और हित के लिए समाज में चेतना जगाना। उनके अंचल के समाज का हृदय निम्न वर्ग है। उनके अंचल का प्राण इसी निम्न वर्ग में निवास करता है। भारतीय इतिहास के आदिमकाल से भारतीय समाज का निम्न वर्ग शूद्र वर्ण है। आज के औद्योगिक

युग में निम्न वर्ग के अंतर्गत किसान-मजदूर भी आ गए हैं।

रेणु जी की सारी चिंता, सारी हमदर्दी इन्हीं लोगों के लिए है। फिर भी, ‘ठुमरी’ के समर्पण पृष्ठ पर उन्होंने अत्यंत दुखी होकर लिखा था—‘तेरे लिए—मैंने लाखों के बोल सहे।’

प्रश्न यह है कि आखिर रेणु को यह दुख क्यों प्रकट करना पड़ा? क्या इसलिए कि उन्होंने अंचल विशेष की व्यथा-कथा को अंचल विशेष की भाषा में व्यक्त किया था, इसीलिए आलोचकों ने उन्हें महत्व नहीं दिया?

भारतीय साहित्य की परंपरा के अनुसार कथा का नायक कोई वीर व्यक्ति ही हो सकता है, क्योंकि हमारा देश वीर-पूजक है। रेणु जी की कथाओं का नायक कोई वीर व्यक्ति नहीं, बल्कि अंचल है। भाषा भी उनकी आंचलिक है और उसमें किसी प्रकार का छल नहीं है। ‘आंचलिकता की विशिष्ट भाषा साहित्यिक भाषा की भाँति बँधी हुई न होकर खुली हुई जनभाषा होती है।’

विलियम वड्सवर्थ ने भी काव्य-भाषा के संबंध में लिखा था कि वह जन साधारण की भाषा हो। आरंभ में जन साधारण की भाषा से उनका तात्पर्य लोक-भाषा (rustic language) से था, परंतु बाद में जब वे कहते हैं कि भाषा ‘Selection of the real language of men’(मनुष्यों की वास्तविक भाषा से चुनाव) होनी चाहिए, तो ‘Selection’ शब्द द्वारा वे स्पष्ट कर देते हैं कि लोक-भाषा का प्रयोग काव्य में ज्यों-का-त्यों न किया जाए, उसमें चुनाव होना चाहिए।

लेकिन डॉ. भारत यायावर का कहना है कि ‘रेणु के रचनाकार मन में लोक-भाषा जो वस्तुतः गाँव के लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषा है, के प्रति बेहद लगाव है। किंतु वे इसे वहाँ से निकालकर खड़ी बोली हिंदी में रचित अपनी कहानियों में प्रयोगकर व्यापक सम्मान देने के हिमायती हैं। दूसरे शब्दों में कहें, तो वे गाँव की चेतना को शहर से जोड़ना चाहते हैं। लोक-जीवन की भाषा के प्रति उनकी आंचलिकता केवल क्षेत्र विशेष तक ही सीमित नहीं

है, बल्कि क्षेत्र विशेष को वे राष्ट्रभाषा में अभिव्यक्त कर राष्ट्रीय स्वरूप देना चाहते हैं।'

परंतु अधिकांश आलोचकों ने उनकी आंचलिक भाषा पर दुरुहता का आरोप लगाकर उनकी कथाओं को खारिज कर दिया था। इस बात को लेकर रेणु अत्यंत दुखी थे।

रेणु जी का दूसरा दुख यह था कि वे बिहार के थे। उन दिनों बनारस और इलाहाबाद हिंदी के बड़े मठ थे। बनारस और इलाहाबाद में बिहारियों को बहुत सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। यही कारण है कि हिंदी-साहित्य में बिहार के अत्यंत प्रतिभाशाली लेखकों को समुचित स्थान नहीं मिल सका। रेणु के अलावा सर्वश्री शिवपूजन सहाय, रामवृक्ष बेनीपुरी, राधाकृष्ण, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, नेपाली, नलिन विलोचन शर्मा, जानकी वल्लभ शास्त्री, मोहनलाल महतो 'वियोगी' प्रभृति अनेक साहित्यकार हैं, जो आज भी उपेक्षित हैं। नागार्जुन की भी शुरु में बहुत उपेक्षा की गई। बहुत बाद में उन्हें साहित्य में प्रतिष्ठा मिली। दिनकर जी ने अगर अपनी कलम को स्वाधीन रखा होता, तो शायद

वे भी नेपाली जी और रेणु जी की कतार में होते।

रेणु जी तीसरा दुख कुछ ज्यादा गहरा है।

'मैला आँचल'(1954) की ख्याति से जल-भुनकर कबाब बने बिहार के ही कुछ 'नवाब' लेखक सर्वत्र उनकी निंदा यह कहकर करने लगे कि 'मैला आँचल' रेणु का नहीं, किसी दूसरे का लिखा हुआ है; कि 'मैला आँचल' एक बांग्ला उपन्यास की नकल है; कि रेणु अच्छा आदमी नहीं है, वह पागल है, चरित्रहीन है; कि रेणुआ बैकवर्ड है; कि रेणु ने अपनी एक पत्नी की हत्या कर दी है, इत्यादि-इत्यादि।

लेकिन रेणु अवधूत की तरह अडिग रहे और अपने अंचल के प्रति प्रेम को निर्विकार भाव से प्रस्तुत करते रहे। कमलेश्वर जी ने उनके संदर्भ में ठीक ही लिखा है, 'रेणु के व्यक्तित्व के दो पहलू बहुत मिलते-जुलते हैं—उनकी कृतियों में आस्था का स्वर और उसके अपने जीवन की आस्थापूर्ण दृष्टि। एक जीवन है, जो संस्कार से उसे मिला है और उसे वह पूर्ण आस्था से जी रहा है। इस जीवन-आस्था के प्रकाश में रेणु ने 'लाखों के बोल सहे हैं।'

संपर्क : डॉ.पंकज साहा, एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी-विभाग, खड़गपुर कॉलेज, खड़गपुर-721305
(प. बंगाल), मोबाइल : 9434894190

रेणु की कहानियों से कुछ नोट्स

संजय कुमार सिंह

बचपन की स्मृतियों के बारे में सोचें तो रोमांच दो चीजों से होता था - एक फिल्म के हीरो को रूपहले पर्दे पर देखकर और दूसरा साहित्यकारों के बारे में सोचकर। दोनों हमारी पकड़ से दूर थे। इंटरनेट, टी.वी. और मोबाइल का जमाना तो था नहीं। बस स्मृति और कल्पना के सहारे उनके बारे में कुछ अनुमान करना दूर की कौड़ी बटोरने जैसा था। फिल्मी हीरो-हीरोइन को छोड़ दें, तो गाँव की पाठशाला में मनोहर पोथी के बाद सबसे प्रिय पाठ 'रानी, मदन और अमर' था। इसके बाद 'ईदगाह' 'हीरा-मोती' 'रक्षा में हत्या' आदि।... पहली बार 'सुभान खाँ' और 'ठेस' जैसी कहानियों को पढ़कर लगा कि इस आदमी को हम जानते हैं। कहीं हमारे अगल-बगल में रहता है। हमारे घर आता-जाता है। खासकर सिरचन को हमने शीतल पाटी अथवा खटिया बुनते हुए देखा था, ठीक उसी तरह जैसे मेला के लिए ललकते हामिद को।

इन कहानियों में हमारा देश-काल था। हमारे गाँव की मिट्टी के चटक रंग थे। हमारे अपने संवेदन और संस्कार की छायाएँ थीं-

"गाड़ी आई। सामान चढ़ा कर मैं दरवाजा बंद कर रहा था कि प्लेटफॉर्म पर दौड़ते हुए सिरचन पर नजर पड़ी - 'बबुआजी!' उसने दरवाजे के पास आ कर पुकारा।

'क्या है?' मैंने खिड़की से गर्दन निकाल कर झिड़की के स्वर में कहा। सिरचन ने पीठ पर लादे हुए बोझ को उतार कर मेरी ओर देखा - 'दौड़ता आया हूँ... दरवाजा खोलिए। मानू दीदी कहाँ हैं? एक बार देखूँ!'

मैंने दरवाजा खोल दिया।

'सिरचन दादा!' मानू इतना ही बोल सकी।

खिड़की के पास खड़े हो कर सिरचन ने हकलाते हुए कहा, 'यह मेरी ओर से है। सब चीज है दीदी! शीतलपाटी, चिक और एक जोड़ी आसनी, कुश की।'

गाड़ी चल पड़ी।

मानू मोहर छापवाली धोती का दाम निकाल कर देने लगी। सिरचन ने जीभ को दाँत से काट कर, दोनों हाथ जोड़ दिए।

मानू फूट-फूट रो रही थी। मैं बंडल को खोल कर देखने लगा - ऐसी कारीगरी, ऐसी बारीकी, रंगीन सुतलियों के फंदों का ऐसा काम, पहली बार देख रहा था।' (ठेस।)

यह वही सिरचन है, जो जरा सी बात पर रूठ कर चला गया था। लाख मनाने पर आया भी नहीं था, पर गाँव की बेटा का मान बातों की ठेस से बड़ा होता है। सिरचन जैसा कलाकार इस बात को नहीं जानेगा, तो कौन जानेगा। एक गमकौआ जर्दा की बात पर किसी कलाकार को नहीं तौला जा सकता, जितनी महान उसकी कला होती है, उससे भी महान उसका हृदय। कहानी का अंत पूरे गाँव-समाज की सांस्कृतिक परंपरा का निर्वहन करता है। रेणु के इस पात्र के मर्म का उद्घाटन मानू दीदी के मुँह सुन कर मुझे तो कम से कम उतना अचरज नहीं हुआ।

रेणु की 'पंचलैट' अँधेरे से प्रकाश में आने की कहानी है, पर उसका जलना हमारे लिए उत्सव था, गीत और नृत्य सब! हमारे भीतर का उछाह!

"पंचलैट जलने पर सभी लोगों में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई प्रपंच गोधन को पुनः जाति में ले लेते हैं। कीर्तनिया लोगों ने एक स्वर में महावीर स्वामी की जय-ध्वनि की। कीर्तन शुरू हो गया। गोधन ने सबका दिल जीत लिया। मुनरी ने भी प्रेम-दृष्टि से उसकी ओर देखा। सरदार ने गोधन से कहा कि तुम्हारा सात खून माफ़। अंत में गुलरी काकी ने गोधन को रात के खाने पर बुलाया।" (पंचलैट।) यह कोई रचनाकार था, जो हमारे बीच से था। हमारे जीवन के हर रंग को जानता था। हमारी आत्मा की मधुर-ध्वनि से उसका तार जुड़ा हुआ था। वह जान जाता था कि अब हमारे भीतर क्या होने वाला है। दादी-नानी की कहानी के करीब था संवदिया कहानी के हरगोबिन का विवेक। वह नैहर में बड़ी बहू की लाज छिपा जाता है। उसका मूल संवाद से भटकना हमें अच्छा लगता है, लगता है जैसे दादी-नानी की कहानियों का सुपात्र है, जो बिना

कहे सब कह देता है और सब छिपा भी जाता है। जरा सुनिए हरगोबिन का संवाद।

रेणु की कहानियों का लोक, कल्प-लोक नहीं है, वह हमारे जीवन का अविभाज्य हिस्सा है। हमारी लोक-संस्कृति का परिचित परिसर है। इसी वजह से गुलाबबाग मेला की नौटंकी उस कहानी को हमारे लिए और आत्मीय बना जाती है, जिसकी बाई जी को हिरामन नामक का गाड़ीवान गाड़ी में लाता है। यह उस कौतूहल और जिज्ञासा को हवा देता है। हमें लगता है यह जादूगर जो हमारे गाँव-घर की बात को रचता है गजब का है। दिल का चोर है। होठों की लाली और नैनो का सूरमा चुराने वाला। 'लालपान की बेगम' में आर्थिक संपन्नता से उपजी खुशी मेले के बहाने कैसे छलकती है- 'बिरजू को गोद में ले कर बैठी उसकी माँ की इच्छा हुई कि वह भी साथ-साथ गीत गाए। बिरजू की माँ ने जंगी की पुतोहू को देखा, धीरे-धीरे गुनगुना रही है वह भी। कितनी प्यारी पुतोहू है। गौने की साड़ी से एक खास किस्म की गंध निकलती है। ठीक ही तो कहा है उसने। बिरजू की माँ बेगम है, लाल पान की बेगम। यह तो कोई बुरी बात नहीं। हाँ, वह सचमुच लाल पान की बेगम है!।'

आह! केवल पाँच मृदंगिया का श्रृंगार वह नहीं कर पाता उस राग-अनुराग से, पर वह क्या करेगा विदापत नाच उठ गया। लोक-संस्कृति की जमीन ढह गई-

"पंद्रह-बीस साल पहले तक विद्यापति नाम की थोड़ी पूछ हो जाती थी। शादी-ब्याह, यज्ञ-उपनयन, मुंडन-छेदन आदि शुभ कार्यों में विदपतिया मंडली की बुलाहट होती थी। पंचकौड़ी मिरदंगिया की मंडली ने सहरसा और पूर्णिया जिले में काफी यश कमाया है। पंचकौड़ी मिरदंगिया को कौन नहीं जानता! सभी जानते हैं, वह अधपगला है!

...गाँव के बड़े-बूढ़े कहते हैं - 'अरे, पंचकौड़ी मिरदंगिया का भी एक जमाना था!'"(रसप्रिया।)
जो रे जमाना!

कहना नहीं होगा कि रेणु की कहानियों की लोक-संवेदना का सम्मोहन उनके पाठकों के हृदय के तार को झंकृत कर देता है, यथार्थ गहरे में उतरने के बाद हमारे अंदर अलग से अपना आकार लेता है, वह चाहे बड़ी बहू की आर्थिक तंगी हो या एक कलाकार का चटोरपन, मृदंगिया की दुर्दशा, पहलवान की ढोलक' की त्रासदी हो या 'पंचलैट' का पिछड़ापन। रेणु प्रकारांतर से हमारे अवधान में इन चीजों को लाते हैं। इसलिए उनकी कहानियाँ अपनी रूपात्मक अभिव्यंजना में बहुपरतीय होती हैं। यथार्थ को यानि अपने युग संघर्ष को उनकी कहानियाँ ओझल नहीं करती। रेणु की कहानियों में हरगोबिन और सिरचन जैसा कोई दूसरा पात्र नहीं, जो गाँव की मान-मर्यादा और इज्जत की रक्षा करता हो। ये डिग्रीधारी एलीट क्लॉस के लोग नहीं बल्कि ग्रामीण संस्कार और मूल्य-बोध से निर्मित साधारण लोग हैं, जिनमें मानवता का मान ऊँचा है। गाँव उनकी कहानियों का आकर्षण है, विकर्षण नहीं। हिरामन में भी गाँव से नहीं बाजार से मोहभंग दिखता है-

"लालमोहर ने हिरामन को समझाने की कोशिश की। लेकिन हिरामन ने अपनी गाड़ी गाँव की ओर जानेवाली सड़क की ओर मोड़ दी। अब मेले में क्या धरा है! खोखला मेला!"

'विघटन के क्षण' में चुरमुनिया की पीड़ा से एकाकार विजया की मनोदशा देखिए-

"विजया भी गाँव छोड़कर जाना नहीं चाहती है। जब से गाँव छोड़कर जाने की बात तय हुई है, वह अंदर ही अंदर फूट रही है, रजनीगंधा की डंठल की तरह। वह पटना नहीं जाना चाहती है,

इसी गाँव में रहना चाहती है। यहाँ माँ-बाबूजी की याद आती है। कलेजा टूक-टूक होने लगता है, तो इमली का बूढ़ा पेड़, बाग-बगीचे, पशु-पक्षी सभी उसे ढाँढ़स बंधाते हैं। एक अदृश्य आँचल सिर पर हमेशा छाया रहता है। यहाँ आते ही लगता है बाबूजी बाग में बैठे हैं, माँ रसोई में खाना बना रही है, इसीलिए मामा का गाँव कभी नहीं भाया उसे। वह बाप के डिह पर टूटी मड़ैया में भी सुख से रहेगी।" (विघटन के क्षण।)

'भित्तिचित्र की मयूरी' कहानी की पृष्ठभूमि के बारे में रेणु जी के ज्येष्ठ पुत्र पद्म पराग वेणु का कथन गाँव के प्रति रेणु के दृष्टिकोण को व्यक्त करता है, जहाँ लोक-संवेदना के सांस्कृतिक रंगों के प्रति गहरा लगाव उनमें दिखता है-

"मैला आँचल की धूल में कई अनमोल रतन मिलेंगे। यहाँ कच्चे घरों में चले जाइये तो भित्ति चित्रों का खजाना मिलेगा। मोर, हंस, केला के वृक्ष, मछली, शंख व कई अन्य कलाकृतियाँ। लेकिन इन भित्तिचित्रों की असल मयूरी रेणु के गाँव औराहीं हिंगना में रहती थी, जो कथाशिल्पी फणीश्वरनाथ रेणु की सगी बहन थी। जिसका नाम महथी देवी थी। लगभग 80वर्ष की थी। वो अब इस संसार में नहीं रहीं। रविवार की देर रात सब कुछ छोड़ दुनिया से सदा के लिए उड़ गई और पीछे छोड़ गई केवल अपनी कीर्ति। कहा जाता है कि रेणुजी ने यँ ही अपनी कहानी 'भित्ति चित्र की मयूरी' नहीं लिख दी थी। इस कहानी के पीछे का सच महथी ही थी। महथी के पास लोकजीवन की संवेदनाओं का अनूठा भंडार था। रेणु की इस मयूरी के बोलने के बाद यह भी समझ में आया कि उन्होंने अपनी रचना 'मैला आँचल' व 'परती परी कथा' में जिन गीतों का प्रयोग किया वे कहाँ से आए। महथी देवी के पास लोक संस्कृति व मानव मन की संवेदना से

जुड़े सैकड़ों गीत थे और वे विगत पचास बरस से गाँव की गलियों में इनके संरक्षण में लगी थी। बेटी की विदाई, ससुराल में रह रही नव दुल्हन की पीड़ा, लड़के की शादी सहित जीवन के विभिन्न अवसरों को महथी ने न केवल अपने स्वर से साकार किया बल्कि उन्हें दीवाल पर चित्रित करने में सफल रही थी। बाबूजी ने अपनी कहानी 'भित्ति चित्र की मयूरी' महथी दीदी पर ही लिखी थी। इतना ही नहीं, वे शादी-ब्याह के मौके पर गाँव टोले में कोहवर भी बनाती थी। उन्होंने गाँव की कई महिलाओं को चित्र बनाने की कला भी

बताई। उनकी चित्रकारी व गीतों में सामाजिक संस्कार की झलक मिलती है।”

आकस्मिक नहीं कि कहानी के कथ्य पात्र-चरित्र और नए टटके शब्दों की तलाश में रेणु गाँव आते हैं। गाँव और वहाँ के लोगों का जीवन, उनकी भाषा-संस्कृति, दुख-सुख, राग-विराग, संघर्ष और तनाव उनके लेखन का उपजीव्य है। उनका समस्त साहित्य इस अर्थ में विलक्षण है, जहाँ गाँव उनके कहानीकार द्वारा साहित्य के कैनवास पर अद्भुत आत्म-राग और विश्वास से रचा जाता है।

संपर्क : प्रिंसिपल, पूर्णिया महिला कॉलेज, पूर्णिया-854301, मो. : 9431867283

समय और समाज का सच

रीता चौधरी

आधुनिक कथा साहित्य में नई उभर रही प्रवृत्तियों और आंदोलनों, जिसके केंद्र में कहीं न कहीं मध्यवर्ग ही था के बावजूद कथाकार फणीश्वरनाथ रेणु हिंदी कथा साहित्य में एक ऐसा नाम हैं, प्रवृत्तियों से इतर ग्रामीण संवेदना को अपनी कथा का आधार बनाया। उस दौर में ग्रामीण जीवन का जैसा जीवंत चित्रण रेणु ने किया उसका कोई विकल्प नहीं हो सकता। रेणु ने स्वतंत्रता पूर्व और पश्चात दोनों दौर तथा गाँव एवं शहर दोनों तरफ की सामाजिक स्थितियों को देखा और महसूस किया था। उनका नाता ग्राम और शहर दोनों से रहा है। ग्राम में रहते समय वे ग्रामीण वेश-भूषा में ढल जाते थे और फिर शहर लौटते समय शहरी मुखौटा ओढ़ लेते थे। चूंकि ग्राम रेणु की अस्थिमज्जा में रचा-बसा था, इसलिए वह उनको अपनी ओर ज्यादा आकर्षित करता है, रहन-सहन से लेकर रचने तक, लेकिन ऐसा भी नहीं है कि शहर उनकी रचनाओं में नहीं है। साहित्य के पाठकों के लिए रेणु का मतलब है 'मैला आँचल', रेणु मतलब 'तीसरी कसम', 'लालपान की बेगम', 'संवदिया', 'रसप्रिया', लेकिन इसका मतलब यह कतई नहीं है कि इसके इतर उनका कथा साहित्य कम महत्वपूर्ण है। बात ऐसी है कि किसी रचनाकार की कोई भी रचना जब प्रसिद्ध होती है अथवा जब किसी रचनाकार को हम उसकी किसी प्रसिद्ध रचना की प्रसिद्धि से याद करते हैं तो उस समय हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि वह अचानक से प्रसिद्ध नहीं हो गया या कोई भी रचना अचानक से प्रौढ़ता या परिपक्वता को प्राप्त नहीं कर लेती है। उस प्रसिद्धि के पीछे या यूँ कहें कि नींव रूप में बहुत कुछ पहले ही रचा जा चुका होता है और प्रारंभिक दौर में रची गई रचनाओं का विकसित रूप ही आगे की रचनाओं में दिखाई देता है। इस बात को हम आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के आदिकालीन संबंधी विचार से समझने का प्रयास कर सकते हैं। 'परवर्ती शताब्दियों में जो प्रवृत्तियाँ अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुई हैं उनमें बहुत-सी ऐसी हैं जिनका बीज दशवीं शताब्दी से बहुत पहले पड़ चुका था। 'यही अवधारणा रेणु की रचनाओं के लिए भी अपनाया चाहिए। उनकी प्रारंभिक कहानियों की चिंताएँ, व्यथा एवं सामाजिक-आर्थिक विडंबनाएँ ही आगे की कहानियों में भी विस्तार पाते हैं, यही की प्रारंभिक कहानियों में व्यथाओं के साथ-साथ जो आशाएँ मौजूद थी, बाद में वे निराशाओं में बदल जाती हैं। किसी रचनाकार की प्रसिद्धि या प्रासंगिकता इसी बात पर निर्भर करती है कि उसका काल बोध कितना सशक्त रहा है। रेणु की रचनाएँ इस दृष्टि से शत-प्रतिशत खरी उतरती हैं।

रेणु की प्रसिद्धि उनके अनूठेपन में है। अनूठापन इस दृष्टि से कि उनकी अत्यधिक कथाएँ व्यक्ति विशेष न होकर स्थान और परिस्थिति-विशेष होती हैं। रेणु की प्रथम कहानी 'बट बाबा' में कथाकार ने ग्रामीण जीवन और संवेदना का चित्र उकेरा है। यह कहानी है सपने और आस्थाओं के टूटने-सूखने की, यह कहानी है स्वतंत्रता पूर्व की

भयावह दृश्य की। गाँव की संस्कृति की खासियत यही होती है कि उसका समाज केवल और केवल वहाँ के लोगों से ही नहीं बनता बल्कि उस समाज में पेड़-पौधे, पशु-पक्षी सभी समान रूप से मिले-जुले रहते हैं। किसी भी वस्तु या जीव से उनका नाता लाभ-हानि का न होकर सुख-दुःख का होता है, आस्था और प्रेम का होता है, तभी तो बट बाबा के सूख जाने और फिर उसके काटे जाने पर पूरे गाँव का कलेजा मुँह को आने लगता है। जीवन के सोलहों संस्कार का साक्षी गाँव की सड़क से सटा वह वट वृक्ष, गाँव वालों के लिए केवल वृक्ष न होकर उनकी आस्था का प्रतीक था, एक मिथकीय दास्ताँ। उनका यह मानना कि बड़कवा बाबा के सूख जाने पर अब यह दुनिया नहीं बचेगी, इसको हम बहुत अधिक वैज्ञानिक ढंग से सोचने और व्याख्यायित करने में लग जाए तो यह रेणु की इस कहानी और तमाम तरह की ग्रामीण संवेदनाओं, आस्थाओं के साथ बेमानी होगी। बट वृक्ष के सूख जाने से चिंतित गाँव वालों की चिंता को अगर हम वर्तमान के पर्यावरण विमर्श से भी जोड़ने का प्रयास करेंगे तो बहुत ठीक-ठीक नहीं बैठता। ग्रामीण संवेदनाओं, भावनाओं और आस्थाओं को हम इस तरह के टेक्नीकल शब्दों में न ही बाँधे तो बेहतर होगा। ऐसा नहीं है कि केवल गाँव वाले वृक्ष के सूखने से शोकाहत हुए हैं, बल्कि वह वृक्ष भी उनकी दयनीय दशा पर रोता सिसकता रहा है। “वह उन्नत-मस्तक विशाल पेड़ प्रतिदिन सवेरे मटमैले अंधकार में, गाँव के आँगन-आँगन में दृष्टि दौड़ाकर, पूर्व क्षितिज पर न जाने क्या देखकर एक बार सिहरता-सिसकता, फिर टप-टप आँसू बहाकर शांत हो जाता। “रेणु की यही तो खासियत है कि वे कथा में कथा को पिरोना जानते हैं। ‘बट बाबा’ की बात करते-करते गाँव की बदहाली को कितनी बारीकी से बताते चले जाते हैं। ‘बट बाबा’ तो इस गाँव की चिंता में सूख गए क्योंकि ‘एक ज़माना था, जब प्रत्येक शाम को उसके नीचे दिवाली की बहार रहती थी।...किंतु इधर कई वर्षों से तो बस सहुआइन का दीपक ही थोड़ी देर तक टिमटिमाकर बुझ जाता।’

बैशाख की कड़कड़ाती अग्निधूप से जलकर सूखे इस विशाल वृक्ष को देखकर मालूम होता है कि ‘मानो भय से हार्ट-फेल करके मरे हुए विकराल राक्षस के कंकाल को खड़ा कर दिया गया है।’ ग्रामीण आस्था, करुणा, लाचारी और बदहाली की इस कहानी का मर्म भीतर तक व्यथित कर जाता है। एक जगह कथाकार कहते हैं कि ‘वह देवता था हिंदुओं का भी, मुस्लिमों का भी। इधर कई वर्षों से मुसलामानों ने पूजा-पत्तर छोड़ दिया है। मौलवी साहब एक आए थे, उन्हीं के कहने से।’ स्वतंत्रता पूर्व और पश्चात की परिस्थितियों से हम नावाकिफ नहीं हैं, आजादी किस कीमत पर मिली हम यह भी जानते हैं। रेणु ऐसे कथाकार हैं जो परिस्थितियों को प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त करने में गजब की भाषाई ताकत रखते हैं। ‘बट बाबा’ कहानी को पढ़ते हुए एक बात जेहन में यह भी आती है कि कहीं यह बट बाबा वही तो नहीं है जिसके विचारों के प्रतीकों की हत्या आगे चलकर ‘मैला आँचल’ उपन्यास में चित्रित है या फिर जिसके विचारों की हत्या आए दिन हर रोज हर क्षण की जा रही है।

ऐसी ही एक कारुणिक कहानी है ‘पहलवान की ढोलक’। वर्तमान समय में संपूर्ण विश्व एक भयावह महामारी के दौर से गुजर रहा है। साधारण-जनो में त्राहि-त्राहि मच गई, लोग बिन मौत मारे गए; अब भी मर रहे हैं, कुछ महामारी से तो बहुत सत्ता और प्रशासन की लापरवाही-असंवेदनशीलता के कारण। इस कहानी में महामारी की भयावह स्थिति के साथ-साथ राजपरिवारों की बदलती नीतियों की मार झेलती निचली जाति के दरबारियों की भी है। महामारियों का इतिहास जितना पुराना रहा है, उतना ही पुराना राजसत्ता की असंवेदनशीलता उदासीनता का भी इतिहास रहा है। ऐसी ही महामारी मलेरिया है जिसका भयावह दृश्य प्रस्तुत करते हैं रेणु, अपनी कहानी ‘पहलवान की ढोलक’ में। गाँव पर अकस्मात व्रजपात हुआ। पहले अनावृष्टि फिर अन्न की कमी, और फिर मलेरिया और हेजे ने मिलकर पूरे गाँव को भूना शुरू कर दिया। गाँव प्रायः सूना

होता चला गया, हर रोज दो-तीन लाशें। स्थिति यह कि कफ़न तक के पैसे के अभाव में लाशों को नदियों में फेंकना पड़ रहा था। मलेरिया और हैजे से पीड़ित गाँव भयार्त शिशु की तरह थर-थर काँप रहा था। पुरानी और उजड़ी, बाँस-फूस की झोपड़ियों में अंधकार और सन्नाटे का सम्मिलित साम्राज्य। अँधेरा और निस्तब्धता। महामारियाँ ऐसे ही निस्तब्ध कर दिया करती हैं। गाँव का पहलवान जो पहलवानी में सदैव अजेय रहा, वह भी इस महामारी से जीत न पाए। दोनों पहलवान बेटों की लाश नदी में बहाने के चार-पाँच दिन बाद एक रात उसके ढोलक की आवाज भी बंद हो गई, वही ढोलक जिसकी आवाज अकेले रात्रि के समय गाँव की विभीषिका को चुनौती देती रहती थी, जिसे उसने अपना गुरु माना था, जिस ढोलक की थाप ने उसे जीवन के सारे गुर सिखाए थे। पहलवान ने अपने शिष्यों को कहा था कि 'जब मैं मर जाऊँ तो चिता पर मुझे चित नहीं, पेट के बल सुलाना। मैं जिंदगी में कभी 'चित' नहीं हुआ। और चिता जलाते समय ढोलक बजा देना।' लेकिन सियारों ने तो उसकी सुगठित बायीं जाँघ को खाने के साथ-साथ उसके ढोलक को भी 'भक्ष्य-पदार्थ' समझकर उसके चमड़े को फाड़ डाला था। हाँ, सियारों की प्रवृत्ति ही ऐसी ही होती है कि जहाँ से भी माँस की महक आए, वे उसे नोच-खसोट लेते हैं और यह प्रवृत्ति जंगलों में निवास करने वाले केवल जंगली जानवरों में ही नहीं होती, आदमियों की एक जमात भी इस प्रवृत्ति का पोषक होती है। और यह जमात प्राकृतिक आपदाओं के समय भी नोच-खसोट की प्रवृत्ति का त्याग नहीं कर सकती। 'मैला आँचल' उपन्यास में भी महामारी की मार दिखाई है रेणु ने।

महामारियों का प्रकोप और उसकी व्यथा इतनी पीड़ादायी और भयावह होती है कि किसी भी संवेदनशील मनुष्य को वह लंबे समय तक व्यथित करती रहती है। रेणु के साथ भी यही था, इसलिए ये महामारियाँ उनकी कथाओं में लगातार उतराती-डूबती रही हैं। कहानी 'इतिहास-मजहब और आदमी' में भी कथाकार ने हैजा और मलेरिया प्रभावित गाँव

की मार्मिक अभिव्यक्ति की है। जहाँ भूख और रोग ने संयुक्त मोर्चा खोला हुआ था। भूख और रोग के साथ-साथ यह कहानी सामाजिक-आर्थिक विषमताओं की कारुणिक कथा की भी अभिव्यक्ति है। जमींदारों की उस लूट की षड्यंत्र वाली प्रवृत्ति और प्रथा के कारण गाँव की गरीब-मजबूर जनता कैसे जार-बेजार हो रही थी, उसी का कारुणिक दृश्य है कहानी में। इस 'सत्यानाशी प्रथा को कायम रखने के लिए जमींदारों ने क्या-क्या नहीं किया।' दिवाली के दिन एक त्यौहार मनाया जा रहा था। मनमोहन के उस बड़े से घर में, जहाँ साफ-सफाई की जा रही है केले के पौधे गाड़े जा रहे हैं, कंदीलें बनाई जा रही हैं। जिस सजावट को गाँव के रुग्ण-नग्न भूखे बच्चे देखे जा रहे थे और वृद्ध नौकर द्वारा बार-बार भगाए भी जा रहे थे। जहाँ शाम होते ही घंटी-घड़ियाल, शंख की ध्वनि घनघना उठी थी। और एक माहौल था उसके घर से एक मील दूर उस गाँव का 'जहाँ गिद्ध-कुत्ते महीनों से त्यौहार मना रहे थे।' मनमोहन ने झोपड़ी में कदम रखते ही देखा कि श्रुक्रिया जमीन पर चीथड़ों में लिपटी हुई काँप रही थी।.....हमीद की लाश ँठ गई गई थी और पास ही बुढ़िया भी मुँह फाड़े पड़ी थी। 'कहानी का फलक काफी विस्तृत है। इतिहास के झरोखे से कथाकार कई प्रश्नों से भी जूझते नजर आते हैं। कथाकार ने यह भी दिखाया है कि कैसे ब्राह्मण-पंडे-पुरोहितों द्वारा सामान्य अशिक्षित जनता में ईश्वर का भय स्थापित कर उनसे उनका जान-माल हड़पा जाता रहा है, जो आज भी बखूबी जारी है। जमींदार पुत्र होते हुए भी मनमोहन गाँव वालों के विषय में सोचता है, बहुत लिखा-पढ़ी, खुशामद और लड़-झगड़कर वह एक मेडिकल कैप ला सका था। ऐसे लोग परिवार में हमेशा से उपेक्षा के पात्र ही होते हैं, वह भी था। कथाकार का एक प्रश्न आज भी उतना ही वाजिब है जितना उस दौर में रहा होगा, 'भूखे, बीमार मुल्क में धर्म के नाम पर लड़ाइयाँ होती हैं अथवा रोटी के लिए, धर्म की परिभाषा मनुष्यता से बाहर की कभी नहीं हो सकती। इसलिए ईश्वरीय

सत्ता के भय के खिलाफ, व्यक्तिगत संपत्ति की जमाखोरी के खिलाफ, लूट-बेईमानी, शोषण के खिलाफ, लड़ाई और फासिज्म के खिलाफ आवाज उठानी होगी, और इन सारे मनुष्यता विरोधी विचारों के खिलाफ मशाल जलानी होगी। एक तांडव नृत्य करना होगा, तब जाकर एक शोषणमुक्त समाज की नींव पड़ेगी, बेहतर समाज की परिकल्पना पूर्ण होगी। और ऐसी सामाजिक व्यवस्था से मुक्ति भी मिलेगी जिसमें हाड़ पिघलाती बीमारियों में भी तन ढकने को एक चिथड़ा तक मौजूद नहीं।

रेणु वंचना की कथा कहते हैं। हर वह इनसान अपने हिस्से से वंचित रह जाता है जो मनुष्य बने रहना चाहता है। सामाजिक बुनावट ही ऐसी है कि मनुष्य बने रहने वाले को खंडहर का वासी हो जाना पड़ता है, खालीपन से गुजरना पड़ता है। सोशलिस्ट लीडर और लेखक गोपालकृष्ण के साथ भी कुछ ऐसा ही होता है। कहानी 'खंडहर' में लेखक ने गोपालकृष्ण के माध्यम से राजनीतिक विसंगतियों और सामाजिक विरोधात्मकता का चित्रण किया है। बाबू-भैया करके किसी तरह पार्टी में प्रवेश कर राजनीतिक लूट करने वालों का समाज में जो सम्मान होता है, वह सम्मान ईमानदार राजनीतिक कार्यकर्ताओं का कभी नहीं रहता। पूँजीवादी व्यवस्था जिसके कारण मध्यवर्ग, निम्नवर्ग और सर्वहारा वर्ग सभी के जीवन में विकृतियों का प्रवेश हो गया है, इसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों की आवश्यकता है, क्योंकि इसने पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक सभी स्तरों पर मनुष्य को प्रभावित किया है। आपसी प्रेम का ह्रास तो हुआ ही है, साथ ही साथ संपूर्ण जीवन विशृंखलित और विघटित होता जा रहा है। तभी तो स्वतंत्रता की लड़ाई में भागीदारी होने के बावजूद गोपालकृष्ण के विचारों का परिवार में सम्मान केवल और केवल इसलिए नहीं है कि वह इसका फायदा उठाकर एक बड़े पद को भी प्राप्त नहीं कर सका, लेखक बन गया, पूँजीवाद के खिलाफ लड़ाई में शामिल हो गया। लेखन से घर तो नहीं चल सकता न और फिर माता-पिता ने उसकी पढ़ाई पर इतना खर्च भी तो किया था। उसके पिता कहते हैं, 'खैर,

वह जमाना भी बीता। अच्छे दिन आए, कांग्रेस का राज हुआ। एम.एल.ए. नहीं हुआ तो कोई बात नहीं, नौकरी नहीं की तो कोई हर्ज नहीं। मगर एम.एल.ए. और सरकारी अफसरों से हेलमेल रखने में इसकी कौन-सी इज्जत खराब हो जाती।' यही कारण है कि उसकी पत्नी से लेकर बच्ची तक को इस बात के ताने सुनने पड़ते हैं। उसके खाने तक की सुध किसी को नहीं, सभी उससे नाराज ही रहते। कमरे से बाहर आकर देखता है तो सब तरफ अँधेरा है, पुकारकर खाना माँगने पर भी उसे कोई जवाब नहीं मिलता। 'अंधकार और मौन। खंडहर की याद आई गोपाल को। वह मुस्कुराया। खिलखिलाकर हँस पड़ी उसकी गोद में बाँसुरी-भविष्य की सुन्दर बाँसुरी।

'पार्टी का भूत' कहानी आम आदमी और राजनीति के विभिन्न पार्टियों के अंतर्संबंध और विसंगतियों की कहानी है। पार्टियों के आपसी अंतर्द्वंद्व में घिरे साधारण जन की कहानी है। विभिन्न पार्टियों के वैचारिक अवमूल्यन की कथा है। तमाम तरह की पार्टियाँ आइडियोलोजी के बातें चाहे जितनी कर ले, पार्टी में जाने के बाद सबका उद्देश्य व्यक्तिगत स्तर पर उससे लाभ लेना ही होता है। कथा का 'मैं' केवल कथावाचक नहीं है, बल्कि समाज का वह साधारण व्यक्ति है, जो चाहे-अनचाहे किसी न किसी पार्टी से लिप्त होता ही है, नहीं होता तो कर लिया जाता है। यह प्रक्रिया बचपन से ही आरंभ हो जाती है, जैसा कि कहानी में प्रारंभिक शिक्षा, उच्च शिक्षा और महाविद्यालयों में पार्टियों के क्रियाकलापों को दिखाया गया है। जो कुछ नहीं कहता उसे हर पार्टी अपना मेंबर समझ लेती है और पार्टी के पैसे से ही गुजारा होने लगता है। प्रफुल्ल के साथ विडंबना यह हुई कि उसने बात टालने के लिए सी. पी. के मेंबर पूछे जाने पर हामी भरी थी और वह उसका सदस्य मान लिया गया। ऐसे ही फारवर्ड ब्लाक का भी सदस्य मान लिया गया। और इस चक्कर में उस राजनीतिक नेता को भी काला झंडा दिखाना पड़ जाता है, जिसका वह मन-कर्म से समर्थक रहा है। मतलब एक साथ तीन पार्टियों का सदस्य। और विडंबना यह कि 'इस वैज्ञानिक

युग में पार्टी के आदेश को ही विशेष महत्व दिया गया है।' और फिर क्या 'आपत्तिजनक पक्षों के साथ प्रफुल्ल गिरफ्तार। फिर तीन वर्ष का जेल। उसी समय सन 42 का देशव्यापी आंदोलन शुरू हो जाता है और जेल खचाखच भर जाता है। 'देखते ही देखते पार्टी की बीमारी भी फैल गई। मुफ्त का खाना, आराम से सोना और गला फाड़कर बहस करना.. बस।' आगे चलकर जब वह एक छोटे से कस्बे में नौकरी करने चला जाता है, तो वहाँ की स्थिति में एडजस्ट करना और भी मुश्किल लगता है उसे, वह कहता है। 'महाशय 'क' से जरा हँसकर बात कर ली कि मिस्टर 'ख' की आँखों में चढ़ जाता हूँ। पंडित 'ग' के यहाँ ट्यूशन करने जाता हूँ तो मुंशी 'घ' मुँह फुला लेते हैं।' और सबसे बड़ी विडंबना तो यह है कि जो सभी पार्टियों की बातों पर मौन साध लेता है, उसे सभी पार्टियाँ अपना विरोधी समझ लेती हैं। कहानी में भारतीय राजनीति के विद्रूप चेहरे को कथाकार ने कितनी बारीकी से चित्रित किया है। वर्तमान समय की राजनीति और आम आदमी की बेचारगी का चेहरा भी हम इस कहानी में देख पाएँगे। हमारी स्थिति भी प्रफुल्ल वाली ही हो गई है। प्रफुल्ल कहता है, दिन में चैन नहीं, रात में नींद नहीं आती। आती भी है तो बुरे सपने देखने लगता हूँ। देखता हूँ कि सड़क पर भागा जा रहा हूँ। शहर के आवारा लड़के मेरे पीछे टीन बजा-बजाकर दौड़ रहे हैं। सब चिल्ला रहे हैं। आप किस पार्टी के आपको कोई न कोई टैग तो लगवाना ही पड़ेगा, इससे बचकर आप जाएंगे कहाँ, बचेंगे कैसे।

इस प्रारंभिक कहानियों को पढ़ते हुए ऐसा लगता है कि पूँजीपतियों तथा राजनेताओं द्वारा निर्मित कुचक्रों, षड्यंत्रों और लोभ-लालच के शिकार आम आदमी के कथाकार रेणु ने शायद कहानी इसलिए भी लिखना प्रारंभ किया होगा कि तमाम तरह के अकाल से जूझते इस देश की, इस समाज की वास्तविक स्थिति का एक लेखा-जोखा तो होना ही

चाहिए। वर्णनात्मक शैली के धनी रचनाकार रेणु ने अपनी रचनाओं में देश की वास्तविकताओं से रू.ब.रू करवाने का काम किया। देश की आधी से अधिक आबादी इसलिए भी भूख और अकाल की शिकार है क्योंकि देश की राजनितिक नीतियाँ हमेशा से दोगम दर्जे की रही हैं। यह इस देश का दुर्भाग्य कहिए या मनुष्य में जन्म लेकर मनुष्य न बन पाने का दुर्भाग्य कहिए कि एक ही प्रजाति में जन्म लेने के बावजूद समाज का एक तबका खाना पचा न सकने की बीमारी से परेशान रहता है तो वहीं एक तबका भूख से बेहाल पेट मचोड़-मचोड़ कर मरने को मजबूर रहा है। ऐसी ही सामाजिक स्थितियों के चित्रण ने ही रेणु की लेखनी को मजबूती प्रदान की।

इसी तरह स्वतंत्रता पूर्व की आशाएँ अगर हैं रेणु की रचनाओं में तो स्वतंत्रता पश्चात के मोहभंग की स्थिति भी। आशाओं में जिस तरह की जोश-खरोश की भाषा का इस्तेमाल होता है, और फिर जैसे ही आशाएँ एक षड्यंत्र के तहत बिखर-बिफर जाती हैं तो मन कैसे क्षोभ-गुस्से से भर जाता है और भाषा व्यंग्यात्मक हो जाती है, रेणु का संपूर्ण कथा-साहित्य इस बात का उदाहरण है। मनुष्य का जीवन हर दौर में किसी न किसी तरह की कमी से जूझता रहता है, चाहे वह अन्न-जल की कमी हो, नैतिकता-ईमानदारी की कमी हो या फिर संवेदनाओं की कमी हो। इस असंवेदनशीलता के ही कारण हमारे देश में, हमारे समाज में बदहाली इतने उच्च स्तर पर रही है। देश की आधी से अधिक आबादी इसलिए भी अपनी रोजमर्रा की चीजों से महरूम रहती है क्योंकि कुछ लोग हमेशा से लूटेरे और चोर रहे हैं। जब देश पराधीन था तब भी ग्रामीण-गरीब, मजदूर-किसानों की हालत बदतर थी और आजादी मिली तो वह भी पैबंद लगी हुई मिली। रेणु के भी सपनों का भारत सपने में ही रह गया, जैसे गांधी के सपनों का भारत।

संपर्क : असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, कोचबिहार पंचानन बर्मा विश्वविद्यालय, कोचबिहार, 736101, मो : 9836591599

रेणु की कहानियों में सामाजिक सरोकार

एकता मंडल

हिंदी के कथाकारों में फणीश्वरनाथ रेणु का बहुत ऊँचा स्थान रहा है, उन्होंने जनता के संघर्ष को अपनी मिट्टी से जोड़ने की कोशिश की है। दीनहीन शोषित जनता की पक्षधरता, निम्न-मध्यवर्गीय परिवारों के दुख-दर्द, पीड़ाओं, अपमान और तिरस्कार, यथार्थ का अंकन, अभिव्यक्ति की सहजता तथा वस्तुपरक दृष्टि उन्हें अन्य रचनाकारों से अलग खड़ा कर देती है। इनकी रचनाएँ आमजन के सुख-दुःख, व्यक्तिमन के विविध विषयों तथा प्रकृति के विभिन्न राग-रंगों पर लिखी गई है। लेखक के शब्दों में 'हमारी जिंदगी हिंदुस्तान की जिंदगी है। हिंदुस्तान से मेरा मतलब है असंख्य गरीब मजदूर-किसानों के हिंदुस्तान से। हम अपनी मिट्टी को पहचानते हैं, हम अपने लोगों को जानते हैं! हमने तिल-तिल जलकर जीवन को, जीवन की समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा की है।'

लेखक ग्रामीण जन-जीवन से गहरे जुड़े हैं, जहाँ समाज नाम की संस्था होती है, जहाँ संयुक्त परिवार का कॉन्सेप्ट होता है। भले ही लोगों में आपसी मनमुटाव, झगड़ा-लड़ाई होता हो परंतु एक-दूसरे के प्रति भाईचारा की भावना भी होती है। गाँव का परिवेश ही निराला है, सहज लोग, खेत-खलिहान, पेड़-पौधे, जीव-जंतु सभी जैसे आपस में परिवार की तरह हैं। ये सामूहिकता ही असल में समाज है, ऐसे ही समाज से जुड़े कहानीकार जीवंत कहानी गढ़ते हैं जो कि शहर के परिवेश में कम ही संभव हो पाता है। वस्तुतः शहर पूरी तरह पूँजीवादी संस्कृति के चपेट में है, वहाँ समाज की नहीं बल्कि व्यक्ति की प्रधानता होती है। वहाँ व्यक्ति पर समाज का कोई हस्तक्षेप नहीं होता। वहाँ स्वेच्छाचारिता, रिश्तों में ईमानदारी का ह्रास, खोखलापन, बिखराव, पति-पत्नी के संबंध में तनाव, अलगाव आदि जैसी प्रवृत्तियाँ पनपती जा रही है। ऐसे कहानीविहिन परिवेश में कहानीकार मन लायक कहानी कैसे गढ़ें? अपनी इस पीड़ा को व्यक्त करते हुए रेणु 'एक अकहानी का सुपात्र' कहानी में लिखते हैं 'पिछले कई वर्षों से लगातार यह सुनते-सुनते कि अब 'कहानी नाम की कोई चीज दुनिया में ऐसे ही रह गई है 'मुझे विश्वास हो चला था कि कहानी सचमुच मर गई है। हमारा मौजूदा समाज 'कहानीहीन' हो गया हठात।..... फलतः समाज के सभी कहानीकार बेकार हो रहे हैं, हुए जा रहे हैं।' ऐसे कहानी विहिन धरातल पर भी लेखक को अपने अकहानी का सुपात्र मिल ही जाता है। याद रहे यहाँ अकहानी का तात्पर्य लेखक के अनुसार 'बेकार कथाकर बेकारी के क्षण में जो कुछ भी गढ़ता है, उसे अकहानी कहते हैं।' कहानीकार का यह सुपात्र (नाम-छोटेला)

शहर के चकाचौंध से आकर्षित है परंतु अजनबीपन, अकेलापन, रिश्तों में बेईमानी आदि उसके सरल मन के बूते नहीं बैठती, उसे बार-बार गाँव का स्मरण हो आता है। शहर में बसे भैया-भाभी के बीच चल रहे कलह से उदास छोटेलाल लेखक से कहता है 'अब आप ही बतलाइए जी, मैं क्या करूँ? भैया-भाभी की लड़ाई अब आखिरी सीमा पर पहुँच गई है। अब तो कभी-कभी मार-पीट, 'पझड़ा-पझड़ोवल' भी हो जाती है। जब दोनों झगड़ने लगते हैं तो मैं रेडियो को और तेज कर देता हूँ। पानी के दोनों नलों को 'फुलस्पीड' में खोल देता हूँ ताकि बाहर के लोगों तक 'पास-पड़ोस में उनके झगड़े की आवाज नहीं पहुँच सके।'

रेणु को अपनी मिट्टी, अपनी ज़मीन से बेहद लगाव है। गाँव की नैसर्गिक खूबसूरती, संस्कृति, कला, सहज जीवन-शैली के वे हमेशा से कद्रदान रहे हैं। कई ऐसे गाँव हैं जिसकी प्राकृतिक खूबसूरती विस्मय में डाल देने वाली होती है, ऐसे गाँव पर्यटन स्थल की तरह ही लोगों के मनमोह लेने वाले होते हैं जो आमतौर पर ग्रामीणजनों के समझ से परे होते हैं या गाँववासी उसे समझ नहीं पाते। कार्पोरेट जगत या फिल्म जगत के लिए ऐसी जगहें कच्चे माल की तरह होती हैं जिसे ठोक-पीटकर बाजार में उतारता है और मनचाहा धन पीटता है। लेकिन दूसरी ओर यह भी सच है कि फिल्म उद्योग के बदौलत कई ऐसी कला, संस्कृति, बोली-भाषा, जीवन-शैली जो लगभग लुप्त होने के कगार में या समाप्त ही हो चुकी है उसे पुनः जीवित करने में या संग्रहालय के रूप में सुरक्षित रखने में महती भूमिका निभाई है। ग्रामीण नैसर्गिकता को महत्व देकर उसका मूल्यबोध कराने में एक साहित्यकार के साथ-साथ फिल्म जगत का भी विशेष योगदान रहा

है। रेणु जी की कहानी 'एक रंगबाज़ गाँव की भूमिका' भी ऐसी ही सौंदर्यबोध कराती है। बिहार का एक गाँव है 'रंगदा गाँव' जिसकी खूबसूरती में मोहित हुए फिल्म डायरेक्टर कहते हैं - 'एक ओर तीन पतली नदियों का संगम, दूसरी ओर बाँस के पुराने जंगल, तीसरी ओर कोसों फैली परती धरती और इसके मध्य बसा यह गाँव और आपका यह 'आइवी'... हर नदियों में असंख्य कमल-फूल और आकाश में मँडराते नाना रंग वर्ण के पखेरूओं के झुंडकी सुंदर जाएगा! मैं आपको धन्यवाद देता हूँ कि आपने मुझे ऐसी जगह का पता दिया।' रंगदा गाँव में फिल्म की शूटिंग होने तथा गाँव के कई लोगों को फिल्म में काम मिलने से गाँव का तथा वहाँ के वासिंदों को अब विशेष महत्व मिलने लगा है। बाहरी दुनिया को जानने-सुनने के कारण इनमें जागरूकता आने लगी है। अपनी कला, संस्कृति, परिवेश की महत्ता से भी लोग परिचित हुए हैं। डायरेक्टर साहब का ग्रामीण स्त्रियों द्वारा दीवार पर हाथी-घोड़ा-मयूर-तोता और फूल आँके जाने का फोटो लेना, नदी-तलाब, पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों का, खेतों में हल चलाते, अनाज तैयार करते ग्रामिणों का, नंग-धड़ंग बच्चों का हँसते-रोते हुए फोटो लेना आदि जैसे एक-एक करके हर दृश्य को, उसकी प्राकृतिक खूबसूरती को कैमरे में कैद कर लेना चाह रहे थे, क्योंकि स्वाभाविकता और अकृत्रिमता के जिस परिवेश को वह खुली आँखों से देख रहे थे वह शहर में दुर्लभ है। रूपहले पर्दे पर जो दृश्य, चरित्र कृत्रिम रूप में दर्शाए जाते हैं उन्हें सहज रूप में गाँवों में देखा जा सकता है। दरअसल लोगों में फिल्मों के विषय में यह धरणा होती है कि फिल्म का समाज में दुष्प्रभाव पड़ता है, युवा भटक जाते हैं, घर-परिवार टूटता है, संस्कृति दूषित होती है आदि।

इस कहानी में रेणु जी इस धारणा का प्रतिकार करते नजर आते हैं। यानी लेखक गाँव की सुंदरता को इस कहानी में फिल्म के माध्यम से डिस्कवर करते हैं। यह भी साहित्य का काम है कि वह किसी चीज को बेहतर तरीके से प्रस्तुत करे और फिल्म भी साहित्य का एक माध्यम है।

देहाती दुनिया में अज्ञानता, रूढ़ियाँ, अंधविश्वास, अशिक्षा, समझ की कमी, लड़ाकू प्रवृत्ति आदि कई विसंगतियाँ पाई जाती हैं और साथ ही सड़क, रेल आदि जैसे यातायात के साधनों का अभाव अथवा अविकास, शहर से अति दूरियाँ जैसी असुविधाएँ होने के कारण लोग शहर में जा बसते हैं। चूँकि लेखक के लिए गाँव कमजोरी रही है। शहर में रहकर भी वह गाँव से जुड़े रहें। बड़े लेखक होने के नाते दूर-दराज से भी लोग उन्हें आए दिन किसी-न-किसी कार्यक्रम में न्यौता देने पहुँचे रहते थे। ऐसे में लेखक के साथ एक अजीबोगरीब घटना घटती है जिसका उल्लेख अपनी संस्मरणात्मक कहानी 'अतिथि सत्कार' में उन्होंने हास्य-शैली में प्रस्तुत किया है। होता यह है कि तोतापुर ग्राम में एक संस्था के उद्घाटन में लेखक को मुख्य अतिथि के रूप में पूरे आग्रह के साथ न्यौता मिलता है। लेखक उस गाँव के लिए रवाना तो होते हैं परंतु उनकी यात्रा पद्मावत के नायक रत्नसेन की तरह ही कष्टकारी साबित होती है। आवागमन के लिए बस एक ही ट्रेन थी और ट्रेन जिस स्टेशन तक जाती थी वहाँ से फिर उस गाँव तक जाने के लिए 10 कोस पैदल चलना पड़ता था। साथ ही ट्रेन में एक महाशय, जिन्हें उसी गाँव में जाना था, अपने बैड बाजा की रखवाली की जिम्मेदारी लेखक को देकर उतर जाते हैं। अतः जिस स्टेशन पर गाड़ी रुकी वहाँ बड़ी मुश्किल से एक सज्जन व्यक्ति लेखक की मदद के लिए आगे आया और बैडवाला का

बाजा, भोपु उठाए उनके साथ तोतापुर गाँव के लिए पैदल चल पड़ता है। यहाँ तक का सफर तो किसी तरह कष्ट सहकर लेखक ने तय कर लिया परंतु अब तोतापुर जाने के लिए रास्ते में पड़ने वाले गाँव के बच्चे और स्त्रियों के समूहों ने लेखक को बैड बाजा वाला, जड़ी-बूटी वाला तथा बीड़ी वाला समझ कर पूरी तरह फजीहत कर दी। लेखक उस पल को कुछ इस तरह बयां करते हैं 'मैं अपने मित्र धनू की शरण में था, इसलिए उसने दो-तीन उच्च स्तर की गालियाँ देकर बच्चों को भगाने की चेष्टा की। नतीजा उलटा हुआ। झगड़ा खड़ा हुआ, ऐसा झगड़ा, जिसमें एक साथ दर्जनों औरतें दल बाँधकर भाग ले रही हों, खुले गले से। झगड़े में 'तेरे बाजे को और तेरे बाजेवाले को' लक्ष्य करके कितनी ही फूहड़ गालियाँ बरसायी गईं। बच्चों ने भोंपे पर कंकड़ी फेककर नारे लगाने शुरू किए' 'बीड़ी लुटाओ...बाजा बजाओ!' इतने में तोतापुरी गाँव के आधे दर्जन लोग लाठी लिए लेखक से लड़ने पहुँच जाते हैं क्योंकि एक दिन पहले से ही उनके नाम तथा परिचय का कोई अन्य व्यक्ति मुख्य अतिथि के रूप में वहाँ विराजमान है। अतः बिना जाँच किए ही लेखक को फर्जी करार दिया जाता है जिस कारण उसके जान पर शामत आ जाती है। अंत में बड़ी मुश्किल से समझौते के तौर पर पच्चीस रुपये तेरह आने का हरजाना चुका लेखक अपनी जान बचा कर भागा। यानी लेखक यह कहना चाहता है कि ग्रामीणों की हठधर्मिता, बिना तर्क-वितर्क किए निर्णय पर आ जाना, सही-गलत में फर्क नहीं कर पाना बिल्कुल अंधेर-नगरी की तरह ही है, जिसमें भला आदमी की जान पर बन आती है। ग्रामिणों में यह धारणा बनी होती है कि शहर के लोग प्रायः धूर्त या धोखेबाज़ होते हैं, इस कारण अपने संदेह की पुष्टि

किए बिना ही निर्दोष को भी सजा दे बैठते हैं।

जिस तरह ज्यादातर ग्रामीण क्षेत्र अविकसित होने के कारण, वहाँ के लोगों में फुहड़ता देखी जाती है, वहीं दूसरी ओर शहर के झुग्गियों में बसे लोगों के जीवन की विसंगतियों का कारण है अभावग्रस्तता। चूँकि शहर के परिवेश में जीवनयापन करने के लिए एक मात्र पैसा ही सबकुछ है और पैसा जैसे भी आए। रोजगार के अभाव में स्त्रियाँ मजबूरी में देह व्यापार करने लगती हैं, ऐसे में इनके बच्चों के मन पर बुरा असर पड़ता है। अर्थाभाव, भावनात्मक संबंध के अभाव के कारण ये बच्चे भटक जाते हैं, बुरी लत का शिकार हो जाते हैं। यहाँ रिश्ता नहीं बल्कि पैसे का महत्व है। ऐसे समाज में बच्चों की स्थिति बहुत ही बदतर हो जाती है। जिस बच्चे की माँ या पिता सौतेले होते हैं, उनकी तो और भी दुर्गति होती है। इन बच्चों को दूसरों से उपेक्षा और दुत्कार ही मिलता है। लोग उन्हें संदेह की नज़र से ही देखते हैं। गालियाँ देना और सुनना एक तरह से उनकी आदत में शामिल हो जाता है। शहर के झुग्गियों में रहने वाले लोगों के अभावग्रस्त जीवन की विवशता, पीड़ा, अस्त-व्यस्त जीवन शैली के यथार्थता का बोध कराती है कहानी 'आजाद परिदे'। इस कहानी में स्लम के बच्चों की मनोदशा का चित्रण पूरे यथार्थ के साथ हुआ है। एक तरह से यह कहानी गरीब परिवारों के आवाज़ हो रहे बच्चों की सच्ची दास्ताँ बयान करती है। कहानी का बाल पात्र हरबोलवा और सुदरसन जैसे बच्चों का मानसिक और शारीरिक शोषण होने के पीछे का मूल कारण है 'गरीबी, माता-पिता, समाज, कम आय, बेरोजगारी, खराब जीवन-शैली तथा समझ। जो अवस्था इनके लिए खास देख-रेख, प्यार और परवरिश का, स्कूल जाने का, दोस्तों के साथ खेलने का

होता है, उस अवस्था में उन्हें माता-पिता की क्रूरता, प्रताड़ना, बाल मजदूरी आदि का सामना करना पड़ता है। अक्सर यही देखा गया है कि सौतेले माता-पिता का रवैया सौतेले बच्चे के प्रति अमानुषिक होता है। ऐसे माँ-बाप इन बच्चों का शोषण करते हैं। 'आजाद परिदे' के हरबोलवा और सुदरसन इन्हीं विसंगतियों से गुजर रहे दो नबालिक पात्र हैं। हरबोलवा को अपनी माँ से केवल डाट-फटकार ही मिलता है, थोड़ा-बहुत स्नेह उसे मौसी से ही मिलता है। वह दिन भर सड़क पर लफंगे बच्चों के साथ भटकते रहता है, क्योंकि माँ और मौसी के देह व्यापार की सच्चाई से वह अनजान नहीं है। इस अपमान और शर्मिंदगी से वह परिचित है इसलिए घर जाना उसके लिए सहज नहीं। इसलिए बात-बात में गाली देना, गंदी हरकतें करना, अभद्र व्यवहार आदि एक प्रकार की मानसिक विक्षिप्तता का लक्षण उसमें दिखाई देता है। इस परिवेश, ऐसे रिश्ते, घूटन भरे जीवन से मुक्त होने की उसमें एक छटपटाहट है। सुदरसन का सौतेला पिता का व्यवहार हमेशा से उसके साथ अमानुषिक ही रहा करता है। पिता इतना क्रूर है कि दिन-रात उससे काम करवाता है और बात-बात पर उसकी पिटाई भी करता है। इन बच्चों को दूसरे लोगों से भी अपमान और उपेक्षा ही मिलती है। ऐसे में इनके मन में नबालिक होने की विवशता तथा पूरे समाज के प्रति आक्रोश भरा रहता है, जो उसके शब्दों से जाहिर होता है, 'साला जब तक मुँछ नहीं जमेगी, तब तक बालिग नहीं हो सकते और जब तक नाबालिग रहोगे, इसी तरह रोज लत्तम-जुत्तम! साला घर जाने का जी नहीं करता। कहीं भाग चलने का मन करता है।' परंतु विडंबना यह है कि वे जाए तो कहाँ जाए। ऐसा कौन सा ठिकाना है, जहाँ जाकर अपना

बचपन जी सकें 'आजद परिंदे' की भाँति। उसका गुलाम बचपन फिर से आजाद परिंदे के भाँति चहक सके, फुदक सके। माता-पिता अपने बच्चों से दुर्व्यवहार करते हैं तो वे आक्रमक और हिंसक हो जाते हैं, ये बच्चे यह समझने का प्रयास करते हैं कि उनका दुरुपयोग क्यों हो रहा है? उसके कोमल मन में इस कठोरता के प्रति आक्रोश पैदा होता है और बालश्रम, शोषण से मुक्ति पाने के लिए सारे बंधन तोड़ कर अपनी अलग दुनिया बसाने को पूरी तरह व्याकुल हो उठता है। सुंदरसन और हरबोलवा दोनों की ही मनोदशा एक-सी है। दोनों में गुलामी के जंजीर को तोड़ने की छटपटाहट, बेचैनी देखी जा सकती है। घर नामक पिंजरे से उन्हें इतनी नफरत होती है कि दुबारा वहाँ लौट कर आना नहीं चाहते। उनके मन में अपने घर के प्रति नफरत और क्रोध साफ झलकती है तभी तो एक कह उठता है- 'कंपनी की नौकरी के लिए जो करना होगा करेंगे। अब लौटकर घर नहीं जाना है।...थूक है घर को!'

रेणु जनमानस से गहरे जुड़े रचनाकार हैं। आमजन की हर छोटी-बड़ी परेशानियाँ, विचारों, अनुभूतियों को उन्होंने आत्मसात किया है। भारतीय मध्यवर्गीय समाज की बेटी के माता-पिता की परेशानियों तथा उनकी अनुभूतियों को भी गहराई से महसूस किया है। बेटी की शादी करवाना ही भारतीय मध्यवर्गीय माता-पिता अपनी एक मात्र जिम्मेदारी समझते हैं। भारतीय मध्यवर्गीय समाज में बेटी को बोझ माना जाता रहा है। भ्रूण हत्या, नवजात कन्या को दूध में डूबा कर मार डालना या अनाथालय, मंदिर या कोई अन्य जगह छोड़ जाना हमारे समाज की ही घटनाएँ रही हैं। आखिर इसका कारण क्या है? कारण- समाज में पुरुष मानसिकता का वर्चस्व का होना है। बेटे वालों की शान है। उनके सामने बेटी वालों का सर

झुका रहना चाहिए। विवाह के लिए सारे नाज-नखरे लड़के वाले कर सकते हैं। उनकी हर फरमाईश को पूरा करना लड़की वालों की ड्यूटी बन जाती है। लड़का का रूप-रंग, चरित्र, व्यवहार जैसा भी हो लेकिन विवाह जिस लड़की से होगी उसमें किसी प्रकार की कमी न हो। इस बात को एक सबक के तौर पर बेटियों के माता-पिता जहन में बिठा लिए हैं। बेटी की पढ़ाई-लिखाई, उसके कैरियर से ज्यादा चिंता उसके विवाह की होती है। 'जड़ाऊँ मुखड़ा' कहानी में लेखक ने बेटी के माता-पिता के मनोविज्ञान को बखूबी दर्शाया है। इस कहानी में बुला के माता-पिता बेटी की शादी को ही एक मात्र जिम्मेदारी समझते हैं। इसलिए बेटी की रख-रखाव उसी रूप में करते हैं, खास तौर पर उसके रूप-रंग को लेकर वे काफी कंशस रहते हैं। बुला जैसे-जैसे बड़ी हो रही है उसके पिता उसके रूप-रंग, चरित्र के प्रति और भी ज्यादा सतर्कता बरतते हैं। बेटी के गाल पर एक काला मस्सा है जो पिता के लिए परेशानी और तनाव का बड़ा कारण बना हुआ है। उन्हें इतनी चिंता हो गई है कि बेटी के सो जाने के बाद रात में लैप की रोशनी में उस मस्से को देखते हैं कि कहीं यह बढ़ तो नहीं रहा। ये जो डर है, यह हर किसी मध्यवर्गीय बेटी के माता-पिता के हृदय में बैठा रहता है। बेटी के मस्से को लेकर मानसिक अशांति भोग रहे बटुक बाबू उस मस्से को कटवाने के साथ-साथ प्लास्टिक सर्जरी भी करवाना चाहते हैं ताकि कोई दाग न रहे। परंतु इलाज कर रहे पटना मेडिकल कॉलेज के डॉक्टर का दिल बुला के जड़ाऊ मुखड़े पर आ जाता है। जो मस्सा उसके माता-पिता के लिए आशंकित भय का कारण बना हुआ था, वही बेटी के विवाह का कारण बन जाता है।

उपर्युक्त बातें लेखक के सामाजिक सरोकारों से

जुड़ने की गवाही देती है। हर बड़ा रचनाकार जीवन के हर पहलू को स्पर्श करता है। फणिश्वर नाथ रेणु का रचना-संसार बहुयामी है। वे ऐसे कथाकार हैं, जिनके लिए संपूर्ण समाज ही कथा का विषय है। उनके कथा-संसार के लिए विषय-वस्तु की सीमाएँ नहीं हैं। समाज की छोटी लगने वाली बातों से वे उसी गहराई से जुड़ते हैं, जितना बड़ी लगने वाली बातों से। इस विषय में सुरेंद्र चौधरी लिखते हैं 'उनकी कहानियों पर अलग से

विचार करने की आवश्यकता इसलिए भी है कि ये कहानियाँ समकालीन जीवन के अपने पार्श्वों को एक साथ उजागर करती हैं। उसमें विषय-वस्तु की सीमाएँ नहीं हैं। ये ग्रामीण किसानों-मेहनतकशों की कहानियाँ भी हैं और शहरी मध्यवर्ग की कहानियाँ भी हैं। उनमें हर तरह के पात्र हैं।' अतः रेणु समाज की हर सूक्ष्म स्थिति से गहरी संवेदना रखने वाले लेखक थे जिस कारण वे रचनाकार के रूप में आज भी प्रासंगिक और महत्वपूर्ण हैं ।

संपर्क : हिंदी विभाग, काजी नजरूल विश्व विद्यालय, आसनसोल-713340, मो. : 8084450160

रेणु और उनकी कहानी 'आत्मसाक्षी'

जितेंद्र श्रीवास्तव

स्वाधीनता के बाद हिंदी क्षेत्र के यथार्थ की स्वाभाविक गति को पहचानने वाले पहले कथाकार हैं रेणु। इसी रूप में वे प्रेमचंद की परंपरा का विकास करते हैं। वे हिंदी के पहले ऐसे कथाकार हैं जिसने आदिवासी चेतना, पिछड़ी जातियों में आई जागरूकता और खलचरित्रों की बढ़ती जटिलता की पहचान की और उसे स्वर भी दिया। यहीं यह कहना भी उचित होगा कि वे मन और तन - दोनों के स्पंदन को ठीक-ठीक समझने और व्यक्त करने वाले कथाकार हैं। उनके साहित्य में न मन उपेक्षित है न तन। वे न तो आत्ममुग्ध थे और न ही उन्होंने आत्ममुग्धता का महिमामंडन किया। उनका साहित्य इस बात का प्रमाण है कि सपने सिर्फ देखे नहीं जाते, शेष समाज के लिए सृजित भी किए जाते हैं।

स्वाधीनता प्राप्ति भारत के इतिहास की सबसे बड़ी घटना है। ऐतिहासिक और सुखद। लेकिन यह भी सत्य है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के कुछ समय बाद ही देश में मोह भंग का समय भी आ गया। लेखकों-कवियों ने इस मोहभंग को अपने-अपने ढंग से समझा और अभिव्यक्त किया। रेणु के वहाँ भी इसकी अभिव्यक्ति है। स्वाधीनता के कुछ वर्षों बाद ही लिखे गए उपन्यास 'मैला आँचल' का एक नारा ध्यान आकृष्ट करता है-

देश की जनता भूखी है

यह आजादी झूठी है।

यहाँ यह याद दिलाना आवश्यक है कि इस नारे के मंतव्य से कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट - दोनों सहमत थे। इन दोनों की आपस में असहमति थी और इन दोनों की कांग्रेस से। लेकिन आजादी के अधूरेपन की बात दोनों करते थे। जहाँ तक रेणु का प्रश्न है वे सोशलिस्ट थे लेकिन याद रखना चाहिए कि वे एक सर्जक भी थे इसलिए खुली आँखों से राजनीति और समाज को देख रहे थे। उनके देखने में इकहरापन नहीं दिखता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अपनी खुली दृष्टि के कारण ही वे 'आत्मसाक्षी' जैसी कहानी लिख सके जो मूलरूप से हिंदी प्रदेशों में कम्युनिस्ट आंदोलन के विखराव पर केंद्रित है। इस कहानी की पृष्ठभूमि में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का वह विभाजन है जिसके बाद भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) का गठन हुआ था।

जनवरी, 1965 में लिखी गई यह कहानी एक ईमानदार कम्युनिस्ट कार्यकर्ता गनपत के बहाने हिंदी क्षेत्र में वामपंथी आंदोलन और पार्टियों की असफलता का विश्वसनीय बयान है। गनपत 1930 से अर्थात् भारत में पार्टी बनने के कुल 5 वर्ष बाद से ही भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का कार्यकर्ता है। लगभग 35 वर्षों से पार्टी ही उसकी आत्मा है और पार्टी के स्वप्न उसके स्वप्न हैं। लेकिन जिन नेताओं को वह अपना अगुवा मानता है, वे ही उसकी आत्मा को छलनी कर देते हैं। गनपत के चरित्र में वह सब कुछ है जिससे कोई सचमुच का कम्युनिस्ट बनता है। रेणु के शब्दों में कहें

तो सिंह-ऊँघ कुछ नहीं, बस कामरेड होना ही उसकी पहचान हो गया। मार्क्सवाद जिन व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं से मुक्त होने की बात करता है, गनपत उन सबसे मुक्त हो गया था। समाज की वास्तविक मुक्ति ही उसका ध्येय हो गया था। उसने 'स्व' का पूर्ण विसर्जन कर दिया था लेकिन पार्टी के पहली पंक्ति के नेताओं को उसकी जरूरत दफ्तर रखाने, चाय बनाने और झंडा उठाने के लिए थी। इससे अधिक उसकी या उसके जैसों की उपस्थिति की कोई अर्थवत्ता उनकी दृष्टि में कभी नहीं रही।

चढ़ती युवावस्था में वंचित समुदाय की परबतिया से हुआ प्रेम उसका आत्मांतरण कर गया था। यह कहने में कोई दुविधा नहीं है कि रेणु ने अपने कथा साहित्य में जिन दो-चार चरित्रों को अपने स्वप्न चरित्र के रूप में गढ़ा है, गनपत उन्हीं में से एक है। और जैसा कि राजनीति और समाज में होता आया है कि ईमानदार लोग पच नहीं पाते, पचा दिए जाते हैं या अप्रासंगिक सिद्ध कर दिए जाते हैं- गनपत भी पार्टी से बर्खास्त कर दिया जाता है। यह और बात है कि वह बर्खास्त करने वालों को ही अपने ढंग से बर्खास्त कर देता है। यह पूरा प्रसंग गहरी विडंबना का है।

यह कहानी उन चालाकियों और अधिकतर कॉमरेडों के भीतर गहरे समाए उन जातिवादी आग्रहों की भी शिनाख्त करती है, जिनके कारण हिंदी प्रदेशों में वामपंथी आंदोलन हाशिये के भी बाहर चला गया। ज्यादातर कम्युनिस्ट अविश्वसनीय हो गए। कहानी के एक हिस्से में गनपत को लोगों के सवाल याद आते हैं- 'गनपत, तुम्हारे लीडर लोग, यानी तुम्हारी पार्टी, जाति और धर्म को अफीम कहती है। मगर तुम्हारे लीडर लोग अपने बच्चे-बच्चियों की शादी किसी और जाति में क्यों नहीं करते? लड़के की शादी में कॉमरेड रामलगन सरमा ने पच्चीस हजार रुपये तिलक में गिनवा लिया। तुम्हारे लीडरों के बच्चे दार्जिलिंग और देहरादून में पढ़ते हैं। तुम्हारे सेक्रेटरी की बीवी कांग्रेसी मिनिस्टर होने के लिए जाति की गुटबंदी करती है। तुम्हारे तूफान जी ने मिल-मालिक से मिलकर मजदूरों की गरदन पर

छुरी....।' इन पंक्तियों में वामपंथी नेताओं का चाल-चलन व्यक्त हुआ है। कैसी विडंबना है कि लोग वर्ग की बात करेंगे लेकिन साँस जाति में लेंगे और पार्टी में पद देने के लिए उत्तराधिकारी भी अपनी जाति में ही ढूँढ़ेंगे। कबीर याद आते हैं- मन न रंगाए, रंगाए जोगी कपरा। वैसे यहाँ यह कहना भी जरूरी है सब धान बाइस पसेरी नहीं होता। कम्युनिस्ट पार्टियों में आकंठ ईमानदार और प्रतिबद्ध लोग भी होते रहे हैं। यह और बात है कि अवसरवादियों की भीड़ में उनकी उपस्थिति आदर्श की गणना के लिए होती रही है।

रेणु की यह कहानी बिना किसी अतिरिक्त पृष्ठभूमि के शुरू होती है। गनपत उबले हुए आलुओं को छील रहा है और उसी समय अंधेरे में कामरेड बलराम जी आते हैं। पूरी कहानी पढ़ने के बाद इस तरह अंधेरे से कहानी के आरंभ का अर्थ समझ में आता है। कहानी संकेतित करती है कि उजाले की बात करने वाले अंधेरे का ताला खोलने में अक्षम साबित हुए हैं। क्रांति की लालिमा महज बहसों तक सीमित है। वह आम जन जीवन से कटी हुई एक किताबी चीज होकर रह गई है। कहानी के आरंभ में ही गनपत के व्यक्तित्व का परिचय मिल जाता है। रेणु उसके विषय में लिखते हैं- 'तेल, प्याज, मिर्च और धनिया की कतरी हुई पत्ती को मिलाकर उसने गोला तैयार किया। पीतल की चमचमाती हुई थाली में भात डालते समय भात की महक उसके तन-मन में समा जाती है। भात की यह ललचाने वाली गंध उसे सबसे पहले सन तीस में लगी थी-स्वयं-सेवक शिविर में। तब से आज तक न जाने कितने आश्रम, शिविर, रैली, सम्मेलन और जेलों के सामूहिक भोजनालयों में गनपत ने पत्तल जूठा किया है, मगर ऐसी गंध क्या हर जगह और हर रोज मिलती है।' इस विवरण में गनपत के चरित्र की कुंजी है। वह सादे भोजन के असाधारण स्वाद को उस स्वयं-सेवक शिविर से जोड़े हुए है जहाँ उसकी जिह्वा के साथ उसकी चेतना ने भी नया स्वाद चखा था। दुनिया बदलने वाले विचारों का स्वाद।

गनपत के बहाने इस कहानी में रेणु एक और

सत्य का उदघाटन करते हैं। रेणु बताते हैं कि बलराम जैसे पढ़े-लिखे पार्टी के पदाधिकारी गनपत जैसे साधारण कार्यकर्ताओं को 'तीन कौड़ी का आदमी भी नहीं समझते हैं'। कहने की आवश्यकता नहीं कि उच्च पदाधिकारियों की इस स्वभावगत व्याधि ने वामपंथी संगठनों को भारी क्षति पहुँचाई है। इस कहानी के लिखे जाने के बाद के पचपन वर्षों में भी कोई सुधार हुआ हो, इसके संकेत नहीं मिलते। भारत में वामपंथी संगठन निरंतर पराभव की ओर ही गए हैं। रेणु अपनी इस कहानी में दिखाते हैं कि बलराम या दूसरे पदाधिकारी जीवन के तमाम सुख उठा रहे हैं जबकि गनपत ने विवाह तक नहीं किया। उसका एक ही ध्येय रह गया कि यह समाज बदले। रेणु इस विडंबना को उभारने में सफल हुए हैं कि पार्टी के जो नेता अपना विरेचन कर स्वयं को मार्क्सवादी दर्शन के अनुरूप नहीं बदल सके वे समाज और दुनिया क्या बदलेंगे। पार्टी का कार्यालय जिस जमीन पर है वह जमीन गनपत के नाम पर है लेकिन वहाँ वह चपरासी की भूमिका में है। यहाँ महत्वपूर्ण यह है कि उसे इस भूमिका से कोई ऐतराज नहीं है। वह प्रसन्नतापूर्वक अपने दायित्वों का निर्वहन करता है लेकिन पार्टी के बड़े नेता ऐसा नहीं कर पाते। वे अपने अहंकार में डूबे अक्सर गनपत का अपमान भी करते हैं। उम्र में बहुत छोटा बलराम उसके और कुसुमी के संबंध पर कीचड़ उछालता है। उनके बीच के प्रकट लेकिन अनकहे नेह-राग को वह अश्लील ढंग से सबके बीच रखता है। गनपत विचलित होता है लेकिन कहानी का अंत दोनों के संबंध की दृष्टि से सकारात्मक है। वहाँ दोनों द्वारा एक दूसरे को स्वीकार करने का संकेत है। कहानीकार ने गनपत की अडिग ईमानदारी का एक प्रमाण और दिया है। जब पार्टी टूट जाती है और दोनों गुट गनपत को बर्खास्त करके उस दफ्तर पर कब्जा करना चाहते हैं तब गनपत दोनों गुटों को भगा देता है क्योंकि जमीन उसके नाम है। लेकिन वह उस जमीन को अपने लिए भी नहीं रखता। कुसुमी से कहता है- 'मैं जमीन वापस दे दूँगा लोगों को—वह बच्चों की तरह हिचकियाँ

लेकर रोने लगा।' इस रोने का कारण जमीन को छोड़ने का निर्णय नहीं बल्कि उस स्वप्न का टूटना है जिसके लिए उसने अपने जीवन का सर्वोत्तम समय दाँव पर लगा दिया। यह एक सच्चाई है कि गनपत जैसे बहुतेरे ईमानदार कार्यकर्ता पार्टी का झंडा बन गए और फिर फट भी गए लेकिन कम्युनिस्ट पार्टियाँ भारत में (विशेषकर हिंदी प्रदेश में) निश्तेज होती चली गईं। यही यह कहना भी ठीक होगा कि समाजवाद का भी यही हश्र हुआ। ईमानदार लोहियावादियों का भी मोहभंग हुआ। स्वयं रेणु का भी।

इस कहानी के संदर्भ में रेणु ने जर्मनी के विख्यात हिंदी विद्वान लोठार लुत्से को एक लंबा इंटरव्यू भी दिया है। यह इंटरव्यू भी उनकी रचनावली में शामिल है। अपने साक्षात्कार में रेणु ने यह स्वीकार किया है कि गनपत कोई कल्पना का पात्र नहीं है। उसके जैसे लोग समाज में होते हैं और हर पार्टी में उनकी वही हालत होती है जो कहानी में गनपत की हुई है। लोठार लुत्से ने इस कहानी के संदर्भ में ठीक रेखांकित किया है कि 'गनपत मानो एकाएक आजादी की मुश्किलों को पहचान लेता है—एक कौंध की तरह।' और रेणु ने लोठार लुत्से की बातों से सहमति जताई है।

रेणु की यह महत्वपूर्ण लेकिन चर्चा से लगभग बाहर रखी गई कहानी भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन में आई पतनशीलता को साहसपूर्वक सामने रखती है। यह कहानी संकेतित करती है कि किस प्रकार कुल तीस-पैंतीस वर्षों में ही बुद्धिजीवी वर्ग के एक बड़े हिस्से के लिए वामपंथी होना फैशन हो गया। ऐसे लोगों की प्रतिबद्धता सिर्फ भाषणों तक होती थी/ है। यह कहानी पार्टी में आए और आ रहे युवाओं के भीतर प्रतिबद्धता की घनघोर कमी की ओर भी इशारा करती है। इतना ही नहीं, यह कहानी वह तस्वीर भी दिखाती है जिसमें नेताओं और कार्यकर्ताओं के बीच की फाँक साफ-साफ दिखाई देती है। कहानी कला की दृष्टि से देखें तो इस कहानी में 'रेणुपन' दिखाई देता है। रूप की दृष्टि से यह एक ऐसी कसी हुई कहानी है जो कहानी के प्राणवस्तु की रक्षा आद्योपांत करती है।

संपर्क : प्रोफेसर, हिंदी संकाय, मानवीसी विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली, मो. : 9818913798

बीमारों की दुनिया में नए सवरे की आशा

अरविंद कुमार

रेणु की कहानी 'पार्टी का भूत' 1945 में लिखी गई जो उसी साल मासिक विश्वामित्र के अक्टूबर 1945 अंक में प्रकाशित हुई। इसके एक साल बाद रेणु ने 'बीमारों की दुनिया' शीर्षक से एक कहानी लिखी जो मासिक विश्वामित्र में ही दिसंबर 1946 में छपी। फिर जनवरी 1950 के जनवाणी में उनका 'नए सवरे की आशा' शीर्षक से एक कथा-रिपोर्टाज आया, जिसे उनकी ऊपर की दोनों कहानियों से जोड़कर देखा जा सकता है। सन 1946 से 1950 के बीच रेणु की तीन चर्चित कहानियाँ और आर्यी- रसूल मिसतिरी' (1946), 'इतिहास, मजहब और आदमी' (1947) तथा 'खंडहर' (1948) एवं तीन कथा-रिपोर्टाज भी आए- 'डायन कोशी' (1948), 'जै गंगा' (1948) तथा 'हड्डियों का पुल'(1950)। इन कहानियों या कथा-रिपोर्टाजों में से अधिकांश में अकाल, भूख, महामारी या बाढ़ के लोमहर्षक दृश्य हैं पर कई कहानियों में 1942 का भारत छोड़ो आंदोलन तथा आजादी के बाद की भी स्थितियाँ हैं। जब देश गुलाम और बीमार था तो उस समय राजनीतिक पार्टियों की भूमिका देश के लिए थी या अपने लिए, रेणु की कई कहानियाँ इन प्रश्नों की ओर हमें ले जाती हैं। फिर देश जब आजाद हुआ तो आजादी की लड़ाई के सारे महत्वपूर्ण नारे देखते-देखते कैसे विलोपित हो गए और वे सारे लोग किस तरह सुविधाभोगी स्थितियों की गिरफ्त में आते चले गए तथा अपना वह अतीत भूल गए, जिसके सहारे उन्होंने देश को अंधेरे की गिरफ्त से मुक्त करवाने की लड़ाई लड़ी थी, ये कहानियाँ हमें इन उत्तर औपनिवेशिक स्थितियों की ओर भी ले जाती हैं।

'बीमारों की दुनिया' का वीरेन आजादी की लड़ाई में पुलिस और सत्ता के जुल्मों को झेलने के क्रम में ही क्षय रोग का शिकार हुआ है। उसने जेल में एक बंदी के रूप में बहुत सारे अत्याचार सहे हैं और स्वाभाविक है कि तभी वह इस स्थिति में पहुँचा है। यह वीरेन कौन है, जाहिर है कि खुद कथाकार जिसे 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में एक बार घड़े में बाँधकर घसीटा गया था। उसी घटना के कुछ दिनों बाद फेफड़ों में पानी आ जाने के कारण उसे जेल से पटना मेडिकल कॉलेज अस्पताल में भर्ती कराया गया था, जहाँ वार्ड में पुलिस का पहरा होता था तथा पैरों में बेड़ियाँ। रेणु को जेल और अस्पताल की यात्रा कई बार करनी पड़ी थी। उसी दौरान उनकी मुलाकात लतिका जी से हुई थी जो वहाँ नर्सिंग की ट्रेनिंग ले रही थीं। बाद में लतिका जी का तबादला पटना सिटी के मंगल तालाब स्थित स्वास्थ्य केंद्र में हो गया जहाँ मुकदमों से मुक्त होने के बाद रेणु कुछ दिनों तक उनके साथ रहे थे। यह मंगल तालाब स्वास्थ्य केंद्र उनकी कहानी 'अग्निखोर' में भी है।

रेणु तपेदिक का शिकार होने के बाद 'बीमारों की दुनिया' में लिखते हैं -

‘हिंदुस्तान में फेफड़े का रोग 99 प्रतिशत पर हाथ फेरने जा रहा है। जरूरत है उत्तम भोजन, कम मिहनत की। जरूरत है हजार-हजार डॉक्टरों की।’ ...यानी तपेदिक कुपोषण और प्रदूषित वायु की बीमारी है जिससे रेणु का इलाका कभी मुक्त नहीं था। 1946 के कुछ ही पहले 1944 में अकाल ने पूरे बंगाल, उड़ीसा और बिहार की कमर तोड़ दी थी। जब खाने का पूरा अन्न ही नहीं था तो उत्तम भोजन का सवाल कहाँ था। ऊपर से जलवायु से जुड़ी बीमारियाँ भी पैर पसारे खड़ी थीं। तब मलेरिया ने न जाने कितनी जाने पलक झपकते ले ली थी। पेचिश और बदहाली के कारण हैजा भी अपने उफान पर था। इसीलिए लोगों के जीने-मरने का कोई हिसाब ही नहीं था। लोग मर रहे थे। उनका नाम मिट रहा था, जैसे बेड न. 4 के गुलाम मुहम्मद गिलानी देखते-खिलखिलाते रुखसत हो गए थे। बेड न. 5 भी खाली हो गया था। किसी को कोई फर्क नहीं पड़ रहा था क्योंकि उसी बेड न. 4 या 5 को पाने के लिए कई बीमार कतारबद्ध थे। यहाँ मौत बहुत जानी-पहचानी हुई चीज थी। जहाँ बेड न. 1 पर पड़े रेणु अपने को समझा रहे थे कि कथाकारों के नायक प्रायः क्षय रोग से ही पीड़ित होते हैं, खून की कै करते हैं और यह एक रोमांटिक रोग है। और एक कामरेड से यह कहलवाते रहे थे कि ‘अरे कामरेड! लेनिन भी टी.वी. से ही मरे थे और गोर्की ने अच्छी किताबें सेनिटोरियम में ही लिखी थीं; कि यह रोग आसानी से पीछा छोड़नेवाला नहीं।’... इसीलिए वे कहानी के शुरु में ही कह देते हैं - ‘वीरेन की जवानी में घुन लग गया। बिछौने पर पड़े-पड़े एक डेढ़ वर्ष हो गया। आराम होने के कोई लक्षण दिखाई नहीं पड़ते। उसकी जवानी पटना मेडिकल कॉलेज हॉस्पिटल के एक वार्ड में बेड न. 1 पर शिथिल पड़ी है। जर्जर हो चुकी है।’

पर खुशी की बात यही थी कि चिलचिलाती हुई धूप में भी मजदूरों का एक विशाल जुलूस सड़क से

गुजर रहा था। ...नारे लग रहे थे- मजदूर राज्य कायम हो! इंकलाब जिंदाबाद! जयप्रकाश जिंदाबाद! वीरेन ने खिड़की से देखा था - बड़ा लंबा-चौड़ा जुलूस था। ...वीरेन इसलिए भी खुश था कि अहमद उससे कह रहा था- ‘मजदूर, किसान और विद्यार्थी फ्रंट पर जोरों से काम चल रहा है। 1942 के जुल्मी ऑफिसरों के जुल्मों की लिस्ट तैयार करनी है। हम उन जुल्मियों को खुली अदालत में लाकर छोड़ेंगे।’ ...1942 की क्रांति....लाठी चार्ज....कठोर कारावास..... जेल का भीषण लाठी चार्ज.... बीमारी ...अस्पताल। ...वीरेन अपने साहित्यिक मित्र अजीत से कहता है - ‘हमारी जिंदगी हिंदुस्तान की जिंदगी है। हिंदुस्तान से मेरा मतलब है कि असंख्य गरीब मजदूर, किसानों के हिंदुस्तान से।’यह कहते या सोचते ही वीरेन को लगता है कि एक नई ताकत न जाने कहाँ से उसके अंदर आ गई है जो उसे बार-बार झकझोर जा रही है और कह रही है कि इस ताकत के आगे रोग नहीं टिक सकेगा। पर यह रोग सिर्फ शरीर का तो था नहीं, इसकी जड़ें बहुत गहरी थीं क्योंकि देश के आजाद होने के बाद जो नई सरकार से अपेक्षाएँ थीं, उनको पंख नहीं मिल पाए थे। पहली अपेक्षा तो अपने राज्य में 1946 में गठित श्रीकृष्ण सिंह की सरकार से थी और दूसरी 1947 में भारत में गठित नेहरू की सरकार से। ...पर जो अपेक्षाएँ गुलाम भारत में थीं, वे आजाद भारत में भी ज्यों की त्यों बनी हुई थीं। ...किसानों और मजदूरों का जो जुलूस आजादी के पूर्व अपनी माँगों के लिए सड़कों पर था, वही जुलूस आजादी के बाद भी वही नारे लगा रहा था।

रेणु ने 1950 में ‘नए सवेरे की आशा’ नामक जो रिपोर्टाज लिखा, वह किसान मार्च पर अकेला रिपोर्टाज है। रेणु को आखिर यह रिपोर्टाज लिखने की जरूरत क्यों पड़ी? इस आजादी के बाद सबेरा नहीं हुआ था या जो सबेरा हुआ था, वह छायाग्रस्त था? ... किसानों को अपने मुख्यमंत्री के पास जत्थों

मैं लाल झंडे के साथ क्यों मार्च करना पड़ा था? ये लाल झंडे तब किसका प्रतीक बनकर सड़कों पर लहराए थे? आजादी तो मिल गई थी। तो क्या आर्थिक आजादी के लिए, सामाजिक और वर्णगत विभेद मिटाने के लिए? ...चुन्नीदास बेचैन क्यों हैं और क्यों यह कह रहे हैं कि 'दुहाई गांधी बाबा, जमीन पर जोतनेवालों का हक नहीं, गरीबों के पेट में अन्न नहीं, देह पर बस्तर नहीं, लोगों ने झूठमूठ हल्ला मचाया कि सुराज हो गया।' ...सच्ची आजादी के लिए चुन्नीदास चौदह बार फिर जेल जाने को तैयार हैं। परमानपुर में किसानों की सभा हो रही है। दाढ़ीवाले बाबाजी चुन्नीदास लोगों को शांति कर रहे हैं। वे 1930 से 1942 तक चौदह बार जेल की सजा भुगत आए हैं। ...वे गा रहे हैं-

'व्योधा जाल पसारा रे हिरणा, व्योधा जाल पसारा झूठ सुराज के फंद रचावल, लंबी-लंबी बतिया के चारा मुँह पर गांधी जी के नाम बिराजे, बगल में रखले बा दुधारा महँगी के चक्की में रोए किसनवां, मौज करे जमींदार।'

समय थोड़ा पीछे लौटता है। ...12 अगस्त 1942 ...जनता पूछती है, क्या करना है? रेल उखड़ गए, तार कट गए, थाने लूटे गए, अब? ...जनता थाने में आग लगा देती है। चैथरु साह कनस्तर बजा-बजाकर नाच रहा है, गा रहा है -

'फेरु होइहैं राम राज, अरे लाला फेरु होइहैं राम राज।'

कबीरदास गांधीदास बननेवाले चुन्नीदास की सारी जमीन मालगुजारी नहीं देने के कारण नीलाम हो गई। चुन्नीदास की एक ही रट हैजमींदार न तो पानी बरसाता है, न खेत की पैदावार को बढ़ाता है, फिर कैसी मालगुजारी, कैसा खजाना? 1934 में ही चुन्नीदास ने यह नारा दिया था और यह भी कि जब तक सुराज न होगा, 'जटा और दाढ़ी' नहीं कटाएंगे।

पर क्या यह नारा या संकल्प ऐसे ही सुराज के लिए था। ...तो फिर अधिकार के नशे में मदहोश,

जनता के दुख-दर्द से परे, गद्दी के मालिकों को झकझोर कर जगाओ और कहो - 'वादा भूल गए, झूठे!' चुन्नीदास आल्हा गा रहे हैं-

'सुमरि कराली माँ काली को, गांधी के करि जयकार पकड़ चोटिया सब चोटन को, तब गद्दी से देहु उतार। बेईमानों का राज खतमकर, चटपट बने अपन सरकार लटपट सटपट सेठ महाजन, छटपट करे जालिम जमींदार।'

लाल झंडे को लेकर आज लोगों के मन में कितने अरमान हैं। यह झंडा उनकी मुक्ति का प्रतीक है, नई आजादी का परचम है यह। नए जहाँ की नींव डालने 550 किसानों के पाँच जत्थे, 550 लाल झंडियों, एक हजार एक सौ तेज कदम, 550 बेकरार दिलों की आवाज हवा को कँपा रही है...रोजी-रोटी कपड़ा दो, नहीं तो गद्दी छोड़ दो। ...यह दौरे इंकलाब है। ...मुंजीलाल गा रहा है - 'आयल दिनवां महान, चलS चलS हो किसान!' ...कोई दूसरा भी गा रहा है - 'मिला नहीं है अन्न पेट भर, नहीं देह पर साबित बिस्तर, बेदखली अब भी जारी है...आगे कदम बढ़ाओ।'

नई उम्मीदों की रोशनी जलानेवाला यह किसान मार्च! जरूरत है, करोड़ो-करोड़ शोषितों, पीड़ितों, मेहनकशों की भूखी अँतड़ियों, सूखी हड्डियों, खाली दिमाग और निराश दिल में हरकत पैदा करने की। वक्त की माँग और जरूरत को सही-सही समझनेवाली जमात....सोशलिस्ट पार्टी, प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ आँख नहीं मिला सकेंगी। सातों समंदर का पानी उलीचकर इसकी लपट को बुझाना असंभव होगा। आखिर रेणु के मन में किसान मार्च को लेकर ऐसी परिकल्पनाएँ क्यों हैं? इसीलिए कि उन्हें परिवर्तन चाहिए। और इसकी संभावना धूमिल दिखने पर वे लाल चीन के तरीकों की ओर लौटने की बात भी करने लगते हैं। वे कहते हैं- '...कुओमिंग शासन के शोषण, अत्याचार, खुदगर्जी से तबाह होकर चीन के किसानों ने अपनी नई दुनिया बसाने के लिए सफर शुरू किया- लांग मार्च- इसी का नतीजा है कि आज चीन लाल हो उठा है।' ...जाहिर है कि रेणु

तमाम मतभेदों के बावजूद 1950 तक लाल झंडे को परिवर्तन का एक प्रतीक मानते रहे थे....लाल चीन की तर्ज पर एक लाल हिंदुस्तान चाहते थे।

ज्ञानचंद को नींद नहीं आ रही है। कितने धोखे में था वह। कितनी दूर था वह, अपने वर्ग से, समाज से, जनता से। उसकी जिंदगी का रुख, जिंदगी को देखने का, समझने का, परखने का दृष्टिकोण ही अचानक बदल गया है। वह तेरह दिनों से विशाल जनसमूह के साथ है, हजारों गाँवों से वह गुजरा है, लाखों के चेहरे पर उसने पढ़ा है कि 'जब नेहरू और पटेल अपने वादे को भूलकर पूँजीपतियों, जागीरदारों, जमींदारों के हाथ का खिलौना बन जा सकते हैं तो? नाउम्मीदी, निराशा, हार, अविश्वास। ...आप अपनी हालत दिखाने, अपने दुख-दर्द की कहानी प्रधानमंत्री से सुनाने आए और वे भाग गए, छिप गए। जनता से दूर जनता के दुख-दर्द से प्रधानमंत्री (आजादी से पूर्व मुख्यमंत्री को प्रधानमंत्री कहा जाता था) ने रेत में सिर गड़ा लिया। उसे अमेरिका में रह रहे अपने मित्र शशांक (यह शशांक 'हड्डियों के पुल' में भी है) की बातें याद आ रही हैं कि 'नया दौर हमेशा एक तरह के जेहनी इंकलाब के साथ आता है। नए दौर में कद्रे बदल जाती हैं, नई कद्रे के बलबूते पर नए अदीब पुरानी शाहराह से मुँह मोड़ लेते हैं।'...इसीलिए वह शशांक को अपना भावनात्मक प्रेम प्रेषित करते हुए कहता है - 'शशांक, विश्वास करो, हिंदुस्तान की मिट्टी पर फासिज्म की नींव नहीं पड़ने देंगे।' ...और इसका प्रमाण 14 नवंबर ...लाल आसमान। लाल फिजा। लाल साड़ियों में लज्जावती मिथिला कन्याओं की टोली जनसमूह को विदाई दे रही हैं। ...जूठे पत्तलों पर जीनेवाला, भूखा, गुदड़ी से लाज ढँकनेवाला, नंगा, फुटपाथ पर और खुले आसमान के नीचे सोनेवाला, बेघर का हिंदोस्तान अपनी बात सुनाने पटना जा रहा है।...लाल झंडे में सजी हुई सैकड़ों किश्तियाँ गंगा की धारा में एक अजीब रंग घोल रही है। लाल झंडों का जंगल...टोपियाँ, लाल

झंडे,...मानो शोले उठे हैं। ...बस का बूढ़ा कंडक्टर कह रहा है - 'जिंदगी में इतना बड़ा जुलूस पटने में नहीं देखा।'

तो क्या रेणु बदले हुए हिंदुस्तान को इसी रूप में देख रहे थे! लगता तो यही है क्योंकि ज्ञान कहता है - 'यह किसान मार्च उस आंदोलन का प्रारंभ है जो नई जिंदगी का रास्ता प्रशस्त बनाएगा।' ...यह कहते हुए ज्ञान का ज्वर से सूखा चेहरा खिल जाता है....हिंदुस्तान लाल हो रहा है और यही नए सवेरे की आशा है।... जाहिर है कि 1949 में चीन कम्युनिस्ट देश बना और यह कहानी 1950 में लिखी गई। जबकि 'पार्टी का भूत' लिखते समय रेणु इस कम्युनिज्म को लेकर इतने आश्वस्त नहीं थे जितने वे 'नए सवेरे की आशा' में दिख रहे हैं। 'पार्टी का भूत' के शुरु में ही वे लिखते हैं - 'सूखकर काँटा हो गया हूँ। आँखें धँस गई हैं, बाल बढ़ गए हैं। पाजामा फट गया है। चप्पल टूट गई है। आशिकों की-सी सूरत हो गई है। दिन में चैन नहीं, रात में नींद नहीं आती। आती भी है तो बुरे सपने देखकर जग पड़ता हूँ।' आखिर ये बुरे सपने किसके हैं? पार्टी की भूमिका के ही हैं जिसको लेकर रेणु आश्वस्त नहीं हैं। उन्हें यही लगता रहता है कि ये राजनीतिक पार्टियाँ, चाहे वह कांग्रेस हो, सोशलिस्ट हो, फारवर्ड ब्लॉक हो या फिर कम्युनिस्ट पार्टी हो, क्या भारत के भविष्य को बदल सकेंगी? आजादी के बाद जब कांग्रेस की भूमिका नकारात्मक हो गई तो रेणु को यह नया सवेरा लाल क्रांति की पृष्ठभूमि में ही दिखा। आजादी के पूर्व इसकी आश्वस्ति नहीं थी तभी तो उन्हें बुरे सपने आ रहे थे। वे लिखते हैं- 'देखता हूँ कि मैं सड़क पर भागा जा रहा हूँ। शहर के आवारा लड़के मेरे पीछे दौड़ रहे हैं और चिल्ला रहे हैं- 'आप किस पार्टी के?' वे ढेले फेंकते हैं, तालियाँ पीटकर हँसते हैं।' यानी वे दिशाहीनता में जीना नहीं चाहते, उन्हें भविष्य की आश्वस्ति चाहिए। ...कुछ वैसी आश्वस्ति जहाँ जीवन सबके लिए हो। रेणु अपने आसपास के तथाकथित

वैचारिक मित्रों से भी परेशान हैं जो वामपंथ को गहने की तरह पहनकर चलते तो हैं पर जड़ों से काफी दूर हैं। तभी तो उनका मित्र विनोद उनसे यह कहने की हिमाकत कर बैठता है कि 'अरे, यह क्या पढ़ रहे हो, गोदान? सिली! इट्स ए रिएक्शनरी बुक!' ...या फिर स्वप्न सुंदरी कामरेड मिस रोस्सा जो अपनी मोहक अदाओं के बीच यह कह बैठती हैं कि 'कुछ चीजों के संबंध में मैं खास राय रखती हूँ। सिगरेट को ही लीजिए न। मैं तो बिना सिगरेट के धुएँ की सुगंध के पुरुषों के साथ की आशा भी नहीं कर सकती। सिगरेट पुरुषों के पीने की चीज है और उसकी सुगंध स्त्रियों के उपभोग की चीज है।' ...और ऐसे लोगों के कारण ही रेणु को तब यह कहना पड़ता है कि 'कम्युनिस्टों में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं रह गई क्योंकि मिस रोस्सा ने एक अमेरिकन सैनिक से शादी करके अपने अंतरराष्ट्रीय सिद्धांत को कार्य में परिणत कर दिया।' ...'बीमारों की दुनिया' में भी एक ऐसा ही कम्युनिस्ट है जो वीरेन के पास जब भी आता है, सामयिक राजनीति पर एक व्यंग्य लिए आता है। इसी तरह 'पार्टी का भूत' में भी एक कामरेड कह रहे हैं- 'आप किस पार्टी को बिलौंग करते हैं? सी.पी. (कम्युनिस्ट पार्टी)...? ..तो फिर वी आर कामरेड्स।' पर यह सब सुनना रेणु को पसन्द नहीं। उन्हें तो बिना शोर-शराबे के काम करने वाले कार्यकर्ता चाहिए जैसे 'बीमारों की दुनिया' के मजदूर हैं या फिर 'नए सवेरे की आशा' के खेतिहर किसान जो सत्ता या शासन से अपने जीने का हक माँग रहे हैं। इसीलिए उनकी ऐसी कहानियों के अलग-अलग पाठ हैं।

दरअसल रेणु को राजनीतिक कार्यकर्ता के बहाने जड़ों के आदमी की तलाश थी। अलग-अलग कालखंडों की इन कहानियों में एक राजनीतिक विचारधारा पाने की उनकी बेचैनी का कारण यही है। इसीलिए 'नए सवेरे की आशा' का ज्ञानचंद हो या किसनू या दादा मोसाय की छोटी-सी बेटी बनानी या सीधा-

सादा बादर मंडल या मोहन गुरुजी, ये उनके बहुत करीब हैं। ...किसनू ज्ञानचंद को जमीनी कार्यकर्ता बनाने में लगा है। वह ज्ञान को चावल की प्रजातियों के बारे में समझा रहा है- 'देखिए ज्ञानू भइया, यह है नाजिर, यह है रागी, यह बासमती, यह कनकजीर...' बादर मंडल ज्ञान से यह कह रहा है - 'अरे फाहरम यहाँ कौन पढ़ता है। आप यह पूछिए कि कितने लोग जाने के लिए तैयार हैं।'

बादर मंडल का चौपाल ग्राम किसान पंचायत का दफ्तर है। हर सातवें रोज मोहन गुरुजी आकर जनता अखबार पढ़कर सुना जाते हैं। पंचायत के सरकुलरों की सूचना देते हैं। ज्ञानचंद पूछता है- 'पर्चे, पोस्टर मिल गए हैं न? बँटवाया नहीं', ...तो मुश्किल से चुप रहनेवाला देवीप्रसाद एक हकीकत बयान करता है- 'बाँटा कहाँ गया! स्कूल के लड़के सब उठाकर ले गए। कागज की महँगी है न। एक ओर सादा था, लड़के कापी बनाएंगे।' ...मोहन गुरुजी चादर से मुँह निकालकर कहते हैं - 'सब कंपलीट है। ओढ़ना, बिछौना, चूड़ा, गुड़, सत्तू।'

ज्ञानचंद जब गाँव लौटता है तो उसे धान की पकी बालियों के साथ कुछ स्मृतियाँ भी कचोटती हैं। उसे दादामोसाय की छोटी बेटी बनानी याद आती है जो 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के समय अपने बड़े भाई केशव दा की बहादुरी की चर्चा बड़े गर्व से करती हुई कहती - 'जाने ज्ञान! बड़ दा इंगरेज मेरे छिलो....गुली कोरे ठांय! जानो? इंग्रेजी पोड़लेई इंगरेज के मारवार इच्छे कोरे।' रेणु इस प्रसंग को अपने इस रिपोर्टाज में क्यों लाते हैं, शायद इसीलिए कि जब आजादी दिलाने का कोई अन्य रास्ता काम नहीं आ रहा हो तो यह क्रांतिकारी रास्ता भी एक विकल्प हो सकता है। भगत सिंह ने इसे बहरों को जगाने का एक मंत्र कहा था। अंग्रेज और अंग्रेजी दोनों ने इस देश का कितना नुकसान किया, यह सर्वविदित है। स्वाभाविक है कि इसका दंश रेणु के भीतर भी है। इसीलिए वे क्रांति का एक नया स्वरूप गढ़ना चाहते

हैं। नेपाली क्रांति में उनका बी. पी. कोइराला के साथ होना या 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन से लेकर 1974 के संपूर्ण क्रांति आंदोलन तक जयप्रकाश नारायण के साथ रहना इसी का प्रतिफल है। इसीलिए रेणु की कहानियों या कथा-रिपोर्टाजों में काफी स्पेस भरा पड़ा है जिसकी कई-कई व्याख्या हैं, कई-कई पाठ हैं। और इन पाठों में ही उनका बहुआयामी व्यक्तित्व छिपा है। इनमें एक यह भी है कि 1974 के

संपूर्ण क्रांति आंदोलन के पूर्व रेणु ये कहने लगे थे कि 'ऐसा भारतवर्ष हमने चाहा था क्या? ऐसा लगता है, कहीं पतवार खो गई है। ...यह भी कोई प्रजातंत्र है? कलमबंद, जुबान बंद। पर आँखें खुलीं। इस अवस्था में आदमी अपने मानसिक उद्वेग को कैसे शांत करेगा? मेरे जैसा आदमी पागल नहीं होगा तो क्या होगा?' ...जाहिर है कि रेणु की यह चिंता उस नए सवेरे की आशा से ही जुड़ी हुई है जिसका स्वप्न ज्ञान देख रहा है।

संपर्क : 502, महेश अपार्टमेंट, बड़ी खंजरपुर, भागलपुर-812001

दो पाटों के बीच उच्चाटन

नलिन रंजन सिंह

फणीश्वर नाथ रेणु ने देश की आजादी के लिए होने वाले संघर्षों को देखा था। इन संघर्षों के बाद मिली आजादी और उससे जुड़े सपनों के लाल डोरे उनकी आँखों में थे। अपना राज मिलते ही सब कुछ बदल जाने की उम्मीद उस समय हर भारतवासी के मन में थी। जनता की आकांक्षाएँ और अपेक्षाएँ बहुत बढ़ गई थीं। लेकिन रातोंरात सब कुछ बदलने वाला नहीं था। निपट गरीबी, दैन्य और मानवीय शोषण का जाल टूट नहीं रहा था। भ्रष्टाचार दस्तक दे चुका था और सामंती एवं रूढ़िवादी मान्यताओं से मुक्ति नहीं मिल पा रही थी। सत्ता का केंद्रीकरण बढ़ रहा था और अभिजात्य वर्ग की सत्ता में भागीदारी बराबर बनी हुई थी। स्वराज मिल जाने के बाद भी सुराज की संकल्पना अधूरी थी।

ऐसे माहौल में जनता की आकांक्षाओं की टूटन स्वाभाविक थी। गरीबी, भूख और उनसे संघर्ष करते हुए आमजन का मोह सत्ता से तेजी से भंग हो रहा था। फिर भी स्वातंत्र्योत्तर भारत में सामाजिक क्षेत्र में अनेक परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों से युवा वर्ग खास तौर से उत्साहित था। पंचवर्षीय योजनाएँ आरंभ हुई और औद्योगीकरण की प्रक्रिया चल पड़ी। भ्रष्टाचार के बावजूद सड़कें बनीं, पुल बने, नए विद्यालय खुले और तमाम विभागों की शुरुआत हुई। सांप्रदायिक संदर्भ पीछे छूटने लगे और शिक्षा के प्रचार-प्रसार ने लोगों में पढ़ने-लिखने का उत्साह जगाया। लोग नौकरी के लिए देश के किसी भी कोने में जाने लगे। नवीनता का आग्रह बढ़ने लगा। साहित्य के क्षेत्र में कविता-कहानी समेत तमाम विधाओं में नयापन आया। पचास का दशक कहानी की धारा के बदलने का समय बन गया। नई कहानी आंदोलन इसी दशक में शुरू हुआ।

नई कविता के जोर पकड़ने पर कहानी में भी नए शिल्प और संवेदना के साथ आने वाले कहानीकारों ने कहानी को नई कहानी कहना आरंभ किया। भैरव प्रसाद गुप्त के संपादन में प्रकाशित 'कहानी नव वर्षाक-1956' का नई कहानी की दृष्टि से ऐतिहासिक महत्व है। यह प्रकाशन कहानी के नवजागरण की नींव था। 'संकेत', 'हंस' और 'निकष' जैसे महत्वपूर्ण साहित्यिक संकलनों के प्रकाशन भी उसी समय हुए। मोहन राकेश, मार्कण्डेय, हरिशंकर परसाई, कमलेश्वर, अमरकांत, शेखर जोशी, राजेंद्र यादव, भीष्म साहनी, कृष्णा सोबती, रांगेय राघव, रघुवीर सहाय, मनोहर श्याम जोशी, उषा प्रियंवदा और मन्नू भंडारी के नाम कहानी की दुनिया में जाने-पहचाने नाम बन गए। इन्हीं नामों में एक महत्वपूर्ण नाम और भी था-फणीश्वर नाथ रेणु।

वर्ष 1957 के दिसंबर महीने में इलाहाबाद में हुए साहित्यकार सम्मेलन में 'ग्राम कथा बनाम नगर कथा' की बहस भी छिड़ी। मोहन राकेश, कमलेश्वर और राजेंद्र यादव शहरी संदर्भों को लेकर लिखने वाले कहानीकारों में सबसे आगे थे। वहीं

फणीश्वरनाथ रेणु, अमरकांत, मार्कण्डेय और शेखर जोशी ग्राम या कस्बे की समस्या को तरजीह दे रहे थे। मध्यवर्गीय और आंचलिक संदर्भ इनके लिए महत्वपूर्ण थे। प्रेमचन्द की परंपरा भी इन्हीं कहानीकारों में शेष थी। नई कहानी में कथ्य, संवेदना और संरचना-तीनों स्तरों पर परिवर्तन दिखाई देता है। आदर्शों या विचारों के आधार पर कहानी लिखना दूर की बात हो गई। कहानीकार के लिए 'व्यक्ति' और 'समाज' महत्वपूर्ण हो गए। व्यक्ति को उसकी समग्रता में देखने का आग्रह बढ़ा। समकालीन संदर्भों के दबाव जब बढ़ जाते हैं तो लेखक को भी वर्तमान पर केंद्रित होना पड़ता है। नई कहानी के दौर का वर्तमान आकर्षक था, नया था किंतु विसंगतियों और विद्रूपताओं से भी भरा था। शिक्षा और रोजगार के लिए संघर्ष, बेरोजगारी से उपजी निराशा, कर्म और फल के अनुचित संबंध की मूल वजह भ्रष्टाचार का युगधर्म बनते जाने पर उसके प्रति उदासीनता, भ्रष्टाचार का उन्मूलन असंभव मानकर उसकी सामाजिक स्वीकृति, समाज की वर्जनाओं और निषेधों के कारण प्रेम संबंध की असफलता उस समय की कहानियों के मुख्य कथ्य थे। वर्तमान से मोहभंग हो जाने के कारण पीड़ा और प्रतीक्षा बढ़ती जा रही थी।

उसी समय भौतिकता की चकाचौंध में घर-परिवार के परंपरागत रिश्तों में बढ़ती हुई छीजन को संवेदना के धरातल पर रखकर देखने और उन्हें पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास दिखा जिसने हिंदी कहानी के कथ्य और संवेदना को जबरदस्त विस्तार दिया। बूढ़े पात्रों को कहानी में जगह मिली और विस्थापन की पीड़ा का दर्द भी उभरा। लेखन में बोध और संरचना का रिश्ता गहरा होता है। कथ्य और संवेदना के बदलाव से कहानी के संरचना पक्ष में बदलाव आना स्वाभाविक था। कहानी की एक अलग दुनिया सामने आई। आंचलिक कहानीकारों ने इसमें विशेष भूमिका निभाई। आंचलिक कहानियों में उस अंचल या क्षेत्र विशेष की भाषा, उसके मुहावरे हिंदी में अलग भाषिक संरचना का विकास करते हैं। इन कहानीकारों में फणीश्वरनाथ

रेणु का नाम अग्रणी है। उनमें एक जबरदस्त आंचलिक मोहकता है। उनके यहाँ आंचलिकता वस्तु सामग्री भी है और शिल्प कौशल भी। वहाँ स्थानीयता पूरी रंगत से उभरती है। 'तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफ़ाम', 'रसप्रिया', 'लालपान की बेगम' और 'पंचलैट' जैसी कहानियाँ अपनी आंचलिक खूबियों की वजह से ही सराही गई हैं। 'उच्चाटन' भी एक आंचलिक कहानी है।

'दो साल पहले, चैत महीने की आधीरात में गाँव छोड़कर चुपचाप भागा था रामविलास-गाँव छोड़कर और मिसर की नौकरी छोड़कर, मिसर का करजा पचाकर।' वही रामविलास शहर से गाँव वापस आया है। जैसा कि उसे पहले से अंदेशा था कि घर जाते ही मिसर उससे रुपया माँगने जरूर आएगा। उसने उसी अनुरूप संवाद की तैयारी भी की थी। किसी नाटक के पात्र के संवाद रट लेने की तरह। होता भी वही है। 'मरकट महाजन' बूढ़े मिसर को रात में ही खबर मिल गई। 'किरिन' फूटने के पहले ही वह 'बाभन बनिया' खड़ाऊँ खटखटाता हुआ आया और उसके दरवाजे पर उकासी करके कफ थूकने लगा। मिसर महाराज का ऐसा खौफ कि बिलसवा कहकर पुकारने की उनकी आवाज सुनकर ही रामविलास की बीबी झुमकी हड़बड़ाकर उठ बैठी। बूढ़ी माँ कोने में दुबक गई और हुक्का गुड़गुड़ाना बंद कर दिया। लेकिन रामविलास पर कोई असर नहीं हुआ। उसने अपना 'तैयार जवाब' दिया- 'बिलसिया-बिलसिया क्या बोलते हैं? मेरा नाम रामविलास है,.....रामविलास सिंघ।' साथ ही माँ से गोबर और झाड़ू लाने को कहा जिससे मिसर द्वारा थूककर फैलाई गंदगी साफ की जा सके। मिसर को उसने यह भी सलाह दे दी कि खाँसी की बीमारी का इलाज कराएँ। उनके आगे बढ़ने पर उसने उन्हें रोककर उनका बकाया रुपया भी दे दिया। यह ख़बर गाँव में फैल गई कि बिलसिया ने मिसर को 'भोरे-भोरे' बेपानी कर दिया।

यह कहानी का एक हिस्सा है। गाँव और शहर की तुलनात्मक स्थिति में गाँव की मजदूरी के

बदले शहर की मजदूरी की बेहतर स्थिति यहाँ स्पष्ट होती है। कहानी में आगे चलकर गाँव के सारे लड़के रामविलास के साथ शहर जाने को तैयार हो जाते हैं। उनका कथन भी है- 'यहाँ साल भर हलवाही करते हैं सिर्फ एक सौ आठ रुपये में। वहाँ, एक महीने में दो सौ?' गाँवों से पलायन की बड़ी वजह आर्थिक जकड़बंदी है। सामंती व्यवस्था में सारे मजदूर बेगार से परेशान हैं। उन्हें मजदूरी का वाजिब हक नहीं मिलता। इसीलिए वे कहते हैं- 'भला कौन जवान रहना चाहेगा, इस मनहूस गाँव में।' गाँव शोषण की स्थली हैं। रामविलास शहर की चकाचौंध का प्रतीक बन गया है। गाँव के सभी नौजवान पटना जाना चाहते हैं। रजिन्दर नगर की खूबसूरती के क्या कहने। इन्दरासन की इन्दर सभा? जमादारिन भी किसी बड़े जमींदार की बहू लगती है। दरअसल आर्थिक अभाव और सामंती शोषण में पिसते गाँवों की तस्वीर बदतर थी। शहर उनके लिए उम्मीद की तरह थे, जीवन और आजादी की लालसा की तरह। रामविलास की पत्नी झुमकी कहती है- 'सहर जाकर आदमी की आवाज तक बदल जाती है।' फणीश्वर नाथ रेणु 'उच्चाटन' के इस पूरे प्रसंग को अभावों से जूझ रहे गाँवों की सच्ची तस्वीर की तरह पेश करते हैं। यह बेरोजगारी की भी तस्वीर है। गाँवों के नौजवान हर काम करने को तैयार हैं, बशर्ते काम तो मिले। काम नहीं है तो गाँव में मिसर जैसे लोगों का शोषण है, अभद्रता है। यही नहीं गाँव के वर्गभेद को भी रेणु सामने लाते हैं। बिलसवा का रामविलास सिंघ हो जाना यूँ ही नहीं है। गाँवों में ऊँच-नीच का स्तर इतना गहरा है कि रामविलास की बेहतर स्थिति ऊँचे तबके से देखी नहीं जाती। 'सभी ने बारी-बारी से हाथ में लेकर फोटोवाला रिक्शा-डलेवरी लाइसेंस देखा। नहीं, रामविलास झूठ नहीं कहता। लोगों ने झूठमूठ खबर उड़ा दी थी कि 'क्रस्कान होटल' में बर्तन माँजता है। लोगों ने नहीं, उस दूबे के बड़े बेटे ने। जनेरु की कसम खाकर कहता था कि हम अपने 'चसम' से देखा है उसको।' कहानी में दूबे के लड़के

का प्रसंग रेणु जानबूझकर लाते हैं। रामविलास पहले ही मिसर को बेपानी कर चुका है, उसकी धाक जम चुकी है, फिर भी यह प्रसंग इसलिए कि रामविलास की बदली हुई जिंदगी से संपन्न तबका खुश नहीं है। और नहीं तो उसके शहर के काम को ही निचले स्तर का बताकर उसकी अवमानना करना चाहता है। इस अवमानना में 'क्रस्कान होटल' का आना रामविलास को जाति-समाज से अलग-थलग करने का सांप्रदायिक प्रयास भी है। सामंतवाद अपनी रक्षा के लिए इन हथकंडों को बहुत पहले से आजमाता आया है। अलग बात है कि रामविलास के आकर्षण में 'उसका मचान गाँव के मालिक मिसर का चौपाल हो गया है, मानो। अब बाभन राजपूत टोले के जवान भी आकर बैठते हैं।'

गाँव के गरीब लोगों की जिंदगी में जानवरों का क्या महत्व है, रेणु इसे अपनी कहानियों में बखूबी बयान करते हैं। 'तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम' के बैलों को याद कीजिए। ग्रामीणों की रोजी रोटी में जानवरों की बड़ी भूमिका है। रामविलास के पास भी एक भैंस है। 'दो साल पहले, चैत महीने की आधीरात में गाँव छोड़कर चुपचाप भागा था रामविलास-गाँव छोड़कर और मिसर की नौकरी छोड़कर, मिसर का करजा पचाकर।' तब बूढ़े मिसर के सिपाही रामसिंघासन सिंह ने कहा था- 'ई भैंसिया तो मालिक के बथान पर जइबे करी, एक न एक दिन।' खैर, भैंस तो मिसर के बथान पर नहीं गई लेकिन झुमकी और उसकी सास की जिंदगी का आधार जरूर बन गई। वह भी तब जब 'गाँव में कैसे-कैसे जमामार लोग हैं, सो किसी से छिपा है? लेने के समय दूध-दही मीठा लगता है और दाम लेने के बेर खड़ा।' गाँव के काइयाँपन में यह बात रहती है कि किसी आदमी को खाते-पीते देखना लोगों को नहीं सुहाता। भैंस से दो बरस कट गए तो उसकी भी वजह ढूँढ़ ली। वहाँ भी खोट निकाल दिया; भैंस की देखभाल करने वाले शिवधारी और झुमकी के बीच रिश्ता जोड़कर। गाँव की फैलाई अफवाह का काँटा रामविलास

के सीने में चुभा है। झुमकी सब साफ कर देना चाहती है। वह शिवधारी के घर जाकर उससे कहती है-‘सुबह से सभी लोग आए और तुम भैंस दूहकर बथान पर से ही क्यों भाग आए? सुबह से तुम्हारे बारे में दस बार पूछ चुका है। नहीं जाओगे तो उसको कैसे मालूम होगा कि तुमने कैसे-कैसे दिन में क्या-क्या किया है? अपने जानते, जितना हो सका, मैंने कहा है। तुमको डर काहे का लगता है? साँच को आँच क्या?’ शिवधारी आया तो उसने एक प्रसंग के बहाने रामविलास को संकेत भी किया-‘इस गाँव की बलिहारी है। बिना पर की चिड़िया उड़ाने वाले बहुत लोग हैं।’ लेकिन रामविलास के मन में एक छोटा सा काँटा कई दिनों से ‘खचखच’ कर गड़ जाता है-समय-असमय। उस रात झुमकी ने वैसा क्यों कहा? क्यों? सब ठीक है। मुदा....।’ इसके बाद उसी ‘सब कुछ ठीक है। मुदा-।’ को लेकर रामविलास और झुमकी में जिरह है। रामविलास के लिए खुशी की खबर है ‘शिवधारी अब रात में भैंस नहीं चरावेगा।’ वह झुमकी से कहता है-‘मारो साले को गोली। कल एक भैंसवार ठीक कर दूँगा।’ यहाँ भी झुमकी का तर्क है कि ‘भैंसवार कौन चरावेगा तुम्हारी भैंस? सभी गिरस्तों के हलवाहे-चरवाहों को तुम भगाकर सहर ले जा रहे हो।’ रामविलास से वह कहती है कि सभी गिरस्त ऐसा बोलते हैं। लेकिन रामविलास को भरोसा नहीं है। वह कहता है-‘सभी गिरस्त नहीं। बोलता होगा, तुम्हारा वह शिवधरिया।’ इस जिरह-बहस में वह यह भी घोषित करता है कि जाने से पहले झुमकी को और शिवधरिया को खतम करके जाएगा। इस जिरह-बहस का अंत झुमकी के समर्पण से होता है। शक के काँटे को निकालने का कोई और उपाय नहीं मिला तो झुमकी ने कहा कि तुम पटना मत जाओ। अगर जाना ही है तो उसे भी ले चलो। झुमकी की यह समर्पण भरी जिद कहानी में यू टर्न लाती है। रामविलास तय कर लेता है कि वह पटना नहीं जाएगा। उसकी इस घोषणा के चौथे दिन सभी ने सुना कि शिवधारी गाँव छोड़कर भाग गया। इस खबर के बाद रामविलास

ने झुमकी को खींचकर छती से लगा लिया। बाहों में उसके सिर को भरकर बोला, ‘मारो साले को गोली। वह साला सहर से बचकर कभी वापस नहीं आवेगा। साले को दारु खा जाएगा! देखना!’

प्रश्न उठता है रेणु कहानी को इस तरह क्यों खत्म करते हैं? सामंती व्यवस्था से टकराता हुआ एक नौजवान फिर उसी व्यवस्था में पिसने को क्यों तैयार है? कहानी का इस तरह से घूम जाना क्या रेणु के लिए शहर बनाम गाँव के संघर्ष में गाँव को अंत में बेहतर दिखाने का सायास प्रयास है? क्या कहानी में झुमकी के मन से शिवधारी का ‘उच्चाटन’ कर देना ही अभीष्ट है। कहानी को यह कोण एक सुखात्मक रूप दे सकता है लेकिन रेणु ने कमजोर तबके के नौजवानों के मन से मिसर जैसे सामंतों के भय का ‘उच्चाटन’ कराकर भी फिर उसी दुनिया में क्यों धकेल दिया? क्या झुमकी का प्रेम शिवधारी का शक नहीं निकाल सकता था? क्या रेणु रामविलास को फिर से शहर भेजकर वर्ग-संघर्ष का रास्ता बजरिए गाँव बनाम शहर नहीं चुन सकते थे? ऐसे सारे सवाल कहानी खत्म होते ही उठने लगते हैं। रेणु कहानी में तर्क देते हैं-‘रामविलास आज मिसर के दरबार में कह रहा था कि घर की आधी रोटी भली। शहर में क्या है? जितनी आमदनी होती है उससे चौगुना लोहू खर्च होता है। गाँव आखिर गाँव है। मिसर जी ने बाकी करजे का एक पाई भी सूद नहीं लिया। शहर में इस तरह कोई सूद छोड़ देता? पटना कहो या दिल्ली, जो मजा अपने गाँव में है, वह इन्द्रासन में भी नहीं।’

‘सुना है, मिसर का बड़ा बेटा आटा धानी का मिल बैठावेगा। रामविलास मैंनेजरी करेगा उसका।’

कहानी का आरंभिक घटनाक्रम इस पूरे तर्क से परे है। रामविलास जिसने मिसर का जहरदाँत उखाड़कर फेंक दिया था, वही अब मिसर के बेटे के साथ काम करेगा। क्या रेणु गाँवों में वैमनस्थ की जगह समन्वय का रास्ता निकाल रहे हैं? क्या यह रास्ता बहुमत का रास्ता है? शायद नहीं। क्योंकि

रामविलास के निर्णय से गाँव के सभी जवान एक ही साथ आसमान से गिरे। यह भी कि 'सुना है, गाँव के गृहस्थों ने मिलकर चुपचाप रामविलास को 'घूस' दिया है। सभी के हलवाहे-चरवाहे भागे जा रहे थे न।' मतलब वही रामविलास जिसका जय-जयकार हो रहा था। गाँव के हर-घर में उसका नाम दिन में दस बार लिया जा रहा था। कहा जा रहा था-बेटा हो तो ऐसा। मरद हो तो ऐसा। जो कमजोरों की अस्मिता का प्रतीक बन गया था अब रिश्वतखोर हो गया। लोगों की नजरों से गिर गया। रेणु के लिए गाँव उनका अंचल हमेशा आकर्षण के केंद्र रहे। गाँव बनाम शहर के संघर्ष में वे शायद यह भी दिखाना चाहते रहे हों कि शहरों का भी हाल बहुत अच्छा नहीं है। गरीब का शोषण वहाँ भी है। किंतु गाँव बनाम शहर के इस द्वंद्व में रामविलास के हृदय परिवर्तन से कहानी कमजोर होकर अपने ही तर्कों को काटती हुई प्रतीत होती है। कहानी के चरम बिंदु को शिवधारी-झुमकी प्रसंग से खत्म करने पर रामदरश मिश्र की यह बात ध्यान देने योग्य है कि- 'रेणु की अलग-अलग कहानियों को पढ़ने से लगता रहा कि उन्होंने ग्राम-परिवेश और उसकी चेतना को बहुत गहरी अभिव्यक्ति दी है किंतु इनके संग्रहों को एक साथ पढ़ लेने के पश्चात इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि 'नई कहानी' की अधिकांश कहानियों की तरह रेणु की अधिकांश कहानियों की भी धुरी प्रेम या सेक्स है। वह चाहे 'रसप्रिया' हो चाहे 'तीसरी कसम', 'पंचलैट' हो चाहे 'सिर पंचमी का सगुन', 'लालपान की बेगम' हो चाहे 'भित्तिचित्र की मयूरी', 'अग्निखोर' हो चाहे 'एक आदिम रात्रि की महक'-सभी में केंद्र में किसी न किसी रूप में सेक्स ही है। इस सेक्स के साथ सामाजिक जीवन का कोई न कोई दूसरा पहलू भी अवश्य जुड़ा होता है किंतु पार्श्व में पड़ जाने के कारण तथा सामान्य ग्रामीण गतिविधि से जुड़े होने के कारण वह प्रभाव नहीं छोड़ता।' (रामदरश मिश्र-हिंदी कहानी: अंतरंग पहचान, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. 135) रामदरश मिश्र के

कथन के आलोक में रामविलास, झुमकी और शिवधारी के त्रिकोण को 'उच्चाटन' में देखा जा सकता है। 'उच्चाटन' का अर्थ खींचकर हटाने से भी है और विरक्ति से भी है। रामविलास द्वारा शिवधारी को शहर भागने पर बाध्य करना और खुद शहर से विरक्त हो जाना-शायद यही कहानीकार का अभीष्ट है।

रेणु के बारे में विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं- 'उनके कथा साहित्य में स्थितियों का विकास या तो होता नहीं या होता भी है तो इंद्रिय-बोध के बूते पर निर्मित मनोविकारों के जमघट में दबकर रह जाता है। इसलिए रेणु की कथाकृतियों का प्रभाव मुक्तक जैसा पड़ता है। रेणु के कथानक संयोजन में अंतर्विरोध समाए हुए हैं। किंतु अंतर्विरोधी शक्तियाँ सक्रिय नहीं हैं। रेणु ने अपने युग से मुख्य अंतर्विरोध-आर्थिक-राजनीतिक को केंद्र में रखकर रचनाओं को विकसित नहीं किया।' (विश्वनाथ त्रिपाठी-कुछ कहानियाँ: कुछ विचार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998, पृ. 55) विश्वनाथ त्रिपाठी की बात 'उच्चाटन' कहानी पर भी काफी हद तक लागू होती है। मधुरेश लिखते हैं- 'रेणु की कहानियों का संसार मुख्यतः ऐसे लोगों से निर्मित है जो गाँव के प्रति किसी हद तक एक रोमानी मोह से ग्रस्त हैं और जिन्हें गाँवों का सांस्कृतिक और लोकतात्विक वैभव बहुत गहराई से छूता और बाँधता है। नागार्जुन की तरह वह भारतीय ग्राम-जीवन के बदलते हुए संश्लिष्ट यथार्थ को अंकित नहीं करते-उसकी सारी परिवेशगत जटिलताओं और अंतर्विरोधों के साथ। न ही वह रूढ़ि-जर्जर सामंती या ग्राम-व्यवस्था से संघर्ष करती नई क्रांतिकारी चेतना के अंकन में दिलचस्पी लेते दिखाई देते हैं। इन सबके मुकाबले उनके सरोकार निश्चय ही भिन्न प्रकार के हैं।' (मधुरेश-नई कहानी: पुनर्विचार, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. 103)

फिर भी रेणु की कहानियाँ अपने आंचलिक आकर्षण से बाँधे रहती हैं। उनमें एक रसधार सदैव प्रवाहित होती रहती है। उस रस को बहाते हुए रेणु गीत भी गाने लगते हैं। 'तीसरी कसम' में तो कई गीत हैं।

‘उच्चाटन’ में भी रामविलास के मन में शहर लौटने को बचे चार दिनों में हमेशा एक विदाई गीत-समदाऊन गूँजता रहता है। उनकी भाषा में देशज संवेदना का ठाट देखा जा सकता है। ‘मरकट-महाजन’, ‘बाभन-बनिया’, ‘सिरगनेश’, ‘गिटकारी-भरी’, ‘बेसभाल’ आदि शब्द अन्य आंचलिक शब्दों से मिलकर कहानी की भाषा को गति देते हैं। लोकभाषा के शब्द चरित्रों को तो विशिष्टता देते ही हैं साथ ही पूरे परिवेश को भी जीवंत कर देते हैं। स्थानीयता कहानी की संवेदना को विशिष्ट बना देती है। बीच-बीच में वे अवांतर प्रसंग भी लाते रहते हैं। ‘तीसरी कसम’ की महुआ

घटवारिन को कौन भूल सकता है? ‘उच्चाटन’ में भी ‘पटनियाँ किस्सों के मुकाबले में एक ‘गँवैया-घरैया’ किस्सा सुनाने का मौका मिलता है, घोटना को। पछियाली टोली के मुसम्मात की नई पुतोहू का। मुसम्मात की पुतोहू ने ‘घरहुक्का’ सिधवा को ऐसा ‘कसकसाकर’ पकड़ा की उसकी हवा गुम हो गई। अररिया अस्पताल में ‘बधिया’ किया गया तब उसे होश आया।’ घोटना यह किस्सा रस लेकर सुनाता है। हाँलाकि सेक्स इस कहानी के भी केंद्र में है। इसलिए हम रामदरश मिश्र के कथन को एक बार फिर याद कर सकते हैं।

संपर्क : सी-1/24, रतनखंड, शारदानगर, लखनऊ-226002 मो.नं.-9651163672

तीसरी कसम : अविस्मरणीय प्रेम कथा

अजय वर्मा

फणीश्वरनाथ रेणु की कहानियों की चर्चा करते हुए सबसे दिलचस्प बात यह नजर आती है कि उनमें संवेदना का जो मूल राग है वह एक समय के दो बड़े कथाकारों यानी प्रेमचंद और जयशंकर प्रसाद दोनों से आगे है। अगर ग्राम कथा की बात की जाए तो रेणु प्रेमचंद की परंपरा में गिने जा सकते हैं, हालाँकि यह भी एक तथ्य है कि रेणु ने ग्राम कथा के अलावे शहरी जीवन से भी चरित्रों को लेकर भी कहानियाँ लिखी हैं, फिर भी मूल रूप से वे ग्रामीण जीवन के ही कथाकार के रूप जाने जाते हैं और ग्राम कथा पर जब भी बात होती है तो स्वाभाविक रूप से प्रेमचंद की परंपरा की बात सामने आ जाती है। किंतु जहाँ तक परंपरा की बात है तो रेणु प्रेमचंद की परंपरा से आगे के कथाकार हैं। इसको और बेहतर ढंग से समझने के लिए धनंजय वर्मा का यह कथन उल्लेखनीय है —

“ग्रामीण जीवन का यथार्थ चित्रण तो दोनों में है, लेकिन प्रेमचंद में जहाँ ग्राम्य जीवन से सहानुभूति है, वहाँ रेणु में आत्मीयता और तादात्म्य है। वे गहरे उतरकर उस जीवन की समस्याओं और उसके संपूर्ण और समग्र व्यक्तित्व को उभारते हैं एक दर्शक की हैसियत से नहीं, एक भोक्ता की हैसियत से, उन्हीं में से एक होकर। इसीलिए उनकी आत्मा में एक कंपन और विक्षोभ है। उनमें अनुभूति की वास्तविकता का ताप है, उनमें जीवन की वास्तविक प्रक्रिया की स्वर लिपियाँ हैं। उनकी कहानियों में उद्दाम जिजीविषा और गहरी मानवीयता है।” (नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति ‘सं. देवीशंकर अवस्थी, पृष्ठ 194, राजकमल प्र. दिल्ली, 1973)। यही मानवीयता उनकी कहानियों में जन-जीवन के गहरे आत्मीय संस्पर्श और उस जीवन की व्याकुल अकुलाहट को प्रकट करती है।

मेरा यह आलेख रेणु की प्रसिद्ध कहानी ‘तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम’ पर केंद्रित है। यह सर्व विदित है कि इस पर फिल्म भी बन चुकी है। मगर इस कहानी पर लिखने का कारण यह नहीं है कि फिल्म बनने के कारण इसको कितनी प्रसिद्धि मिली, जहाँ तक मेरी जानकारी है, व्यावसायिक दृष्टि से यह बिल्कुल असफल फिल्म रही है। इस पर लिखने का कारण यह है कि ग्रामीण जीवन में मौजूद संवेदना के मूल राग के साथ छोटी-छोटी रागिनियों को लेखक ने जिस प्रकार सूक्ष्मता से उकेरा है, वह कम से कम हिंदी की प्रेम कहानियों के इतिहास में विरल है। कहानी शुरू से अंत तक जीवन की ठोस जमीन पर चलती है, मगर संवेदना में गजब की तरलता दिखलाई देती है। संवेदना की यह तरलता पाठक को स्मृति के भव्य लोक में नहीं ले जाती जैसा कि जयशंकर प्रसाद की कहानियाँ करती हैं और न ही अपने समकालीन निर्मल वर्मा की कहानियों की तरह एक अनाम, उदास और अबूझ रहस्यलोक में पहुँचा देती हैं। रेणु जीवन के ठोस यथार्थ को आख्यान में बदल देते हैं, सामान्य और

साधारण जन-जीवन के आख्यान में। इस दृष्टि से देखें तो रेणु की यह कहानी यथार्थवाद से बहुत दूर नहीं है, न ही प्रेमचंद की परंपरा से, मगर यथार्थवाद के विभिन्न रूपों के प्रयोग रेणु में दिखलाई देते हैं जबकि प्रेमचंद में यथार्थ के प्रयोग का यह वैविध्य नहीं दिखलाई देता है। इसीलिए मेरा विचार है कि रेणु प्रेमचंद की परंपरा में होते हुए भी उनसे आगे हैं। यहाँ संवेग बहुत महत्वपूर्ण नहीं हैं, महत्वपूर्ण हैं मानवीय भावनाओं से भरी, उनके मूर्त-अमूर्त कारकों की पहचान। सुरेंद्र चौधरी कहते हैं कि वास्तविकता की ऐसी रूमानी अनुभूतियाँ और भावनाएँ मानवीय सत्ता के कठोर तथ्यों की पहचान बन जाती हैं, समस्त मानवीय भावना के सार के रूप में विश्व दृष्टि बनकर जीवन के अंतरंग को उजागर करने लगती हैं (हिंदी कहानी : रचना और परिस्थिति 'सुरेन्द्र चौधरी, सं. उदयशंकर, पृष्ठ 192, अंतिका प्रकाशन गाजियाबाद, 2009)। यही कारण है कि रेणु कहानी में तटस्थ नहीं रह पाते, जिस प्रकार प्रेमचंद तटस्थ होते हैं। ये खुद कथावस्तु का हिस्सा बनते हैं और जो रूमानी अनुभूतियाँ इनके चरित्रों की होती हैं, वही अनुभूतियाँ खुद लेखक की हैं।

इस कहानी पर विचार करने के लिए इन बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है तभी हम इस की संवेदनात्मक गहराई और जन-जीवन के व्यापक यथार्थ को समझ सकेंगे। कहानी की शुरुआत में ही किस्सागोई की अद्भुत कला देखने को मिल जाती है, मगर किस्सागोई के साथ-साथ दृश्य प्रस्तुत करने की कला भी नजर आती है। किस्से की शुरुआत इस वाक्य से होती है –

‘हिरामन की पीठ में गुदगुदी लगती है’ (‘तुमरी’ फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 94, राजकमल, दिल्ली, 2000)।

इसके बाद कथा पीछे जाती है और पृष्ठभूमि शुरू होती है। हिरामन तस्करी का माल बैलगाड़ी से लेकर जाते हुए पुलिस द्वारा पकड़ा जाता है। उसके साथ अन्य उन्नीस बैलगाड़ियाँ हैं। बैल हिरामन की

संकेत की भाषा समझते हैं, मनुष्य और पशुओं के अंतरंग रिश्ते लोक जीवन की विशेषता है। प्रेमचंद इसका प्रयोग अपनी कहानियों में कर चुके हैं, मगर इस कहानी का पहला वाक्य ही प्रत्यक्ष कथा का प्रारंभ है ‘हिरामन की पीठ में गुदगुदी क्यों लगती है?’ कारण है कि गाड़ी में उसने जनानी (स्त्री) सवारी को बैठाया है। रेणु कथा के भीतर कथा की पद्धति का प्रयोग करते हैं। गाड़ी चलती है और कुछ देर के बाद हिरामन और हीराबाई के बीच संवाद शुरू होता है जिसमें रूमानियत का सहज रंग दिखलाई देता है। इसी के बीच महुआ घटवारिन की कथा हिरामन सुनाता है। यह कथा संदर्भ मात्र नहीं है, हिरामन और हीराबाई की प्रेम कथा से जुड़ती है रेणु इसके लिए छोट-छोटे काव्यात्मक बिंबों की रचना करते हैं ‘एक तो पीठ में गुदगुदी लग रही है, दूसरे रह-रहकर चंपा का फूल खिल जाता है उसकी गाड़ी में एक टुकड़ा चाँदनी उसकी गाड़ी में समा गई। फिर हीराबाई की आवाज सुनकर हिरामन के रोम-रोम बज उठे और हिरामन के साथ बैलों के कान भी खड़े हो गए, इस बोली को परखने के लिए। मानवीय संवेदना का यह सर्वाधिक उत्कृष्ट रूप है जब मनुष्य की संवेदना के साथ पशु की संवेदना जुड़ जाती है। प्रेमचंद ‘पूस की रात’ में हल्कू के साथ कुत्ते की संवेदना प्रकट करते हैं। लेकिन रेणु इनसे आगे बढ़ते हैं, हल्कू का कुत्ते के साथ रिश्ता बोली यथार्थ को बरतने का एक तरीका है, किंतु हीराबाई की “फेनुगिलासी-बोली सुनकर बैलों के कान खड़े करके सुनना यथार्थ को बरतने का एक दूसरा तरीका है। यह कोरा संवेगात्मक चित्रण नहीं है, ग्रामीण जीवन के यथार्थ को देखने की गहरी संवेदना से उत्पन्न भाव चित्र हैं और ये भाव चित्र जीवन से दूर नहीं हैं, न कोरे रूमानी हैं। रूमानियत के ये छोट-छोटे भाव चित्र अथवा शैडोज संवेदनीयता की एक बड़ी तस्वीर रचते हैं। हिरामन के जीवन में रूमानियत की घड़ी कुछ ही देर के लिए आई जिसका अंत त्रासद हुआ, लेकिन थोड़े समय के लिए उसके

हृदय में प्रेम के जो तार बज उठे थे वे कच्ची रूमानियत के स्वर नहीं थे, स्वर टूट गया मगर उसकी स्मृति पर इतनी गहरी छाप छोड़ गया जिसकी पीड़ा का अंदाजा लगा पाना मुश्किल है। यह जीवन भर का संताप है, मगर इस दुख के भीतर एक विलक्षण आनंद भी है जिसने हिरामन के जीवन की दिशा ही बदल दी और वह (शायद) अपने जीवन की तीसरी कसम खाता है कि अब किसी कंपनी की स्त्री को गाड़ी में नहीं बाटाएगा। हीराबाई गाड़ी में सवार होती है, गाड़ी खुल जाती है और हिरामन के मन पर क्या प्रतिक्रिया होती है इसको रेणु ने बड़े सूक्ष्म संकेतों के माध्यम से व्यक्त किया है – “गाड़ी ने सीटी दी। हिरामन को लगा, उसके अंदर से कोई आवाज निकलकर सीटी के साथ ऊपर की ओर चली गई ‘क’ उ ‘उ’ इ – स्स! छि ‘ई’ ‘ई’ छक्क! गाड़ी हिली। हिरामन ने अपने दाहिने पैर के अँगूठे को बाएँ पैर की एड़ी से कुचल लिया। कलेजे की धड़कन ठीक हो गई। ... हीराबाई हाथ की बैंगनी साफी से चेहरा पोंछती है। साफी हिलाकर इशारा करती है ... अब जाओ।आखिरी डब्बा गुजरा, प्लेटफार्म खाली सब खाली ... खोखले ...मालगाड़ी के डब्बे! दुनिया ही खाली हो गई मानो ! हिरामन अपनी गाड़ी के पास लौट आया” (वहीं, पृष्ठ 125)। इस उद्धरण में ध्वनि संकेतों और दृश्य बिंबों के माध्यम से लेखक ने हिरामन के हृदय में घटित उथल-पुथल को प्रस्तुत किया है। अद्भुत है हिरामन का एलियनेशन। वह अपने भीतर ही एलियनेटेड है। हीराबाई के साथ होकर भी वह अपने भीतर कैद है। धनंजय वर्मा कहते हैं-“

“अकेलेपन की अनुभूति एक दूसरे स्तर पर यहाँ उभरती है। उसके चरित्रों की मानसिक बनावट में कोई असाधारणता नहीं है, लेकिन उनकी व्यंजना में, उस परिवेश के चित्रण में संगीत स्वरों की सी सूक्ष्मता और सांकेतिकता का योग असाधारण है, उसकी वस्तु और चरित्र नए नहीं हैं, परिवेश नया है, उसमें जीने वाले पात्रों की प्रतिक्रिया का स्वभाव

और जीवन को देखने का तरीका, कुल मिलाकर उनकी संवेदनाएँ असाधारण और नई हैं, और सर्वोपरि है रेणु का निर्वाह, जिसमें अन्वित प्रभाव का ओर कोई भी प्रत्यक्ष प्रयत्न उन्होंने नहीं किया है, संगीत के सूक्ष्म स्वर की ही तरह संवेदना के स्तर पर एक ‘एक प्रतिक्रिया अपना प्रभाव छोड़ती चलती है और अंत में सब एक घनीभूत प्रभाव में घुल- मिल जाते हैं और कहानी संगीत की अशरीरी धुनों या चंपा के फूल की महक सी चेतना पर छा जाती है” (नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति- देवीशंकर अवरस्थी, पृष्ठ 194)।

भाव, संवेदना, छवियों, रंगों और ध्वनियों के प्रसंग में ऊपर जो कुछ भी कहा गया है, उससे यह साबित हो जाता है कि कहानी रचने की कला में रेणु अप्रतिम रचनाकार हैं। अब प्रश्न उठता है यथार्थ का। ऊपर कही गई बातों से यह प्रतीत हो सकता है कि रेणु पर कलावाद का कुछ अधिक प्रभाव है। इसमें कोई शक नहीं कि रेणु कला के मामले में बहुत सजग हैं और शायद इसीलिए यथार्थवादी होने के बावजूद निर्मल वर्मा जैसे रूपवादी-कलावादी लेखक भी उनकी प्रशंसा करने से परहेज नहीं करते हैं। इस लेख के शुरु में ही कहा गया है कि रेणु उतने ही यथार्थवादी हैं जितने प्रेमचंद। अंतर यथार्थ के निर्वाह को लेकर है। इस प्रसंग में सुरेंद्र चौधरी का मत है कि रेणु यथार्थ को आख्यान में बदल देते हैं। यह प्रयोग यथार्थवाद के विरुद्ध नहीं है, वास्तविकता यह है कि वे किसी रूढ़ शैली का प्रयोग नहीं करते। बल्कि वे अपनी हर कहानी में यथार्थ का अलग तरह से निर्वाह करते दिखलाई देते हैं। यथार्थ को आख्यान में बदलते के अनेक प्रकार रेणु की कहानियों में दिखलाई देते हैं। यह भी ध्यातव्य है कि इनकी कहानियाँ संवेगों से नहीं रची गई हैं बल्कि मानवीय भावनाओं, विचारों और उनके मूर्त-अमूर्त कारकों की पहचान भी उनमें की गई हैं। यथार्थ की ऐसी रूमानी अनुभूतियाँ और भावनाएँ मानवीय सत्ता के कठोर तथ्यों की पहचान बन जाती हैं एवं समस्त मानवीय भावना के सार के रूप में विश्व दृष्टि बनकर जीवन के

अंतरंग को उजागर करने लगती हैं (हिंदी कहानी : रचना और परिस्थिति 'सुरेंद्र चौधरी, पृष्ठ 192)।

यह कहानी रेणु की अधिकतर कहानियों की तरह लोक जीवन से जुड़ी उन कहानियों में एक है जिन्हें आंचलिक कहा जाता है। लेकिन आंचलिकता रेणु की कहानियों की मूल विशेषता नहीं है, ये कहानियों की संरचना के रूप में, भाषा-बोली, खान-पान, गीत और लोक कथाएँ, मुहावरों में मौजूद हैं, लेकिन लेखक की विश्व-दृष्टि की बात करें तो वहाँ आंचलिकता स्थानिकता का पर्याय नहीं है 'निस्संदेह यह कहानी विश्व दृष्टि के संदर्भ में स्थानिकता से ऊपर उठ जाती है। इसी के साथ-साथ यह कहना भी आवश्यक है कि जो वैविध्य यथार्थ के निर्वाह में दिखलाई देती है वही वैविध्य चरित्रों की रचना में भी दिखलाई देता है। रेणु की कुछ प्रमुख कहानियों को देखा जाए तो यह वैविध्य दिख जाता है। प्रस्तुत आलोच्य कहानी

'तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम' का हिरामन और हीराबाई, 'लाल पान की बेगम' की बिरजू की माँ, 'ठेस' का सिरचन, ये सब अलग-अलग व्यक्तित्व हैं, इनके चरित्र के सृजन में पूरी विविधता नजर आती है। राजेन्द्र यादव इन पात्रों के बारे में ठीक ही कहते हैं कि ये जीवित पात्र की तरह व्यवहार करते हैं। इस कहानी के बारे में यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार के चरित्रों की रचना इसमें की गई है वैसी रचना कला की ऐंद्रियता से ही संभव है। किंतु इसी के साथ यह भी सत्य है कि कहानियों का मूल राग एक ही है और वह है गहरी और व्यापक मानवीय दृष्टि, जो पूरी तरह संवेदना से युक्त है। अगर इसे हिंदी कहानी के इतिहास में कालजयी कहानी के रूप में याद किया जाता है तो इसमें कोई अतिवाद नहीं देखना चाहिए। निस्संदेह रेणु की यह कहानी मानवीय संवेदना के चरम उत्कर्ष को दिखलाती है।

संपर्क : अन्नदा कॉलेज, हजारीबाग, झारखंड, मो. 9431955249

नाच देखने जाना महत्वपूर्ण है, नाच देखना नहीं

निशांत

कभी-कभी आप गाँव नहीं जा पाते, जैसे 2020 में कोविड की वजह से। गाँव यानी आपका अपना बचपन, आपका जन्म स्थान, आपके खेत, आपकी स्मृतियाँ और ढेर सारे भूली-बिसरी यादें। मैं उनलोगों की बातें कर रहा हूँ जिनकी नाभी अभी भी गाँव से नालबद्ध है। शहरी लोग तो गाँव अब फिल्मों में देखते हैं। तो वैसे लोग जो गाँव नहीं जा पाते और पढ़ने-लिखने से थोड़ा भी वास्ता हो तो रेणु, फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों या कहानियों को लेकर पढ़ सकते हैं। 'मैला आंचल', 'परती परीकथा' में ज्यादा समय लगे तो 'तीसरी कसम' या 'लालपान की बेगम' या 'संवदिया' पढ़ सकते हैं। गाँव को फिर से जी सकते हैं। देख और महसूस कर सकते हैं। अपने को उनकी कहानी के किसी पात्र में तब्दील कर सकते हैं।

रेणु की कहानियाँ आप को काफी छूट देती हैं ताकि आप उन्हें पढ़े ही नहीं बल्कि जी सकें। एक अच्छी कहानी आप को कविता की तरह ही भावलोक की यात्रा भी कराती है। रेणु की कहानियाँ कोई बड़ी तकरीर प्रस्तुत नहीं करती। वह आपके मन के तारों को झंकृत कर देती है। रेणु की कुछ कहानियाँ मन के उसी संवेग को सिर्फ सहलाकर, चूमकर उस अहसास को जगाकर चल देती है। वैसी ही एक कहानी है 'लालपान की बेगम'।

'लालपान की बेगम' बिरजू की माँ की एक दिन की कहानी है, जहाँ वह नाच देखने जाती है। बिरजू की माँ की एक छोटी सी इच्छा है - बैलगाड़ी पर चढ़कर नाच देखने जाने की। यह उसी दिन भर की कहानी है। अगर एक दिन और 'इत्ती सी' इच्छा की कहानी होती तो रेणु इसके लिए ग्यारह पन्ने काले क्यों करते?

बकौल नामवर सिंह संसार की हर बात का किसी न किसी दूसरी बात से संबंध होता है तो इस छोटी सी इच्छा का, एक दिन की कहानी का कई दिनों की कहानियों से संबंध जुड़ता है। तो पहले इच्छा से शुरुआत करें।

बचपन में हमलोगों (संयुक्त परिवार में ढेर सारे भाई-बहन होने के कारण हमलोग या हमलोगों) की इच्छा होती थी कि पिताजी हमें लेकर कलकत्ता चले और जमीन के अंदर चलनेवाली रेल, सिनेमा, तारामंडल आदि घूमाकर लाए। घूमना या नाच देखना एक दिन के लिए घर से मुक्ति भी है और आनंद या खुशी को महसूस करना भी। वास्तव में घर एक कर्मस्थल है और मुक्ति अंतरात्मा की खुराक या उड़ान। राजेश जोशी की एक प्यारी सी कविता है - 'एक आदिवासी लड़की की इच्छा' जो एक बुंदेलखंडी लोकगीत पर आधारित है, देखें -

'लड़की की इच्छा है

छोटी सी इच्छा है

हाट झमलिया जाने की

सौदा-सूत कुछ नहीं लेना
तनिक-सी इच्छा है - काजर की, बिंदिया की।

सौदा-सूत कुछ नहीं लेना
तनिक-सी इच्छा है - तोड़े की, बिछिया की।

लड़की की इच्छा है
छोटी सी इच्छा है
हाट झलिया जाने की।

सौदा-सूत कुछ नहीं लेना
तनिक-सी इच्छा है - मुग्गे की, फुग्गे की।
फुग्गम उड़नेवाला हो
सुग्गम खूब बातूनी हो।

लड़की की इच्छा है
छोटी सी।

(प्रतिनिधि कविताएँ, पृ.24-25) बिरजू की माँ की इसी तरह की छोटी-छोटी इच्छाएँ हैं। कुछ भी न ले, सिर्फ बैलगाड़ी पर चढ़कर वहाँ पहुँच जाए तब भी उसकी इच्छा पूरी हो जाएगी। कहानी शुरू होती है, इस वाक्य से - “क्यों बिरजू की माँ, नाच देखने नहीं जाएगी क्या? और रेणु इसे खत्म करते हैं; इस वाक्य से - “बिरजू की माँ के मन में अब कोई लालसा नहीं। उसे नींद आ रही है। वह बैलगाड़ी पर बैठकर जा रही है।”

बैलगाड़ी पर बैठकर नाच देखने जाने से ही उसकी लालसा का अंत हो गया। जैसे कहानीकार कहना चाहता है कि अब मर भी जाए तो कोई गम नहीं। जबकि अभी बैलगाड़ी गाँव से बाहर भी नहीं निकली है।

वास्तव में कहानी पर लिखने से ज्यादा, उसे पढ़ने में आनंद आता है। खासकर के रेणु की कहानियाँ। पर हमारे भाग्य विधाता, हमारी भी छोटी-छोटी इच्छाएँ हैं जो लिखने से ही परम पद को प्राप्त होती हैं। खैर... तो मेरे कहने का लब्बोलुआब यह है कि इस लेख आलेख और ‘लालपान की बेगम’ कहीं एक साथ दिख जाए तो यह नाचीज ‘लालपान की बेगम’ को पढ़ने की सलाह या मशविरा अर्ज करता

है।

तो नाच देखने जाना महत्वपूर्ण है, नाच देखना नहीं।

वास्तव में जब हम अपनी छोटी-छोटी इच्छाओं, लालसाओं को प्राप्त करते हैं। उन्हें आत्मसात करते हैं तो हमारा आत्मविश्वास मजबूत होता है। हम छोटे से बड़े की तरफ कुच करते हैं। आत्मविश्वास की मजबूती हमें ‘हम कुछ हैं’ का अहसास करवाती है। ‘हम कुछ हैं’ इस अहसास को ही हम पाना या जीना चाहते हैं। इसे हम अपनी ‘आइडेंटिटी’ से जोड़ लेते हैं। ‘आइडेंटिटी’ के पुख्ता होते जाने से हमें खुशी होती है। आनंद मिलता मनुष्य छोटी-छोटी इच्छाओं से मिलकर बना है। छोटी-छोटी इच्छाएँ न हो तो जीवन में रस-लस ही न हो। वैसे भी कहा जाता है कि मनुष्य इच्छाओं का दास है। इच्छाएँ न हो तो जीवन ही न हो। जब साँझ का तारा निकल आया और बिरजू-चंपिया का बाप गाड़ी लेकर न आया तो बिरजू की माँ के मन के अवसाद को देखते बनता है। डपट कर कहती है - “चंपिया, डाल दे चूल्हे में पानी। बप्पा आवें तो कहना कि अपने उड़नजहाज पर चढ़कर नाच देख आएँ। मुझे नाच देखने का शौक नहीं! ... मुझे जगाइयो मत कोई ! मेरा माथा दुख रहा है।” अभावजनित बेबसी उपजा यह गुस्सा बच्चों पर निकलता है। वह कथरी के अंदर पड़े-पड़े दुनिया जहान की बातें सोचती है। लोग क्या कहेंगे? बगलवाली फुआ और जंगी की पतोहु क्या कहेगी कल जब वह पानी भरने जाएगी तब? वह देवता-पितर को याद करती है। उनके लिए मनौती मानती है। उसे अपने पर गुस्सा आता है - “ऊँहूँ, पहले से किसी बात का मनसूबा नहीं बाँधना चाहिए किसी को। भगवान ने मंसूबा तोड़ दिया।” और यह गुस्सा बिरजू के बाप पर सबसे ज्यादा है - “बिरजू के बाप पर बहुत तेजी से गुस्सा चढ़ता है। बढ़ता ही जाता है।.... बिरजू की माँ का भाग ही खराब है, जो ऐसा गोबरगनेश घरवाला उसे मिला। कौन सा सौख-मौज दिया है इसके मर्द ने !

कोल्हु के बैल की तरह खटकर सारी उम्र काट दी इसके यहाँ, कभी एक पैसे की जलेबी भी लाकर दी है उसके सामने !... पाट का दाम भगत के यहाँ लेकर बाहर-ही-बाहर बैल-हट्टा चले गए। बिरजू की माँ को एकबार नमरि लोट देखने भी नहीं दिया आँख से। ...बैल खरीद लाए। उसी दिन से गाँव में ढिंढोरा पीटने लगे, बिरजू की माँ इसबार बैलगाड़ी पर चढ़कर जाएगी नाच देखने !” दूसरे की गाड़ी के भरोसे नाच दिखाएगा !....” बिरजू की माँ सोना-चाँदी, गाड़ी-बंगला की इच्छा नहीं रखती। नाच देखने जाने में भी बैलगाड़ी पर चढ़कर जाने की इच्छा प्रबल है, नाच देखने के बबिस्वत।

बैलगाड़ी पर चढ़कर जाना, एक तरह का आत्मप्रदर्शन है। यह मन के कोने में दबी हुई लालसा है। गाँव में पैदल जानेवाले हैं और अधिकतर गाँव वाले तो पैदल ही जाते हैं या चले गए हैं। (कहानी में ऐसे संकेत कई जगह हैं।) पर बिरजू की माँ नहीं जाएगी। क्योंकि बिरजू के बप्पा ने उसे बैलगाड़ी पर ले जाने का वादा किया है। पति ने यह वादा इसलिए किया है क्योंकि वह पत्नी की इच्छा अच्छी तरह जानता है। रेणु जब ऐसी कहानियाँ लिखते हैं तो वे एक-एक व्यक्ति के मन के भीतर उतरकर उसके कोने-अंतरे तक को टटोल आते हैं। उसे भाषा के माध्यम से जीवंत बना देते हैं। पत्नी और पति के मन का ऐसा बखान है कि आप मुग्ध भाव से उसे बार-बार पढ़ते हैं। पत्नी एक किसान की पत्नी है और पति किसान है तो एक किसान-किसानी के मनोभाव भी उसमें घुल-मिल गए हैं। एक ऐसा किसान जो अपनी विरोधी में थोड़ा ऊँचा उठा हुआ है। जो जोरदार नहीं है। उसकी अपनी जमीन है। रेणु का वर्णन देखिए - “अंत में उसे अपने-आप पर क्रोध हो आया। वह खुद भी कुछ कम नहीं। उसकी जीभ में आग लगे। बैलगाड़ी पर नाच देखने की लालसा किस कुसमय में उसके मुँह से निकली थी, भगवान जाने ! फिर आज सुबह से दोपहर तक, किसी-न-किसी बहाने अठारह बार बैलगाड़ी पर नाच

देखने जाने की चर्चा छेड़ी है।... लो, खूब देखो नाच! वाह रे नाच! कथरी के नीचे दुश्ले का सपना।’.... कल भोरे पानी भरने के लिए जब जाएगी, पतली जीभवाली पतुरिया सब हँसती आएगी।.... सभी जलते हैं उससे, हाँ, भगवान दाढ़ीजार भी!.... दो बच्चों की माँ होकर भी वह जस-की-तस है। उसका घरवाला उसकी बात में रहता है। वह बालों में गरी का तेल डालती है। उसकी अपनी जमीन है। है किसी के पास एक धूर जमीन भी अपनी इस गाँव में। जलेंगे नहीं, तीन बीघे में धान लगा हुआ है, अगहनी। लोगों की बिखदीव से बचे, तब तो !” यह एक अद्भुत गद्य का टुकड़ा है। क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, मान, गर्व, अभिमान, डर-भय, सौंदर्य इस तरह के कई भाव एकसाथ आते हैं और लुथ से गुथ हो जाते हैं। अपने शारीरिक सौंदर्य, पति और खेत पर बिरजू की माँ का मन टीकता है तो अपने ऊपर क्रोध भी आता है। भगवान पर गुस्सा, अपने पर क्रोध आता है तो पतली जी भवाली पतुरियों से भय सताता है। एक स्त्री के मन के अंदर चलनेवाले कई भावों को यहाँ वाणी देते हैं रेणु। भावों का उद्वेलन ऐसे ही आता है, सागर की लहरों की तरह। एक पर एक लहराते हुए भाव। एक अभी खत्म नहीं हुआ कि दूसरा शुरू। इतना ही नहीं वह पुरुष की चापलुसी और उसकी नजरों की भाषा भी समझती है। बिरजू का बाप जब चापलुसी पर उतर कर कहता है कि - “अरे टोकरी भर रोटी तो तू पलक मारते ही बना लेती है; पाँच रोटियाँ बनने में कितनी देर लगेगी।” उसके बाद रेणु की जादुई भाषा देखते बनती है- “अब बिरजू की माँ के होठों पर मुस्कुराहट खुलकर खेलने लगी। उसने नजर बचाकर देखा, बिरजू का बप्पा उसकी ओर एकटक निहार रहा है।.... चंपिया, बिरजू न होते तो मन की बात हँसकर खोलते देर न लगती।” यह जीवंत भाषा जिसके जी उठने का पाठक इंतजार करता है लेकिन लेखक तुरंत उसे परिवार की धूरी की तरफ मोड़ देता है - “चंपिया और बिरजू ने एक-दूसरे को देखा और खुशी से उनके चेहरे जगमगा उठे।...मैया बेकार

गुस्सा हो रही थी न। 'देर न लगती' के बाद ही यह दो वाक्य जुड़े हुए हैं। एक साथ हैं। शिवमूर्ति होते तो पति-पत्नी में केली कराकर ही मानते। लेकिन रेणु की यही विशेषता उन्हें भाषा का जादूगर बनाती है। अश्लील होने से बची रहती है रेणु की भाषा। भीष्म साहनी ने एक बड़ी मौजू बात कही - "कहानी लेखन इस दृष्टि से सचेत प्रक्रिया नहीं है कि लेखक सचेत रूप से अपने कालबोध को पाठक तक पहुँचाने के लिए कहानी को माध्यम के रूप में इस्तेमाल करे। कहानी इस तरह सोच-समझकर नहीं लिखी जाती। कहानीकार का संवेदन ही मूलतः उसका दिशा-निर्देश करता है, उसका तर्क अथवा उसकी नपी-तुली मान्यताएँ नहीं।" (हिंदी कहानी संग्रह, पृ.-1) रेणु की ग्रामीण पृष्ठभूमि की कहानियों के आधार पर हम आसानी से निश्चित कर सकते हैं कि उनकी संवेदना किस तरफ थी।

इस कहानी को पढ़ते हुए होरी के गाय खरीदने की इच्छा जो पूरी कहानी का त्रासद अंत करवाती है कि याद आती है। प्रेमचंद और रेणु के गाँव में काफी अंतर है। दोनों के समय में भी। यहाँ तक की रेणु के उत्तरवर्ती लेखको काशीनाथ सिंह, संजीव, शिवमूर्ति, कैलास वनवासी, सत्यनारायण पटेल के समय और गाँव में भी। प्रेमचंद के यहाँ गरीबी जहालत और उस से उपजी त्रासदी सवा सेर गेहूँ, पूस की रात, कफन, ठाकुर का कुआँ आदि में देर तक हमारा पीछा करती है। बल्कि अभी तक ये कहानियाँ हमारी हिंदी कहानी के सर पर मंगटिके की तरह चमचम कर रही हैं जबकि एक स्त्री के लिए मंगटिके से ज्यादा जरूरी है सिंदूर। रेणु की कहानियाँ इसी सिंदूर की तरह है। गरीबी-भूख, जहालत यहाँ भी है लेकिन है 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' की तरह, जहाँ पात्र उस गरीबी में भी अपने हँसने-बोलने, आनंद के लिए थोड़ी सी जगह बना लेता है या निकाल लेता है। दुख और सुख, यही दो भूल भाव है। एक पीछा करता है। दूसरा मनुष्य के आगे आगे चलता है। एक से मनुष्य भागने या लड़ने की लगातार कोशिश

करता हो तो दूसरे को प्राप्त करने की लालसा में उसके पीछे-पीछे चक्कर लगाने लगता है। दोनों के द्वंद्व से जीवन में गति आती है। जीवन का आरंभ होता है। संसार का हर प्राणी सुखी रहना चाहता है और सुख को प्राप्त करने के लिए कर्म करना पड़ता है। कर्म तो प्रेमचंद के पात्र भी करते हैं और रेणु के पात्र भी। लेकिन ऊपर भीष्म साहनी के हवाले से जो बात कही गई है, वही प्रेमचंद और रेणु में मूलभूत अंतर पैदा कर देती है। रेणु के यहाँ भी गरीबी और दुख है लेकिन उस पर लड़ने का उत्साह और सुख की छाया है। एक उदाहरण देखें - "बिरजू की माँ के मन में रह-रहकर जंगी की पुतोहू की बातें चुभती हैं, भक्-भक् बिजली बत्ती !... चोरी-चमारी करनेवाले की बेटी-पुतोहू जलेगी नहीं ! पाँच बीघा जमीन क्या हासिल की है बिरजू के बप्पा ने गाँव की भाई खौकियों की आँखों में किरकिरी पड़ गई है। खेत में पाट लगा देखकर गाँव के लोगों की छाती फटने लगी। इसमें जलने की क्या बात है भला!.... बिरजू के बप्पा ने तो पहले की कुर्मा टोली के एक-एक आदमी को समझा के कहा था, जिंदगी-भर मजदूरी करते रह जाओगे। सर्वे का समय आ रहा है, लाठी कड़ी करो तो दो-चार बीघे जमीन हासिल कर सकते हो। सो गाँव की किसी पुतखौकि का भतार सर्वे के समय बाबू साहेब के खिलाफ खौसा भी नहीं। बिरजू के बप्पा को कम सहना पड़ा है ! बाबू साहेब गुस्से से सरकस नाच के बाघ की तरह हमें घुमेंडते रह गए। उनका बड़ा बेटी घर में आग लगाने की धमकी देकर गाया।... आखिर बाबू साहेब ने अपने सबसे छोटे लड़के को भेजा। बिरजू की माँ को 'मौसी' कहके पुकारा - यह जमीन बाबूजी ने मेरे नाम से खरीदी थी। मेरी पढ़ाई-लिखाई उसी जमीन की उपज से चलती है।... और भी कितनी बातें। खूब मोहना जानता है उता जरा सा लड़का। जमींदार का बेटा है कि....' यह अंतर प्रेमचंद और रेणु के कथा नायक में है। एक-पाँव के नीचे गर्दन हो तो पाँव सहलाने की बात करता है तो दूसरा लाठी कड़ी

करने की। यहाँ बिरजू की माँ बाबू साहेब के सारे पैतरे को समझ चुकी है। घर में आग लगने की धमकी से बात न बनी तो मौसीपना जोड़कर दाल गलाने की कोशिश की गई। रेणु के किसान क्रांतिकारी हैं, इस अर्थ में कि वे किसी बाबू साहेब से नहीं डरते। ऐसे कई उदाहरण इस कहानी में हैं, जहाँ पात्र समझौता नहीं करते।

विचार चेतना संपन्न पात्र तभी कहानियों में आकर घुल-मिल जाते हैं जब विचार जीवन का अंग बन जाए। वैचारिक चेतना और जीवन में फाँक नहीं था। रेणु के यहाँ वैचारिक चेतना उनकी कहानियों में सहज-सरल ढंग से संप्रेषित होता है। उसके लिए रेणु कोई दूर की कौड़ी या युक्ति खोजकर नहीं लाते। वैचारिकता की पढ़ाई पढ़ाकर सिर्फ क्रांति-क्रांति जुम्ली करनेवाले लेखक रेणु नहीं थे। उन्होंने सशस्त्र क्रंतियों में भाग लिया था। उसे जिया था। जेल गए थे। लाठी-डंडा खाए थे। इसलिए इतनी सहजता से उस भाव-विचार को आत्मसात कर पाए थे।

रेणु की भाषा में लोक का आत्मसातिकरण और उसकी आत्मीय उपस्थिति है। बिरजू का बप्पा अपने खेतों को कितना प्यार करता है, अपनी पत्नी और बच्चों को भी; बिना कहानी से गुजरे आप नहीं समझ सकते। वह लोक में कितना घुला है और उसके हृदय की विशालता का पता भी जो दुख-दैन्य स्थिति में भी अपने घर-परिवार समाज को लेकर चलता है, बिना कहानी से गुजरे आपको पता नहीं चलेगा, बिरजू की माँ भी उसके बप्पा के जैसी ही है। दोपहर को जंगी की पतोहू को 'भाईखौकी' (एक गाली) कहनेवाली बिरजू की माँ शाम को उसे अपनी गाड़ी में ही न्यौतति है - "आ, आ झट से कपड़ा पहनकर। सारी गाड़ी पड़ी हुई है।" "उसका भी हृदय कम विशाल और लोक में कम लगा हुआ नहीं है। दो उदाहरण से मैं अपनी बात खत्म करूँगा। पहला दृश्य है जब बिरजू का बप्पा गाड़ी लाते हुए अपने धान के खेत से धान की पैंचसीस लाता है - "चंपिया-ह ! उठती क्यों नहीं/ ले धान की पैंचसीस रख दें।" धान की

बालियों का छोटा सा झब्बा झोंपड़े के ओसारे पर रखकर उसने कहा, "दीया बालो" !

ढिबरी की रोशनी में धान की बालियों का रंग देखते ही बिरजू की माँ के मन का सब मैल दूर हो गया...। धानी रंग उसकी आँखें से उतरकर रोम-रोम में घुल गया।

"....पैंचसीस टट्टी में खोस दे, अपने खेत का है।" "अपने खेत का?" हुलसती हुई बिरजू की माँ ने पूछा, "पक गई धान?"

"नहीं, दस दिन में अगहन चढ़ते-चढ़ते लाल होकर झुक जाएंगे सारे खेत की बालियाँ।.... मलदहिया टोली जा रहा था, अपने खेत में धान देखकर आँखें जुड़ा गई। सच कहता हूँ, पैंचसीस तोड़ते समय उंगलियाँ काँप रही थीं मेरी।" यह दृश्य प्रेमचंद की उस कहानी की याद दिलाती है जिसमें नायक छोटे-छोटे खेतों का भी नामकरण कर देता है। उन्हें उनके नाम से पुकारता है। इसी लांग शॉट में लेखक का कैमरा नीचा आता है, दूसरा दृश्य - "बिरजू ने धान की बाली से एक धान लेकर मुँह में डाल लिया और उसकी माँ ने एक हलकी डाट दी, "कैसा लुककड़ है तू रे !.... इन दुश्मनों के मारे कोई नेम धरम जो बचे !"

"क्या हुआ, डाटती क्यों है?"

"नवान्न के पहले ही नया धान जुठा दिया, देखते नहीं?"

"अरे, इन लोगों का सब कुछ माफ है। चरई-चुनमुन हैं ये लोग ! बस, हम दोनों के मुँह में नवान्न के पहले नया अन्न न पड़े।" बच्चों को चिरई-चुनमुन कहना और 'नवान्न' पर्व की एक नई व्याख्या करना बतलाता है कि रेणु और उनके पात्र अपने लोक में कितना रचे-बसे-धसे हैं।

लोक से ही कला प्राणरस पाती है। हजारीप्रसाद द्विवेदी का एक प्रसिद्ध निबंध है - 'वाक तत्व और विनायक धर्म' जहाँ कालिदास के मार्फत वे बतलाते हैं कि "सफल कलाकृति के लिए प्रयत्न और संस्कार को कालिदास आवश्यक समझते हैं। यही विनायक

तत्व है।” रेणु के यहाँ यह विनयाक तत्व है। संस्कार तो उनके यहाँ जनमना जैसी है और कला का प्रयत्न अर्थात् “प्रेषण धर्मी साधन अर्थ, रस, छंद और मंगल की ओर तभी ले जा सकता है जब उसमें सामाजिक मंगल की बुद्धि से परिचालित विनायक धर्म एकमेक होकर गुथा हुआ हो। इस विनायक धर्म को पाकर वर्ण अर्थ की ओर, अर्थ रस की ओर और रस मंगल की ओर जाता है।” आगे वहीं हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं - “किसी एक की भी उपेक्षा करने से कला विराट और उदात्त बनने से चूक जाती है और ललित मनोहर बनकर केवल क्षणिक ज्योति विकीर्ण

करके समाप्त हो जाती है।” (साहित्य सिद्धांत विमर्श, साहित्य अकादेमी, सं.-2017, पृ.-466) रेणु की कहानियाँ क्षणिक ज्योति विकीर्ण नहीं कहती। वे अर्थ से रस और रस से मंगल की ओर प्रस्थान करती हैं। बिरजू की माँ जो ‘लालपान की बेगम’ है उसके चरित्र की उदात्ता को रेणु जिस भाषा, शिल्प, संवेदना से कहानी में पिरोते हैं कि वह पाठक को भी उतना ही उदात्त बनाकर उसे उस मृतलोक से थोड़ी देर के लिए मुक्त करके भावलोक की यात्रा पर ले जाती है। सुख या स्वर्ग नहीं है तो इसी कहानी के भीतर। उस वक्त बिरजू की माँ की तरह पाठक के मन में भी कोई लालसा नहीं रहती।

संपर्क : हिंदी विभाग, काजी नजरूल विश्वविद्यालय, आसनसोल, 09239612662

संवदिया की संवेदना

विनय कुमार मिश्र

संवाद भेजने और ले जाने के कार्य में कुशल संवदिया की भूमिका बेहद महत्वपूर्ण होती है। भारतीय परंपरा में 'महाभारत' के कृष्ण को एक कुशल संवदिया माना गया है। कृष्ण पांडवों के संवदिया हैं, जो अपनी सूझ-बूझ और कुशलता से कौरवों के समक्ष पांडवों का पक्ष रखते हैं। और बात न बनने पर पांडवों के साथ खड़े होने का संकल्प लेते हैं। अंत तक उनका साथ देते हैं।

हिंदी साहित्य के आरंभिक दौर में अद्दहमाण के 'संदेश रासक' में काव्य-नायिका अपना संदेश अपने प्रिय के पास भेजने के लिए एक पथिक से निवेदन करती है। विद्यापति के यहाँ भी एक युवती- जिसका ब्याह एक बालक से कर दिया गया है- अपने पिता के पास दुःख-आक्रोश और व्यंग्यभरा संवाद भेजती है- 'बाट रे बटोहिया कि तुहु मोरा भाइ, हमरो समाद नैहरे लेले जाउ'। सूर-साहित्य में भी यशोदा देवकी के पास कृष्ण-संबंधित वात्सल्य-भरी मनोहारी स्मृतियों का संदेशा भेजती हैं। वहीं कृष्ण अपने संवदिया मित्र उद्धव के मार्फत गोपियों को संदेश भेजते हैं। साहित्य में मानवेतर जीवों पशु-पक्षी तथा प्रकृति के सहारे भी संवाद भेजने की परंपरा है।

आधुनिक काल के आजाद भारत में रेणु की धरती का भी एक संवदिया है। जिसकी संवेदना को देखकर- महसूसकर लोग श्रद्धावनत हो जाते हैं।

अक्टूबर-1962, में सारिका में प्रकाशित रेणु की कहानी 'संवदिया' का संवदिया एक पेशेवर संवदिया है। रेणु के हाथ से गढ़े गए पात्रों में अन्यतम है संवदिया। इसका नाम हरगोबिन है, इस कहानी का एकमात्र व्यक्तिवाचक नामधारी पात्र। यह नए युग में, परिवर्धित, परिष्कृत और परिवर्तित होकर रेणु के लोक का, वहाँ की जमीन का जमीनी संवदिया है। जो अभाव में भी मानवीय भावों से भरपूर है। उसकी करुणा और संवेदना स्वाभाविक, सहज और स्वतःस्फूर्त है, किसी भी चाहत के वशीभूत नहीं है। असहाय और असमर्थ लोगों का गोविंद है हरगोबिन।

जलालगढ़ गाँव का हरगोबिन, 'वातावरण को सूँघकर ही संवाद या संदेश का अंदाजा लगानेवाला' कुशल, हुनरमंद और सधा संवदिया है। गाँव के लोग भले उसे 'निठल्ला, कामचोर और पेटू आदमी' समझते हैं। लेकिन 'गाँव में कौन ऐसा है जिसके घर की माँ-बहू-बेटी का संवाद हरगोबिन ने नहीं पहुँचाया है।' वह गाँव की बड़ी हवेली की, असमर्थ और असहाय बड़ी बहुरिया का संवाद उसके मायके ले जाता है, लेकिन वहाँ कह नहीं पाता। पर गाँव वापस आकर बड़ी बहुरिया का सारा काम करने का संकल्प लेता है।

संवाद के शब्दों के सुर और स्वर के साथ ही लोगों के मिजाज-मन-मनोभाव की गहरी और सही समझ रखनेवाला हरगोबिन संवदिया, बड़ी हवेली की बड़ी बहुरिया की बुलाहट पर अचरज करता हुआ सोचता है। 'इस जमाने में जबकि गाँव-गाँव में

डाकघर खुल गए हैं, संवदिया के मार्फत संवाद क्यों भेजेगा कोई।' बड़ी बहुरिया डाकघर की बजाए संवदिया के सहारे संवाद भेजना चाहती है तो इसके पीछे बड़े कारण हैं। पहला, वह चाहती है कि खबर तुरंत पहुँचे, तत्काल। दूसरा जैसा कि हरगोबिन अनुमान लगाता है '...निश्चय कोई गुप्त समाचार ले जाना है। चाँद-सूरज को भी न मालूम हो। परेवा-पंछी तक न जाने।' संदेश ले जाते समय गोपनीयता और निजता को बनाए और बचाए रखना एक चुनौती है। आज सक्रिय सोशल मीडिया और सूचना क्रांति के दौर में संदेश की गोपनीयता तमाम 'प्रोटेक्टेड पॉसवर्ड' के बावजूद जब भंग होती है तब हरगोबिन जैसे संवदिया का महत्व समझा जा सकता है।

हरगोबिन बड़ी बहुरिया के अनकहे संकेतों को भी ठीक से समझता है। बड़ी हवेली के आँगन में अपमानजनक तगादा और वसूली के लिए बैठी बूढ़ी मोदिआइन को देख वह एकदम सही सोचता है कि 'जबतक मोदिआइन आँगन से नहीं टलती, बड़ी बहुरिया हरगोबिन से कुछ नहीं बोलेगी।' इसलिए वह मोदिआइन को चिढ़ाकर वहाँ से जाने के लिए विवश करता है।

बड़ी हवेली अब कहने के लिए ही बड़ी हवेली है। हवेली की ड्योढ़ी टूट गई है। आशय यह कि उसकी नींव हिल गई है, आधार दरक गया है, हवेली बदहाल है, हवेली की बड़ी बहुरिया बेहाल है। इस बदहाली और बेहाली की कई वजहें हैं- बड़े भैया (बड़ी बहुरिया के पति) की मृत्यु, रैयतों द्वारा जमीन पर दावे करके दखली, तीनों भाइयों के आपसी लड़ाई झगड़े और बड़ी बहुरिया के प्रति तीनों भाइयों की अतिशय निर्दयता-निर्लज्जता-कौरव क्रूरता। 'बड़ी बहुरिया की देह से जेवर खींच-छीनकर बँटवारे की लीला हुई थी, हरगोबिन ने देखी है अपनी आँखों से द्रौपदी-चीर-हरण लीला। बनारसी साड़ी को तीन टुकड़े करके बँटवारा किया था, निर्दय भाइयों ने।' घोर अभाव और अपमान का जीवन जीती बड़ी बहुरिया का आसरा गोविंद-कृष्ण समान भाई जैसा व्यक्ति ही हो

सकता है।

बड़ी बहुरिया की बेचारगी का कारण निर्दयी, निर्लज्ज, स्वार्थी और आत्मकेंद्रित देवर-देवरानियाँ ही हैं। वे 'ठीक अगहनी धान के समय बाल-बच्चों को लेकर शहर से आएँगे। दस-पंद्रह दिनों में कर्ज-उधार का ढेरी लगाकर, वापस जाते समय दो-दो मन के हिसाब से चावल-चूड़ा ले जाएंगे। फिर आम के मौसम में आकर हाजिर। कच्चा-पक्का आम तोड़कर बोरियों में बंद करके चले जाएंगे। फिर उलटकर कभी नहीं देखते...राक्षस हैं सब ! 'ये भाई बची हुई जमीन की उपज तो हड़पते ही हैं, उधार-कर्ज का बड़ा बोझ बड़ी बहुरिया के सिर पर छोड़ जाते हैं, इसी उधार के कारण बड़ी बहुरिया को लोगों की अपमानजनक, कड़वी बातें सुननी-सहनी पड़ती हैं।

दरिद्रता की दुःसह दशा के बीच बथुआ साग से किसी तरह पेट भरती बड़ी बहुरिया का एकमात्र नौकर भाग जाता है और 'गाय खूँटे से बंधी भूखी-प्यासी हिकर रही है। 'यह देख संतोष, त्याग और सहनशक्ति की प्रतिमूर्ति बड़ी बहुरिया का धैर्य टूट जाता है। वह एकदम निस्सहाय पड़ जाती है। यही सबसे बड़ा, गंभीर और तात्कालिक कारण है कि बड़ी बहुरिया अपनी ससुराल छोड़कर मायके रहने के लिए, अपनी माँ के पास संदेश भेजने का निर्णय लेती है।

हरगोबिन संवदिया को बुलवाकर, आँसू भरी आँखों-भरे गले से सिसकते और हिचकते, अपनी माँ के लिए यह संदेश कहती है- '... माँ से कहना मैं भाई-भाभियों की नौकरी करके पेट पालूँगी। बच्चों के जूठन खाकर एक कोने में पड़ी रहूँगी, लेकिन यहाँ अब नहीं... अब नहीं रह सकूँगी।... कहना, यदि माँ मुझे यहाँ से नहीं ले जाएगी तो मैं किसी दिन गले में घड़ा बांधकर पोखरे में डूब मरूँगी।...बथुआ-साग खाकर कब तक जीऊँ ? किसलिए... किसके लिए?' आँसुओं से भीगे, सिसकियों में डूबे एक-एक शब्द सुनकर भरी आँखों से कलपने लगता है संवदिया। 'बड़ी हवेली की लक्ष्मी को पहली बार इस तरह

सिसकते देखा है हरगोबिन ने। इस सिसकी भरे संवाद को बड़ी बहुरिया की माँ तक पहुँचाना संवदिया के लिए बहुत बड़ी चुनौती है। संवाद इस तरह पहुँचाना है कि बड़ी बहुरिया का दुख सबके सामने प्रकट न हो। संवाद भी पहुँचाना है, मर्यादा और सम्मान भी बचाना है।

अनेकों बार संवाद ले जानेवाला हरगोबिन संवदिया इस संवाद को ले जाते हुए, अत्यंत विचलित है, परेशान है, व्याकुल है। 'ऐसा संवाद पहली बार ले जा रहा है वह।' बड़ी बहुरिया के दुःख भरे जीवन की असहायता, असमर्थता, निरर्थकता और सारहीनता को व्यक्त करने वाले शब्द "किसके भरोसे यहाँ रहूँगी?... किसलिए.. मैं किसके लिए इतना दुःख झेलूँ?" संवदिया के मन को निरंतर, क्षण-क्षण शूल की तरह सालते हैं।

बड़ी बहुरिया के सद्भावों से प्रभावित और उसके दुःखों से व्यथित मन में एक पहाड़-सा संदेशा लिए हरगोबिन संवदिया थाना बिहपुर स्टेशन उतरता है। बड़ी बहुरिया के मायके की पगडंडियों पर उसके कदम बढ़ नहीं पा रहे हैं, शिथिल पड़ते जा रहे हैं। यह उस संवाद की कठोरता का भीषण दबाव है। वह इस गाँव में पहले भी कई बार अच्छे-बुरे संवाद लेकर आया है, पर ऐसी अनिच्छा और उदासी उसके मन में पहली बार उमड़ रही है। वह चिंतित है कि 'इसी पगडंडी से बड़ी बहुरिया अपने मैके लौट आवेगी। गाँव छोड़कर चली जावेगी। फिर कभी नहीं जावेगी।'

चूंकि बात हरगोबिन के अपने गाँव की है। इसलिए उसके मन में दुःख के साथ ग्लानि का भाव भी आता है। उसका कल्पना मन यही सोचता है कि- 'गाँव की लक्ष्मी ही गाँव छोड़कर चली आवेगी।... किस मुँह से वह संवाद सुनाएगा? कैसे कहेगा कि बड़ी बहुरिया बथुआ-साग खाकर गुजर कर रही है।... सुननेवाले हरगोबिन के गाँव का नाम लेकर थूकेंगे-कैसा गाँव है, जहाँ लक्ष्मी-जैसी बहुरिया दुःख भोग रही है।' बड़ी बहुरिया के दुःखों के लिए तनिक

भी जिम्मेदार न होने के बावजूद हरगोबिन के मन में ग्लानि का कारण क्या है? आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में- 'जिसके अंतःकरण में अच्छे संस्कारों का बीज रहता है, ग्लानि उन्हीं को होती है।' (रामचंद्र शुक्ल रचनावली, भाग-3, सं. नामवर सिंह, पृ.95.) संवदिया में ग्रामीण समाज का सच्चा-संवेदनशील संस्कार है, सद्गुति है। जबकि बड़ी बहुरिया के देवरों में जमींदारी समाज की लूट-खसोट वाली लोलुप वृत्ति है, कौरव-क्रूर प्रवृत्ति है।

हरगोबिन संवदिया काँपते हृदय और धड़कते कलेजे के साथ, सिसकियों भरा संवाद लिए आंगन में बड़ी बहुरिया की बूढ़ी माता की 'पाँवलागी' करता है। माँ को उम्मीद है कि बेटी ने जरूर कोई संवाद भेजा है। लेकिन जब बूढ़ी माता अपनी बेटी द्वारा भेजे गए संवाद की बात पूछती है तो वह एकबारगी नकर जाता है। बड़ी बहुरिया का दिया गया संवाद संवदिया के कंठ से निकल ही नहीं पाता। पर बूढ़ी माता को अपनी बेटी की स्थिति और परिस्थिति का सही-सही अनुमान है। बूढ़ी माता दुःख भरे शब्दों में कहती है 'वहाँ अब क्या रह गया है? जमीन-जाएदाद तो सब चली ही गई। तीनों देवर अब शहर में जाकर बस गए हैं। कोई खोज-खबर भी नहीं लेते। मेरी बेटी अकेली...!' इस बात को सुनकर संवदिया के मन और मुँह से कुछ और ही निकलता है- 'नहीं मायजी! जमीन-जाएदाद अभी भी कुछ कम नहीं। जो है, वही बहुत है। टूट भी गई है, तो आखिर बड़ी हवेली ही है। 'सवांग' नहीं हैं, यह बात ठीक है। मगर, बड़ी बहुरिया का तो सारा गाँव ही परिवार है। हमारे गाँव की लक्ष्मी है बड़ी बहुरिया।...गाँव की लक्ष्मी गाँव को छोड़कर बाहर कैसे जाएगी? यों देवर लोग हर बार आकर ले जाने की जिद्द करते हैं।'।

संवदिया बड़ी बहुरिया का संदेश कह नहीं पाता। उससे कहा नहीं जाता। संवदिया संवाद छिपा जाता है। दिए गए संदेश की जगह दूसरा ही संदेश कह देता है। कहे गए इस दूसरे संदेश के कई मायने हैं। पहला, बेटी के दुःख भरे संवाद को सुनकर माँ को

और कष्ट होगा, बूढ़ी माता को दरिद्रता और दुःख का संवाद सुनाना बेटी के दुःख से तड़प रही माँ को और तड़पाना है, यह संवदिया नहीं कर सकता।

दूसरा, बड़ी बहुरिया के दुःख और संवाद को किसी भी कीमत पर सार्वजनिक होने से बचाना। वह सीधा संवाद सुनाएगा, तो बड़ी बहुरिया मायके आएगी। उसका संवाद अर्थात् उसका दुःख सार्वजनिक हो जाएगा और संवदिया की विश्वसनीयता खतम हो जाएगी। संवदिया संवाद की निजता और गोपनीयता इसी तरह कायम रख सकता है। तभी वह सधा संवदिया है।

तीसरा, बड़ी बहुरिया की भलमनसाहत, सूधे मन-वचन-कर्म के प्रति श्रद्धावान संवदिया द्वारा सारे गाँव को ही बड़ी बहुरिया का परिवार बताना, प्रकारांतर से अपना संकल्प सुनाना है। संकल्प यह है कि संवदिया बड़ी बहुरिया के स्वजन-सहयोगी-सवांग के रूप में एक जिम्मेदारी से भरी भूमिका के लिए तत्पर है, तैयार है।

संवदिया का मन इतना व्यथित और विचलित है कि बड़ी बहुरिया के मायके का सुरुचिकर भोजन भी नहीं सुहाता, उससे खाए नहीं जाता। साधारण अवसरों और अन्य संवदियों की तरह वह न तो 'डटकर खाता है' न ही 'अफर कर सोता है'। उसका कचोटता मन घोर दुविधा में है '... यह उसने क्या किया? क्या कर दिया? वह किसलिए आया था? वह झूठ क्यों बोला ? ...नहीं, नहीं, सुबह उठते ही वह बूढ़ी माता को बड़ी बहुरिया का सही संवाद सुना देगा- अक्षर-अक्षर.... 'वह दुबारा मन को कठोर कर वही संवाद कहने कोशिश तो करता है, फिर भी कह नहीं पाता है। उसी सुबह वापसी का निर्णय लेता है। बूढ़ी माता को दिलासा देते, ढाढ़स बंधाते, दशहरा में बड़ी बहुरिया के साथ आने की बात कहकर विदा लेता है। यह संवदिया का उच्च मानवीय संस्कार है, सहजात संवेदनशीलता है।

संवदिया बड़ी बहुरिया के दुःखों को ठीक से समझता है, इसलिए 'राह-खर्च' का इंतजाम भी वह

स्वयं ही करता है। वापसी के समय, भाड़े का पूरा पैसा न होने के बावजूद बड़ी बहुरिया के बड़े भाई के 'राह-खर्च' की बात पूछने पर साफ शब्दों में कहता है- 'भैयाजी, आपकी दुआ से किसी बात की कमी नहीं।' ऐसा इसलिए है कि संवदिया चाहता है कि मायके वालों को बड़ी बहुरिया के दुःख का कम से कम इल्म और अनुमान हो। मायके वाले बड़ी बहुरिया के दुःख से कम से कम दुःखित हों।

संवदिया में ऊच्च मूल्यबोध का एक ईमानदार ग्रामीण है। मजबूरी और अभाव के बावजूद कोई गलत काम करने में न तो उसकी इच्छावृत्ति साथ देती है न ही साहस। कटिहार स्टेशन के आगे टिकट का पैसा न होने पर वह अपने गाँव जलालगढ़ तक बीस कोस, यानी साठ किलोमीटर पैदल चलने का निर्णय लेता है, चल देता है। 'दस कोस तक वह मानो बाई के झोकें पर रहा।' 'बाई का झोंका' यानी एक खास मानसिक आवेग, जिसके वशीभूत व्यक्ति कुछ असाधारण सा कर-गुजरता है। यह उस अंचल की विशिष्ट शब्दावली है, जो रेणु के यहाँ सहजता से आती है। बड़ी बहुरिया के दुःखों के प्रति प्रबल-भाव प्रवणता के कारण ही संवदिया अत्यंत थका-भूखा-प्यासा होने पर भी बूढ़ी माता द्वारा बेटी के लिए दिए गए बासमती धान के चूड़े की पोटली में से मुट्ठी भर भी खा नहीं पाता।

संवाद न कह पाने की दुविधा और अंतर्द्वंद्व के बीच, बड़ी बहुरिया के दुःख-दुर्दशा और संताप को शिद्धत से महसूस करता संवदिया, बदहवासी और व्याकुलता के ज्वर से पीड़ित, लगभग-बेहोशी की हालत में अपने गाँव पहुँचता है। यहाँ 'संवाद भेजने के बाद से ही अपनी गलती पर पछता रही' बड़ी बहुरिया, एक आत्मीय जन की तरह संवदिया की सुश्रुषा करती है। होश में आने पर संवदिया, बड़ी बहुरिया के पाँव पकड़कर अपना संदेश, या कहें कि संकल्प सुनाता है- 'बड़ी बहुरिया !... मुझे माफ करो। मैं तुम्हारा संवाद नहीं कह सका।...तुम गाँव छोड़कर मत जाओ। तुमको कोई कष्ट नहीं होने

दूँगा। मैं तुम्हारा बेटा ! बड़ी बहुरिया, तुम मेरी माँ, सारे गाँव की माँ हो! मैं अब निठल्ला बैठ नहीं रहूँगा। तुम्हारा सब काम करूँगा।.... !!!' शालीनता और विनम्रता से सुनाया गया यह संकल्प संवदिया के क्रोध को और ऊँचा उठाता है, उसके व्यक्तित्व को उज्ज्वल बनाता है।

बड़ी बहुरिया के प्रति संवदिया की सघन संवेदना का कारण सुनी-सुनाई बातें नहीं हैं। बड़ी बहुरिया उसके गाँव की है, उससे उसका संपर्क है, वह उसके अच्छे और बुरे दिनों का साक्षी है। बड़ी बहुरिया का दुःख संवदिया के हृदय में पहुँचकर और अधिक तीव्र हो जाती है, वह ज्यादा परेशान हो जाता है। संवदिया की कारुणिकता का सीधा समानुपाती संबंध बड़ी बहुरिया की असहायता और असमर्थता से है। यह कारुणिकता ही पाठकों के मन में संवदिया के प्रति श्रद्धा का भाव भर देती है।

कई लोगों में दूसरों के दुःख को देखकर मनोवेग तो उत्पन्न होता है, पर वे उसके अनुसार कार्य व

व्यवहार नहीं कर पाते। संवदिया अपने मनोवेग के अनुरूप सोचता है, समझता है, कार्य और व्यवहार करता है। वह बड़ी बहुरिया के सम्मान को बचाने के लिए और उसके दुःख को सार्वजनिक नहीं होने देने के लिए दिए गए संवाद को छिपा जाता है, पर साथ ही उसका सारा काम करने का संकल्प भी लेता है।

संवदिया की बड़ी बहुरिया के प्रति सहानुभूति नहीं है, कारण कि 'सहानुभूति तो वेगरहित दुःख होता है।' जबकि संवदिया का दुःख अत्यंत भावावेगमय है। उसका मन संवेदना और करुणा से भरा है। संवदिया का मनोवेग ही उसे जड़ नहीं बनने देता, सचेत और सचेतन बनाता है।

निश्चल, निष्कपट और निष्काम प्रवृत्तियों वाले संवदिया के सहारे के संवेदना को रेणु ने जिस सहजता, गहराई और बारीकी से बुना है, वह विरल है। इस संवेदना का आधार कोई चाह, प्रेम, आकर्षण, तृष्णा, लोभ या लालच नहीं, विशुद्ध मानवीय करुणा है। पवित्र संवेदना का उत्कृष्ट आदर्श है संवदिया।

संपर्क : मो. : 9748085097, Email- vinaymishra.cu11@gmail.com

अस्तित्व बचाने की जद्दोजहद

भारत यायावर

फणीश्वरनाथ रेणु के रिपोर्ताजों की पहली प्रकाशित पुस्तक है। 'ऋणजल-धनजल' रिपोर्ताज उनकी प्रिय विधा थी। 1950 ई. में वे अपने रिपोर्ताजों की पुस्तक प्रकाशित करवाना चाहते थे, जिसका पता गोपीकृष्ण प्रसाद के नाम लिखे उनके एक पत्र से चलता है। 10 जनवरी, 1950 ई. को लिखे पत्र का यह अंश देखें। 'संग्रह के काम में मैं जुट गया हूँ। ...संग्रह फरवरी के अंत तक आप प्रेस में दे सकते हैं। किसान मार्च के बाद 'रामराज' मैंने शुरू कर दिया है। इसके बाद डालमियानगर हड़ताल के आधार पर' लेकिन इसके लिए मुझे पटना आने की जरूरत होगी; मिल और मशीन के विभिन्न पुर्जों के नाम, कुछ टेकनिकल बातें यहाँ किससे पूछूँ 'रामधुन'। नेपाल में जो आग सुलग रही है उस पर 'चाँदी की हथकड़ी'। ... कम-से-कम संग्रह के लिए चार और लिख डालूँ क्या ...आपको आश्चर्य होगा 'जै गंगा' और 'डायन कोशी' वगैरह भी मेरे पास नहीं। न रफ, न प्रकाशित। 'जै गंगा' और 'डायन कोशी' आप ऊपर कीजिए।'

इस पत्रांश से यह स्पष्ट है कि रेणु 1950 में ही अपने रिपोर्ताजों का संग्रह प्रकाशित करवाना चाहते थे, किंतु वह हो न सका। उन्होंने 1945 से रिपोर्ताज लिखना प्रारंभ किया था और उनकी अंतिम रचना 'पटना जलप्रलय' 1975 ई. में प्रकाशित रिपोर्ताज है। इस रिपोर्ताज की पहली किस्त 'कुत्ते की आवाज' शीर्षक से साप्ताहिक 'दिनमान'; संपादक-रघुवीर सहाय के 21 सितंबर, 1975 के अंक में प्रकाशित होते ही राजकमल प्रकाशन की प्रबंध निदेशिका श्रीमती शीला संधू का पत्र उन्हें मिला। इसका उत्तर उन्होंने 24 सितंबर, 1975 ई. को लिखा- आदरणीय शीला जी, आपको 'टेलिपैथी' पर विश्वास हो या नहीं। मैं अपनी जिंदगी के अनुभवों से गुजर कर इस पर यकीन करता हूँ। दिनमान में बाढ़ का संस्मरण प्रकाशित होने जा रहा था और इसके साथ ही मैं सोच रहा था कि श्रीमती शीला जी से अभी ही अनुरोध कर दूँ कि। अतः अनुबंध-पत्र सहित आपका पत्र पाकर प्रसन्न और चकित हुआ। आपको अशेष धन्यवाद !'

इसी पत्र में आगे उन्होंने इस पुस्तक; जिसका बाद में उन्होंने नामकरण 'ऋणजल धनजल' रखा, की रूपरेखा बताते हुए आगे लिखा - 'किंतु, अब्बल तो यह कि इस बाढ़ के संस्मरण के साथ ही; अर्थात् प्रथम खंड में जाएगा। बिहार का सूखा और अकाल वाला रिपोर्ताज, जो 'दिनमान' के पाँच या सात अंकों में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ था। इन सभी अंकों के फायल उपलब्ध हैं।'

रेणु जी ने इस पुस्तक की एक लंबी भूमिका लिखी थी, जिसमें प्राकृतिक प्रकोप के अनेक संस्मरण थे, जो डाक में गुम हो जाने के कारण छप नहीं सकी। उस भूमिका

को वे दोबारा लिखकर भेज नहीं सके, जिसके कारण इस पुस्तक का प्रकाशन उनकी मृत्यु के बाद बगैर उनकी भूमिका के ही करना पड़ा। इस संदर्भ में 12 फरवरी, 1976 ई. को शीला संधू के नाम लिखे उनके पत्र से विस्तृत जानकारी मिलती है। 'कल रजिस्टर्ड पैकेट द्वारा किताब की 'ऋणजल-धनजल' भूमिका भेज रहा हूँ। जिस दिन भूमिका लिखने बैठा चासनाला खदान की अभूतपूर्व दुर्घटना घट गई। ...भूमिका में 15 जनवरी, 1934 के भूकंप से लेकर अबतक के दैवी प्रकोपों; जिन्हें याद कर के रोंगटे खड़े हो जाते हैं, के छुट-पुट संस्मरण हैं। मैंने अपनी इन रचनाओं को 'जुर्नल' कहा है। एक बात मैं एक बार स्वयं प्रूफ की कापी देख लेना आवश्यक समझता हूँ। मुझे गाँव पर होली तक यानी मार्च के प्रथम सप्ताह तक रहना है। यदि आप कृपाकर प्रूफ की कापी मेरे गाँव के पते पर भेज दें तो, मैं दूसरे ही दिन लौटती डाक से भेज दूँगा। एक दिन की भी देरी नहीं करूँगा।किताब का नाम 'ऋणजल-धनजल' आपको कैसा लगा मैं जो मैटर भेज रहा हूँ वह पंद्रह-बीस पृष्ठ से कम नहीं होगा। आप अपनी सुविधा के अनुसार इसको भूमिका के रूप में पुस्तक के प्रारंभ में दे सकती हैं अथवा 'अंतिम अध्याय' यानी 'तीसरे लेख' की तरह। ...स्वस्थ हूँ, प्रसन्न नहीं हूँ। कल की डाक से मैटर भेज रहा हूँ।

शीला संधू ने रेणु के देहावसान के; 11 अप्रैल, 1977 ई. के बाद 'ऋणजल-धनजल' की प्रकाशकीय टिप्पणी में इन बातों को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है—'यह सच, एक दुखद सच है कि रेणु जी की भौतिक काया निःशेष हो चुकी है, लेकिन साथ-ही-साथ, यह भी सच है कि रेणु जी हमारे बीच आज भी मौजूद हैं। अपने सम्मोहक व्यक्तित्व से जुड़ी स्मृतियों के रूप में, जो समय-असमय हमारे मन को झकझोरती और भारी कर जाती है, तथा उन अक्षर-कृतियों के रूप में, जो हमारे लिए और आनेवाली पीढ़ियों के लिए भी प्रेरणा का अक्षय स्रोत बनी रहेंगी। रेणु जी की यह कृति— ऋणजल धनजल।

कई दृष्टियों से ऐतिहासिक महत्व रखती है। पहली और मुख्य बात, कि बाढ़ और सूखे की दो अभूतपूर्व दुर्घटनाओं का यह ऐतिहासिक दस्तावेज है, और दूसरी, कि इसके प्रकाशन की पूरी रूपरेखा तय करने के साथ-साथ इसका नामकरण तक उन्होंने स्वयं किया था, और इसके लिए पंद्रह-बीस पृष्ठों की एक भूमिका लिख चुकने की सूचना भी उन्होंने दी थी। किंतु, दुर्योगवश, वह महत्वपूर्ण भूमिका हमें उपलब्ध नहीं हुई और इसी बीच सहसा उन्होंने हमेशा-हमेशा के लिए आँखें मूँद लीं। रेणु के जीवनकाल में यह पुस्तक प्रकाशित नहीं हो सकी, इसकी कचोट हमें हमेशा रहेगी। और, अब यह पुस्तक उनकी उस भूमिका के बगैर ही प्रकाशित हो रही है, यह दुहरा दुख भी उस कचोट में शामिल हो गया है। यह मूल्यवान धरोहर थी रेणु जी की, जिसे अब हम पाठकों के हाथ में दे रहे हैं। रेणु जी के प्रति हमारी यह मूक श्रद्धांजलि है।'

तात्पर्य यह कि 'ऋणजल-धनजल' रेणु द्वारा तैयार की गई अंतिम पुस्तक थी और रिपोर्टाजों की पहली पुस्तक! यह कैसी विडंबना है कि 1950 ई. में ही वे अपने रिपोर्टाजों का संग्रह प्रकाशित करना चाह रहे थे, किंतु वह संग्रह छप न सका। वे 1957 ई. में इलाहाबाद में रहकर 'परती-परिकथा' उपन्यास लिख रहे थे। 20 मई 1957 ई. को अमोघनारायण झा को लिखे एक पत्र में वे बताते हैं—'इधर कथा-संग्रह के संपादन में लगा हूँ। फिर एक रिपोर्टाज संग्रह भी अगस्त तक प्रकाशक को दे देना चाहता हूँ। व्यस्त हूँ।' किंतु, 1950 में रिपोर्टाज-संग्रह छपा न 1957 में। उनके सभी रिपोर्टाज असंकलित रह गए। उनका पहला रिपोर्टाज-संग्रह 'ऋणजल-धनजल' प्रकाशित तो हुआ, पर वे उसे देख भी नहीं पाए।

'ऋणजल-धनजल' सूखा और अकाल के लिए गढ़ा हुआ उनका अपना शब्द है। जल का अभाव ही सूखा का कारण है, इसीलिए 'ऋणजल' और जल का बहुतायत में होना ही 'धनजल' है, जो बाढ़ का

द्योतक है। गणित में माइनस को ऋण और प्लस को धन कहते हैं। इस तरह सूखे और बाढ़ के लिए यह रेणु के द्वारा दिया हुआ नवीन शब्द बेहद अर्थव्यंजक है।

देश भर में आज भी सूखा-अकाल और बाढ़ एक समस्या है। यह जहाँ भी उपस्थित होता है, वहाँ के जनजीवन को तबाह कर देता है। यह एक ऐसी त्रासदी है, जिससे देश को अब तक निजात नहीं मिल पाई है। इससे हर वर्ष लाखों लोग मरते हैं, और विनाशलीला ऐसी होती है, जिसकी भरपाई मुश्किल है। ये ऐसी विभीषिकाएँ हैं जो मुनष्य को अपने आघात से अभावग्रस्त ही नहीं बनाती, बल्कि उसे कभी-कभी अमानवीय भी बना देती हैं। कहीं तो मुनष्य इन परिस्थितियों में पड़कर अपने धैर्य, अपनी सहानुभूति, अपनी शक्ति, अपनी विनोदप्रियता की वास्तविक पहचान उभारता है और कहीं अपनी निरीहता, स्वार्थपरता, आसक्ति, मूल्यहीनता आदि का परिचय देता है। रेणु ने बाढ़ पर लिखे अपने रिपोर्टाजों में बाढ़ से संबंधित स्थितियों और मनःस्थितियों के अनेक पहलुओं का बड़ा जीवंत चित्रण किया है। शुरु में लोग बाढ़ आने के समाचार को बहुत विनोद के साथ लेते हैं और दूसरी जगह आई हुई बाढ़ की दहशत को महसूस नहीं करते। जब स्वयं बाढ़ में फँस जाते हैं तब उनका संत्रास शुरु होता है। 'पटना जलप्रलय' नामक रिपोर्टाज के प्रथम अध्याय में बाढ़ के आने का समाचार, उस समाचार के प्रति तरह-तरह की क्रियाओं, बाढ़ में घिर जाने की हालत में जीवन-यापन के आवश्यक साधनों की चिंता, फिर बाढ़ के आने की गति और बाढ़ के आ जाने का चित्रण किया है। दूसरे अध्याय में बाढ़ में फँसे लोगों की स्थितियों, मनःस्थितियों, तमाशबीनों के दृश्यों और सरकारी मशीनरी की सक्रियता और निष्क्रियता आदि की तस्वीर तो खिची ही है, कुछ सरदारों द्वारा किए गए सहायताकार्य के अत्यंत मानवीय रूप को उभारा है। इसी प्रकार उन्होंने अन्य अध्यायों में भी बाढ़ के कुछ मानवीय

और अमानवीय पक्षों का उद्घाटन किया है। तीसरे अध्याय में स्मृतियों के सहारे कुछ मार्मिक प्रसंगों को बाढ़ की विभीषिका के बीच मूर्त कर दिया है और चौथे में कलाकार मित्रों के आने और उनके द्वारा प्रदर्शित होने वाले प्रेम और सहकार्य का चित्रण किया गया है। इस प्रकार लेखक ने अपने अनुभवों को माध्यम बनाकर बाढ़ के एक वर्तुल बिंब का विधान किया है।

1975 ई. में पटना में आए बाढ़ पर लिखे रिपोर्टाज के अलग-अलग अध्यायों का रेणु ने अलग-अलग शीर्षक रखा है। पहले अध्याय का शीर्षक है- 'कुत्ते की आवाज'। दूसरे अध्याय का शीर्षक है - 'जो बोले सो निहाल'। तीसरे अध्याय का शीर्षक है- 'पंछी की लाश'। चौथे अध्याय का शीर्षक है- 'कलाकारों की रिलीफ पार्टी' और पाँचवें अध्याय का शीर्षक है- 'मानुष बने रहो'।

'कुत्ते की आवाज' नामक प्रथम अध्याय की शुरुआत रेणु आत्म-कथ्य के रूप में करते हुए बताते हैं। मेरा गाँव ऐसे इलाके में है जहाँ हर साल पश्चिम, पूरब और दक्षिण की - कोशी, पनार, महानंदा और गंगा की - बाढ़ से पीड़ित प्राणियों के समूह पनाह लेते हैं, सावन-भादो में ट्रेन की खिड़कियों से विशाल और सपाट धरती पर गाय, बैल, भैंस, भेड़, बकरों के हजारों झुंड-मुंड देखकर ही लोग बाढ़ की विभीषिका का अंदाज लगाते हैं।' आगे वे बताते हैं कि 'परती क्षेत्र में जन्म लेने के कारण अपने गाँव के अधिकांश लोगों की तरह मैं भी तैरना नहीं जानता। किंतु दस वर्ष की उम्र से पिछले साल तक-बॉय स्काउट, स्वयंसेवक, राजनीतिक कार्यकर्ता अथवा रिलीफ वर्कर की हैसियत से बाढ़-पीड़ित क्षेत्रों में काम करता रहा हूँ।' यही कारण है कि बाढ़ का उनका अनुभव व्यापक है। इसी अध्याय में वे बाढ़ के कई दिलचस्प अनुभवों का भी स्मरण करते हैं और उनका वृत्तांत प्रस्तुत करते हैं। आगे वे बाढ़ पर लिखे अपने रिपोर्टाजों को याद करते हैं। और लिखने की बात हाई स्कूल में बाढ़ पर लेख लिखकर प्रथम पुरस्कार पाने से लेकर-

‘धर्मयुग’ में ‘कथादशक’ के अंतर्गत बाढ़ की पुरानी कहानी को नए पाठ के साथ प्रस्तुत कर चुका हूँ। ‘जय गंगा’ (1947) डायन कोशी (48) हड्डियों का पुल (48) आदि छुटपुट रिपोर्टाजों के अलावा मेरे कई उपन्यासों में बाढ़ की विनाश-लीलाओं के अनेक चित्र अंकित हुए हैं। किंतु, गाँव में रहते हुए बाढ़ से घिरने, बहने, फँसने और भोगने का अनुभव कभी नहीं हुआ। वह तो पटना शहर में 1967 में ही हुआ, जब अठारह घंटे की अविराम वृष्टि के कारण पुनपुन का पानी राजेंद्रनगर, कंकड़बाग तथा अन्य निचले हिस्सों में घुस आया था। अर्थात् बाढ़ को मैंने भोगा है, शहरी आदमी की हैसियत से। इसलिए इस बार जब बाढ़ का पानी प्रवेश करने लगा, पटना का पश्चिमी इलाका छातीभर पानी में डूब गया तो हम घर में ईंधन, आलू, मोमबत्ती, दियासलाई, सिगरेट, पीने का पानी और कांपोज की गोलियाँ जमाकर बैठ गए और प्रतीक्षा करने लगे।

रेणु को बाढ़ का लंबा अनुभव था किंतु वे बाढ़ में घिरे पटना में। पहली बार 1967 में कुछ दिनों के लिए और फिर 1975 ई. में। तब देश में इमर्जेंसी लगी हुई थी और उनकी मानसिकता पर इसका गहरा असर था जिसका प्रच्छन्न प्रभाव इस रिपोर्टाज में व्यक्त हुआ है। उन्हें पेप्टिक अल्सर था और वे इसकी पीड़ा को लंबे समय से झेल रहे थे। इसलिए इस बाढ़ के दौरान वे राहत-कार्य के लिए गतिशील नहीं हो सकते थे। बाढ़ के बारे में उन्हें जो सूचना मिली या जो कुछ देखा, सुना, भोगा उसकी रचनात्मक अभिव्यक्ति की। बाढ़ कम होने पर उन्होंने अपने बड़े बेटे पद्मपराग राय ‘वेणु’ को 8-9-1975 को पत्र लिखा-‘रेडियो तथा समाचार पत्रों से पटना का सारा समाचार मालूम ही होगा। एक सप्ताह तक हम लोग जीवन और मृत्यु के बीच झूलते रहे। भगवान की दया से ही हम लोग इस बार बच गए हैं। एक सप्ताह तक दिन-रात तुम लोगों की याद आती रही। कोई सहारा नहीं, कोई चारा नहीं कि तुम लोगों तक अपनी आखिरी संवाद भी दे सकें।

अभी भी डाकतार ठीक से संभल नहीं पाए। टेलीफोन तो अब तक काम नहीं कर रहा है। इस जल-प्रलय से ठीक एक दिन पहले चतुर्भुज के हाथ एक पत्र और दो सौ रुपये भेजा था, बस यही संतोष मन में होता था कि इस जल-प्रलय में शेष होने के पहले तुमको पत्र दे दिया था। ...समझी के प्रेस में कमर-भर पानी घुस गया था। डेरा के सामने छाती-भर पानी और नीचेवाले कमरे में घुटने भर पानी था। सात दिन तक हम लोग बाहर नहीं निकल सके। नीचे डुबान पानी था। पहले मंजिले के बरामदे और ऊपर वाली सीढ़ी पर आधे दूर तक पानी। अगर एक फुट भी पानी और बढ़ता तो यह मकान ढह जाता और हमलोग सब समाप्त हो जाते।’

तात्पर्य यह कि बाढ़ की इस विभीषिका को रेणु ने स्वयं झेला था, जिसमें यह दहशत भी थी कि कहीं जीवन-लीला ही समाप्त न हो जाए। बाढ़ का पानी धीरे-धीरे पटना शहर में घुस रहा है। लोगों की जुबान पर एक ही जिज्ञासा है कि पानी कहाँ तक आ गया है। बाढ़ को देखकर लौटते हुए लोगों की बातचीत-फ्रेजर रोड पर आ गया ! आ गया क्या, पार कर गया। श्रीकृष्णपुरी, पाटलीपुत्र कॉलोनी, बोरिंग रोड, इंडस्ट्रियल एरिया का कहीं पता नहीं ...अब भट्टाचारजी रोड पर पानी आ गया होगा। ...छाती भर पानी आ गया होगा। ...छाती भर पानी है। विमेंस कॉलेज के पास ‘डुबाव-पानी’ है। ...आ रहा है ! ...आ गया !! ...घुस गया ...डूब गया ... बह गया। रेणु अपने कवि-मित्र के साथ घूमने निकले थे। इस बीच एक अंधेड़, मुस्टंड और गंवार जोर-जोर से बोल उठा-ईह! जब दानापुर डूब रहा था तो पटनियाँ बाबू लोग उलट कर देखने भी नहीं गए ...अब बूझो ! रेणु ने अपने आचार्य कवि-मित्र से कहा-पहचान लीजिए। यही है वह है वह ‘आम आदमी’, जिसकी खोज हर साहित्यिक गोष्ठियों में होती रहती है। उसके वक्तव्य में ‘दानापुर’ के बदले ‘उत्तर बिहार’ अथवा कोई भी बाढ़ग्रस्त ग्रामीण क्षेत्र जोड़ दीजिए।

रेणु देखते हैं कि लोग बाढ़ से आतंकित नहीं,

बल्कि आज ज्यादा ही उत्साहित थे। वहाँ जो बातें उछाली जा रही थीं, उसे वे ध्यान से सुनते हैं- 'एक बार डूब ही जाए ! ...धनुष्कोटि की तरह पटना लापता न हो जाए कहीं। ...सब पाप धुल जाएगा ...चलो, गोलघर के मुंडेरे पर ताश की गड्डी लेकर बैठ जाए ...बिस्कोमान बिल्डिंग की छत पर क्यों नहीं ...भई, यही माकूल मौका है। इनकम टैक्स वालों को ऐन इसी मौके पर काले कारोबारियों के घर पर छपा मारना चाहिए।...'

यह है मौजूदा व्यवस्था पर आम आदमी की दो टूक टिप्पणी, जिसके मूल में आक्रोश है। यहाँ भीष्म साहनी के इस कथन की याद सहसा ही आती है। वे कहते हैं। 'आज की विषमताओं का विकराल रूप किसी से छिपा नहीं है। जहाँ हरिजनों को जिंदा जलाया जाए या नदी में जिंदा डूबो दिया जाए, जहाँ लाखों-लाख बेरोजगार शहरों और कस्बों की सड़कों पर घूमें, जहाँ सूखा और बाढ़, हर साल किसी महामारी की तरह आएँ, और उसके सामने बस्तियाँ और गाँव उजड़ते चले जाएँ, जहाँ काला धन इतना प्रबल हो उठे कि देश की सरकार भी उसके सामने खम खाएँ, और उधर, बड़े-बड़े शहरों में गगनचुम्बी भवन और इमारतें उठ रही हों, और सड़कों पर बढ़िया से बढ़िया कारें घूमती फिरे।'

रेणु आगे का वृत्तांत इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं। 'फुटपाथ पर खुली चाय की झुग्गी-दुकानों में सिगड़ियाँ सुलगी हुई थीं और बहुत रात तक मंडली बनाकर जोर-जोर से बातें करने का रोज का सिलसिला जारी था। बात के पहले या बाद में बगैर कोई गाली जोड़े यहाँ नहीं बोला जाता-गांधी मैदान; सरवा एकदम लबालब भर गया ...अरे तेरी मतारी का करंट में इतना जोर का फोर्स है कि ससुरा रिक्शा लगा कि उलटिये जाएगा ...गाँजा फुरा गया का हो रामसिंगार 'चल जाए एक चिलम 'बालचरी-माल' -फिर यह शहर डूबे या ऊबरे।

यह है आम आदमी की मानसिकता ! वह तनाव में नहीं रह सकता। पटना शहर डूब रहा है। धीरे-

धीरे पटने के एक-एक मुहल्ले में पानी भरता जा रहा है। कुछ घंटों में पानी उस तक भी पहुँच जाएगा। किंतु यह 'आम आदमी' निर्भय है, निर्द्वन्द्व है, बेलौस है। उसे कोई चिंता नहीं है। गाँजे की एक चिलम चल जाए, फिर यह पटना शहर डूबे या बचे, कोई चिंता नहीं। किंतु, आने वाले संकट को अपने 'सिक्स्थ सेंस' के कारण कुत्ते भांप लेते हैं और एक-दूसरे से सुर मिलाकर रोना शुरू कर देते हैं। करुण आर्तनाद की भयोत्पादक प्रतिध्वनियाँ सुनकर रेणु की काया सिहर उठती है। वे अपनी पत्नी से कहते हैं -याद है! उस बार जब पुनपुन का पानी आया था तो सबसे अधिक इन कुत्तों की दुर्दशा हुई थी। रेणु की माननीय करुणा उन्हें मनुष्यों ही नहीं जीव-जंतुओं के प्रति भी संवेदनशील बनाती है। वे 1949 ई. की बाढ़ की याद करते हैं। 'उस बार महानंदा की बाढ़ से घिरे बापसी थाना के एक गाँव में हम पहुँचे। हमारी नाव पर रिलीफ के डॉक्टर साहब थे। गाँव के कई बीमारों को नाव पर चढ़ाकर कैप में ले जाता था। एक बीमार नौजवान के साथ उसका कुत्ता भी 'कुँई-कुँई' करता हुआ नाव पर चढ़ आया। डॉक्टर साहब कुत्ते को देखकर 'भीषण भयभीत' हो गए और चिल्लाने लगे - आ रे! कुकुर नहीं, कुकुर नहीं ... कुकुर को भगाओ! बीमार नौजवान छप से पानी में उतर गया। हमारा कुकुर नहीं जाएगा तो हम हूँ नहीं जाएगा ! फिर कुत्ता भी छपाक पानी में गिरा। हमारा आदमी नहीं जाएगा तो हम हूँ नहीं जाएगा।

यह है मनुष्य और कुत्ते का भावात्मक संबंध, जो सदियों से चला आ रहा है। रेणु जीवन के लघु प्रसंगों को मानवीय संस्पर्श में इस तरह पिरोते हैं कि वह अत्यंत मर्मस्पर्शी बन जाता है। दूसरे लेखक इस प्रकार के प्रसंगों को प्रायः अनदेखा कर जाते हैं, किंतु रेणु इन्हीं गौण प्रसंगों से अपनी कथा को सजाते हैं और वह जीवंत कलाकृति बन जाती है। इतनी मार्मिक और विरल संवेदनशीलता, जो आज के कथा-साहित्य से प्रायः ओझल होता जा रहा है, रेणु की कथाकृतियों को अब भी जीवंत और प्रासंगिक

बनाए हुए हैं। उनके कथा-रिपोर्ताज भी इससे वंचित नहीं हैं। वे सीमांत के आदमी के जीवन पर गहरी नजर रखते हैं और इतनी गरीबी, अभाव एवं संकटों से भरे हुए जीवन में पैठ कर उसके जिंदादिली एवं जिजीविषा को रेखांकित करते हैं। वे बाढ़ जैसे महाविनाश में घिरे हुए बेसहारा लोगों के साथ, जीव-जंतुओं की भी खबर देते हैं। सड़क पर पलनेवाले कुत्तों की भी उन्हें चिंता सताती है।

रेणु की लोक-संस्कृति से गहरी संपृक्ति थी। इस लोक-संस्कृति के अनेक रंगों एवं रूप-छवियों की प्रस्तुति उनके कथा-साहित्य में मिलती है। उनके रिपोर्ताजों में भी जगह-जगह इसकी झलक मिलती है। नमूने के तौर पर यह प्रकरण देखें, 'परमान नदी की बाढ़ में डूबे हुए एक 'मुसहरी'; मुसहरों की बस्ती में हम राहत बाँटने गए। खबर मिली थी कि वे कई दिनों से मछली और चूहों को झुलसाकर खा रहे थे। किसी तरह जी रहे हैं। किंतु टोले के पास जब हम पहुँचे तो ढोलक और मंजीरा की आवाज सुनाई पड़ी। जाकर देखा, एक ऊँची जगह 'मचान' बनाकर स्टेज की तरह बनाया गया है। 'बलवाही नाच' हो रहा था। लाल साड़ी पहनकर काला-कलूटा 'नटुआ' दुलहिन का हाव-भाव दिखला रहा था, यानी वह 'धानी' है। 'घरनी' धानी घर छोड़कर मायके भागी जा रही है और उसका घरवाला; पुरुष उसको मनाकर राह से लौटाने गया है। घरनी कहती है। तुम्हारी बहन की जुबान बड़ी तेज है। दिन-रात खराब गाली बकती रहती है और तुम्हारी बुढ़िया माँ बात के पहले तमाचा मारती है। मैं तुम्हारे घर लौटकर नहीं जाती।' तब घरवाला उससे कहता है, यानी गा-गाकर समझाता है। 'चल गे, धानी घर घुरी, बहिनिक दैबै टाँग तोड़ी ...धानी गेए बुढ़िया के करबै घर से बा-हा-र'; ओ धानी' घर लौट चलो! बहन के पैर तोड़ दूँगा और बुढ़िया को घर से बाहर निकाल दूँगा !' इस पद के साथ ही ढोलक पर द्रुत ताल बजने लगा। धागिड़गिड़-धागिड़गिड़, चकैके-चकधुम, चकैके-चकधुम !' कीचड़-पानी में लथपथ भूखे-प्यासे नर-नारियों के झुंड में

मुक्त खिलखिलाहट लहरें लेने लगती है। हम रिलीफ बाँटकर भी ऐसी हँसी उन्हें दे सकेंगे क्या !'

बाढ़ से घिरे हुए लोग, भूखे-प्यासे और लुटे-पिटे लोग हँसने-मुस्कुराने और जिंदा रहने के लिए नाचते हैं, गाते हैं, नाट्य करते हैं। यही उन्हें मृत्यु के भयानक थपेड़ों से बचाता रहता है। इस तरह हम पाते हैं कि हाशिए के ये लोग अपने भय और दहशत को लोक-संस्कृति का सहारा लेकर अपने भीतर सुरक्षा का भाव पैदा करते हैं। वे गाँव के लोग हों या शहर के। ये लोग दीन-हीन-निर्धन हैं, पर लाचार नहीं। ये संकटों से घबराते नहीं, बल्कि उससे लड़ते हैं। मृत्यु-बोध, कुंठाएँ हताशा, निराशा, अकेलापन आदि का भाव उनमें नहीं पनपता।

रेणु ने बाढ़ के अनेक जीवंत स्मृतियों के अंकन किए हैं। कुछ संपन्न घरानों के लोग, बाढ़ को मनोरंजन का विषय समझते हैं। वे उसका लुत्फ उठाते हैं। बाढ़ जहाँ लोगों को त्रासद स्थिति में डाल देती है, वहीं वह एक खास वर्ग के लिए मनोरंजन का विषय है। रेणु एक ऐसे ही दृश्य को अंकित करते हुए लिखते हैं - '1967 में जब पुनपुन का पानी राजेंद्रनगर में घुस आया था, एक नाव पर कुछ सजे-धजे युवक और युवतियों की टोली - किसी फिल्म में देखे हुए कश्मीर का आनंद घर-बैठे लेने के लिए निकली थी। नाव पर स्टोव जल रहा था। केतली चढ़ी हुई थी, बिस्कुट के डिब्बे खुले हुए थे, एक लड़की प्याली में चम्मच डालकर एक अनोखी अदा से नैस्कैफे के पाउडर को मथ रही थी। 'एस्प्रेसो' बना रही थी, शायद। दूसरी लड़की बहुत मनोयोग से कोई सचित्र और रंगीन पत्रिका पढ़ रही थी। एक युवक दोनों पाँवों को फैलाकर बाँस की लग्गी से नाव खे रहा था। दूसरा युवक पत्रिका पढ़ने वाली लड़की के सामने, अपने घुटने पर कोहनी टेककर कोई मनमोहक 'डायलॉग' बोल रहा था। पूरे वॉल्युम में बजते हुए 'ट्रांजिस्टर' पर गाना आ रहा था - 'हवा में उड़ता जाए, मोरा लाल दुपट्टा मलमल का, हो जी हो जी!' हमारे ब्लॉक के पास गोलंबर नाव पहुँची ही थी कि

अचानक चारों ब्लॉक की छतों पर खड़े लड़कों ने एक ही साथ किलकारियों, सीटियों, फब्तियों की वर्षा कर दी और इस गोलंबर में किसी भी आवाज की प्रतिध्वनि मँडरा-मँडराकर गूँजती है। सो सब मिलाकर स्वयं ही जो ध्वनि-संयोजन हुआ उसे बड़े-से-बड़ा गुणी संगीत-निर्देशक बहुत कोशिश के बावजूद नहीं कर पाते। उन फूहड़ युवकों की सारी 'एक्जिबिशनिज्म' तुरत छू-मंतर हो गई और युवतियों के रंगे लाल-लाल ओंठ और गाल काले पड़ गए। नाव पर अकेला ट्रांजिस्टर था जो पूरे दम के साथ- नैया तोरी मँझधार, होशियार, होशियार !'

अब इस दृश्य की तुलना 'बलवाही नाच' वाले दृश्य से कीजिए। बिल्कुल विषम दृश्यों को एक-दूसरे के बगल में रखकर रेणु जीवन की विषमता का दिग्दर्शन कराते हैं। इसीलिए उनके रिपोर्टाजों में एकरसता नहीं है। रामचंद्र शुक्ल ने 'विरुद्धों का सामंजस्य' का जो सिद्धांत रचा था, वह हिंदी कथा-साहित्य में सबसे अधिक रेणु में ही दिखलाई पड़ता है। यही वह तत्त्व है, जिसके कारण उनकी रचनाएँ अर्थगर्भी एवं सरस बन पड़ी है। मध्यरात्रि में भी वे जगे हुए हैं और बाहर की गूँजती ध्वनियों को सुनते रहते हैं। रह-रह कर एक प्रश्न ऊँची आवाज में पूछा जाता है। का हो रामसिंगार, पनिया आ रहलौ है। फिर इसका उत्तर - ऊँहूँ न आ रहलौ है। चारों ब्लॉकों के प्रायः सभी फ्लैटों की रोशनी जल रही है, बूझ रही है। सभी जगे हुए हैं। कुत्ते रह-रहकर सामूहिक रुदन शुरू करते हैं और उन्हें रामसिंगार की मंडली डॉटकर चुप करा देती है।

रेणु को सहसा अपने उन मित्रों और स्वजनों की याद आई जो कल से ही पाटलीपुत्र कॉलोनी, श्रीकृष्णपुरी, बोरिंग रोड के अथाह जल में धिरे हैं ...जितेंद्र जी, विनीता जी, बाबू भैया, इंदिरा जी, पता नहीं कैसे हैं - किस हाल में हैं। टेलिफोन डेड है। अपने कमरे के एकांत में जगे हुए करवट बदलते हुए उनके मन में इच्छा होती है कि कुछ लिखना चाहिए। फिर उनके मन में प्रश्न उठता है। लेकिन

क्या लिखना चाहिए, फिर उन्हें लगता है कि कुछ भी लिखना संभव नहीं और क्या जरूरी है कि कुछ लिखा ही जाए। फिर वे स्मृतियों को जगाते हैं और पिछले साल अगस्त में नरपतगंज थाना के चकरदाहा गाँव के पास छाती-भर पानी में खड़ी एक आसन्नप्रसवा महिला को याद करते हैं जो उनकी ओर गाय की तरह टुकुर-टुकुर देख रही थी। फिर वे अपनी स्मृतियों को याद करना छोड़कर, आँख मूँदकर सफेद भेड़ों के झुंड को देखने की कोशिश करते हैं। उजले-उजले सफेद भेड़ ...सफेद भेड़ों के झुंड! फिर उजले भेड़ अचानक काले हो गए। वे बार-बार आँखें खोलते हैं, फिर मूँदते हैं। काले को उजला करना चाहते हैं। किंतु, भेड़ों के झुंड भूरे हो जाते हैं।

रेणु के मन में मंथन हो रहा है। मन का रंग लगातार बदल रहा है। चित्त अस्थिर है, अशांत है। वे शारीरिक और मानसिक दोनों तरह की यंत्रणा से घिरे हुए हैं। ऐसे में अकेलापन, बेचैनी और उद्विग्नता उनको मथ रही है। बाहरी और भीतरी द्वंद्व का उन्होंने अपने रिपोर्टाज में बेहद बारीकी और कारीगरी से चित्रण किया है। 'दोनों ओर से तेज धारा गुजर रही है। पानी चक्राकार नाच रहा है, अर्थात् दोनों ओर गड्ढे गहरे हो रहे हैं। ...बेबस कुत्तों का सामूहिक रुदन, बहते हुए सूअर के बच्चों की चिचियाहट, कोलाहल-कलरव-कोहराम ! ...हो रामसिंगार, रिक्शावा बहलौ हो। धर-धर-धर !' कितने कम शब्दों में बाढ़ का रेखाचित्र उन्होंने प्रस्तुत कर दिया है। यह दृश्य उन्होंने छत पर खड़े होकर देखा' फिर थर-थर काँपते हुए छत से उतर कर फ्लैट में आए और ठाकुर रामकृष्ण परमहंस की तस्वीर के पास आकर बैठ गए तथा प्रार्थना करने लगे - ठाकुर ! रक्षा करो ! बचाओ इस शहर को ...इस जलप्रलय में ...। बात पूरी भी नहीं हुई कि मानों रामकृष्ण परमहंस उन्हें डाँटते हुए बोले। 'अरे दुर साला ! काँदछिस केन ...रोता क्यों है! बाहर देख ! साले ! तुम लोग थोड़ी-सी मस्ती में जब चाहो तब राह-चलते 'कमर दुलिये-दुलिये; कमर लचकाकर, कूल्हे मटकाकर, ट्वीस्ट नाच सकते हो।

रंभा-संभा-हीरा-टीरा और उलंग नृत्य कर सकते हो और बृहत सर्वग्रासी महामत्ता रहस्यमयी प्रकृति कभी नहीं नाचेगी ...ए-बार नाच देख ! भयंकरी नाच रही है। ता-ता थेई-थेई, ता-ता थेई-थेई! तीव्र तीव्र वेगा शिवनर्तकी गीतप्रिया वाद्यरता प्रेतनृत्यपरायणा नाच रही है। जाए तू भी नाच !' रेणु अगरबती जलाकर, शंख फूँकते हैं। नाचो माँ! ...उलंगिनी नाचे रणरंगे, आमरा नृत्य करि संगे। ता-ता थेई-थेई ता-ता थेई-थेई ...मदमत्ता मातंगिनी उलंगिनी। जी भर कर नाचो !'

यह है प्रकृति का विनाशकारी, प्रलयंकर शक्ति-स्वरूप, जिस पर मनुष्य का कोई वश नहीं। पटना शहर में सड़कों पर अब रिक्शा, साइकिल, स्कूटर, कार नहीं, नौका चल रही हैं। कुछ मनमौजी लड़के सड़क पर पानी में नहा रहे हैं। बाढ़ के तमाशबीन मकानों की छतों, खिड़कियों और बालकनी से बाढ़ का नजारा ले रहे हैं। ऐसे में एक जीपवाला फँस गया। 'टॉप गियर' पर गुराती हुई आवाज अचानक बंद हो गई। इसके बाद 'सेल्फ' को चालू करने की चेष्टा में कुछ देर 'खचचचच ... खचचचच ... फिर निस्तब्ध ! निश्चय ही 'गियर बॉक्स' में पानी भर गया होगा। जीप के फँस जाने पर, आसपास 'जल-विहार करने वालों और जल-उत्सव देखने वालों को बड़ी खुशी हुई। जीप के बेबस होते ही एक सम्मिलित हँसी की लहर चारों ओर फैल गई। रेणु को याद आता है कि जब इसी तरह पुनपुन की बाढ़ में वे फँस गए थे तो देखनेवालों का पहला जत्था हँसते-हँसते लोटपोट हो गया था। उनकी ओर देखकर ताने देता हुआ एक छेकरा जोर-जोर से बोला था। 'अच्छ ! हा-हा-हा-हा... घर में गैस का सलीडर, पाँच मिनट में ही खाना बनाने वाला कूकर, दिन-रात चलता रेडियोग्राम, पलंग के पास टेलिफोन और ठंडा पानी का फ्रीज ! अब बोलो - बचू ! कहाँ सटक गई सारी नवाबी, ऐं, ही-ही-ही-ही !' फिर रेणु देखते हैं - जीप से उतरकर कई लोग पीछे से गाड़ी को धकेलने लगे तो नहानेवाले लड़कों की टोली मदद करने आ गई।

अरे साहब ! आगे धकेलकर कहाँ ले जाएगा 'पीछे की ओर ठेलकर वापस कीजिए। कुछ लड़के सामने से धकेलने लगे- मार जवानो। हड़यो! कुछ पीछे से ठेलते रहे - मार जवानों हड़यो ! गाड़ी एक गड्ढे से निकलकर दूसरे में फँस गई। फिर लड़के खुश होकर नहाने लगे।

इन आवारा लड़कों की चुहलबाजियाँ और मनमौजीपन रेणु को बेहद दिलचस्प लगती है। उन्हें डर लगता है कि बाढ़ के गंदले पानी में नहाने से इन्हें कहीं फ्लू, सर्दी, बुखार, टायफाइड आदि के अलावा पानी में बहते जहरीले साँपों से भी खतरा हो सकता है। किंतु, ये लड़के बेफिक्र होकर जल-किल्लोल करते हैं और तरह-तरह के करतब कर एक नाटकीय माहौल का सृजन करते हैं। वे गौर से इन लड़कों की एक-एक गतिविधि पर नजर गड़ाए हुए हैं। एक नीमजवान 'नवसिखुआ' कैमरावाला लड़का कमर भर पानी में खड़े होकर तस्वीरें ले रहा है। नहानेवाले लड़के उसके सामने जाकर मुँह चिढ़ा रहे हैं। एक लड़का गले तक पानी में डूबकर अद्भुत आवाज में डूबती हुई लड़की का अभिनय करते हुए पुकारा - बचा-ओ ! ...बचाओ ! मैं डूबी जा रही हूँ। ...लोग कैमरे वाले पर बिगड़ रहे हैं। यहाँ लोग कल से घिरे हैं। न कहीं नाव, न रिलीफ और ये फोटो लेने वाले सिर्फ तस्वीरें ले रहे हैं 'इसी को कहते हैं कि किसी का घर जले और कोई मौज से तापे ...मत खींचने दो किसी फोटोवाले को कोई भी फोटो ... इनको पैसा कमाने का यही मौका मिला है। नहाने वाले लड़कों ने वहाँ पहुँचकर पानी उलीचना। छीटना शुरू कर दिया। एक लड़का ड्रम पर चढ़ गया और अपने पैट के अग्रभाग के एक विशेष स्थान की ओर संकेत करके बोला। इसका फोटो लो...। कुछ लोग हँसे। कुछ ने मुँह फेर लिया और कई लोग एक साथ . अरे -रे-रे-रे हरमजदवा ...कहकर चुप हो गए। रेणु को जिंदादिली भरे इन नजारों में रस मिलता है। वे लिखते हैं - 'फोटो लेने वाला लड़का 'डिमोरलाइज्ड' होकर कैमरा समेटकर चला गया ...मेरा कोई मित्र

होता या मैं खुद होता तो इस 'पोज' को कभी 'मिस' नहीं करता। ...लेकिन कैमरावालों के प्रति लोगों का अचानक यह आक्रोश क्यों 'यह तो अच्छी बात नहीं।'।

रेणु को यह अच्छा नहीं लगता। क्यों। क्योंकि उनके कई मित्र फोटोग्राफर हैं और इस क्षेत्र में उनका महत्वपूर्ण योगदान है। वे अपने इन मित्रों के नाम लेकर याद करते हैं। वे छत पर जाकर अपने ब्लॉक के लड़कों को समझाते हैं कि किसी फोटो लेने वाले को 'हूट'न किया जाए। वे तुरत मान गए और कहा कि हम नीचे जाकर इन लड़कों को समझा देते हैं। बाद में बहती हुई और तेज दुर्गंध छोड़ती हुई एक गाय की लाश आती है। फिर कुछ समय बाद एक कुत्ते की लाश ! रेणु दूर से, किंतु गौर से उसे देखते हैं - 'यह अलसेसियन कुत्ता है। दोनों कान शान से खड़े हैं - रौब में कहीं कोई कमी नहीं। कान से पूँछ तक इसकी मुद्रा और तेवर देखकर ही समझ लेता हूँ। इसने बहादुरी से मौत को वरण किया है। मौत की छाया पर झपट्टे मार कर लड़ता हुआ मरा है। ...बाढ़ पीड़ित ग्रामीण क्षेत्रों में पशुओं की-गाय, बैल, घोड़े, बकरी आदि की लाशें बहुत बार देख चुका हूँ ...अलसेसियन कुत्ते की लाश, शहर की बाढ़ का प्रतीक, पहली बार देख रहा हूँ।'।

रेणु की दृष्टि में मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी पर भी यह प्राकृतिक प्रकोप किस तरह पड़ता है, यह तथ्य ओझल नहीं होता। यही समग्र मानवीय दृष्टि है। वे समाज को वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषित करते हैं किंतु रचनात्मकता को आँच नहीं आने देते। वे मनुष्य की अच्छाइयों के साथ-साथ उसकी कमजोरियों का भी चित्रण करते हैं। 'मानुष बने रहो' नामक अध्याय में इस बाढ़ की हालत में भी मध्यवर्गीय क्षुद्र मानसिकता, उसकी 'हिप्पोकेसी' को उधेड़ कर रख देते हैं। समाचारपत्रों में छपा है कि दिल्ली में इतने हजार किलो माडर्न रोटी आ रही है। दिल्ली वालों के दैनिक राशन में रोटी की कटौती विदेश से 'केक' और 'चीज़' भीरु आगरे के पेटेरु कलकत्ते से भी रोटियाँ, प्राणरक्षक दवाइयाँ और कपड़े। रेणु बताते

हैं कि छत पर एक भाई साहब उत्तेजित, असंतुष्ट और क्रुद्ध थे। संभव है उन्होंने सुबह अखबार पहले पढ़ लिया हो और उनकी छत पर हेलिकॉप्टर ने जो पाँच पैकेट गिराये थे उनमें से तीन भाई साहब तथा उनके परिवार के लोगों को मिले थे, जिनमें बस चिनुरा, भूने चने, पॉप कॉर्न और दालमोठ थे। इस पर 'भाई साहब के मुँह से' घुले हुए पान की जाफरानी पीक की गुड़-गुड़ाहट के साथ लानत-भरी आवाज निकली। क्या तमाशा है ! फिर, पीक थूककर चालू हो गए। ऐज इफ वी वार लेबर ... तमाशा है ... दिल्ली का 'ब्रेड' कहाँ है - बतलाइए। बटर केक, चीज कुछ भी नहीं, सिर्फ चूड़ा, चना, फरही ... बोरिंग रोड, कृष्णापुरी या पाटलीपुत्र कोलोनी की बात छाड़ी, ...यही, अभी राजेंद्रनगर में ही कंट्राक्टर, फलाने प्रसाद सिंह के एरिया में जो पैकेट गिराये गए हैं, सब में 'ए-वन' चीजें - मतलब, ब्रेड-बटर-चीज सब कुछ और हमलोगों की छत पर सिर्फ ये 'रॉटर्न' चबेने 'बोलिए, इसका क्या जवाब है - एँ ... खुद, सरकारी रेडियो बोलता है कि राजेंद्रनगर इज़ ए पॉश एरिया। आलीशान इलाका है राजेंद्रनगर और वहा गिराई जाती हैं ...दिस इज शीयर पार्सियालिटी ...नहीं तो और क्या ...अरे साहब, खा गया। खा गया। सब खा गया।,

यह है मध्यवर्गीय मानसिकता, जिसे रेणु अंग्रेजी मिश्रित भाषा के द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। इस अभिव्यक्ति में व्यंग्य की छौंक भी है। 'विट' और हास्य-व्यंग्य उनकी रचनात्मकता को जीवंत बनाता है। वे लोकमत, लोकरुचि को कहीं भी नजरअंदाज नहीं करते। उदाहरण के रूप में निम्न प्रसंग को देखें- पटना रेडियो स्टेशन पर बाढ़ के कारण प्रसारण बंद हो गया था, किंतु फतुआ-ट्रांसमिशन सेंटर से प्रोग्राम प्रसारित किया जा रहा था। आवाज किसी पेशेवर 'अनाउंसर' की नहीं। सीधे और सपाट ढंग से वह बीच-बीच में सूचना देता है कि छज्जूबाग के मुख्य स्टुडियो में पानी आ जाने के कारण फतुहा से प्रोग्राम हो रहा है। ...अब आप पूरे समाचार सुनिए।

‘पटना की बाढ़ की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ है। पिछले अठारह घंटे से पटना का संपर्क देश के शेष भागों से कटा हुआ है। दूरसंचार के सभी साधन भंग हो गए हैं, गाड़ियों का आना-जाना बंद है क्योंकि पटना जंकशन रेलवे स्टेशन की रेल की पटरियाँ पानी में डूब गई हैं। आज एयर इंडिया का विमान पटना हवाई अड्डे पर नहीं उतर सका। ... अब आप फिल्मी गीत सुनिए ... हम तुम एक कमरे में बंद हों और चाबी खो जाए ...। अनाउंसर पेशेवर नहीं है। लेकिन रिकॉर्ड उसने चुनकर लगाया है।’

रेणु ने इस रिपोर्टाज में समाज के विभिन्न वर्ग, संप्रदाय के लोगों के जीवन के अनेक प्रसंग, संदर्भ और छवियों को रूपायित किया है। इसमें साधारण मनुष्य, पशु-पक्षी, आवारागर्द लड़के, बाढ़ में घिरे हुए लोग और बाढ़ के तमाशबीन, लेखक, पत्रकार, फोटोग्राफर, अनेक मित्र-परिजन के साथ-साथ अपनी छवि को भी रूपायित किया है। इसी कारण बाढ़ पर लिखा उनका यह रिपोर्टाज जीवंत, सार्थक और पठनीय है। इतने तरह के जीवन-प्रसंग इस रचना में गुँथे हुए हैं कि वे अपनी रचनात्मक अर्थ-गर्भिता के कारण पैबस्त की तरह नहीं लगते।

यह ज्ञातव्य है कि रेणु जब 1975 ई. में यह रिपोर्टाज लिख रहे थे, तब वे पेट के अल्सर के कारण बहुत पीड़ित थे। दूसरी ओर इमर्जेंसी के कारण उनकी पीड़ित या यंत्रणाप्रद मनःस्थिति थी। प्रकृति के इस प्रकोप ने उन्हें और भी आक्रांत कर दिया था। वे लिखते हैं :- ...कल रात को भयावने बादलों को देखकर मुँह से सहसा निकला था और मैंने सिगरेट की डब्बी पर लिख दिया था। ‘तुम्हीं क्यों बाकी रहोगे आस्माँ ! कहर बरसाकर शहर पर देख लो।’ ...कहर ‘बरसा’ कर या ‘बरपा’ कर नहीं, बरसाकर ही ठीक है ! ...किंतु मुझे संदेह है कि ये पंक्तियाँ मेरी नहीं किसी और शायर की हैं ...दुष्यंत को लिखकर पूछूँ? बहुत देर तक दुष्यंत की एक गजल की कई पंक्तियों को मन-ही-मन दुहराया। फिर शमशेर के शेर की इन दो पंक्तियों को तरन्नुम के

साथ गुनगुनाता रहा। जहाँ मैं अब तो जितने रोज अपना जीना होना है। तुम्हारी चोटें होनी हैं, हमारा सीना होना है। जहाँ मैं अब तो जितने रोज ...,

यह रेणु का अंतर्द्वंद्व है। व्यथित एवं भावाकुल हृदय है। इस रिपोर्टाज का अंत यौनाचार्य नामक एक साहित्यिक बंधु के प्रसंग से होता है, जिनके अनुसार इस बाढ़ में आदमी तो क्या मछलियाँ भी ‘सेक्सी’ हो गई थीं ...। रेणु को लगा कि अब यौनाचार्य ‘काम’ से गए। बाद में उन्होंने सुना कि उनकी अवस्था संगीन है। सिर चकराता है ओर सिर के अंदर ‘वैकुअम’ जैसा लगता है। आँखों के आगे सरसों के फूल नजर आते हैं। ...फिर रेणु पटना शहर पर टिप्पणी करते हैं। यों पटना शहर भी बीमार ही है। इसके एक बाँह में हैजे की सूई का और दूसरी में टायफायड के टीके का घाव हो गया है। पेट में ‘टेप’ करके जलोदर का पानी निकाला जा रहा है। आँखें जो कंजक्विटाइटिस; जोय बांग्ला, से लाल हुई थी। तरह-तरह की नकली दवाओं के प्रयोग के कारण क्षीणज्योति हो गई है। कान तो एकदम चौपट ही समझिए। हियरिंग एड से भी कोई फायदा नहीं। बस, ‘आइरन लंग्स’ अर्थात् रिलीफ की साँस के भरोसे अस्पताल के बेड पर पड़ा हुआ किसी तरह ‘हुक-हुक’ कर जी रहा है। ऊँ सर्वविघ्नानुत्सारय हूँ फट् स्वाहा.....,

पटना शहर ही नहीं, स्वयं रेणु की स्थिति भी कुछ समय बाद ऐसी ही हुई। और, हर आदमी इस तरह की त्रासदी का शिकार कभी-न-कभी होता ही है। किंतु, रेणु ने अपनी इस अंतिम रचना में कथात्मकता, नाटकीयता और काव्यात्मकता के द्वारा जीते-जागते समाज का जो गतिशील चित्र उपस्थित किया है, उसका साहित्यिक महत्व तो है ही, समाज-वैज्ञानिक महत्ता भी है और जीवन में इतनी विषमता जब तक रहेगी, बदहाली और पस्ती का आलम जब तक रहेगा, उसकी प्रासंगिकता बनी रहेगी।

‘भूमिदर्शन की भूमिका’ 1966 ई. में मध्य बिहार में पड़े अकाल का मार्मिक कथात्मक दस्तावेज है।

1975 ई. में रेणु पटना की बाढ़ में स्वयं घिरे हुए थे, किंतु 1966 ई. में सूखाग्रस्त क्षेत्रों के लोगों तक वे यायावर अज्ञेय के साथ पहुँचते हैं। सूखे से संबंधित यह रिपोर्टाज भी रेणु के आत्मीय संस्पर्श से स्पंदित है। सूखा क्षेत्र में भूख से लड़ते हुए ग्रामीण लोगों के बीच रेणु की मानवीय दृष्टि, सहृदयता और सहानुभूति बार-बार उभरती है और इन लोगों की पीड़ा को इस तन्मयता और गहराई से वे पहचान कर अभिव्यक्त करते हैं कि मानों स्वयं उसी के अंग हों। इस रिपोर्टाज में भी कथात्मकता, नाटकीयता और काव्यात्मकता का अद्भुत सम्मिश्रण मिलता है और इन तत्वों की छवियों से दृश्यों और घटनाओं के यथार्थ-विधान को जोड़ कर उसे अधिक संश्लिष्ट रूप में तो उभारता ही है, साथ ही उनसे उत्पन्न संवेदनाओं को भी गहराता है। ज्ञातव्य है कि आत्मीय संस्पर्श देने की प्रक्रिया में लेखक स्मृतियों के माध्यम से बार-बार कुछ मार्मिक अतीत-संदर्भों से जुड़ जाता है। ये संदर्भ वर्तमान के यथार्थ से कहीं टकराकर, कहीं जुड़कर उसके प्रभाव को अधिक घनीभूत करते हैं। बाढ़ वाले रिपोर्टाज में ऐसे संदर्भ अनेक बार आए हैं। इन संदर्भों का किसी विशेष परिस्थिति में घिरे हुए आदमी के मन में कौंधना बड़ा स्वाभाविक होता है। बाढ़ में घिरा हुआ आदमी कहीं बाहर जा नहीं सकता है, इसलिए बैठा-बैठा अतीत की स्मृतियों में बार-बार खो जाता है। किंतु एक रचनाकार केवल उस स्वाभाविकता का ही निर्वाह नहीं करता बल्कि वह उसे एक रचनात्मक रूप भी देता है अर्थात् उससे कोई ऐसा प्रभाव रचता है जो वर्तमान के प्रभाव से जुड़कर उसे अधिक सघन करता है। लेखक की वैयक्तिकता उसकी मूल्य-दृष्टि में भी देखी जा सकती है। मूल्य-दृष्टि वैयक्तिक नहीं होती, सामाजिक होती है, किंतु उसे धारण करने वाला व्यक्ति ही होता है। एक ही समय में, एक ही परिस्थिति में कोई व्यक्ति मूल्य-दृष्टि संपन्न होता है, कोई उस दृष्टि का निषेध करता है। रेणु के लेखन में शुरू से ही मूल्य-दृष्टि रही है। विषम से विषम परिस्थिति में वह मूल्य

का प्रकाश कहीं-न-कहीं से पा लेता है। देश और समाज की स्थितियाँ निरंतर क्रूर बनती गईं और लेखक की मूल्य-दृष्टि को यह क्रूरता आहत करती गई, किंतु लेखक का कुछ निजी संस्कार ऐसा रहा है कि वह मूल्य-दृष्टि को सर्वथा छोड़ नहीं सका। किंतु मूल्यों के टूटने और उसे धारण किए रहने का तीखा द्वंद्व उसके परिवर्ती लेखन में दिखाई पड़ता है।

‘भूमिदर्शन की भूमिका’ का प्रारंभ इस प्रकार किया गया है। पिछले कई वर्षों से सैकड़ों शब्द नाम, देश, समस्याएँ और समाचार मेरे लिए बेमानी हो रहे हैं, होते जा रहे हैं, उनमें—डेमोक्रेसी, चाइना, चुनाव, रेल-दुर्घटना, खाद्यान्न, भ्रष्टाचार, जनता, सत्यमेव जयते, कफरू, फायरिंग, बाढ़-फलड़, दहाड़, सूखा-जरी-सुखाड़ जैसे नित्य के समाचारों में इस्तेमाल होने वाले शब्द भी हैं जिनके बिना आजकल किसी का काम नहीं चल सकता। शब्द अपने अर्थ खोते जा रहे हैं’ क्योंकि ये सिर्फ समाचारों में प्रयुक्त होते हैं। इनकी अर्थवत्ता का लोप दरअसल इनसे भारतीय शासकवर्ग के सरोकारों का न होना है। इसलिए ये समस्याएँ आज भी मुँह-बाये खड़ी हैं। यह एक संकट है। यह लेखक की एक खास प्रकार की मानसिकता का भी घोटक है। जो उसके टूटते-बिखरते सपनों को भी दर्शाता है। अपनी ‘तब शुभनामें’ कहानी की शुरुआत में भी रेणु ऐसी ही बातें करते हैं - एक-एक कर बहुत सारे शब्दों को ‘नकारता’ जा रहा हूँ, ‘नकार’ दिया है। नेति-नेति ! माता, मातृभूमि, जन्म-भूमि, देश, राष्ट्र, देशभक्ति - जैसे चालू शब्दों की अब मुझे जरूरत नहीं होती। माँ की ‘ममता’ और मातृभूमि पर मर-मिटने के संवाद और गीतों की बातें अब सिर्फ बंबई और मद्रास के फिल्म प्रोड्यूसर ही करते हैं। गाँव-समाज से नेह-छोह तोड़े दो दशक हो गए। अब कभी अपने गाँव की याद नहीं आती। गाँव के ‘चैपाल’ और ‘गोहाल’ और ‘अलाव’ के किस्से भूल चुका हूँ। कोसी-कछार की हवा मुझे समय-असमय निमंत्रण नहीं देती और न दूर किसी गाँव के ताड़ या खजूर या नारियल के पेड़ ही इशारों से मुझे बुलाते

हैं।'

लेखक जिन शब्दों को नकारता जा रहा है, वही ज्यादा महत्वपूर्ण और जरूरी हैं। दरअसल, इन्हीं शब्दों के प्रति उसका सघन लगाव रहा है। स्वाधीनता-संघर्ष में इन्हीं शब्दों को उसने अपनी आत्मा में बसाया था और उसके लिए संघर्ष किया था। किंतु, आजादी के बाद ये शब्द अपनी संवेदनशीलता खोते गए। देशभक्ति समाज में न होकर, लोगों के हृदय में न होकर मात्र एक शब्द बनकर रह गया। देश में यह पतनशीलता का दौर था। 1967 ई. धूमिल ने एक कविता लिखी थी। 'बीस साल बाद' जिसमें आजादी के प्रति मोहभंग को दर्शाने वाली उसकी निम्न पंक्तियों की याद यहाँ बरबस आती है। 'हवा से फड़फड़ाते हुए हिंदुस्तान के नक्शे पर गाय ने गोबर कर दिया है।' इसी कविता में आगे वे लिखते हैं -

क्या आजादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है जिन्हें एक पहिया ढोता है

या इसका कोई खास मतलब होता है।

तात्पर्य यह कि शब्दों का अर्थहीन हो जाना हमारे राष्ट्रीय एवं सामाजिक सरोकारों का लुप्त हो जाना है। दूसरे शब्दों में कहें, हमारा संवेदनहीन हो जाना है। रेणु बताते हैं कि इसी कारण जब 'हथिया-नच्छतर' नहीं 'फरा' और भयानक सूखे की आशंकाओं और संभावनाओं भरी खबरें प्रकाशित होने लगीं तो 'फ्लड-बाढ़-दहाड़' की तरह 'ड्राउट' सूखा-सुखाड़-भूखमरी भी मेरे लिए धीरे-धीरे बेमतलब हो गए। इसी कारण, कलकत्ते के एक प्रसिद्ध दैनिक का विशेष संवाददाता-जिसको विशेष रूप से 'ड्राउट' देखने के लिए भेजा गया था। रेणु की बातें सुनकर हतप्रभ हो गया हूँ। ड्राउट देखने आए हैं मानो छतरपुर-सोनपुर का मेला देखने आए हैं। उसके जाने के बाद रेणु को अपने 'लेखक' पर अचरज मिली दया आ गई। वे सोचते हैं कि उनका 'लेखक' जो इस तरह से कुंठित और पतित हो गया है कि हर अहम सवाल और समस्या पर मुँह बिचकाकर एक ही बात कहता है कि सब झूठ है। बकवास है। ऑल

फ्राड। स्टेट ! आइने में अपनी काया की छाया से वे पूछते हैं- तुमने कभी कोसी-कवलित जनों, अकाल-पीड़ितों और शरणार्थियों के दुख-दर्द को भोगकर जीती-जागती छवियाँ आँकी थीं क्या हो गया तुझे जो इस तरह 'बोतल प्रसाद' हो गया तू।

रेणु इस तरह आत्मालोचन करते हैं, अपने-आप से ही जूझते हैं। वे देखते हैं कि समाज का एक वर्ग सूखा जैसे मानवीय त्रासदी की भी तिजारत करता है और इन आपदाओं का अपने स्वार्थ में उपयोग करता है। केंद्र से लेकर राज्य तक के अन्नदाता ड्राउट देखने आ रहे हैं। बिहार के दक्षिणी हिस्से में पलामू और हजारीबाग की पहाड़ियों और जंगलों की धरती की छतियाँ दरकती जाती हैं, पानी पाताल की ओर खिसकता जा रहा है, आदमी भूख से ऐंठ-ऐंठकर मरने लगते हैं। जबकि अकाल के नाम पर बाहर से आए लोगों के कारण पटना के होटलों में कमरा मिलना मुश्किल है। तंदूरी चिकन के आर्डर पर आर्डर दिए जा रहे हैं। रेणु को लगता है कि हमारा देश शव-साधक हो गया है। रेणु भी अपने-आप में सिमटे हुए हैं। किंतु, 'दिनमान' के संपादक अज्ञेय पटना पहुँचते हैं और रेणु को अकालग्रस्त क्षेत्रों में ले जाना चाहते हैं। रेणु अज्ञेय को टाल नहीं सकते, क्योंकि अज्ञेय सिर्फ 'दिनमान' के संपादक ही नहीं हैं। एक पुराने क्रांतिकारी, कवि-उपन्यासकार और चिंतक हैं। वे अज्ञेय ही नहीं यायावर भी हैं जो सूखी धरती पर भूख से तिलमिलाकर मृत्यु से साक्षात्कार करने वालों से साक्षात्कार करने के लिए आए हैं। रेणु अज्ञेय के विषय में बताते हैं, 'अज्ञेय प्रसिद्ध मितभाषी हैं। किंतु मुझे हमेशा यही लगा है कि उनका मौन ज्यादा मुखर होता है। उन्होंने मुझसे कोई सवाल किए बिना, चुप रहकर ही-पूछना शुरू कर दिया। आप सूखा क्षेत्र में हो आए हैं क्यों नहीं लेखक क्या समाज से बाहर का प्राणी है क्यों 'ऐसी उदासीनता क्यों? तुम इस हद तक बीमार हो? क्यों? जवाब दो - क्यों?'

आगे, रेणु अज्ञेय की करुणा की चर्चा करते हैं।

‘अज्ञेय आज तक ‘बोधगया’ कभी नहीं गए बोधि का दर्शन नहीं किया। फिर कहाँ पाई करुणा? ...मैं भी बोधगया कभी नहीं गया, ...बोधगया के रास्ते के गाँव संकटग्रस्त हैं। बौद्धधर्म स्वीकार करता है कि दुख है और इतना ही पर्याप्त है कि हम दुख से मुक्ति पा सकते हैं। सुख पाएंगे या नहीं, हम नहीं जानते ...बौद्ध संसार से परे कोई वस्तु नहीं मानते। बुद्ध ईश्वर के विषय में पूर्णतया अज्ञेयवादी हैं...।’ इस प्रकरण के तुरंत बाद रेणु रामकृष्ण परमहंस का स्मरण करते हैं - ‘देवघर में भूखे-नंगे संधालों को देखकर, काशी-यात्रा स्थगित करके बैठे हैं। पहले इन्हें भरपेट भोजन दो ...चूल्हे में जाए तुम्हारी काशी की गंगा ...मैं तीर्थ करने नहीं जाता ...इन्हें भरपेट खाने को दो, ये ही शिव हैं, ये ही नारायण ... रेणु ने बुद्ध, रामकृष्ण, जयप्रकाश एवं अज्ञेय की करुणा को भूखे-नंगे लोगों से जोड़ दिया है। वे अज्ञेय के साथ बोधगया की राह पर ‘कोखजली धरती’ का दर्शन करने निकलते हैं और उन्हें भारत की प्राचीन सांस्कृतिक परंपरा के कुछ गौरव-स्तंभ याद आते हैं। बोधगया में बौद्धमंदिर एवं महाबोधि वृक्ष को देखकर वे सोचते हैं - ‘मंदिर के प्रांगण में घूमते हुए मुझे रह-रहकर ...रिपुंजय, बिंबिसार, अजातशत्रु, शिशुनाग, महापद्मनंद, चंद्रगुप्त, अशोक, शून्य पुराण और कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो की याद आई ...राहुल जी, भदंत और नागार्जुन की याद आई। ...वर्षों पहले पढ़ी बातें, ‘ब्रजयान’ और ‘ब्रजत्व’ की व्याख्या, ब्रजत्व लाभ करना मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। मनुष्य का अधिकार ही सबसे बड़ा है। मनुष्य ही सत्य है, और सब मिथ्या। ...महासुख ही महाप्रभु, महाशून्य, वही करुणा, वही सर्वदेवता। एकक न किज्जई मंत न तंतए निउ धरनी लई केलि परंत। निअ घर धरनी जाब न मज्जई, ताब कि पंचवर्गढ बिहरिज्जई ...!’

बोधगया से आगे बढ़ने पर सूखी हुई धरती के नजारे दिखाई पड़ते हैं। अज्ञेय के पास कैमरा है। वे कोखजली धरती और उसके दृश्यों के साथ-साथ ग्रामीण क्षेत्र के लोगों के चित्र भी खींच रहे हैं।

उनकी आँखें टोह लेती हुई। घास ‘गढ़’ कर यानी खोदकर लौटती हुई औरतें ... सिर पर टोकरियाँ। धान का बोझा नहीं, सूखी-झुनाई घास ! साथ में वह नहीं बच्ची ! ...मगध की छोरियाँ, कुछ गोरियाँ; कुछ कारियाँ भी !, कुछ भोरियाँ ...बाजरे की कलगी नहीं, बिछली घास भी नहीं ...घास पर टोकरियाँ लेकर तेजी से चली जा रही हैं। आगे जाने पर देखा -एक खेत में काला-कलूटा, दुबला-पतला, भूखा-प्यासा, थका-हारा, बूढ़ा धान के सूखे पौधों को हँसिया से काट रहा है। यह इस संकट से लड़ रहा है। गया शहर से नवादा की ओर जाने पर ग्राम गुरुचक्र और बुद्धगैरे के नाम पढ़कर रेणु को एक समाजशास्त्रीय गप्प शुरू करने का अवसर मिला, ‘इस रास्ते से बुद्ध गए होंगे। और, ग्राम गुरुचक्र में ‘श्रीचक्र’ की तरह कोई अनुष्ठान संपन्न हुआ होगा। वात्स्यायन जी भी मुस्कुराकर इस बातचीत में शरीक होना चाहते थे कि अचानक सड़क के दोनों ओर का भू-भाग-लैंडस्केप-सपाट, सू-खा-आ-आ !! यह क्या? जहाँ तक दृष्टि जाती है। एक तृण नहीं। कहीं एक तिनका भी हरा नहीं। बंजर-परती धरती नहीं... धान के खेत हजारों एकड़। प्रकृति के प्रकोप की मारी धरती ! ...हँसुआ पहुँचत-पहुँचते बोलतप्रसाद यानी लेखकजी न जाने कहाँ हवा में ‘बिला’ गए। उनकी जगह पर रह गया। बिहार के एक गाँव का एक किसान का बेटा, जो सिर्फ यही सोच रहा है कि यदि उसके जिले में, इलाके में ऐसा सूखा पड़ा होता तो उसकी जमीन, उसके गाँव, गाय-बैल, औरत-बच्चे ऐसे ही ...इसी तरह ...!’

रेणु अकालग्रस्त क्षेत्र को देखकर अपने-आपको उन्हीं परिस्थितियों में डालकर अनुभव करते हैं, क्योंकि लेखक होने से पहले वे एक किसान हैं। कृषि ही उनकी जीविका का साधन है। यही कारण है कि एक लेखक होने के नाते वे अकालग्रस्त क्षेत्रों को सिर्फ ऊपरी नजर से नहीं देखते, अपितु उसे गहराई से महसूस भी करते हैं। वे जीवंत चित्र आँकते हैं, ‘अब हमारी आँखें और कुछ नहीं देखती ...सिर्फ

सूखा और अकाल ! ...आने-जाने वालों की गठरियों में क्या है। गेहूँ, मकई, बाजरा ... इधर कहाँ जा रहे हैं सभी लोग वह बूढ़ी बकरी लेकर कहाँ जा रही है? जरूर बेचने जा रही होगी? ...वह लड़की हमारे गाँव की सुरती की तरह लगती है। यह बूढ़ा नई लालटेन खरीदकर ले जा रहा है। ...उस गाँव में निश्चय ही किसी की शादी हुई है या गौना हुआ है, रंगे हुए कपड़े सूख रहे हैं। शादी या गौने में 'भोज' हुआ होगा? बच्चे पढ़ने जा रहे हैं? क्या खाकर जा रहे हैं?... दूर-दूर तक खेतों में लोग दिखाई पड़ते हैं, हल जोतते हैं, कुदाल चलाते हुए ...लोग लड़ रहे हैं।'

बिहार के अकाल पर रेणु के अलावा अज्ञेय ने भी रिपोर्टाज लिखा था। 'सारिका' पत्रिका में ख्वाजा अहमद अब्बास ने भी अकालग्रस्त क्षेत्रों का दौरा कर 'बिहार की डायरी' नामक रिपोर्टाज लिखा था, जो धारावाहिक रूप में छपा था। इसके अंत में उन्होंने कई जरूरी सवाल उठाये थे, जिसका उल्लेख करना यहाँ प्रासंगिक होगा। बिहार का सूखा और काल। बंगाल के महाकाल की तरह एक ऐतिहासिक ट्रेजेडी है। मगर इस ट्रेजेडी ने बिहार की जनता को- हिंदुस्तान की जनता को-चौंका दिया है। झंझोड़ दिया है। ललकार दिया है। सोचने, समझने और सवाल करने पर मजबूर कर दिया है। कब तक हमारे किसान आसमान की ओर देखते रहेंगे, कब तक बारिश के लिए भगवान से प्रार्थना करते रहेंगे, कब तक सूखा और काल और बाढ़ का चक्कर चलता रहेगा।

ख्वाजा अहमद अब्बास राजकपूर की फिल्मों में पटकथा लिखने वाले लेखक थे। उन्होंने बिहार के अकाल का दर्शन कर बेहद सटीक बातें लिखी हैं। आज भी देश में इन समस्याओं से निजात नहीं पाया गया है। रेणु ने अकालग्रस्त क्षेत्रों का दौरा कर जो जीती-जागती छवियाँ अंकित की हैं, वैसे दृश्य आज भी दिखाई पड़ते हैं। ये दृश्य दारुण एवं भयावह हैं - 'पगडंडी के दोनों ओर सूखी बारी-झारी' की क्यारियाँ। जंगली 'भुटके' का साग भी नहीं ! मिट्टी के बरतन-

बासन-कुत्ते का डोलता और हाँफता हुआ एक कंकाल बिना बोले-भूँके एक जोर चला जाता है। एक माता अपने बच्चे को गोदी में लेकर आ रही है। हमें देखकर ठिठक गई। उसका बच्चा अवाक-उदास आँखों से हमारी ओर देखता रहता है। माँ मुँह फेर लेती है। काल-काले होंठों के बीच, सफेद दाँतों पर बिजली-सी कौंध गई। हम गाँव के मध्य में पहुँचे। एक मिट्टी की गिरी-पड़ी दीवार के पास एक 'खुनखुन'। बूढ़ी बैठी थी, हमें देखते ही बड़बड़ाने लगी। क्रोध से उसके नथुने के आसपास की सिकुड़ी-सिमटी चमड़ी थर-थर काँपने लगी। उसकी घुड़कती आँखें और टूटी दंत-पंक्तियाँ ...मैं मन-ही-मन 'कालिका सहस्र नाम' जपने लगा। घोररूपा, घोरद्रष्ट्रा, घोरा, घोरतरा, शुभा ...कोटराक्षी ...बहु भाषिणी,... प्रचंडा ...चंडी ...चंडवेगिनीए यक्षिणी, योगिनी, जरा, राक्षसी, डाकिनी, वेदमयी, वेदविभूषणा... निष्ठुरवादिनी... माँ!!'

रेणु ने भूख और गरीबी से बेहाल भूमि-पुत्रों से संवाद करना शुरू किया। एक बच्चे का जन्म हुआ है, जिसका नाम ही 'अकलवा' रख दिया गया है। बिनोदवा की माँ कितनी सही बात बोलती है कि भगवान भी मालिक की ओर है, वह अंधा-बहरा है। नहीं तो इस अन्याय को वह देखता। तीन-तीन दिन पर उनलोगों को मड़ुआ की एक रोटी नहीं मिलती और मालिक लोगों की हवेली में पूड़ी-बुंदिया। वे रोआब दिखाते हैं। चोरी में पकड़ा देगा, डकैती में फँसा देगा। जेल में देगा। बिनोदवा की माँ सही कहती है। 'जेहल में देगा' त उहे दे दो। जेलवा में खाए के त मिलतई ह.....ए गरीब के देखनेवाला को-य न-ही....।' आगे वह क्षुधित मन से शाप देती है। इसका तर्क देती है। पेटवा जरहे त मुँह से गरिया निकसय है। रेणु को लगता है कि इनसे वे क्या कहें? कह दें - जाकर खाना भेज दूँगा? दूध भेज दूँगा? दवा भेज दूँगा? पर यह सच नहीं होगा। लेखक यह कर नहीं सकता। वह लिख सकता है और लोगों के दुख-दैन्य एवं पीड़ा को अंकित कर दूसरे लोगों तक पहुँचा सकता है। इससे ज्यादा वह कुछ नहीं कर

सकता। यह उसकी सीमा है। यह उसकी विवशता है। ऐसे में उन्हें नक्षत्र मालाकार की याद आती है। वे बताते हैं, 1949 में पूर्णिया-भागलपुर के कुछ इलाकों में अकाल पड़ गया था। सभी बड़े किसानों और गल्ले के व्यापारियों ने अनाज छिपा लिया था। 'हाहाकार' मचा कि बंगाल के बाद इस बार बिहार की बारी है। किसान-मजदूरों की पार्टियाँ आवश्यक बैठक बुलाकर अकाल की समस्या पर विचार करने का प्रोग्राम तय ही कर रही थीं। उधर, नक्षत्र मालाकार ने हजारों भुक्खड़ों की टोली लेकर बड़े किसानों और व्यापारियों के 'बखार' और 'गोले' को लुटवाना शुरू कर दिया। रोज-रोज खबरें आने लगीं। आज मोहनपुर में ...आज ढोलबाजा में ...आज पीरपैती के हाट पर। उसका नाम सुनते ही गरीबों के गाँव में खुशी की लहर दौड़ जाती, अमीरों की हवेलियों में सन्नाटा छा जाता और अधिकारियों का आरामहराम ! 'रेणु ने तब अपने रिपोर्ताज 'हड्डियों का पुल' में उसकी आलोचना कर दी थी। तब नक्षत्र मालाकार ने कहा था। 'तुम जो मन आए' लिखो। मुझे गालियाँ दो। मगर, एक बार इन गाँवों में आकर देखो। ...सब कुछ भूल जाओगे।आदमी इतना बेदर्द हो सकता है? ...सात दिन के भूखे बच्चों के मुँह पर हँसी देखकर

जेल-फाँसी और नरक सब कबूल करके तुम भी वही शुरू करोगे जो मैं कर रहा हूँ। ...दस-पंद्रह वर्षों बाद अब लगता है कि साथी नक्षत्र ने ठीक ही कहा था। जेल-फाँसी और नरक सब कबूल...।'

रेणु के मन में भावों का उद्वेग उठता है, फिर ठहर जाता है। तमाम कोशिशों के बावजूद प्राकृतिक आपदाओं में हर वर्ष हजारों लोग मरते हैं, मरते जाते हैं, पर इससे मौजूदा व्यवस्था को कोई फर्क नहीं पड़ता। सब वैसा ही चलता रहता है। वे अकालग्रस्त गाँवों का दौरा समाप्त करते हुए अपने-आपसे पूछते हैं। श्रतू सिंह मर जाएगा तो क्या होगा? इतने लोग मर गए तो क्या-क्या हुआ?क्या होगा? कुछ नहीं होगा !

आजादी के इतने वर्षों के बाद भी देश की प्रमुख समस्या भूख और बेरोजगारी है। लोग अन्न के बगैर मरते हैं। किंतु, प्रशासन के लोग अब भी इन्हें ढँकने की कोशिश करते हैं। नागार्जुन ने इसी संदर्भ में एक व्यंग्य कविता लिखी थी। मरो भूख से, फौरन आ धमकेगा थानेदार ! घरवालों से लिखवा लेगा, वह तो था बीमार।

'ऋणजल-धनजल' के बाढ़ एवं अकाल पर लिखे रिपोर्ताज समाज के बहुरंगी, बहुस्तरीय रूप में प्रस्तुत करते हैं।

संपर्क : बसंत नगर, हजारीबाग-825301 (झारखंड), मो. : 6204130608

बोली- ठोली- हँसी - ठट्टा... यही है रेणु जी, महिला (मैला) आँचल के लेखक...

पंकज मित्र

कोई हँसी ठट्टा है क्या जी? गप्प क्या ऐसे ही रसाया जाता है? खाली रोने धोने वाली बात कौन पसंद करता है जी? थोड़ा बोली - ठोली नहीं हो तो गाँव कैसा? गाँव का जीवन कैसा? गाँव, जहाँ जीवन में राग रंग नहीं, गीत- गवनाई नहीं, हँसी - मजाक नहीं?... लोक जीवन का तो प्राण तत्व है- हास्य व्यंग्य, जो न सिर्फ कष्टपूर्ण स्थितियों में जीवनी शक्ति का संचार करता है बल्कि सामाजिक- आर्थिक - राजनीतिक विसंगतियों का क्रिटीक भी पेश करता है - एक किस्मकासेफ्टी वाल्व है, उन हजारों लाखों उत्पीड़ित शोषित हाशिए के लोगों के लिए जो प्रत्यक्षतः शोषण का, उत्पीड़न का प्रतिकार नहीं कर सकते लेकिन हास्य व्यंग्य के माध्यम से अपनी पीड़ा थोड़ी कम जरूर कर सकते हैं। रेणु की तरह लोक में रचा-बसा रचनाकार भला इतनी महत्वपूर्ण प्रविधि को नजरअंदाज कैसे कर सकता था? हास्य व्यंग्य की आँच से अछूता कैसे रह सकता था? खासतौर पर जिस अंचल की कथा रेणु कहते हैं, उस मिथिलांचल का व्यंग्यबोध तो विश्व विश्रुत है- तो उनके कथालोक में हास्य व्यंग्य की उपस्थिति अनिवार्य होनी ही थी।

रेणु ऐसे समय में ऐसे अंचल की कथा कह रहे थे जब पूरे देश में आशंका के शूल भी थे तो आशा के फूल भी, गरीबी और असमानता का कीचड़ भी था तो विकास करने की सदिच्छा का चंदन भी और जाहिर है कि लोकतंत्र की जो परिकल्पना सामने आ रही थी, रेणुका लेखक उससे संतुष्ट नहीं था और यही असंतुष्टि, हास्य व्यंग्य के रूप में उनकी कहानियों, उपन्यासों और कुछ व्यंग्य रचनाओं में अनुस्यूत नजर आती है।

हास्य व्यंग्य का सर्वश्रेष्ठ रूप है आत्म व्यंग्य या आत्मालोचन और यह दिखता है अपने उत्कृष्ट रूप में रेणु के द्वारा अपने बारे में एक अनूठे अंदाज में लिखे गए आत्मवक्तव्य में। आज जब हम आत्मश्लाघा के निकृष्टतम रूप के दर्शन कदम - कदम पर कर रहे हैं और आत्मकथाएँ इस रूप में लिखी जा रही हैं जैसे सृष्टि के महानतम प्राणी हमही हैं और हमारा संघर्ष ही पृथ्वी की महानतम संघर्ष गाथा है, ऐसे में रेणु एक बलंद खुदी उर्फ मशहूर नकबेसर का किस्सा (गुटका) में अपने जन्म की कथा ऐसे अनोखे अंदाज में लिखते हैं जो आत्मालोचना का विशिष्ट उदाहरण है-

‘इस गाँव में एक ऐसे जीव को भेजा जा रहा है जो एक ही साथ सुर और असुर, सुंदर और असुंदर, पापी और विवेकी, दुरात्मा और संत, आदमी और साँप, जड़ और चेतन सब कुछ होगा। धरती की मांग पर इसे विशेष रूप से भेजा जा रहा है’

और अपने लेखन के बारे में ही मजाक उड़ाते हुए रेणु कहते हैं कि - ‘और मन में यह बात उपज गई कि झूठ बोलना छोड़ कर यदि झूठ लिखा जाए तो यह पाप, पुण्य

में बदल सकता है और अब तो झूठ का जहाज ही चला रहा हूँ। पेशा ही यही है... 'मैला आँचल उपन्यास का प्रकाशन एक बड़ी साहित्यिक परिघटना थी और रेणु की ख्याति सिर्फ एक वृहत्तर पाठक वर्ग में ही नहीं सुदूर ग्रामीणों के बीच में भी जिसकी रसाई हो चुकी थी। गाँव के लोग गर्वमिश्रित प्रशंसा के भाव से कहते- यही है रेणु जी, महिला (मैला) आँचल के लेखक !! - खुद रेणुजी ने अपने कॉफी हाउस के दोस्तों के बीच यह गप्प रसाया था। हिंदी उपन्यास का यह एक नवोन्मेष था, नवाचार था तो आलोचकों की समझ में नहीं आ रहा था कि क्या कहें और कैसे कहें। इस ऊहा-पोहा का, इसके बारे में गलत अवस्थितियों और स्थापनाओं का रेणु ने भरपूर आनंद लेते हुए खुद ही- 'मैला आँचल : एक विज्ञापन' नाम से संक्षिप्त टिप्पणी लिखी थी जिसमें नकारात्मक प्रचार के रूप में आलोचकों के तमाम आरोपों का मुँहतोड़ जवाब दिया है। वे लिखते हैं -

'मैला आँचल? वही उपन्यास जिसमें हिंदी का एक भी शुद्ध वाक्य नहीं है? जिसे पढ़कर लगता है कथानक की भूमि में सती सावित्री के चरण चिट्ठों पर चलने वाली एक भी भारतीय आदर्श नारी नहीं है?'

'तुमने तो पढ़ा है ना मैला आँचल? कहानी बताओगे? कह सकते हो उसके हीरो का नाम? कोई घटनासूत्र? नहीं न? पता ही था। न कहानी है न कोई चरित्र ही पहले पन्ने से आखिरी पन्ने तक छा सका है।'

'पत्थर पड़े हैं उन कुंदजेहन आलोचकों के और तारीफ के पुल बांधने वालों के जो इसे ग्रेट नावल कह रहे हैं। ग्रेट नावल वह होता है जिसका अनुवाद हो सकता है। करवा कर देख लो मैला आँचल का अनुवाद... अरे भाई उस मूर्ख गँवार लेखक ने न केवल समीक्षकों को ही भरमाया है, पाठकों पर भी लद बैठा है।'

गौर से देखें तो रेणु ने अपनी अप्रतिम व्यंग्यात्मक शैली में उपन्यास के आलोचकों के हर आरोप का

जवाब दिया है। रेणु की कहानियों में हास्य व्यंग्य के इतने सूत्र मिलते हैं कि रेणु के खोजीराम, भारत यायावर ने रेणु की हास्य व्यंग्य कहानियाँ नाम से एक कथा संग्रह ही संकलित कर दिया - यह मानते हुए कि उनकी तमाम कथा रचनाओं में बीच-बीच में हास्य व्यंग्य की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, यह मानते हुए कि शुद्ध हास्य व्यंग्य की कहानी नहीं लिखी है रेणु ने पर स्पष्टतया कई कहानियों में ऐसी कहानियाँ जरूर है जिसमें सहज हास- उल्लास का वातावरण, गंभीरता के बीच से ऊभर आता है तो कभी हास के वातावरण के बीच से कोई कारुणिक प्रसंग भी। कुछ कहानियों में हास्य व्यंग्य ने अपनी विभिन्न और प्रभावी उपस्थिति जरूर दर्ज कराई है- अकल और भैंस, अग्नि संचारक, पार्टी का भूत, वंडरफुल स्टूडियो, अगिनखोर, आत्म साक्षी, न जाने किस वेश में, अतिथि सत्कार और कुछ हद तक पंचलाइट भी ऐसी ही कहानियाँ हैं।

रेणु राजनीतिक रूप से चेतस और सक्रिय लेखक हैं और उनकी राजनीतिक चेतना राजनीति के छद्म, अंतर्विरोधों, चरित्रों के खोखलेपन को उजागर करती चलती है। न सिर्फ कहानियों बल्कि उपन्यासों में भी राजनीतिक चेतना झलक मारती रहती है। 'मैला आँचल' तो एक ऐसा उपन्यास है जो उस कालकी राजनीति का एक मुकम्मल पाठ प्रस्तुत करता है। राजनीति के घात प्रतिघात, राजनीति में जातिवादी समीकरण, राजनीति के अलग - अलग धड़े और जन से निरंतर बढ़ती इसकी दूरी- इन तमाम चीजों को व्याख्यायित करने के लिए हास्य व्यंग्य से बढ़िया उपकरण भला क्या होता और रेणु इसका भरपूर उपयोग भी करते हैं। 'पार्टी का भूत' और 'वंडरफुल स्टूडियो' कहानियों में राजनीतिज्ञों के चरित्र पर, राजनीतिक पार्टियों पर मारक व्यंग्य करते हैं - यारों की शक्ल से अजी डरता हूँ इसलिए/ किस पार्टी में आप हैं वह पूछ ना बैठें।

वहीं वंडरफुल स्टूडियो कहानी में नेताओं की तस्वीरों में छपने वाली बीमारी की खूब खबर ली है

रेणु ने। अगिनखोर कहानी में थोथी अतिक्रांतिकारिता जो उस समय के युवाओं का राजनीतिक फैशन बन गया था, उस पर टिप्पणी है -

‘यह अपने को फायरईटर, अगिन खोर समझता है। सेल्फ पोज्डलोनली रिबेल का एक नकली नमूना!

इन नकली नमूनों की पहचान खूब है रेणु को और व्यंग्य की धार से इनको परखने का हुनर भी। अगिन संचारक कहानी में ऐसे ही एक बातों से आग लगा देने वाले कवि और ना जाने केहि वेश में’ कथा में महाकाव्य लिखने वाले कवि की पहचान करते हैं वह। ‘जलवा’ कहानी राजनीति में सांप्रदायिकता की पड़ताल व्यंग्यात्मक रूप में करती है तो ‘विकट संकट’ में धार्मिकता की आड़ में लोभ-लालच के खेल के प्रदर्शन को दिखाती है।

परंतु सिर्फ शुद्ध हास्य व्यंग्य तब तक गहरी मार नहीं करता जब तक उसमें करुणा का उद्रेक न हो और इस प्रवृत्ति को उद्घाटित करती हुई कहानी है -आत्मसाक्षी- राजनीति में ईमानदारी का ह्रास एवं नैतिक संकट को बहुत गहरा रेखांकित करती है यह कहानी। कम्युनिस्ट पार्टी जो अपेक्षाकृत ईमानदार पार्टी मानी जाती थी, सिर्फ उसके विभाजन की कथा नहीं कहती बल्कि उन संकटों को भी परिभाषित करती है, जो राजनैतिक पर्यावरण को दूषित कर रहे थे। एक ऐसी पार्टी जो नैतिक आग्रहों के लिए जानी और मानी जाती है, वर्ग भेद और वर्ग शत्रु के सिद्धांत पर टिकी है, उसमें भी आम कार्यकर्ता और नेता की कथनी करनी के भेद को उजागर करने के लिए व्यंग्य का सहारा लेते हैं रेणु। पार्टी के प्रति निष्ठा, नैतिकता कब एक आउट डेटेड मूल्य में बदल जाती है, उसे कहानी में इस संवाद के जरिए समझा जा सकता है -

‘गणपत! तुम्हारे लीडर लोग यानी तुम्हारी पार्टी, जाति और धर्म को अफीम कहती है। मगर तुम्हारे लीडर लोग अपने बच्चे - बच्चियों की शादी दूसरी जाति में क्यों नहीं करते? लड़के की शादी में कामरेड रामलगन शर्मा ने पच्चीस हजार रूपए तिलक

में गिनवा लिए? तुम्हारे लीडर के बच्चे दार्जिलिंग और देहरादून में पढ़ते हैं?’

इन सवालों के उत्तर गणपत के पास नहीं है। किसी भी आम कार्यकर्ता के पास नहीं होते जबकि पार्टी का पूरा अस्तित्व ही ऐसे कार्यकर्ताओं के समर्पण, निष्ठा, उत्सर्ग और परिश्रम पर टिका होता है। राजनीतिक व्यंग्य अपने उत्कर्ष पर तब पहुँचता है जब गणपत जैसे ईमानदार कार्यकर्ता के लिए पाठक के मन में करुणा उपजती है और यही व्यंग्य का अभीष्ट भी होता है।

बहुप्रचारित हरित क्रांति और सिद्धांत व्यवहार के दो पाटों के बीच फँसे चरित्र की कथा है - अकल और भैंस। अगम जी जो शहर में साहित्य सेवा कर रहे थे, उनके मन में खेती करने का विचार उपजा। व्यंग्य की बानगी देखिए -

‘इस हरी क्रांति की हवा ने अगम जी के हृदय को ऐसा हरा बना दिया कि उन्हें चारों ओर हरी हरी ही सूझने लगी और अंत में निश्चय करते हैं कि- अभी शहर लौट जाना ही श्रेयस्कर है।

मिखाइल बाख्तिन उपन्यास को बहुस्वरीय, संवादी और कार्निवल की तरह उत्सवधर्मी विधा मानते हैं और रेणु के न सिर्फ उपन्यास बल्कि कहानियों में भी यह बहुस्वरीयता झिलमिलाती है। यह बहुस्वरीयता सिर्फ मुख्य चरित्रों के स्वरों पर नहीं टिकी है बल्कि जो सहयोगी स्वर हैं, उस पर भी है। इसलिए तुमरी धर्मा कहानियाँ कहते हैं रेणु अपनी कहानियों को। बहुस्वरों में हास्य व्यंग्य का स्वर भी शामिल है और काफी महत्वपूर्ण ढंग से शामिल है जिसको हम सुनते रहते हैं ना सिर्फ रेणु के उपन्यासों में बल्कि कहानियों में भी। रेणु की कहानियों में इतना रस जो उपस्थित है उसका कारण कैथरीन हैंसन बताती हैं कि - रेणु पाठक को छपे हुए पृष्ठों की सुरक्षित दुनिया से बाहर खींचते हैं और मौखिक परंपरा में प्रवेश कराते हैं - यह मौखिक परंपरा जिन उपादानों से बनती है, उसमें लोकभाषा, लोकगीत के साथ अनिवार्य रूप से हास्य व्यंग्य भी है - जो लोकजीवन

और लोक भाषा का अनिवार्य अंग है। इस व्यंग्य में समाज की सभ्यता समीक्षा भी दर्ज है। 'पंचलाइट' कहानी की कथा स्थितियों के अंदर से उभरता जातियों का संघर्ष, संवादों में व्यंग्य के जरिए उपस्थित होता है -

'राजपूत टोली के लोग हँसते-हँसते पागल हो रहे हैं। कहते हैं कि- कान पकड़कर पंचलैट के सामने पाँच बार उठो बैठो, तुरंत जलने लगेगा।'

कहानियों के अतिरिक्त रेणु का व्यंग्यकार 'उत्तर नेहरू चरितम्' नामक रचना में अपना जौहर दिखाता है जिसे वे एक तंत्री नाटक कहते हैं। नेहरू के चरित्र के अंतर्विरोधों को यह रचना जितनी कुशलता से उघाड़ती है वैसा कम ही रचनाएँ कर पाती हैं- प्रधानमंत्री नेहरू की अधिनायकवादी छवि, कॉमरेड नेहरू और वीर जवाहर की छवि- सब पर हावी हो जाती है और बिगड़कर कहते हैं कि - इन बदमाशों ने सिरखा लिया है - और नेहरू पूरी तरह एक्सपोज हो जाते हैं।

रेणु ने भाषा, शिल्प, शैली का ऐसा संश्लिष्ट विधान किया है कि किसी एक को अन्य से अलग कर नहीं देखा जा सकता। लोकजीवन से चुन बीछ कर लाए गए शब्दों से एक ऐसी संरचना तैयार करना जिसमें शब्दों को दृश्य और श्रव्य में ही नहीं, बल्कि

गंध, स्पर्श और स्वाद में भी बदलने की कठिन साधना और इस प्रक्रिया में रस की उत्पत्ति स्वाभाविक रूप से होना यही रेणु का कारु कार्य है। हास्य व्यंग्य इन रचनाओं का सहज उत्पाद होता है। रेणु खुद कहते हैं कि वह गाँव जाकर हर बार नया चूड़ा, नया चावल, नया गुड़ आदि के साथ कुछ नए शब्द भी ले आते हैं। 'मैला आँचल' के सैकड़ों ऐसे शब्द- गिरिफफ, इंकिलास जिंदाबाघ, इस्पिताल, भंसाघर,- गाँव के रंग में रंगेशब्द, हास्य व्यंग्य की सान पर चढ़े शब्द। विशुद्ध हास्य का रंग देखना हो तो एक छोटी रचना - अथ बालकांडम्- को देखना चाहिए, जिसमें अलग-अलग प्रांतों में 'बाल' शब्द को लेकर अर्थ विभ्राट, विशुद्धहास्य की उत्पत्ति करता है।

पर रेणु सिर्फ दिलचस्पी के लिए हास्य व्यंग्य की स्थितियाँ और वातावरण निर्मित नहीं करते वरन गहरे सामाजिक राजनैतिक निहितार्थ को सामने लाना उद्देश्य है उनका और व्यंग्य के पीछे करुणा का उद्रेक करना जो रेणु को एक बड़ा कलाकार, बड़ा रचनाकार साबित करता है। बोली टोली हँसी ठट्टा के बीच से रेणु का कद ऊँचा झलकता है। तभी तो आम पाठक भी कहता है कि - यही है रेणु जी, महिला आँचल के लेखक!! 'एक सिद्ध और जीवनानुभवों से पगा रचनाकार ही यह करतब कर सकता है।

संपर्क : 102, हरिओम शांति अपार्टमेंट, साकेत बिहार, हरमू,
राँची-834002 (झारखंड), मो. : 9470956032

रेणु की कविताई अनिल त्रिपाठी

प्रख्यात कथाकार फणीश्वरनाथ रेणु का यह जन्म शताब्दी वर्ष है। रेणु को अर्से से पढ़ता रहा हूँ और मुझे हमेशा लगता रहा है कि रेणु के कथाकार में एक कवि स्थायी रूप से मौजूद है। उनके भीतर कवि की यह मौजूदगी उनके कथाकार को एक अलहदा, सबमें अलग और बहुत ऊंचे दर्जे का लेखक बनाती है। 'मैला आँचल', 'परती परिकथा' में आए लोक गीतों और जनगीतों में जैसे रेणु की आत्मा निवास करती है। ये गीत कितने लोक के हैं, कितने रेणु के, इन्हें अलग कर पाना बेहद कठिन है। कहना तो यह चाहता हूँ कि लोक और जनगीत के शिल्प में इनमें से अधिकांश रेणु के ही रचे हुए हैं।

बहुत पहले त्रिलोचन के बारे में रेणु का एक आत्मीय संस्मरण 'अपने-अपने त्रिलोचन' छात्र जीवन में पढ़ा था। उसमें उन्होंने लिखा था- 'त्रिलोचन को देखते ही हर बार मेरे मन के ब्लैकबोर्ड पर एक अगणितक असाहित्यिक तथा अवैज्ञानिक प्रश्न अपने आप लिख जाता है- वह कौन सी चीज है, जिसे त्रिलोचन में जोड़ देने पर वह शमशेर हो जाता और घटा देने पर नागार्जुन..?' 'दरअसल यह ऐसा सूत्र है जो त्रिलोचन नागार्जुन और शमशेर के काव्य-वैशिष्ट्य को समझने की महत्वपूर्ण कुंजी है। यह वही लिख सकता है, जिसे इन कवियों के काव्य-सौन्दर्य की बहुत बारीक और गहरी पहचान हो। रेणु को आधुनिक कवियों में ये तीनों ही बहुत पसंद हैं। त्रिलोचन कदाचित थोड़ा ज्यादा ही। वे त्रिलोचन को कबीर, जलालुद्दीन रूमी, लालन फकीर की पंक्ति में रखते हैं। जरा इन पंक्तियों को देखें- 'कबीर को पढ़ते समय मेरा मन 'भाई साधो' का हो जाता है। फारसी के कवि जलालुद्दीन रूमी का मैंने नाम ही सुना है। अर्थात् विद्वानों के लेखों में उद्धृत उनकी कुछ पंक्तियों के भावानुवाद को पढ़कर ही रोम रोम बजने लगते हैं। बंगाल के प्रसिद्ध बाउल गायक लालन फकीर के गीतों को सुनते समय 'देहातीत सुख' का परस सा पाए है और त्रिलोचन के सानेट पढ़ते समय यह देह यंत्र 'रामुरा झिं झिं' बजने लगता है।'

ऐसे ही शमशेर बहादुर सिंह उन्हें कई जगह याद आते हैं। जैनैद्र की कहानी फांसी के पात्र शमशेर और जुलैका से कैसे कवि शमशेर को एक दूसरे में समेकित कर देते हैं वह विलक्षण है। जैनैद्र रेखा चित्र की प्रारंभिक पंक्तियाँ हैं-

लोगों

शमशेर से डरते क्यों हो?

वह फौलादी है,

पर देखो कितना झुक जाने को तैयार है!

लेकिन खबरदार!

उसकी धार के सामने न पड़ना

वह न्याय की तरह बारीक है
शमशेर दो बातें जनता है
बहादुरी और गरीबी।

जिनमे दोनो नहीं, वे क्या आदमी हैं..? 'यह कवि शमशेर का कितना स्वाभाविक संश्लेष स्केच है। गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर रेणु की साहित्य चेतना का अभिन्न हिस्सा है, उन पर विस्तार से लिखा है, श्रद्धा से विगलित नहीं आलोचनात्मक रुख के साथ। और कई बार 'सघनतम की आँख' की तरह भी। पाण्डुलेख' में लिखा है- 'आँकना आता नहीं, क्या करूँ?.. दुहाई रवींद्रनाथ! रक्षा करो गुरु! स्मृतिर पटे जीवनेर छवि के आंकिया जाए-जानि ना।..जीवनेर बाहिरेर दिके घटनार धारा चलियाछे - आर भीतरेर दिके संगे संगे छवि आँका चलितेछे। कवि की इन पंक्तियों को पढ़कर अवसाद दूर हुआ।'

निराला, जीवनानंद दास, दिनकर, अज्ञेय, नागार्जुन, शक्ति चटोपाध्याय, सुनील गंगोपाध्याय आदि कवियों का यथा- प्रसंग जिक्र भी किया है। 'मैला आँचल' जिससे रेणु को खूब शोहरत मिली और कालांतर में कथा साहित्य के इतिहास में युगान्तर उपस्थित करने वाला कालजयी उपन्यास सिद्ध हुआ, वह नाम भी सुमित्रानंदन पंत की एक कविता 'भारत माता' से प्रेरित है। रेणु ने 'नरकवास के दिन' नामक आत्म कथात्मक निबंध में स्वीकार किया है कि 'मैला आँचल नाम मैंने पंत जी की कविता से लिया था।'

'द्विजदेनी' यानी राम देनी तिवारी जिनका गहरा प्रभाव रेणु पर था और जिन्होंने रेणु को कविता छोड़कर कथा साहित्य लिखने की सलाह दी थी उनका पहली बार नाम मैंने त्रिलोचन जी से ही सुना था। सत्याग्रह के दिनों के वे प्रमुख सुराजी थे। कविता लिखते थे, पत्रिका निकालते थे। नाटक भी लिखे हैं। पर रेणु को पढ़ते हुए यह परिचय थोड़ा और अधिक गाढ़ा हुआ। वे 'हितैषी' पत्रिका के संपादक थे। बकौल रेणु जिसके ग्राहक और पाठक अप्रीका, फिजी और मॉरीशस में भी थे। रेणु अपने आरंभिक जीवन में (1930 के आसपास) उनके प्रभाव को

रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि- 'उनके आशीर्वाद के बल पर मैंने तुकबंदी शुरू की। कवि सम्मेलनों में समस्यापूर्ति करके पुरस्कार प्राप्त किया। उन्हीं के आशीर्वाद से विद्यार्थी आंदोलन में भाग लिया।' 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के समय भागलपुर सेंट्रल जेल में रेणु उनके साथ थे। उसी जेल में। रेणु ने उस समय को याद करते हुए जो लिखा वह बेहद महत्वपूर्ण है, और इस बात का साक्ष्य है कि कैसे रेणु कविता से कथा साहित्य की ओर उन्मुख हुए। इस प्रसंग को यहाँ लिखना शायद अप्रासंगिक न होगा। यह उद्धरण देखें- सन 1942में, भागलपुर सेंट्रल जेल में उनके (राम देनी तिवारी द्विजदेनी) साथ था। और अंतिम दिनों में मुझे उनकी सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ-मुझे संतोष है। अन्य सेवाओं के अलावा तीन उपन्यास पढ़कर सुनाये थे उन्हें। रवींद्रनाथ ठाकुर का 'योगायोग', प्रेमचंद का 'गोदान' और अज्ञेय का 'शेखर एक जीवनी'। मृत्यु से दो दिन पहले वे किसी के नाम (शायद अपने पुत्र को) एक पत्र लिखना चाहते थे। मैं प्रिजनर्स-लेटर पर कलम थामकर घंटों बैठा रहा। वे चित लेटे, नाक पर उंगली रखे सोचते रहे। बहुत देर बाद एक लंबी सांस लेकर बोले- नहीं। छोड़ दे बेटे! कुछ नहीं लिखना लिखाना है, अब!... और सुनो तुम कविता छोड़कर कहानी लिखना शुरू करो।... कहानी के बाद उपन्यास।... नाटक, हास्य व्यंग्य सब लिखना।

मैला आँचल प्रकाशित होने के बाद प्रकाशन समारोह के बाद मैं रात में फूट फूटकर रोता रहा- पिताजी, तिवारी जी दोनों में से कोई नहीं रहे! वे होते आज'..!'

कविताओं पर सीधे लिखने के पूर्व यह भूमिका देना इसलिए जरूरी लगा, क्योंकि रेणु के कवि मानस संरचना में इस सोते की प्रमुख भूमिका है। रेणु ने 1945 से 1977 के बीच लंबे-लंबे अंतराल पर कविताएँ लिखीं। यद्यपि उनकी संख्या बहुत नहीं है। रेणु रचनावली के खंड पाँच में कुल इकतीस कविताएँ संग्रहीत हैं। कुछ ऐसी भी कविताएँ हैं

जिनका जिक्र रेणु की बातचीत में कहीं कहीं आया है, किंतु वे अप्राप्त हैं। रेणु साहित्य के गहरे अध्येता भारत यायावर ने रेणु रचनावली के खंड पाँच की भूमिका में ऐसी अप्राप्त कविताओं का जिक्र किया है।

फणीश्वर नाथ रेणु का रचनाकार लोक जीवन में बहुत गहरे धंसा है। इतना कि उसका एक एक रंग-रेशा उससे ओझल नहीं हैं। रेणु के रचना संसार का बहुलांश इसी मिट्टी से उर्वराशक्ति ग्रहण करता है। और यहीं से हासिल ताजगी और जनसंग-ऊष्मा उन्हें बाकियों से अलग करती है। रेणु ने स्पष्ट लिखा है 'मैं लोक गीतों की गोद में पला हूँ। इसीलिए हर मौसम में मेरे मन के कोने में उस ऋतु के लोकगीत गूंजते रहते हैं। मैं कहीं भी हूँ, इन लोकगीतों की स्मृति-ध्वनियाँ मुझे अपने गाँव में कुछ क्षण के लिए पहुँचा देती हैं।' इसके साथ साथी रचनाकारों को यह नसीहत भी दी है कि- 'साहित्यकार को चाहिए कि वह अपने परिवेश को संपूर्णता और ईमानदारी से जिये।' यह कहने की अलग से जरूरत नहीं कि रेणु ने अपने परिवेश को न केवल संपूर्णता और ईमानदारी से जिया बल्कि उस जिये गए को पूरी संश्लिष्टता के साथ अभिव्यक्त भी किया।

इस संदर्भ में 'मँगरू मियाँ के नए जोगीड़े' कविता सहज ही ध्यान खींचती है। यह रेणु के युवा काल की कविता है। 1950 में लिखी। इस कविता का पूरा शिल्प होली के समय गाए जाने वाले फाग गीत 'जोगीरा' का है। किंतु कथ्य समसामयिक और व्यंग्य चेतना से संपन्न। कविता की शुरुआत होती है-

'ताक धिन्ना धिन, धिन्नक तिन्ना, ताक धिनाधिन
धिन्नक तिन्नक।

जोगी जी सर-र-र, जोगी जी सर-र-र।' ढोल के थाप की यह सांगीतिक ध्वन्यात्मकता जिसका पीछा रेणु पदों से नहीं बल्कि वर्णों से कर रहे हैं यह अत्यन्त दुर्लभ है। इस सांगीतिक ध्वन्यात्मकता के साथ पीछे-पीछे चलता हुआ कथ्य गीत की शक्ल में कितना मारक बनता है उसका तो हिसाब नहीं। फाग के बहाने राजनीतिक चरित्र के भयावह यथार्थ

को वे सामने लाते हैं। कुछ पंक्तियाँ यहाँ देखी जा सकती हैं-

'एक रात में महल बनाया, दूसरे दिन फुलवारी
तीसरी रात में मोटर मारा, जिनगी सुफल हमारी
जोगी जी एक बात में, जोगी जी एक बात में
जोगीजी भेद बताना, जोगी जी कैसे कैसे।'

रेणु के अंतःकरण के आयतन में समूचा परिवेश स्पंदित है। प्रकृति, लोक, मिट्टी, पर्व, चिरई चुरंग, हवा, पानी, विविध जीवन के रंग उसके अनिवार्य घटक हैं। इन सबके बीच मनुष्य की जिजीविषा और उसकी नियति को निर्धारित करने वाली शक्ति राजनीति भी अंतःन्यस्त है। रेणु राजनीतिक रूप से बेहद सक्रिय रहे हैं। इसके बावजूद वे एक जगह लिखते हैं कि-

'साहित्य की पौध बड़ी नाजुक और हरी होती है।
इसे राजनीति की भैंस द्वारा चर लिए जाने से बताए
रख सकें तभी उसकी फसल हमें मिल सकती है।'

त्योहारों में होली उन्हें विशेष पसंद है, इस पर उनकी कई कविताएँ हैं। वसंत में आस-पास का सौन्दर्य और इस मौसम की 'यह फागुनी हवा' शरीर मन और आत्मा में भी उत्फुल्लता का सुवास भर देती है। ऐसे में कवि कैसे अपने को अलग रख सकता है। एक निश्छल उमंगता उसके शरीर मन सब पर तारी है। कविता का यह अंश इसी भाव को सामने लाता है-
साजन! होली आयी है!

सुख से हंसना

जी भर गाना

मस्ती से मन को बहलाना

पर्व हो गया आज-

साजन होली आयी है!

हंसाने हमको आयी है।

इसी तरह 'समर्पण' कविता में एक उन्मुक्त मन पूरी भंगिमा और लय के साथ प्रस्तुत होता है। यह कविता टूरो रोमांटिसिज्म की उदाहरण है जहाँ बंधनों से मुक्ति की चाह की अभीप्सा प्रबल है।

'उड़ती फिरो स्वच्छन्द अब

तितलिके! प्रति कुंज में उड़ती फिरो स्वच्छन्द अब
आज कलियों को सुनाओ, प्रेम की मोहक कहानी
मुस्कुरा जागे हृदय की युगों से सोयी जवानी
चूम पुष्पों के अधर, संचय करो मकरंद अब
उड़ती फिरो स्वच्छन्द अब।'

नूतन वर्षाभिनंदन, मुझे तुम मिले!, कौन तुम
वीणा बजाते जैसी कविता निराला की याद दिला
जाती है। आगत आजादी का अभिनंदन कवि इन
शब्दों में करता है-

आजादी की उमंग

रहा सूर्य स्वातंत्र्य का हो उदय!

हुआ कर्मपथ पूर्ण आलोकमय!

युगों के घुले आज बंधन खुले

मुझे तुम मिले!

रेणु की कई कविताएँ अपने समय के पार जाती
है। वे इतनी प्रासंगिक हैं जैसे कोई आज बैठा लिख
रहा है। परकाया प्रवेश प्रायः सक्षम कवियों का गुण
होता है जिससे दूसरे के सुख-दुख को आभ्यांतरित
कर अनुभूति के धरातल पर प्रगट कर देता है। पर
दृष्टि संपन्न कवि पर काया प्रवेश ही नहीं पर समय
प्रवेश भी करता है। जिससे उसकी कविता समय के
निस्सीम विस्तार में संचरण करते हुए नए दिक और
काल उपस्थित होकर नया संदर्भ ग्रहणकर अर्थवान
हो उठती है। रेणु की राजनीतिक कविताओं में यह
गुण है। यद्यपि उनकी संख्या बहुत नहीं है पर कुछ
तो है ही। 'मिनिस्टर मंगरू' कविता जो 1949 में
लिखी गई थी, की इन पंक्तियों में जैसे आज का
आचरण बोलता है।

'सुना है जांच होगी मामले की? पूछते हैं सब

जरा गंभीर होकर, मुँह बनाकर बुदबुदाता हूँ!

मुझे मालूम है कुछ गुर निराले दाग धोने के

'अहिंसा लाउंड्री में रोज मैं कपड़े धुलता हूँ।

राजनीतिक आचरण की यह पतनशीलता और
व्याप्त भ्रष्टाचार का यह सिलसिला कितना
समसामयिक है जिसकी शिनाख्त रेणु ने आजादी के
तुरंत बाद ही कर ली थी। एक अन्य कविता 'धमार

फगुआ' की इन पंक्तियों पर ध्यान सहज ही अटक
जाता है-

'जनता के नामे गद्दी चढ़ बैठे-गद्दी चढ़ बैठे

झुड़न के सरताज

गांधी के सत्य अहिंसा रोये

रोवत राम के राज।

हो एतना जुलुम जनि करु मूढ़ रावन..'
फणीश्वर नाथ रेणु के इन कविता अंशों में कहन की
प्रकृति में कितनी विविधता है। पहला अंश गज़ल के
शिल्प में तो दूसरा लोक गीत के शिल्प में। वस्तुस्थिति
में काव्य के आनंद को द्विगुणित करने के लिए कवि
रेणु का सुझाव है - 'यह धमार फगुआ जरा मृदंग और
झाल पर आजमाकर गाईये।' लोक गीत सिर्फ कंठ
तक सीमित नहीं उसकी चारुता और अर्थवत्ता संगीत
के लोक वाद्य यंत्रों में ही अपनी चमक विखेरती है।
लोक संगीत के वाद्य यंत्रों का गहन ज्ञान रेणु को है।
उन्हें पता है किस वाद्य यंत्र का कहाँ प्रयोग होना है।
मृदंग, झांझ, ढोल, नगारा ताशा, खजरी, तुरही, मांदल
आदि का यथा उपयोग वे जानते हैं। और व्यावहारिक
धरातल पर कुछ के उपयोग भी कर लेते थे।

रेणु की राजनीतिक कविताओं का जिक्र हो और
उसमें 'बहुरूपिया' और 'इमरजेंसी' कविता की याद
न आए यह संभव ही नहीं। बहुरूपिया की ये पंक्तियाँ
आज बरबस ही ध्यान खींचती हैं-

राम रे राम

क्या पहरावा है

क्या चाल-ढाल

सबड़-भबड़

आल-जाल-बाल

हाल में लिया है भेख?

जटा या केश?

हमारे इर्द गिर्द जो वातावरण है उसमें बहुरूपियों
का जो मायालोक है उसमें से किसी एक की छवि
जैसे कैद हो गई है यहाँ। विलक्षण है कि कविता
समय को लांघकर समय में उपस्थित है। अच्छी
रचनाओं का यही गुण होता है। 'इमरजेंसी' कविता

प्रथमतः काव्य बोध में, हो सकता है किसी अस्पताल के इमरजेंसी वार्ड की याद दिलाता हो किंतु वह वहाँ से उठकर एक व्यापक फलक पर इमरजेंसी के दिनों में समूचे भारत की स्थितियों को भी बयाँ करता है। देश ही जैसे इमरजेंसी वार्ड में तब्दील हो गया हो। ध्यान देने की बात है कि धर्मयुग में 26 जून 1977 को यह कविता छपी थी ठीक आपातकाल के अंत के बाद। कविता की पंक्तियाँ उस विभीषिका को कुछ यों दर्ज करती है-

‘ ब्लॉक के अंदर
एक ही ऋतु
हर ‘वार्ड’ में बारहों मास
हर रात रोती काली बिल्ली
हर दिन
प्रयोगशाला से बाहर फेंकी हुई
रक्तरंजित सुफेद
खरगोश की लाश।’

रेणु ने नूना मांझी नाम से भी दो कविताएँ लिखी हैं। एक ‘गत मास का साहित्य’ और दूसरी फर्जी अर्जी। ‘गत मास का साहित्य’ कविता रूसी कवि बोरिस पास्तरनाक और हिंदी कवि बालकृष्ण शर्मा ‘नवीन’ की मृत्यु पर लिखी गई है। दो महान रचनाकार के अवसान पर लिखी गई यह कविता रेणु की कवि दृष्टि को भी सामने लाती है। यहाँ वे बोरिस को याद करते हुए कहते हैं कि ‘पास्तरनाक ने एक पंक्ति लिख भेजी-पिंजड़े में बंद असहाय प्राणी मैं/सुन रहा हूँ शिकारियों की पग ध्वनि आवाज!/किंतु वह दिन

अत्यन्त निकट है/जब घृणित- कदम-अश्लील पशुता पर/मंगल कामना का जयघोष गूँजेगा।’ इसी तरह रामधारी सिंह ‘दिनकर’ की शव यात्रा से लौट कर रेणु ने श्रद्धांजलि के रूप में भी कविता लिखी है -हमें क्षमा करना, कविवर विराट!/हम तुम्हारी आत्मा की शांति के बदले/उसको अपनी काया के एकांत और पवित्र/ कोने में/प्रतिष्ठित करने की कामना करते हैं।

अंत तक आते आते यदि ‘मालिक! आज माफ करो!’ ‘कविता के बारे में बात न की तो यह आलेख अधूरा ही होगा। यह रेणु की कविताओं में सबसे अलग है। श्रम सौन्दर्य की आभा में नेह-राग का यह बोध इतना निष्फल है कि यह पवित्र और पारदर्शी प्रेम एक चुपचाप सांद्र प्रतिरोध में बदल जाता है। याद आता है ‘ऋणजल-धनजल’ में रेणु का यह वाक्य- ‘मैंने अपने आचार्य कवि मित्र से कहा-पहचान लीजिए। यही है वह आम आदमी, जिसकी खोज हर साहित्यिक गोष्ठियों में होती रहती है।’ रेणु की कविता में यह सचमुच वही आदमी है जो कहता है-आज कोई काम नहीं होगा/ मछलियों के शिकार के सिवा।/मालिक! आज माफ करो/घरवाली का पैर भारी/मछली खाने को जी हुआ है।

यह कविता पढ़ते हुए और रेणु के काव्य संसार से गुजरते हुए यह इच्छा बनी रहती है कि काश! रेणु ने ऐसी कविताएँ और लिखी होती। बहरहाल इस काश के बाद यह जरूर कहना चाहता हूँ कि रेणु ने भले ही कम कविताएँ लिखी हों लेकिन किसी भी बड़े कवि की तरह उनमें अपार संभावनाएँ थी।

संपर्क : ऑफसर कॉलोनी, आदित्य नगर, कल्याणपुर,
पश्चिम लखनऊ-226022 (उ.प्र.) मो. 9412569594

जीवन की असंगति में संगति की खोज

प्रज्ञा

प्रयोगधर्मिता किसी भी रचनाकार के लिए एक बड़ी उपलब्धि और उसकी रचना-यात्रा का आकलन करने वाला गुणात्मक मूल्य होता है। अपनी ही रचनायात्रा को मुड़कर देखना, समय और परिस्थितियों के अनुसार बदलावों को रेखांकित करते हुए कहन की दृष्टि से गुणात्मक बदलाव करना वास्तव में रचनाकार के तौर पर उपलब्धि, इस मायने में भी है कि रचनाकार अपने चिर-परिचित अंदाज को तोड़कर नए कथ्य के अनुसार नए शिल्प की खोज में निकलता है। कई बार नएपन की इस यात्रा में रचनाकार अपनी आजमाई विधा के अतिरिक्त नई विधा का भी संधान करता है। यह एक रचनाकार के विकास का मानक भी बनता है। लेकिन प्रयोगधर्मिता अपने साथ जोखिम और चुनौतियाँ भी लाती है। बाजदफा कई रचनाकार इस नएपन को साध न पाने के चलते अधिक दूर तक नहीं जा पाते परंतु नई संभावनाओं का रचनाकार इन जोखिमों और चुनौतियों से नहीं कतराता।

हिंदी में अनेक कथाकारों ने अपनी रचना-यात्रा में कथा के साथ नाटक में भी अपनी विशिष्ट उपस्थिति दर्ज कराई है। प्रेमचंद, प्रसाद, उपेंद्रनाथ अशक, भुवनेश्वर, भीष्म साहनी, मोहन राकेश, मन्नू भंडारी, असगर वजाहत, रमेश उपाध्याय, स्वयं प्रकाश, सुरेंद्र वर्मा, हृषीकेश सुलभ, मीराकांत, त्रिपुरारि शर्मा जैसे अनेकानेक नाम हमारे सामने आते हैं। कथाकार फणीश्वरनाथ रेणु जैसे अविस्मरणीय रचनाकार को लोग उनके कथाकार व्यक्तित्व से ही अधिक जानते हैं। उनके नाटककार व्यक्तित्व को अधिकांश लोग भले ही न जानें पर उनकी कहानियों के नाट्य-रूपांतरण और मंचन लगातार होते रहे हैं। 'पंचलैट', 'रसप्रिया', 'अच्छे आदमी', 'संवदिया' जैसी रेणु की कई कहानियों का मंचन और आकाशवाणी से उनका रूपांतरण प्रचारित-प्रसारित होता रहा है। रेणु का कथा-साहित्य अनेक नाट्य युक्तियों से सिंचित है। मुख्य रूप से संवाद, गीत, दृश्य रचने का कौशल और ध्वनिबिंबों का विराट संसार रेणु के कथा-लोक में मौजूद है।

कथा के क्षेत्र में अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज करने वाले रेणु ने अपने जीवन काल में नाटक भी लिखे। उनकी रचनावली के पाँचवें खंड में अट्ठाइस पृष्ठों के भीतर तीन नाटक शामिल हैं। ये नाटक हैं- 'उत्तर नेहरू चरितम्', 'ये हैं आपकी पड़ोसिन: कवयित्री' और 'पाँच नंबर प्लेटफॉर्म'। कथा से नाटक की ओर जानेवाले रेणु की यह तीन नाट्य रचनाएँ पूर्णकालिक नाटक नहीं हैं। अपने स्वरूप में यह तीनों नाटक आकार की दृष्टि में लघु हैं और इनका ढाँचा एकांकी-नाटक का ढाँचा अधिक लगता है। परंतु रेणु के नाटकों को हम सीधे तौर पर एकांकी भी नहीं कह सकते क्योंकि 'उत्तर नेहरू चरितम्' का नाट्य रूप संपादक ने 'एकतंत्री नाटक' तय किया है। 'पाँच नंबर प्लेटफॉर्म' आकार की दृष्टि में अपेक्षाकृत तीनों में बड़ा है दूसरे, यह रेणु की लिखी एक्सर्ड नाटिका है। 'ये हैं आपकी पड़ोसिन: कवयित्री' रेडियो नाटक के रूप में

आकाशवाणी पटना से प्रसारित हुई नाटिका है जो सात जनवरी 1961 में सारंग पत्रिका में प्रकाशित हुई। “सारंग ऑल इंडिया रेडियो का पाक्षिक पत्र रहा है जो जुलाई 1938 से प्रकाशित होकर सामने आया। जनवरी 1958 से सारंग पत्रिका का नाम बदलकर आकाशवाणी कर दिया गया।” यानी रेणु की ये तीनों रचनाएँ कथा के साथ नाटक के क्षेत्र में जाते रचनाकार का प्रयोगधर्मी रूप तो सामने लाती ही हैं साथ ही वैशिष्ट्य यह भी है कि इसके रूप में भी प्रयोगधर्मी वैविध्य देखा जा सकता है। क्रमशः एकतंत्री नाटक, एक्सर्ड नाटक और रेडियो एकांकी। रेणु के नाट्य-संसार और उनकी प्रयोगधर्मिता को परखने के लिए लेख में इन तीनों नाटिकाओं पर विचार किया जाएगा।

राजनीतिक एकांकी-उत्तर नेहरू चरितम्

रेणु का रचनाकार राजनीति के ताप और गहन संवेदना की ऊष्मा से सृजित है। स्वयं सक्रिय राजनीति में भाग लेने वाले रेणु के राजनीतिक आदर्श समाजवादी मंच के नेता जयप्रकाश नारायण रहे। सन 1940 के आसपास वे समाजवादी धारा से जुड़े और सन 1942 में स्वाधीनता आंदोलन में भागीदारी के कारण जेल भी गए। उन्होंने स्वीकार किया-“ मैंने आजादी की लड़ाई आज के भारत के लिए नहीं लड़ी थी। अन्याय और भ्रष्टाचार अब तक मेरे लेखन का विषय रहा है और मैं सपने देखता रहा हूँ कि यह कब खत्म हो। अपने सपनों को साकार करने के लिए जन-संघर्ष में सक्रिय हो गया हूँ।” उनके बहुचर्चित उपन्यास ‘मैला ऑचल’ का किरदार बावनदास भ्रष्टाचार के खिलाफ लड़ाई लड़ता हुआ भ्रष्ट और प्रतिगामी शक्तियों द्वारा मारा जाता है। उसका आहत मन अन्याय और भ्रष्ट आचरण के प्रतिपक्ष में अपनी आवाज बुलंद करता है-“चानमल मड़बाड़ी के बेटा सागरमल ने अपने हाथों सभी भोलंटियरों को पीटा था; जेहल में भोलंटियरों को रखने के लिए सरकार को खर्चा दिया था। वही सागरमल आज नरपत नगर थाना कांग्रेस का सभापति है। और सुनोगे?... दुलारचंद कापरा को जानते हो न? वही जुआ कंपनी

वाला, एक बार नेपाली लड़कियों को भगाकर लाते समय जोगबनी में पकड़ा गया था। वह कटहा थाना का सिकरेटरी है। भारथमाता और भी जार-जार रो रही है।” इस अंश में साफ प्रतीत होता है कि यहाँ भारतमाता ही नहीं रेणु स्वयं रो रहे हैं।

राजनीतिक चेतना रेणु के उपन्यासों के साथ उनकी कहानियों में भी मिलती है। वास्तव में साहित्यकार राजनीति से निरपेक्ष कोरा कलावादी जीव नहीं है। दूसरे, वह कलावादी है तो यह भी उसकी एक राजनीति ही है। रेणु की नाटिका ‘उत्तर नेहरू चरितम्’ पूरी तौर पर एक राजनीतिक व्यंग्य आधारित नाटिका है। हालाँकि इसका रचना समय नाटिका में कहीं भी उल्लिखित नहीं फिर भी अनुमानतः यह छठे दशक के शुरुआती वर्षों में ही लिखी गई होगी। मेरे इस अनुमान की दो ठोस वजह हैं। पहली, रेणु रचनावली में शामिल इस नाटिका के आरंभिक रंगसंकेत के बाद नाटिका आरंभ होने से ठीक पहले लिखा है - “1950 की होली की रात”। दूसरी वजह है रेणु का कथा-रिपोर्टाज ‘नए सवेरे की आशा’। इस रिपोर्टाज के कुछ संदर्भ इस नाटिका से जुड़ते हैं, जिनकी चर्चा आगे आएगी। रिपोर्टाज के अंत में इसके प्रकाशन का वर्ष लिखा है- ‘मासिक जनवाणी (वाराणसी) के जनवरी 1950 के अंक में प्रकाशित।’ यही दो वजह इस नाटिका के लेखन के अनुमानित समय पर सोचने पर विवश करती हैं।

भवभूति द्वारा रचित ‘उत्तर राम चरितम्’ की तर्ज़ पर नेहरू पर आधारित नाटिका का शीर्षक पाठक का ध्यान आकर्षित करता है। प्रतिष्ठित-स्थापित सत्ताओं से संघर्ष और कथा को नए आयतन से दिखाने के लिए मौलिक सोच से प्रेरित भवभूति का नाटक ‘उत्तर राम चरितम्’ कई सवाल खड़े करता है। विशेष रूप से सीता निवारसन के समय स्त्री के पक्ष से राम को कटघरे में खड़ा करता है। रामकथा का मौलिक पाठ रचने वाले इस नाटककार की आलोचना भले ही हुई हो कालांतर में उसके मौलिक चिंतन का स्वागत भी हुआ।

नाटक का कथानक अति संक्षिप्त है। होली की

रात में अपने शयनकक्ष में नेहरू आदमकद आईने में अपनी ढलती उम्र को निहार रहे हैं कि दरवाजा खटकता है। नेहरू को आईने में छह लोग दिखाई देते हैं। यह छह लोग नेहरू के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं जो वर्तमान नेहरू से सवाल करते हैं। यह सवाल अतीत में नेहरू की भूमिकाओं और चिंतन को प्रश्नांकित करते हैं। नेहरू इनका परिचय और सवाल पाकर खिन्न मनःस्थिति में हर किसी को सजा देते हैं। आईने से हटकर सिर पकड़कर बिस्तर पर सो जाते हैं।

‘उत्तर नेहरू चरितम्’ को यदि प्रयोगधर्मिता की कसौटी पर देखा जाए तो नाटक के आरंभ में ही संपादक ने इस नाटक को एकतंत्री नाटक जैसी मौलिक संज्ञा दी है। रेणु ने जिस समय यह नाटक लिखा था उस समय तक हिंदी नाट्य साहित्य में नाटक के साथ एकांकी लेखन का चलन हो गया था। प्रसाद, रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अशक, भुवनेश्वर जैसे कई एकांकीकारों के एकांकी पाठकों के समक्ष आ चुके थे। यही नहीं रेडियो रूपक और रेडियो एकांकी भी प्रचलन में थे। रेणु के इस नाटक में एक अंक वाले चुस्त कथानक का ढाँचा एकांकी के करीब जाता है पर उसे एकांकी नहीं एकतंत्री नाटक कहा गया है। इस एकतंत्री को समझाते हुए संपादकीय टिप्पणी में लिखा गया है-“यह सर्वथा नवीन पंथ है। नाट्य साहित्य में चंपू नाटक और एकांकी के बाद यह नए अध्याय का ‘बिसमिल्लाह’ करता है। एकतंत्री नाटिका में-एक ही अंक, एक ही दृश्य, एक ही अभिनेता-मतलब यह कि एक ही सबकुछ। राजनीति के वन पार्टी रूल एक पार्टी राज की तरह।-संपादक।” नाटक के इस नवीन नामकरण को यदि एकांकी के स्वरूप के आधार पर विश्लेषित करें तो एक अंक, सीमित पात्र और एक ही स्थान पर यह नाटिका घटित हो रही है। बात यदि एक ही अभिनेता की करें तो एक व्यक्ति के अन्य छह व्यक्तित्वांगों को मंच पर दर्शाया गया है। यानी कुल सात अभिनेता। यदि नाटककार ने पार्श्व ध्वनियों से काम चलाया होता तो फिर भी हम एक अभिनेता के तर्क को मान सकते थे पर

नेहरू के अतिरिक्त छह रूप मंच पर संवादरत दिखाए गए हैं। एक ही व्यक्ति के अन्य छह रूप। इस तरह चरित्र एक होने पर भी मंच पर अभिनेता तो सात हैं। नाटिका में कोई रंगसंकेत या निर्देश भी नाटककार की ओर से नहीं है कि वर्तमान नेहरू का चेहरा इन पात्रों से भेंट न करे वरन उसे सूच्य दिखाकर एक-एक करके एक ही अभिनेता नेहरू के किरदार में आ रहा है। पर यहाँ तो सातों अभिनेता संवाद की भूमिका में मंच पर एक साथ दिखाए गए हैं। न ही यह नाटिका मोनोलॉग के रूप में है न ही एक दीर्घ स्वगत के रूप में। इस प्रकार एकतंत्री नाटक का बताया गया एक मानक-एक ही अभिनेता तो नाटिका के संदर्भ में तर्कसंगत नहीं लगता। यदि इसे लोकतंत्र के बरक्स एकतंत्र कहा जाता तो फिर भी बात का गहरा मंतव्य होता।

नाटक का कथ्य आजादी से उपजे मोहभंग को पीड़ा के साथ दर्ज करना रहा है। इसीलिए नेहरू (तत्कालीन प्रधानमंत्री) से पात्रों के सवाल सामने आते हैं। सवाल जो आजादी की लड़ाई के बेहद जरूरी सवाल थे। लोकतंत्र के सवाल, किसानों के सवाल, मजदूरों के सवाल, उद्योगों के, अभिव्यक्ति की आजादी और चिंतन-लेखन के सवाल। मंच पर नेहरू से मिलने आए छह लोग अलग-अलग रूप में नेहरू के व्यक्तित्व के ही हिस्से हैं। रावी के तट पर पूर्ण स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा करने वाला सीना ताने वीर जवाहर, किसान के साथी राष्ट्रपति नेहरू, मुट्ठी बांधे कामरेड नेहरू, ‘मेरी कहानी’ के रचयिता मिस्टर जे.एल. नेहरू, ‘डिस्कवरी ऑफ इंडिया’ के लेखक मिस्टर नेहरू और पंडित जवाहर लाल नेहरू जिन्होंने 1945 मॉडल के तहत ब्लैक मार्केटियरों को फाँसी पर लटकाने की इच्छा प्रकट की थी। अपने ही इन रूपों से मिलकर प्रधानमंत्री नेहरू के अभिवादन का तरीका भिन्न है। वीर जवाहर के लिए वंदे मातरम, किसान हितू राष्ट्रपति नेहरू से नमस्ते, समाजवाद मंत्रजापी कॉमरेड नेहरू से लाल सलाम, लेखक मिस्टर जे.एल. नेहरू से सलाम, लेखक मि. नेहरू से गुड नाइट और भ्रष्टाचार विरोधी ज.लाल.नेहरू से

जयहिंद।

जहाँ तक नाटक के भीतरी ढाँचे की बात है तो उसमें एक जैसे पन का दुहराव-तिहराव दिखाई देता है। हर बार नेहरू का एक रूप प्रधानमंत्री नेहरू से सवाल करता है और प्रधानमंत्री उसका जवाब देकर क्रोध में उसे चलता कर देते हैं। कुछ भिन्नता लिए 'भारत-दुर्दशा' में भारतेंदु, भारत दुर्देव के संदर्भ में यही युक्ति रचते हैं। वहाँ एक-एक करके भारत के नाश के लिए भारत दुर्देव के पास पात्र आते हैं-बात करते हैं और चले जाते हैं। पूरी तौर पर वर्णन आधारित 'उत्तर नेहरू चरितम्' की खूबी सवाल उठाने में हैं। देखा जाए तो यहाँ नाटक का घटनात्मक विधान सिरे से गायब है। सवाल पूछने के संदर्भ में भी प्रधानमंत्री की शर्त है कि जवाब मिलने पर बहस की छूट किसी को नहीं होगी। एक-एक करके नेहरू के विविध रूप प्रधानमंत्री से अपने सवालों के जवाब चाहते हैं। वीर जवाहर पूर्ण स्वराज की सार्थकता पर सवाल पूछता है। यह पूर्णस्वराज है या उसकी लाश? इसके जवाब में प्रधानमंत्री नेहरू उत्तेजित स्वर में कहते हैं-" तो जनाब प्रतिज्ञा करें आप और पूरा करूँ मैं...ज्यादा खून गर्म है; जोश है तो रावी के किनारे चले जाइये, हाथ मटका-मटकाकर तकरीरें झाड़िए। प्रतिज्ञा कीजिए, आग उगलिए, आग निगलिए, वीरता बघारिए। यह गवर्नमेंट हाउस है, रावी का मनहूस किनारा नहीं।" देखा जाए तो नेहरू के सामने उनका विगत रूप जैसे वर्तमान में उनके कार्यों की जवाबदेही चाहता है और नाटककार विवश नेहरू का चित्रण करता है। रेणु और उनका राजनीतिक पंथ आजादी को झूठी आजादी मानता था क्योंकि यह आजादी सामाजिक-आर्थिक समानता के स्वप्न को साकार नहीं कर सकी। इसलिए पूर्ण स्वराज की बात को यहाँ उठाया गया है।

एकांकी के अगले किरदार किसान हितू राष्ट्रपति नेहरू का सवाल है कि किसान समस्याओं का क्या हल है? प्रधानमंत्री नेहरू इसका जवाब देते हैं-"क्या आप उन्हीं मूर्ख किसानों की बातें करते हैं जिन्हें समझाने के लिए मेरे 'ग्रोमोड फूड' डिपार्टमेंट के

सभी रुपये सिर्फ प्रचार में ही साफ हो गए, मगर वे अहमक एक भी गमले या एक भी टीन या एक भी सिगरेट के डिब्बे में खेती कर अन्न नहीं पैदा कर सके।....यह आपसे किसने कहा मैं उनकी समस्याओं का हल जानता हूँ। आपने क्या सरकारी प्रचार-विभाग की फिल्म में मुझे हल जोतते नहीं देखा?" यहाँ रेणु के कथा-रिपोर्ताज 'नए सवेरे का सूरज' का स्मरण स्वाभाविक है जहाँ वह लिखते हैं-"पटना चलो, पटना चलो, पटना चलो रे! औरोही, परमानपुर, लहसनगंज, मिल्की, सरसी के 550 किसानों के पाँच जत्थे 13 नवंबर (1949) 3 बजे भोर को एक आम के बाग में जमा हैं।...नेहरू जी की बातें सुनो-टबों में खेती करो, गमलों में अन्न उपजाओ, शकरकंद खाओ...। बेदखली बंद करने की माँग मत करो। जमींदारों को मुआवजा नहीं दोगे? सरदार पटेल ने कहा था, याद नहीं-यह डकैती है। जाओ रामधुन गाओ। कपड़े की क्या जरूरत है, भस्म लगाओ।" यह संदर्भ 'उत्तर नेहरू चरितम्' एकांकी से सीधा जुड़ता है।

वामपंथ की राजनीति की ओर झुकाव वाले कामरेड नेहरू का सवाल औद्योगिक केंद्रों के राष्ट्रीयकरण और ट्रेड यूनियन के कठपुतली नाच के बारे में होता है। उसे अपनी बात पूरी भी नहीं करने दी जाती और प्रधानमंत्री अपमानजनक भाषा में कहते हैं-" हजरत आपको मालूम है कि आप ही के बदौलत आज मैं इतना परेशान हूँ। आप के समाजवाद मंत्र जाप का ही नतीजा है कि हिंदुस्तान में समाजवादी कीड़े प्लेग के पिस्सुओं की तरह फैल गए हैं-तरह-तरह के। शुक है आप जे.पी.कट कुर्ता पहनकर आए हैं वरना अभी हथकड़ी डलवाकर जेल भेज देता।...जल्दी रुखसत होइए वरना अभी सारा डायलेक्टिकल मैटेरियलिज्म मैटेरियलाइज कर दूँगा।" इस संवाद में रेणु वामपंथी राजनीति के प्रति अपनी नकारात्मक प्रतिक्रिया और जे.पी. की समाजवादी विचारधारा के प्रति अपने अनुराग को छिपा नहीं सके हैं। एकांकी में इस पात्र के बाद आए दोनों लेखकों को तो बोलने की इजाजत ही नहीं दी जाती। उनसे कहा जाता

है- "दुनिया में मुझे सबसे ज्यादा नफरत मुझे किसी से है तो बस आप दोनों और दोनों हजरतों की उन खुराफाती किताबों से।" इस तरह नेहरू स्वतंत्र अभिव्यक्ति और उसके दस्तावेजी रूप से घृणा करते दिखाए गए हैं। सत्ताएं लेखकों-विचारकों-चिंतकों से घृणा करती आई हैं क्योंकि उनकी जनपक्षधर सोच हमेशा सत्ता प्रतिष्ठानों के विरोध में जाती है। भीष्म साहनी के 'कबिरा खड़ा बाजार में' नाटक का अंतिम अंक सत्ता और लेखक के द्वंद्वत्मक स्वरूप को बड़ी ही सफलता से पेश करता है। रेणु के एकांकी के अंत में सवाल बचता है पंडित जवाहर लाल नेहरू का।

"और जनाब 1945 मॉडल के पंडित जवाहरलाल नेहरूजी, रह गए हैं सिर्फ आप और मैं...आपकी इच्छा के मुताबिक मैं सभी ब्लैक मार्केटियरों को फाँसी दे दूँ।...वे बड़े अच्छे हैं, बड़े उदार, बड़े परोपकारी, बड़े देशभक्त, बड़े राजभक्त। और थोड़ी-बहुत गलतियाँ तो सभी करते हैं। हरज क्या है? करने दीजिए; और मेरे दोस्त फाँसी देने लग जाए तो अ.भा. कांग्रेस के सदस्य बच सकेंगे।...जाओ अपने विचार को बदलकर फिर मिलो तो तुम्हारे परिवार, तुम्हारे दोस्त सेंट-पर सेंट भला हो।" यानी प्रधानमंत्री नेहरू के चारित्रिक अंतर्विरोध को यह एकांकी दिखाता है। एकांकी के अंत में सबके जाने और सोने से पहले नेहरू फोन पर आदेश देते हैं-

"नेहरू: सुनो वीर जवाहर को अभी फौरन गिरफ्तार कर इलाहाबाद जेल में और राष्ट्रपति जवाहर को नैनी जेल में डाल दो, कॉमरेड नेहरू को लालकिले में नजरबंद...और अभी फौरन फरमान निकालो- 'मेरी कहानी' और 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' गैरकानूनी किताबें हैं।...जब्त कराके बर्बाद कर दी जाए।...और पंडित जवाहरलाल नेहरू..यदि वे नेहरू के विचारों से सोलहों आने सहमत हैं तो कल वे प्रधानमंत्री के दफ्तर में आकर प्राइम मिनिस्टर बन सकते हैं। गुड नाइट-नो-नो जयहिंद।"

इस एकांकी को पढ़ने के बाद कार्ल मार्क्स बरबस याद आते हैं। मार्क्स ने स्वाधीन राष्ट्र के सामाजिक विकास को उस राष्ट्र के आर्थिक विकास से

नाभिनालबद्ध माना था। मार्क्स का कहना था-" भौतिक जीवन की उत्पादन प्रणाली, जीवन की आम सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रक्रिया को निर्धारित करती है। मनुष्य की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती बल्कि उल्टे उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निर्धारित करता है।" इस परिप्रेक्ष्य में देखें तो किसान-मजूर की बदहाली, पूँजी पर चंद लोगों का स्वामित्व, अन्याय की संश्लिष्ट बेड़ियाँ न सिर्फ उस समय थीं बल्कि आज और निर्ममता के साथ राष्ट्र विकास में बाधक हैं। कल्याणकारी राज्य की अवधारणा कबकी समाप्त हो चुकी है।

आजादी के बाद भारत के सामने अनेक चुनौतियाँ थीं। देश के आर्थिक विकास की चुनौती, विभाजन से टूटे भारत को फिर से जोड़ने की चुनौती, कृषि क्षेत्र के पिछड़े होने की चुनौती, सामंती-रूढ़िवादी समाज के मूल्यों की चुनौती। इन सभी चुनौतियों का समाना नेहरू युग करता है। परंतु नेहरू युग के अंत तक आते-आते यह साफ हो जाता है कि जो मोह नई राजनीतिक व्यवस्था से बना था वह टूट रहा है। इतिहासकार सुनील खिलनानी लिखते हैं, 'आजाद भारत के इतिहास के शुरुआती दौर में नेहरू के योगदान का स्थायी महत्व था। लेकिन इस सफलता में उनके कार्यकाल के आखिरी दौर की भारी नाकामी का ग्रहण लग गया। इसकी वजह थी नेहरू युग का बुनियादी विरोधाभास।' यह एकांकी सीधे तौर पर नेहरू की नीतियों के गलत क्रियान्वयन और उनके पुराने सिद्धांतों के अवमूल्यन को केंद्र में रखता है। जाहिर है नेहरू इसमें अकेले जवाबदेह नहीं होते। जवाबदेह बनती है कांग्रेस की कार्यप्रणाली।

'उत्तर नेहरू चरितम्' नाटक की राजनीतिक चेतना पर विचार करने के पश्चात सवाल उठता है कि नाटक के रूप में यह एकांकी कितनी सफल है? अपने कलेवर में अति संक्षिप्त यह एकांकी संवाद की आधारभूमि पर टिका है। घटना-व्यापार का न होना इसकी सबसे बड़ी कमी है। वर्णनात्मकता और उसमें भी वर्णन की एक-समान प्रक्रिया एकरसता पैदा

करती है। नाटक गत्यात्मकता दृष्टि से तीव्रता से आगे बढ़ता है और फिर आरंभ में ही छह किरदारों से प्रतिप्रश्न न करने, बहस न करने की बात से यह उबारु होने से भी कुछ बच गया है। अभिनय की गुंजाइश इसमें बेहद कम है। नेहरू के छह किरदार आंगिक अभिनय के आधार पर अधिक स्कोप नहीं पाते। कल्पना की जा सकती है कि वे मंच के किसी कोने में विंग्स के पास खड़े हैं। बीच में आदमकद आईना और उसके साथ में प्रधानमंत्री नेहरू का बिस्तर लगा है। आईने के तरफ चेहरा और दर्शकों की तरफ पीठ किए प्रधानमंत्री नेहरू बीच में खड़े हैं। सवाल के क्रम में किरदारों का जवाब से असंतुष्ट होना और शयनकक्ष से निकाले जाने पर मंच के दूसरी ओर के विंग्स की तरफ से निकल जाना। यह स्थिति प्रतीकात्मक भी है कि अकेले में नेहरू स्वयं से संवाद कर रहे हैं। अतीत और वर्तमान आमने-सामने खड़े हैं और नेहरू के नेहरू से सवाल-जवाब चल रहे हैं। भाषा में निहित व्यंग्य बहुत प्रखरता के साथ आया है।

रेणु के 'उत्तर नेहरू चरितम्' एकांकी में एक्शन की जगह नहीं है साथ ही पात्रों की दृष्टि से नेहरू से संवाद करने आए नेहरू के छह व्यक्तित्वांगों की संख्या पाँच भी की जा सकती थी। 'मेरी कहानी' और 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' के दो लेखकों की जगह एक ही लेखक को रखना ही पर्याप्त था। दो लेखकों के होने से कोई विशेष अंतर एकांकी में पैदा नहीं हो रहा। वैसे भी एकांकी में अभिवादन के अतिरिक्त दोनों लेखकों का कोई संवाद भी नहीं है। एकतंत्री नाटक के विषय में पहले ही तर्क रखा जा चुका है। इस नाटिका का रूप एकतंत्री की अपेक्षा एकांकी का ही है और यह एक तीखे व्यंग्य वाला राजनीतिक एकांकी है।

हास्य प्रधान रेडियो नाटिका-ये हैं आपकी पड़ोसन: कवयित्री

रेडियो नाटक के रूप में प्रसारित फणीश्वरनाथ रेणु का 'ये हैं आपकी पड़ोसन: कवयित्री' सन् 1961 में आकाशवाणी की पत्रिका 'सांरग' में प्रकाशित

हुआ था। यानी उससे कुछ समय पूर्व ही यह पटना आकाशवाणी से प्रसारित हुआ होगा। अपने शीर्षक से ही पाठकों/दर्शकों/श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करने वाला यह नाटक कम अवधि और लघु आकार की एक नाटिका है। इसे एकांकी कहने में एक कठिनाई का सामना करना पड़ता है। रेडियो नाटक और एकांकी का विधान भिन्न है। यदि कुछ फेरबदल के बाद इसे एकांकी का रूप दें तो इसमें कार्य, समय और स्थान की एकता के नियम के चलते हम कार्य की विविधता, समय का अंतराल और अंत तक जाकर स्थितियों के बदलने से स्थान का अंतर भी पाते हैं। समय की दृष्टि से देखें तो कवयित्री से वाचिका का प्रथम मिलन, फिर किसी और दिन भेंट, कवयित्री के विवाह में व्यवधान का एक अन्य दिन और अंत में नाटिका के आरंभ में अविवाहित कवयित्री का विवाहित होकर अपने बाल-बच्चों की पढ़ाई-लिखाई का दृश्य (भले ही सेट न बदले और वाचिका द्वारा दर्शकों को सूचित किया जाए) एक लंबे कालखंड से जुड़ा हुआ है। संकलन-त्रय के नियम के संदर्भ में रेणु से पूर्व एकांकी के क्षेत्र में प्रतिष्ठित नाटककार रामकुमार वर्मा जहाँ इस यूनिटी ऑफ थ्री का पूर्णरूपेण पालन करते हैं वहाँ भुवनेश्वर इस नियम का पालन नहीं करते और विष्णु प्रभाकर का तो मानना था कि एकांकी में केवल कार्य व्यापार की एकता अनिवार्य है, देशकाल की नहीं। रेणु का 'ये हैं आपकी पड़ोसन: कवयित्री' रेडियो नाटक अपने संक्षिप्त कलेवर, सीमित पात्रों और क्षिप्र कार्य-व्यापार की दृष्टि से एकांकी जैसा ही प्रतीत होता है।

हिंदी में अधिकांश नाटककारों और उनमें भी एकांकीकारों ने रेडियो के लिए बहुत नाटक लिखे हैं। इसका प्रमुख कारण है कि नाटक और एकांकी जैसी प्रदर्शनकारी विधाओं के लिए अनेक संसाधनों की आवश्यकता होती है। खर्चीला हिंदी रंगमंच इसकी अनुमति नहीं देता। यही कारण है कि संसाधनों के अभाव में अनेक नाटककार रेडियो की ओर गए। लेकिन रेडियो नाटक और नाटक/लघु नाटक/ एकांकी में एक मूलभूत अंतर है। रेडियो नाटक में मंच की

जरूरियात अपेक्षित नहीं है। वहाँ ध्वनियों, गीत-संगीत और वाचिक अभिनय की प्रधानता है जबकि मंच पर उतरा नाटक अभिनय, प्रकाश, ध्वनि, वेशभूषा, ध्वनियों का संसार, मंच की प्रॉपर्टी, अभिनेताओं की पूरी टीम आदि माँगता है।

रेणु की इस रेडियो नाटिका के केंद्र में दो प्रमुख स्त्री पात्र हैं-वाचिका जो गणित की अध्यापिका है और कवयित्री। इनके अतिरिक्त कुछ पात्र घटना के अनुरूप हैं और कुछ स्त्री पात्रों के जीवन को प्रभावित करने वाले सूच्य पात्र भी हैं-कवि-समारोह के आयोजक, मैथ्स टीचर के पति, कवयित्री के पहले प्रेमी, भाई, भावी पति और बच्चे। चूँकि यह रेडियो नाटिका है इसलिए इसकी प्रस्तुति का समय आधा घंटे से कम का ही है। फिर रेडियो नाटिका होने के कारण वाचिका के श्रोताओं को संबोधित लंबे वर्णन और दोनों स्त्री पात्रों के संवाद ही इस नाटक की बुनियाद हैं। यानी नाटक का सारा दारोमदार पात्रों के संवाद, मोनोलॉग और विभिन्न ध्वनियों पर टिका है। रेणु रचनावली में शामिल उनकी तीनों नाटिकाओं की तुलना करें तो नाटक के क्राफ्ट की दृष्टि से, अभिनेता के चरित्रांकन की दृष्टि से, नाटक के आरंभ-मध्य-अंत की दृष्टि से, हास्य-व्यंग्य की दृष्टि से, रहस्य और जिज्ञासा की दृष्टि से 'ये हैं आपकी पड़ोसन: कवयित्री' सर्वाधिक सफल नाटिका है। नाटक की आधारभूमि में घटनाओं की कारण-कार्य शृंखला, त्वरित घटनाक्रम, वर्णन की अपेक्षा संवादधर्मिता, नाटकीय मोड़ और भंगिमाएँ इस नाटक में बहुत महत्वपूर्ण हैं। नाटक हास्य-व्यंग्य के ताने-बाने में समस्या की ओर इशारा करते हुए श्रोताओं की तरफ सवाल भी फेंकता है और उनका मनोरंजन भी करता है। एक सामाजिक पक्ष को लेकर चलने वाला यह नाटक स्त्री जीवन की कुछ निर्मम सचाइयों से भी अपने दर्शकों/पाठकों को अवगत कराता है। जहाँ 'उत्तर राम चरितम्' विशुद्ध राजनीतिक नाटिका है वहाँ रेणु का यह नाटक अप्रत्यक्ष रूप से पितृसत्ता की राजनीति को प्रश्नांकित करता है।

'ये हैं आपकी पड़ोसन: कवयित्री' नाटिका का

कथानक भी संक्षिप्त है। एक जैसा नाम होने के कारण गफलत में एक अध्यापिका और एक कवयित्री की भेंट होती है। ये भेंट परिचय में बदलती है और परिचय मैत्री में। दोनों की अभिरूचियाँ भिन्न होने पर भी उनका स्त्री होना उन्हें एक-दूसरे के करीब लाता है। एक का झुकाव गणित की ओर और दूसरी का कल्पना-तुक और कोमल भावभूमि की ओर। कवयित्री के प्रेम-परिणय का वृत्तांत सुनकर अध्यापिका हैरान रह जाती है। परिणय का वह धागा टूटता है और कवयित्री का विवाह अध्यापिका के पति के गणित प्रोफेसर मित्र से हो जाता है। अंत में वह अपने बच्चों को कविता याद कराती हुई दिखाई जाती है।

रेणु की यह नाटिका चार मुख्य घटनाओं से संचालित है। सभी रोचक और नाटक को गति देने वाली हैं हालाँकि दृश्यों में यहाँ भी वर्णन प्रमुख है। यह नाटिका व्यर्थ के विस्तार में नहीं पड़ती इसीलिए इसका कथानक चुस्त है और पाठक/श्रोता/दर्शक को पल भर भी विराम नहीं देता। नाटिका के आरंभ में वाचिका श्रोताओं/पाठकों से सीधा संवाद करती है। जाहिर है रेडियो नाटक होने में यह प्रथम संवाद सूचनापूर्ण है। नाटिक के विषय में प्रवेश कराता है। कथा का सूत्र थामे यह संवाद एक ओर कवयित्री का परिचय देता है तो दूसरी ओर उस घटना का बयान करता है जिसके कारण वाचिका और कवयित्री की भेंट होती है। यह प्रथम दृश्य बेहद कसा हुआ है। संवाद में वर्णन भर नहीं है बल्कि किस्सागोई का दिलचस्प अंदाज और आनंद है।

इस तरह नाटकीयता, भावों के उतार-चढ़ाव, जिज्ञासा, रोचकता से हास्य में परिणित होते कथा-सूत्र से यह नाटक अपने आरंभ से ही गति पकड़ लेता है। वाचिका के लंबे संबोधन में अन्य पात्रों की अनुपस्थिति के बावजूद वर्णन कौशल से उनकी उपस्थिति पूरी तौर पर दर्ज होती है। कवि-सम्मेलन के आयोजकों के साथ कवयित्री जी के विषय में कौतूहल जगाता यह संबोधन सहृदय को तुरंत अपने साथ जोड़ लेता है। घटना का पूरा बयान सामने आता है और उस भूल से पर्दा उठता है जो आयोजक

सुषमा नाम की गणित अध्यापिका को भ्रमवश कवयित्री समझकर मिलने आ जाते हैं। यही नहीं इस रोचक प्रसंग के बाद भी वाचिका एक दूसरी घटना का जिक्र छेड़ती है जिसमें कवयित्री जी से उसकी पहली मुलाकात होती है। यह मुलाकात भी पूरी नाटकीयता के साथ रोचक अंदाज में घटित होती दिखाई गई है। वाचिका संबोधन के बाद कवयित्री के साथ अभिनय की मुद्रा में आ जाती है। घटना अध्यापिका और कवयित्री को मिलाने वाले एक संयोग से प्रेरित है। भूलवश अध्यापिका के परदेश गए पति का प्रेम-पत्र कवयित्री के पास चला जाता है और पत्र में कोमल भावों के प्रकटीकरण के मोहपाश में बंधी कवयित्री प्रेम-पत्र की नायिका से मिलने से खुद को रोक नहीं पाती। दरवाजा खटखटकाने की ध्वनि के बाद वाचिका, श्रोता/पाठक को अतीत में ले जाकर वर्णन नहीं अभिनय के आधार पर उस घटना का साक्षी बनाती है।

प्रथम परिचय के बाद कवयित्री का जाना और अध्यापिका का फिर से वाचिका रूप में उतरकर श्रोताओं से संवाद करना नाटिका में आगे की कथा के संकेत देता है। दोनों में बढ़ती मित्रता और एक-दूसरे के लिए पोएट और भाभी का संबोधन उनके रिश्ते को प्रगाढ़ कर देता है। एक घटित घटना का संकेत देकर वाचिका फिर कवयित्री के साथ अभिनय की भूमि पर उतरती है। यह संकेत है एक दिन कवयित्री का उदास होकर अपनी मित्र/भाभी के घर आना। यह तीसरी घटना नाटिका की मध्य स्थली है। केंद्रीय पात्र कवयित्री के जीवन का एक निर्णायक क्षण यह घटना बनती है। पहली घटनाओं में उसका बिंदास, तरल, कोमल, सहज अल्हड़ रूप सामने आता है तो इस दृश्य में वह बेहद उदास है। उदासी का कारण कवि वनमाली जी से उसके प्रेम-परिणय की सचाई है जिसे वह भाभी से बाँटना चाहती है। कवयित्री पत्रिका में छपी अपनी कविता और उसकी प्रतिक्रिया में वनमाली जी की प्रतिक्रिया को बताते हुए दोनों के संबंध के भ्रमवश जुड़ने का रहस्य उजागर करती है। कवयित्री की कविता में वनमाली

शब्द से स्वयं को जोड़ने की भूल आरंभ में वाचिका के संबोधन की पंक्ति का स्मरण कराती है कि कवयित्री को काव्यज्ञान बहुत था पर सांसारिक ज्ञान नहीं। यही बात कवि वनमाली के संदर्भ में भी सही उतरती है। कवयित्री की कविता-“ओ वनमाली, ओ वनमाली!/ तेरी बगिया सूनी-सूनी/तेरी क्यारी खाली-खाली/ओ वनमाली, तेरे तरु की सूखी डाली..” कविता को पढ़कर कवि वनमाली उसे स्वयं से किया प्रश्न मानकर और अपने एकाकी जीवन का संकेत समझकर उसी पत्रिका में कविता में जवाब देते हैं-

“मेरी सूनी बगिया में तुम हरियाली बन छा जाओ तो

मेरी क्यारी में कुसुम कली-सी एक बार मुस्काओ तो”

इसी भ्रम से बात शादी तक पहुँचती है और निमंत्रण-पत्र बँट जाते हैं। कवयित्री इसके आगे जिस रहस्य का उद्घाटन करती है वह नाटिका को हास्य के साथ स्त्री जीवन के एक निर्मम सत्य से जोड़ देता है। कवयित्री बताती है कि उसने यह संबंध तोड़ लिया है। वजह दो हैं। एक तो कवि वनमाली पहले भी इस तरह की कविता रचते रहे हैं तो कवयित्री उनके लेखन की प्रेरणास्वरूप अन्य स्त्रियों की कल्पना करती है तो दूसरा कारण पाठक संसार की संकीर्ण और स्त्री विरोधी बुद्धि है। इसके अनुसार सुषमा के नाम से कविताएँ वनमाली जी ही करते हैं। यह जानकर कवयित्री का स्वाभिमान आहत होता है। एक तरफ नाटिका हास्य का दामन थामे रहती है। कवयित्री के जीवन में भ्रमों की कड़ियों को जोड़ती है तो सावधानी के साथ स्त्री की अस्मिता और उसकी प्रतिभा का श्रेय पुरुष को दिए जाने के प्रति अपना प्रतिकार भी दर्ज कराती है। दुखी मन से कवयित्री फिर दृश्य से जाती है और अध्यापिका फिर वाचिका रूप में अतीत की इस घटना से वर्तमान में आकर श्रोता/पाठक/दर्शक से संवाद करती है। नाटिका में अतीत और वर्तमान की आवाजाही का यह सिलसिला रोचक, नाटकीय और कलात्मक है।

नाटिका अपने अंत की ओर बढ़ती है। वाचिका

बताती है कि कवि-कवयित्री के विवाह विच्छेद का दोषी वनमाली जी ने गणित अध्यापिका और संबंध के गणित बिठाने वाली उसकी दृष्टि को दिया। इस वर्णन के बाद नाटिका अपनी अंतिम घटना के साथ दृश्य और संवाद में उतरती है। यहाँ कवयित्री के जीवन की डोर गणित के प्रोफेसर के साथ बंधने की सूचना मिलती है। यह प्रोफेसर संयोग से उसकी अध्यापिका के पति का मित्र निकलता है। इस दृश्य की नाटकीयता इस बात में है कि गणित को कविता का विरोधी भाव मानने वाली कवयित्री का विवाह गणित के प्रोफेसर से हो जाता है। पर नाटिका यहीं समाप्त नहीं होती। वाचिका के कथन से आरंभ इस नाटिका का अंत भी उसके संबोधन से होता है। अतीत में घटित सभी घटनाओं की प्रस्तुति के बाद अब अध्यापिका कवयित्री के वर्तमान जीवन की झलक को शब्द देती है।

“आज कवयित्री अपनी ससुराल में अपने बाल-बच्चों को प्रथम भाग की कविताएं रटा रही है-

उठो लाल आँखों को खोलो/पानी लाई हूँ मुख धो लो

लेकिन जब वह पूरी कवयित्री थी तो कभी इसने ऐसे जीवन की कल्पना भी नहीं की होगी। जो भी हो, अपनी कवयित्री पड़ोसिन को मैं कभी नहीं भूल सकती। आज भी उसे ‘पोएट’ ही कहती हूँ।”

रेणु की इस नाटिका का एक प्रबल पक्ष इसकी भाषा है। रेणु भाषा में भाव को पूरा उतारने वाले जादूगर हैं। ऐसा जादूगर जो रस में डुबो भी देता है और बिना भावुक किए एक तार्किक युक्ति से पाठक/दर्शक को छिटैच भी करता है। इस नाटिका के संदर्भ में कहूँ तो इसका अंत हू-ब-हू ब्रेख्त के एलियनेशन इफैक्ट से तो नहीं जुड़ता पर वाचिका का अंतिम संवाद कवयित्री की रचनाधर्मिता के त्रासद पक्ष के साथ सवाल उठाता हुआ भावुकता की बजाए ऑब्जेक्टिविटी से जुड़ जाता है। रेणु ने नाटिका के आरंभ से ही कवयित्री का जो चरित्र रचा वह दृश्य के छोटे-छोटे ब्यौरों से बनता है। मसलन, उसका तुककड़ कवयित्री होना। निरर्थक तुकबंदी करना।

इस सबके बावजूद अपनी अस्मिता के प्रति वह सचेत और जागरूक है। पहले प्रेमी के संदर्भ में वह पितृसत्ता की कठपुतली बनने को तैयार नहीं होती। उस रूप में कवयित्री का चरित्र सशक्त लगता है पर अंततः रेणु विवाह के बाद संतान को पालती उस कवयित्री का वह पक्ष भी सामने लाते हैं जहाँ स्त्री का सामाजिक अनुकूलन, उसकी विवशता और परिस्थितियों की मार उसका शौक, हुनर सब छीन लेता है। वाचिका सूत्रधार की भूमिका में भी है और अभिनेता की भूमिका में भी। नाटिका में वाचिका के रूप में रेणु दर्शकों से संवाद और कवयित्री के जीवन की कड़ियों को दृश्य रूप में उपस्थित करने की कसी हुई युक्ति अपनाते हैं।

कुल मिलाकर यह नाटिका श्रोताओं/पाठकों/दर्शकों पर अपना प्रभाव छोड़े बिना नहीं रहती। यह नाटिका स्वस्थ मनोरंजन की नाटकीय युक्तियों से रची गई है। आज भी स्कूलों-कॉलेजों में इसका सीमित संसाधनों की सहायता से मंचन किया जा सकता है।

एब्सर्ड नाटक: पाँच नंबर प्लेटफॉर्म

एक दृश्यांतर और अनेक पात्रों-स्थितियों को लेकर रची गई रेणु की नाटिका ‘पाँच नंबर प्लेटफॉर्म’ आकार की दृष्टि से अन्य दोनों नाटिकाओं की अपेक्षा बड़ी है। प्रयोग की दृष्टि से देखें तो निश्चित ही रेणु ने तीनों नाटिकाओं में नाट्य शिल्प की दृष्टि से विविध प्रयोग किए हैं। ‘पाँच नंबर प्लेटफॉर्म’ नाटिका अन्य एब्सर्ड नाटकों की तरह कथ्य को संकेतों-प्रतीकों में ढालकर प्रस्तुत करती है। एब्सर्ड नाटक से असंगत, विसंगत, अनाटक, अमूर्त आदि कई संज्ञाएँ बनी हैं। हिंदी में भुवनेश्वर असंगत के सबसे बड़े नाटककार माने जाते हैं। उन्होंने समय और समाज की मूल्यहीनता को रचने के लिए असंगत नाटक को माध्यम बनाया। नाटककार उपेंद्रनाथ अश्व ने जहाँ असंगत नाटक को यथार्थ से कटा, यथास्थितिवादी और कलावादी माना वहीं आलोचक नेमिचंद जैन ने इसकी प्रेरणा को बाहरी माना। नाट्य आलोचक गोविंद चातक ने इसके शिल्प को जहाँ असंबद्ध और सामंजस्यविहीन माना वहीं गिरीश रस्तोगी ने लिखा-

“यह शब्द 1950 के नाटककारों के एक विशेष समूह से जुड़ा है-उन नाटककारों के एक विशेष समूह से जो अपने को किसी खास स्कूल का नहीं मानते, जो सृष्टि में मनुष्य की स्थिति के बारे में भिन्न ढंग से सोचते हैं। वे मनुष्य की उद्देश्यहीनता, मूल्यहीनता, उसके अस्तित्व के संकट को देखते हैं। इनके विचार, चिंतन, दर्शन, नाटक के विषय और फॉर्म दोनों को बदलते हैं हैं-एक तार्किक विवाद-सा नाटक में चलता है।”

‘पाँच नंबर प्लेटफॉर्म’ नाटिका पाँच नंबर प्लेटफॉर्म पर घटित कई घटनाओं का प्रस्तुतीकरण है। इस प्लेटफॉर्म से बिहार के जोगबनी स्टेशन जाने के लिए ट्रेनें चलती हैं। एक्सर्ड नाटक के क्राफ्ट को अपनाते हुए रेणु ने इस असंगत विधान में बहुत कुछ कहने की कोशिश की है। एक्सर्ड नाटकों की भाँति यहाँ कथा की सिरों से अनुपस्थिति है। कहीं कथा का कोई रेशा बनता दीखता भी है तो रेणु सचेत होकर उसे तोड़ देते हैं। दृश्यांतर के बाद की घटनाएँ-स्थितियाँ, पात्र भी पहले दृश्य से मिलते-जुलते लगते हैं तो उनका पूरा कार्य-व्यापार ऊलजलूल लगता है। संवाद अतार्किक लगते हैं तो कथ्य जटिल। अपनी जटिलता में एक्सर्ड नाटक समाजिक विसंगतियों से पर्दा उठाने के क्रम में उनसे अपनी तीखी घृणा व्यक्त करते हैं। इन नाटकों की रंगभाषा उस विद्रूप को सशक्त ढंग से रचती है। यह रंगभाषा चरित्रों की दैहिक भाषा, वेशभूषा, प्रकाश, ध्वनियों, संगीत, नृत्य, गति आदि से बनती है। पाठक या दर्शक इन सबमें स्वयं से एक सामंजस्य पैदा करके उसके अर्थ तक पहुँचने का प्रयास करता है। नाटककार उलझी गुत्थी की शक्ल में इस प्रकार के नाटक में एक सूत्र पहेली की तरह छिपाकर रखता है जिसे पाठक हिडन ट्रैजर की तरह ढूँढ़ता आगे बढ़ता है। हर सूत्र को ढूँढ़कर एक-एक कड़ी जोड़ने का दारोमदार पाठक या दर्शक पर ही रहता है। इस तरह के नाटक पाठक/दर्शक के लिए किसी चुनौती से कम नहीं हैं। असंगत नाटक को देखने की जो पद्धति है वह पाठकों दर्शकों और अध्येताओं को न सिर्फ चौंकाता है बल्कि धक्का देता

है। आस्वादन की बनी-बनाई पद्धति को सिरों से नकार देता है। नाटक के सहज आस्वादन के लिए जरूरी घटक है क्रमबद्धता जो असंगत नाटक में सहज आस्वादन को न सिर्फ बाधित करती है बल्कि उसे उलट चलने के लिए मजबूर करती है।

‘पाँच नंबर प्लेटफॉर्म’ में नाटककार रेणु दो दृश्यों की योजना रखते हैं। स्थान की दृष्टि से देखें तो दोनों दृश्यों में घटित नाट्य व्यापार ‘पाँच नंबर प्लेटफॉर्म’ पर घटित होता है। पहले ही दृश्य के रचाव संबंधी कई बातें हैं-मसलन, पर्दा खुलने से पूर्व ही टेपरिकॉर्डर की फटी सी आवाज, पर्दा खुलने पर अंधेरे मंच पर मोमबत्तियों से प्रकाश की योजना, टेपरिकॉर्डर से निकली ध्वनियाँ-मंत्रोच्चार, प्रकाश का मंच पर बढ़ना, तीन व्यक्तियों- दो हिप्पीनुमा में एक घुटे सिर वाला बौद्ध भिक्षु सरीखा और दूसरा लंबे बालों वाला, तीसरा एक भारतीय अघेड़ बूढ़ा। तीनों का टेपरिकॉर्डर को घेर कर बैठना। चबूतरे पर तिरपाल और बरगद का एक तना है। मंच के सुरंगनुमा गलियारे में कंबल के नीचे सोते दो लोग हैं। इनके अतिरिक्त एक युवा सुंदरी भी है जो अगरबत्ती लेकर सारे मंच और लोगों के आस-पास घूमती है। इनकी पोशाकों के डिटेल् भी सूक्ष्म हैं। युवा सुंदरी बंगाली साड़ी पहने, लंबे बालों वाली है। कंबल में सो रहे दोनों लोग जिसमें एक केवल अंडरवियर पहने है और दूसरा धारीदार कुर्ते-पजामे में है, वह दरअसल लड़की है। उसके वक्षस्थल से यह ज्ञात होता है।

इसके बाद बारी आती है मंच पर घटित घटनाओं की, किरदारों के कार्य-व्यापार की, आपसी संबंध की, उनके संवादों की और इस पूरे दृश्य के औचित्य की। बूढ़ा बाबा दोनों लड़कियों के बीच में बैठता है। सभी अर्द्धगोलाकार आकृति में बैठते हैं। बाबा एक नशीला पदार्थ निकालकर पिघलाता है और सब चिलम पीते हुए ‘जय भगलिंगानंदम’ का घोष करते हैं। मंजीरा बजता है। मंच पर साड़ी वाली लड़की सबके पास जाती है। बूढ़ा दरअसल सुंदरी नायक बूढ़ा है। चिलम पीते हुए पजामे वाली लड़की खाँसती है और अंडरवियर वाला व्यक्ति उसे गोदी में दबोच लेता है हिप्पीनुमा

दोनों पात्र अंग्रेजीनुमा हिंदी में बोलते हैं। टेप बजता है और बाबा का प्रवचन शुरू होता है।

असंगत के इस ढाँचे में रचित दृश्य में अनेक किरदार, गतियाँ, मंच सज्जा, संवाद, मुद्राओं और ध्वनियों के बीच दृश्य समाप्त होता है। एब्सर्ड नाटकों की तरह कथा तो यहाँ नहीं बनती पर गीतों-प्रतीकों-बिंबों से मंच पर घटित विधान कुछ खुलता चलता है। मंच पर धर्म का रूप दिखाई देता है। यह रूप भी संश्लिष्ट है। एक ओर इसमें निर्गुण संतों का साधनात्मक रहस्यवाद दिखता है तो दूसरी ओर हिप्पी संस्कृति। यहाँ एक ओर काली का भजन दिखता है तो सिद्धों का प्रभाव भी और फिर राधा-कृष्ण रासलीला भी है। साथ ही चिलम के साथ 'जयभगलिंगानंदनम्' जैसा उद्घोष धर्म का संबंध नशे और यौन उत्तेजना से जोड़ता है। जहाँ एक ओर सुंदरी नायक बूढ़ा किसी लोक नाटक का किरदार लगता है जिसकी साथिन बंगाली औरत है वहाँ दूसरी तरफ हिप्पी लोग हैं। तीसरी तरफ अंडरवियरधारी पुरुष और कुर्ता-पजामे वाली औरत उन्मुक्त और यौनाकर्षण से युक्त हैं। धर्म के रूप और मुक्त आत्मा को 'आनंदी फूल' कहा गया है जिसे हिप्पी 'फ्लावर ऑफ जॉय' कहते हैं और बंगाली स्त्री काली माँ के चरणों में स्वयं को फूल के रूप में अर्पित करने की चाह रखती है। वह स्वयं को फूल मानकर अर्पित होना चाहती है। एक तरफ अर्पण-त्याग आदि भक्ति के तमाम बिंब हैं जो विगलित होकर श्रद्धा को व्यक्त करते हैं। मसलन अगरबत्ती, मोमबत्ती, फूल आदि। भक्ति के भजन हैं, मंजीरे हैं। पुरुष का नारी रूप है। दास्य भक्ति है। वहीं दूसरी ओर भक्ति में उन्मुक्त सैक्स और नशा जैसे तत्व भी शामिल हैं।

पूरा दृश्य जब ध्वनि-गीत-संगीत-नृत्य-भंगिमाओं से अपने चरम पर पहुँचता है तभी गाड़ी के प्लेटफॉर्म पर आने की घोषणा इसमें बाधा उत्पन्न करती है। गाड़ी का आना भी प्रतीकार्थ रखता है। यहाँ नाटिका का शीर्षक खुलता है। पाँच नंबर प्लेटफॉर्म पर जो गाड़ी आई है वह प्रतीक्षारत यात्रियों को भवानीपुर, गौरीगाय, पारबतीनगर, कालीगंज और ताराथान होते

हुए जोगबानी ले जाने वाली है। अब जोगबानी का अभिप्राय क्या है? दरअसल यह बिहार का अंतिम स्टेशन है जहाँ से कलकत्ता आदि के लिए गाड़ियाँ मिलती हैं। प्रवासी मजदूर यहाँ से गाड़ियाँ पकड़ा करते थे और धन कमाने जाते थे। लोकनाटककार भिखारी ठाकुर का प्रसिद्ध नाटक 'बिदेसिया' ऐसे ही मजदूरों के घरों में पीछे छूट गई स्त्रियों की करुण विरह कथा है। 'बिदेसिया' की केंद्रीय पात्र सुंदरी को हम रेणु के इस नाटक के पात्र बूढ़े सुंदरी नायक से जोड़ सकते हैं जो स्थान-स्थान पर बंगाली साड़ी वाली के साथ जाता रहा है। दूसरे जोगबनी का एक और भी संदर्भ है। रेणु ने 'मैला आँचल' में भी इसका जिक्र किया है- "दुलारचंद कापरा को जानते हो न? वही जुआ कंपनी वाला, एक बार नेपाली लड़कियों को भगाकर लाते समय जोगबनी में पकड़ा गया था। वह कटहा थाना का सिकरेटरी है।" यानी यह स्टेशन नेपाल की सीमा से लगे होने के चलते मानव तस्करी जैसे अपराधों के लिए भी जाना जाता रहा है।

दृश्यांतर के बाद नाटिका में नेपथ्य की ध्वनियाँ स्टेशन को साकार करती हैं। सेठ और उसकी लकदक पत्नी कुली संग जाते दिखते हैं। दो पुलिस वाले एक आदमी को पकड़कर ले जाते हैं। कुली बिना वजन के वजन ढोने का अभिनय करता है और सिपाही बिना बंदूक के बंदूकधारी होने का। सभी मंच पर आते हैं और निकल जाते हैं। मंच पर बूढ़ा और साड़ीवाली स्त्री मौजूद हैं। स्टेशन का दृश्य आकार लेता है। अब मंच पर पहले दृश्य के पात्र ही बदली हुई पोशाकों में सामने आते हैं। दाढ़ीवाला नीली पगड़ी, चुस्त पजामा सैंडो गंजी में हाथ में मूवी कैमरा लिए आता है। मुंडित सर वाला गोल टोपी-धोती-कुर्ते में हाथ में स्टिल कैमरा लिए आता है। अंडरवियर वाला फैल्ट हैट और ओवरकोट में आता है। कुर्ते-पजामे वाली लड़की अब संन्यासिनो की तरह गले में कपड़ा बाँधे और कमंडल लिए आती है। मंच पर किसी भी प्रकार की ध्वनि न निकलने से दर्शक दीर्घा में बेचैनी फैल जाती है। दर्शकों में से ही एक बिजलीवाला उठकर मंच पर जाता है और बरगद में

कुछ ठीक करके वर्दी वाले के सर पर भी पेचकस से कुछ कसता है। उसके सिर का बल्ब जलता-बुझता है। मुंडित मस्तक वाला युवक मंजीरे बजाता है जिससे डिंगडांग की ध्वनि निकलती है। मूवी वाले के कैमरे से रेलगाड़ी चलने की आवाज आती है। मंच पर एक अर्द्धवृत्ताकार संरचना प्रस्तुत की जाती है। हर पात्र एक-दूसरे को छूकर उठाता है। सुंदरी बूढ़ा-ओवरकोट वाले को, साड़ीवाली-सांवली स्त्री को, पीछे से तबले मंजीरे बजते हैं और बल्ब जलता-बुझता है। एप्रेन वाली लड़की पुनः आती है। इस तरह पिछले दृश्य के सभी पात्र एक बार फिर मंच पर नई वेशभूषा में आते हैं।

दृश्यांतर के बाद यह नाटक एब्सर्ड के नाम पर असंगत रचने के क्रम में काफी उलझ जाता है। रेणु असंगत की संरचना में अनेक ध्वनि बिंबों की योजना करते हैं। प्रकाश भी रंग-बिरंगा पड़ता है। मूवी कैमरे वाला लड़की पर लाल प्रकाश फेंकता है। एप्रेनवाली लड़की की वेशभूषा अन्य पात्रों के बीच असंगत है और उसका पहले हरे एप्रेन में और फिर चमकीले एप्रेन में आने का अभिप्राय समझ नहीं आता। जहाँ तक अन्य पात्रों का पहले दृश्य से अलग वेशभूषा में आना है वह भी कथ्य में बहुत अधिक परिवर्तन नहीं लाता। यदि वेशभूषा न भी बदली जाती तो कोई विशेष अंतर पैदा नहीं हो रहा था। अंडरवियर वाले व्यक्ति का ओवरकोट और फैल्ट हैट उतारकर फिर उसे अंडरवियर में दिखाने का औचित्य भी समझ नहीं आता है। इस तरह रेणु 'पाँच नंबर प्लेटफॉर्म' नाटिका में एब्सर्ड की असंगति-विसंगति को रचते हुए मंचविधान के अनेक ताम-झाम में फँसे दिखाई पड़ते हैं। पात्रों की बात करें तो दर्शक दीर्घा में बैठे इलैक्ट्रीशियन पात्र का मंच पर आना और जाना निरर्थक है क्योंकि इसी दृश्य में बाद में माइक की गड़बड़ी को एप्रेनवाली लड़की ही सुधार देती है। मंच पर उपस्थित की गई कुछ ध्वनियाँ तो उपयोगी हैं परंतु आवाज का चले जाना, डिंग-डांग की ध्वनि, किटकर-किटकर के ध्वनि बिंब नाटिका में कोई विशेष बात पैदा नहीं कर पाते हैं बल्कि जल्दी-जल्दी ऐसी

ध्वनियों का आना व्यवधान ही पैदा करता है। ढोल-मंजीरे-गीत-संगीत फिर भी यहाँ सार्थक हैं जो नाटिका के अंत में विदापत नाच का असर पैदा करते हैं। रेणु का 'विदापत नाच' याद आए बिना नहीं रहता। उस कथा रिपोर्टाज में कृष्ण भक्ति, पद और अनेक ध्वनियों का साम्य यहाँ भी दिखाई देता है पर इस पूरी नाटिका का ध्वनियों का ओवरटोन होना परेशान करता है।

'पाँच नंबर प्लेटफॉर्म' नाटिका में हिप्पियों के होने, उनके द्वारा किया नशा और यौन उत्तेजना की भी ठोस वजह हैं। अमेरिका में पचास से सत्तर के बीच हिप्पी संस्कृति पैदा और विकसित हुई थी जो धर्मगुरुओं से ज्ञान पाने हज़ारों लोग भारत आए थे। धर्म की खोज में नशा और सैक्स उनके दो औजार थे। यह पीढ़ी बीटजनरेशन कहलाई। यह भूखी पीढ़ी भौतिकवाद का विरोध करके धर्म के आश्रय में जाने के लिए धार्मिक बाबाओं की ओर बढ़ी और इसने मुक्त समाज की बात की। भारत में नेपाल के रास्ते से भी इनका आगमन हुआ। बीटजनरेशन के मूल में दमनात्मक भौतिकवादी समाज से उपजी निराशा और उसके विरोध का चिंतन कार्यरत था। साहित्य में यह एक आंदोलन की तरह आया जिसके नेतृत्वकर्ता थे गिन्सबर्ग, जैक कैरॉक, और विलियम बरो। सन 1944 का यह आंदोलन एक सांस्कृतिक विरोध स्वरूप जन्मा था जिसने माना कि बीट न कोई कविता है, न पेंटिंग और न ही उपन्यास बल्कि बीट एक काव्यात्मक अवधारणा है जिसका अभिप्राय है- दुनिया के प्रति एक नजरिया। जैमी रसेल ने अपनी किताब 'द बीट जेनेरेशन' में लिखा है- "Rejecting normal society, the Beats searched for ways of seeing the world differently from the rest of the herd. Madness, drugs, sex and crime all offered ways of finding a new vision of life and a new way of living." जीवन और साहित्य से विकसित होते हुए इस आंदोलन ने बने बनाए स्थापित नजरिए से भिन्न दृष्टि से अपना विकास किया। गिन्सबर्ग इस पीढ़ी के एक नायक के

रूप में उभरे। उनकी लोकप्रियता के विषय में थियोडोर रोस्ज़ाक ने लिखा है - "At poetry reading and teach-ins he need not even read his verses: he need only appear in order to make his compelling statement of what young dissent is all about. The hair the beard, the costume, the mischievous smile, the total absence of formality, pretence, or defensive posturing... they are enough to make him exemplification of the counter culture." गिन्सबर्ग की यह उपस्थिति उस समय की युवाओं को प्रभावित कर रही थी। इस पीढ़ी ने यौन वर्जनाओं से मुक्ति को धर्म के सुविधाजीवी रूप में तलाशा। गिन्सबर्ग ने 'विचिता सूत्रा' और 'सनफ़लॉवर सूत्रा' लिखा तो जैक क्रुसोक ने 'द धर्मा बर्न्स' नाम से जैन बुद्धिज्म पर किताब लिखी। उस समय में सत्ता के विरुद्ध होने वाले किसी भी प्रदर्शन में धर्म के विभिन्न प्रतिनिधियों का होना जैसे एक फैशन हो गया था। ये पीढ़ी विशुद्ध ऐंद्रिक अनुभवों से आध्यात्मिक पुनर्जनन की ओर बढ़ने का लक्ष्य लिए हुए थी इस संदर्भ में भारत से जाकर अमेरिका के ऑरेगॉन में आश्रम बनाने वाले योगी रजनीश या ओशो के प्रति इस पीढ़ी की दीवानगी को देखा जा सकता है। यह पीढ़ी प्रति संस्कृति को रचने को बेताब थी। जो कुछ भी अभी तक मिला है उसे यह माना गया कि वह मनुष्य की मौलिकता को छीन लेता है इसलिए उस मौलिकता को पाना ज़रूरी समझा गया। इस पीढ़ी ने नशे को सहारा बनाया। रोस्ज़ाक बताते हैं कि "उस समय यह माना गया कि एल. एस. डी. का नशा एक नई प्रजाति को पैदा करेगा, एल.एस.डी. के नशे के द्वारा मानव जाति अपनी बीस लाख साल पुरानी बुद्धिमत्ता और ज्ञान को प्राप्त कर सकती है। इसी नशे से एक क्रांति पैदा होगी क्योंकि नशे की यह अवस्था बंधनमुक्त करती है।" तो यह पीढ़ी दो प्रकार के नशों में गिरफ्त थी एक नशा था एल.एस.डी, गांजा और चरस का तो दूसरा नशा था धर्म के माध्यम से आध्यात्मिक मुक्ति

का। पहला नशा भले ही अमेरिका में उपलब्ध हो परंतु दूसरा नशा यानी धर्म का नशा पूर्व में उपलब्ध था। इस नशे की खोज में ही हज़ारों की संख्या में बीट जैनरेशन के युवा हिप्पी भारत पहुंचे। परंतु जैसे पहले भी कहा जा चुका है उनका लक्ष्य वास्तव में आध्यात्मिक मुक्ति नहीं था बल्कि एक अबाध सैक्स, मादक पदार्थ और धर्म का कॉकटेल ग्रहण करना था। रेणु अपनी नाटिका में धर्म के इस रूप के खोखलेपन को उजागर करते हैं। नशा-संभोग की विकृति और अंततः पछतावे की बात असंगत नाटक के विधान की तार्किक संगति है। नाटक में पगड़ी पर बल्ब-रौशनी को ज्ञान के प्रतीक के तौर पर लिया जाए तो यह बल्ब लगातार नहीं जलता। धर्म को लेकर ज्ञान और अज्ञान की उलझाऊ स्थिति बनी रहती है। रेणु धर्म की विकृति को इस प्रतीक से ही नहीं उभारते बल्कि अंत में बाबा लीलानंद और माता लीलानंदा का शरीर बदलने और सभा के अगले दिन पर टलना भी उपहासात्मक है। नेपाल से इन हिप्पियों का आना फिर जोगबनी स्टेशन से जुड़ता है। जोगबनी बरौउनी-कटिहार, सहरसा और पूर्णिया जिलों को जोड़ता बिहार का सीमावर्ती और अंतिम स्टेशन है। जोगबनी नेपाल की सीमा से जुड़ता है।

रेणु की कहानियों में नाट्य युक्तियों के विविध प्रयोगों को देखते हैं और उनके चलते रेणु के कथा-साहित्य के कई नाट्य रूपांतरण सामने आते हैं परंतु रेणु के नाटक उतने चर्चित और महत्वपूर्ण नहीं रहे हैं। एक ओर संवादों के ढाँचे को नाटक मानने की भूल तो दूसरी ओर एब्सर्ड के नाम पर अत्यंत उलझाउपन-नाटकों में यह दोनों बातें नए प्रयोग के आधार पर भले ही स्वीकार कर ली जाए पर प्रस्तुति पक्ष से जुड़ी सार्थक प्रयोगधर्मिता की दृष्टि से बहुत सटीक नहीं हैं।

कथाकार-उपन्यासकार रेणु के ये तीन नाटक अपनी भाषा और कथ्य की दृष्टि से पाठकों को प्रभावित करते हैं। रेणु के कथा साहित्य की भाँति ये तीनों नाटक देश की तत्कालीन राजनीति, समाज और संस्कृति के प्रति पाठकों को परिचित कराते हैं। पाठक एक ओर आजादी और उसके बाद बिखरती

कथेतर : धरती का धनी

हुई राजनीतिक संस्कृति को देखता है जहाँ आजादी के सपने चूर-चूर हो रहे हैं। सामाजिक परिवर्तन के आदर्श और मूल्य खोखले होते जा रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे नेहरू के रूप में स्वयं भारत अपने आईने के सामने खड़ा है और पा रहा है कि उसके सामने दिखने वाला चेहरा उसका नहीं बल्कि किसी और का है। ऐसा जो अब पहचाना नहीं जा सकता। पाठक दूसरे नाटक में कवयित्री के रूप में

स्त्री की अस्मिता के खो जाने की पीड़ा को अनुभव करता है तो 'प्लेटफॉर्म नंबर पाँच' की एब्सर्डिटी में तो जैसे समाज की पूरी विचार शृंखला टूटती हुई दिखाई देती है। एब्सर्ड जीवन की असंगति में संगति खोजते समाज के खोखलेपन को उजागर करता है। कहना न होगा कि रेणु के ये तीन नाटक औपन्यासिक चेतना से संपन्न रचनाकार की जीवन दृष्टि से परिचय का अवसर प्रदान करते हैं।

संपर्क : ई-112, आस्था कुंज अपार्टमेंट्स, सैक्टर-18, रोहिणी, दिल्ली-89, मो. : 9811585399

अंचल की आहट में पठनागार

डॉ. सुनीता

अस्तित्व औगाहन के आँगन में फणीश्वरनाथ रेणु की सर्जनात्मक प्रतिभा की झलक, मनःस्थिति, छटपटाहट, तनाव एवं जीवन-परिस्थितियों का व्याख्यात्मक वर्णन कभी कारुणिक तो कभी हास्यस्पद शैली में मिलता है। 'खेती-बाड़ी, फसल, किसानी, गाँव-देहात की बातें अपने अधिकांश पत्रों में करते हैं। रेणु पहले लेखक हैं, जो किसानी इतनी तन्मयता से, लगन से करते हैं।' कलपते मन से खेत के मेढ़ पर बैठकर, घास के नोकों पर शबनम की तरह बादल को चुनते और चिंता में मंथन करते।

'मेरे किसी प्रकाशित स्केच को पढ़कर भिंगल मामा ने गाँव के पुस्तकालय में, 'पठनागार' में खूब रस लेकर बातें की थीं- हिस्ट्री, स्टोरी, नॉवेल, ड्रामा, खंड-अखंड काव्य-सब सुना रिपोर्टाचारज ! और, अब यह स्केच! स्केच !! रेखा-चित्र, शब्द-चित्र !! क्या अर्थ? परिभाषा बताओ !

उपरोक्त कथन रेणु के संदर्भ में प्रस्थान बिंदु है। यह क्रमशः बढ़ता ही गया और एक दिन रेणु साहित्य के अगुआ बन गए। यह सिलसिला शैलः शैलः कारवां बनता गया और रेणु एक के बाद एक विधा में उम्दा लेखन करने लगे और इस तरह से साहित्यिक विरासत को आगे बढ़ाने लगे। आज जब हम मूल्यांकन की कसौटी पर उनकी रचना को कसने की कोशिश कर रहे हैं ऐसे में रेणु केवल आंचलिकता में निबद्ध नहीं किए जा सकते हैं वरन उनके लिखे के फलक विस्तार ने व्यापक दृष्टिपात के लिये विवश किया है।

'घर छोड़ते समय दिलबहादुर का भी दिल थोड़ी देर के लिए भर आया था। अर्थ भाव-हीन आँखें भी सजल हो गई थीं। सुनते हैं, फल्गू में भी बाढ़ आती है।...संतोला के पेड़ की डाली पकड़कर माँ-मुँह बाये खड़ी थी। दिलबहादुर का बाप जिस दिन मरा था, उसकी माँ इसी तरह मुँह बाये खड़ी थी।'

हिंदी साहित्य के सिरमौर रचनाकार रेणु हैं, जिन्होंने आंचलिकता को गति एवं त्वरा दिया। गाँव-जवार को बेगवान के साथ-साथ केंद्रिय विषय का कलेवर प्रदान किया। जब भी वक्त की कसौटी पर उनकी लेखनी को कसने की जुगत या परिकल्पना की जाएगी तब-तब कंचन सरीखा खरसान बनना ही होगा।

समकालीन कथा साहित्य में एक तरफ फणीश्वरनाथ रेणु कथाकार के रूप में प्रतिस्थापित हैं, वहीं दूसरी तरफ संस्मरण, रिपोर्टाज और व्यंग्य को लेकर एक विशेष उपस्थिति दर्ज करते हैं।

जिस समय संपूर्ण विश्व द्वितीय विश्वयुद्ध की विभिषिका से उबरने का प्रयास कर रहा था। लोगबाग जीवन के जट्टोजहद से मुक्त जीवनशैली, समाज, व्यवस्था और सरोकार की परिकल्पना कर रहे थे। मनुष्यता की पुर्नबहाली को लेकर चिंतन-मनन

कर रहे थे। ठीक उसी वक्त साहित्यिक समाज में एक नई विधा का आगाज भी हो रहा था, जिसे रिपोर्ताज का नाम दिया गया।

‘धन-धन अंगरेजी सरकार,
पानी माँ जहाज चलाये को
आकाश माँ जहाज उड़ाये को !’

जब हम फणीश्वरनाथ रेणु के लिखे रिपोर्ताज की बात करते हैं, तब दिल-दिमाग ठिठक जाता है। आपका लिखा रिपोर्ताज कहानी, उपन्यास, नाटक की तरह आस्वाद देते हैं। अपने ‘विषयांतर’ शीर्षक के अंतर्गत लिखते हैं कि - ‘गाँव के पुस्तकालय में पठनागार है, जिसे कभी-कभी ‘गप्प घर’ बना दिया जाता है। छुट्टियों में स्कूल-कॉलेज के विद्यार्थी गाँव आते हैं। नाटक ड्रामा का प्रोग्राम बनाते हैं, मीटिंग करते हैं अथवा सभी अपने-अपने कॉलेज की उन लड़कियों की कहानी बारी-बारी से कहते-सुनते हैं- जो हिम्मत बाँधकर, कमर कसकर उनके साथ-एक साथ पढ़ने के लिए कॉलेज में उतर पड़ी हैं। किसी बासी पत्रिका में डूबे रहते हैं। श्रवण-शक्ति को हीन करने के लिए जेब से ‘देव-कपास’ निकालकर कान में डाल लेते हैं।’ यह पंक्तियाँ किसी कहानी उपन्यास से अधिक रोचक, रोमांचक और अर्थवान हैं।

उन्होंने रिपोर्ताज को ऐसे बरजा है, मानों आँखों के आगे घटना की तरह सिहरन पैदा करने वाले दृश्यमान हैं और नाटक की तरह जीवंत पात्र अभिनय की मुद्रा में यथार्थवादी परिप्रेक्ष्य को सामने रखते हैं। ‘बोलते कम हैं, मगर दौरे के दिनों में अनवरत ‘बुदुर-बुदुर’ करते रहते हैं। राह चलते लोगों से प्रश्न करते हैं; परिभाषा माँगते हैं और पच्चीस भाषाओं में सलाम करते हैं - ‘अंग्रेजी में गुड मॉर्निंग, चाइनिज़ में चुंग चा, फ्रेंच में लॉ तों, पशू में अकरम-बकरम आदि-आदि।’

हम जितना अधिक रेणु के साहित्य में डूबते हैं, हमें उतना ही अधिक वैश्विक समूह समाज का स्वरूप दिखलाई पड़ता है। दार्शनिक की तरह अकाट्य ज्ञान देते हैं, अर्थशास्त्री की तरह नाप-जोख का सूत्र

भी बताते चलते हैं। ‘अरे बेवकूफ! अपना रास्ता नापो। बात तेरी समझ में नहीं आवेगी।??? बहा हुआ पानी और बीती हुई जवानी को वापस कैसे बुलाने को कहते हो !’

गौरतलब है कि रेणु स्केच के तौर पर अप्रतिम रचनाकार हैं। अगर हम उपरोक्त तथ्य को इस तरह से बयां करें कि रेणु एकमात्र ऐसे लेखक हैं जिन्होंने रिपोर्ताज एवं स्केच को हिंदी साहित्य में प्रतिष्ठित करने में अहम भूमिका अदा की है तो शायद यह अतिशयोक्ति नहीं होगी। रिपोर्ताज में कहानी की गंध की एक बानगी- ‘सुबह से लगातार चार घंटे तक ‘द्वंद्वात्मक भौतिकवाद’ के क्लास में बैठे रहने के बाद, दोपहर को जरा-सा आराम करने के समय जब दिलबहादुर ने सुराज का मतलब पूछा तो मन अचानक ही कुढ़ गया। लेकिन दिलबहादुर के ओठों पर वही मुस्कुराहट लटक रही थी।’ यह भावाभिव्यक्ति इस बात का प्रमाण है कि लेखक की दृष्टि तत्कालीन घटना-क्रम पर बेहद पैनी थी, जिसको रचते वक्त भाषा, शिल्प और कलवेर को परिवेश के अनुकूल सांगोपांग अंदाज में रचा।

फणीश्वरनाथ रेणु की चर्चा एक कालजयी साहित्यकार के तौर पर की जाती है। रेणु ने अपने प्रथम उपन्यास ‘मैला आँचल’ (1954) से हिंदी कथासाहित्य की दिशा मोड़ दी थी। ‘मैला आँचल’ के माध्यम से ही उन्होंने हिंदी कथासाहित्य में आंचलिकता की नींव भी रखी। जिसे धीरे-धीरे अकाट्य पहचान मिली। हिंदी साहित्य की विविध विधाओं में नए रंग-ढंग, प्रचलन, प्रविधि की शुरुआत रेणु ने ही की जिसे भविष्य के साहित्य में विशेष स्थान मिलता चला गया। वह स्वयं के संदर्भ में स्वयं लिखते हैं कि ‘मैला आँचल’ की प्रसिद्धि के बाद-चेहरे पर लगातार एक मुखौटा धारण करके जी रहा हूँ। घुटकर मर नहीं जाता-कारण है। मैं हर दूसरे या तीसरे महीने अपने गाँव भाग जाता हूँ, जहाँ मैं घुटने से ऊपर धोती या लुंगी उठाकर-फटी गंजी पहने गाँव की गलियों में-खेतों और मैदानों में घूमता हूँ, जहाँ

अश्लील से अश्लील गालियों के बगैर कोई किसी से बात नहीं करते-पशु और पक्षियों तक की माँ से निकटतर संबंध स्थापित करने की तमन्ना होती है जहाँ के लोगों में (जी, मैं भक देता हूँ। मुझे भी लोग देते हैं।) अश्लील से अश्लीलतम घटनाएँ जहाँ दिन-रात घटती हैं। एक-से-एक चोरी, एक-से-एक क्राइम (जी हाँ, मैं भी कर चुका हूँ।) यह एक लेखक की स्पष्टवादिता है जिससे ईमानदार कलम की गवाही मिलती है।

‘रेणु’ आजीवन राजनीति से साहित्य एवं साहित्य से राजनीति में मैराथन सफर करते रहे। लिखते रहे, छपते रहे और नई परिपाटी गढ़ते, बुनते रहे जिसके परिणामस्वरूप रिपोर्टाज, संस्मरण, स्केच एवं आत्म-संस्मरण आदि विधाओं में सूक्ष्म, मौर्मिक और मानीखेज रचनाशीलता देखने-पढ़ने को मिलती है। ‘देखनेवाले की नजर में एक चित्र एक ही बार समा जाता है। फिर उसी दिन से मेरे शब्द-चित्रों में, स्केचों में, कहानियों में मुर्गे बोलने लगे; मोटर के हार्न, गाड़ी की सीटी, ढोलक के ताल-शब्द उतरने लगे।’

रेणु एक सधे शोधार्थी की तरह निरंतर सफर करने में मशगूल रहे। उनकी यात्रा किसी भी तरह से अकारण या भटकावपूर्ण नहीं रही क्योंकि लगातार यात्रा का परिणाम ही जीवंत संस्मरण, स्केच व रिपोर्टाज है, जिसे हम पढ़ पा रहे हैं। ‘तब श्री चित्रगुप्त ने चिंतातुर होकर एक लंबी साँस ली और हिंदुस्तान के नक्शे की ओर देखा। अपने लेखनशाला के लेखपालों की ओर मुड़कर बोले-नहीं, इस जीव का जीवन-लेख मैं खुद लिखूँगा। मुझे ही लिखना होगा !’ यह जिद भरी उक्ति ही प्रमाणित करती है कि रेणु ने जो देखा, जैसा देखा, जिस तरह से देखा उसे उसी शकल ओ सूरत में बयां किया। ‘भारतवर्ष के मानचित्र में बिहार प्रांत के पूर्णिया जिले के एक उजाड़-झाड़-झंखाड़ और जंगली इलाके की भूमि पर, उँगली डालकर बोले-यहाँ, इस गाँव में एक ऐसे जीव को भेजा जा रहा है जो एक ही साथ-सुर और असुर, सुंदर और असुंदर, पापी और विवेकी, दुरात्मा

और संत, आदमी और साँप, जड़ और चेतन-सब कुछ होगा! धरती की माँग पर इसे विशेष रूप से भेजा जा रहा है।’ यह ‘रेणु’ के सामाजिक बदलाव के प्रति उत्कट अभिलाषा और अति तीव्र छटपटाहट को भी दर्शाता है।

अगर हम गहराई से दृष्टिपात करें तो पाएंगे कि ‘रेणु’ का संपूर्ण साहित्यिक जीवन उनकी राजनीति दृष्टिकोण की मजबूत बुनियाद पर ही टिकी है। ‘राजनीति में स्टूडेंट फेडरेशन से लेकर किसान सभा, मजदूर आंदोलन और दो-दो मुल्कों के आजादी के आंदोलन में सशस्त्र क्रांति में सक्रिय भाग लिया है। गुरिल्ला लड़ाई लड़ चुका हूँ। वर्षों जेल में रहा हूँ। ‘सेल’ की सजा भोगी है-लाठी खाई है। (कहीं कोई रोक रहा है- बस-बस !)’

सामाजिक परिवर्तन में साहित्य की भूमिका सदैव सर्वोपरि मानी गई है। ‘साहित्य समाज का दर्पण है।’ यह उक्ति बदल रही है। समाज में परिवर्तन साहित्य से संभव है बावजूद साहित्य में दर्ज समाज का ही पुलिंदा है। ‘रेणु’ ने सामाजिक बदलाव में साहित्य की भूमिका को राजनीति के समकक्ष रखकर ही विवेचित किया है।

रेणु की पक्षधरता पूरी तरह से शोषितों, वंचितों एवं अभावग्रस्त समाज के प्रति है। इस बात का प्रमाण उनके द्वारा लिखे गए साहित्य की विविध रचनायें हैं। गंभीरतापूर्वक विवेचन करें तो देखेंगे कि साहित्यिक रूपों के बनिस्पत रिपोर्टाज, स्केच एवं आत्म-संस्मरण में अधिक गहनता से दिखलाई पड़ती है। ‘सन 1947-48 से पटने के साप्ताहिक ‘जनता’ में - रिपोर्टाज-लेखन- जै गंगा! (बाढ़ पर), डायन कोसी, एक टु आस्ते-आस्ते।’

रेणु ने ‘विदापत-नाच’ से एक ग्लोबल और क्लासिकल रिपोर्टाज का प्रतिमान स्थापित करने की दिशा में ठोस कदम बढ़ाया, यही से रिपोर्टाज का विधागत उत्कर्षकाल की शुरुआत भी मानी जानी चाहिए। रिपोर्टाज-लेखन समय की माँग और वक्त की नजाकत थी। जिसे रेणु ने बखूबी चुना एवं

निभाया।

हम रेणु के रिपोर्ताज के आलोक में रिपोर्ताज के इतिहास को खंगाले तो पाएंगे कि हिंदी का प्रथम रिपोर्ताज शिवदान सिंह चौहान ने सन 1938 में 'लक्ष्मीपुरा' नाम से लिखा था। यह 'रूपाभ' (पत्रिका) के दिसंबर अंक में प्रकाशित हुआ था। इस तरह से देखें तो 'रेणु' का रिपोर्ताज में पदार्पण के पश्चात निरंतरता बनी रही।

अपने आत्म-संस्मरणात्मक लेखन में जितने भाव-प्रवण हैं, उतने ही व्यंग्यधर्मी भी हैं। 'मैंने अपने 'स्मृति-भंडार' के दरवाजे पर लटकता हुआ ताला खोला।' रेणु को पढ़ते वक्त आपकी आँखें सजल हो जाएंगी। वह सघन संवेदना को शब्दों के माला में इस कदर पिरोते हैं कि बरबस नजर भर ही आती है। 'छह-सात साल की उम्र में मैंने अपने पिता को अपने संबंध में बड़े सहज ढंग से एक अदभूत कहानी सुनाई। टटके और घनघोर आर्यसमाजी पिता के चेहरे पर हवाई उड़ने लगी। उन्होंने माँ को बुलाकर कहा-सुनो जरा, यह क्या कहता है।' 'तुम मेरी माँ नहीं। मेरी माँ ने मुझे एक मिट्टी की हंडी में बंद कर नदी में डाल दिया था। बहते-बहते हंडी एक घाट पर जा लगी।'।

अर्थ गाम्भीर्य के साथ टटोलें तो बोध होगा कि रेणु अपनी रचनाओं में विधागत तत्वों का करीने से निर्वहन करते हैं। तथ्यात्मकता वातावरण की जीवंतता को सजीव स्वरूप देते हैं। भावनात्मक संवेदना को गहराई से निबहते हैं। मानवीय दृष्टिकोण को जमीनी धरातल पर रखकर उकेरते हैं, चित्रित करते हैं और यथार्थ के खुरदुरे जमीन से पानी का सोता दूढ़ने का अथक प्रयत्न करते दिखते हैं। संसार के रंगमंच पर नाटकीयता से अलग हकीकत का कथान्तर रचते हैं। 'प्रेम नहीं, प्रेमों में पड़ा हूँ-प्रेमी बनकर तीन-चार सालों तक प्रेमी के निराले पंथ पर ठोकरें खाते फिरने का अभिनय करना पड़ा है। प्रेमनगर में कई घर बसाए-सब संसार को तजकर। कई घर आँधी और तूफान में उड़े और किसी में घर के चिराग से आग

लगी। कई घर अभी बरकरार हैं। कई दिलों में फिर घर'

'रेणु' अपनी छटपटाहट और पीड़ा के मार्फत लिखते हैं कि 'विदापत-नाच' निम्न स्तर के लोगों की ही चीज रह गई है। तथाकथित भद्र समाज के लोग इस नाच को देखने में अपनी हेठी समझते हैं, लेकिन मुसहर, धाँगड़, दुसाध के यहाँ विवाह, मुंडन तथा अन्य अवसरों पर इसकी धूम मची रहती है।' यह कथन प्रमाणित करता है कि रेणु की चिंता किस जीवन - जगत से संबद्ध रहा। एक तरह से वह विमर्शमयी साहित्य के नीवक की तरह हैं। रेणु, प्रेमचन्द की परंपराको आगे लेकर चलते ही नहीं बल्कि उसे मुख्यधारा और वंचित समाज के बीच प्रतिस्थापित भी करते चलते हैं। जिससे 90 के दशक के बाद में उपजे अस्मितामूलक विमर्श के केंद्र की ध्वनि के तौर पर देखा-सुना जा सकता है। 'हिम्मत बाँधकर, कमर कसकर उनके साथ- एक साथ पढ़ने के लिये कॉलेज में उतर पड़ी हैं।' शिक्षण में लिंगभेद आम बात रही है। जिसे अपने कथ्य में नए ढंग से उठाते हैं।

रेणु' अक्सर तथाकथित भद्र समाज पर तीखा व्यंग्य करते हैं। वह एक जगह लिखते हैं कि 'जब से मैं अपने को भद्र और शिक्षित समझने लगा, तब से इस नाच से दूर रहने कि चेष्टा करने लगा किंतु थोड़े दिनों के बाद ही मुझे अपनी गलती मालूम हुई और मैं इसके पीछे फ़िदा रहने लगा।' यह आत्मबोधोद्घात्मक अभिव्यक्ति उनके सामाजिक सरोकार को जाहिर करता है। शिक्षित समाज अपने लोक से धीरे-धीरे कटने लगता है जिससे लोक का क्षरण होता है और हम लोक के सौन्दर्य को नष्ट होते देखने को अभ्यस्त होने लगते हैं।

'रेणु' ने उत्तर बिहार के दरभंगा, भागलपुर, पूर्णिया और सिमराहा स्टेशन आदि जिलों में व्याप्त गरीबी के दृश्य को बहुत मॉर्मिकता से उकेरा है। 'सिमराहा स्टेशन के प्रति मेरे गुप्त प्रेम की बात सिमराहा कि बंदी भगत भी जानता है।' नावेल पढ़ते-पढ़ते और

सिनेमा देखते-देखते वह एक विज्ञ पाठक और प्रौढ़ दर्शक हो गया है।

रेणु सन 1965 में कौमी एकता के पैरोकार मज़हर-उल-हक्र के बरक्स प्रॉविन्शियल कॉन्फ्रेंस, मार्ले-मिन्टो-सुधार, सांप्रदायिक-प्रतिनिधि, अलग मतदान, कांग्रेस लंदन प्रतिनिधिमंडल के सदस्य, महात्मा गांधी का चंपारण के किसानों के साथ बिहार प्रवास, असहयोग आंदोलन में सक्रियता के साथ-साथ 'मदरलैंड' में लिखकर जेल तक के सफर को बेहद सहज अंदाज में बयां करते हैं। पढ़ते वक्त ऐसा लग रहा था जैसे मजहर साहब से साक्षात्कार कर रहे हों। दरअसल रेणु अपने लाजवाब रचना-शैली, चमत्कारिक कहन, सौंधी आंचलिकता में डूबे शब्दों के प्रयोग से बाँध ही लेते हैं। सूखी मिट्टी पर बारिश की बूंदें भीनी खुशबू का आभास देती हैं साथ ही ऐसा बोध कराती हैं कि हम एक पाठक ही नहीं बल्कि सदृश्य दर्शक-दीर्घा में विराजमान हैं। यह उपस्थिति केवल आभासी ही नहीं है वरन प्रत्यक्षदर्शता को दर्शाती हैं। 'नंगा फकीर' से प्रभावित होने तक अपने-अपने प्रांतों के 'लीडर्स ऑफ फैशन' थे।

हमारी कार्य पद्धति ही हमारी सामाजिक उपस्थिति का प्रमाण है। यह प्रमाणिक दृश्य की रचनाओं में अक्सर दिखता है। 'दुखी-दीन अभावग्रस्तों ने घड़ी-भर हँस-गाकर जी बहला लिया, अपनी जिंदगी पर भी दो-चार व्यंग्य-वाण चला दिए, जी हल्का हो गया। अर्धमृत वासनाएँ थोड़ी देर के लिए जगीं, अतृप्त जिंदगी के कुछ क्षण सुख से बीते। मिहनत की कमाई मुट्ठी-भर अन्न के साथ-साथ आज इन्हें थोड़ा-सा 'मोहक प्यार' भी मिलेगा, इसमें संदेह नहीं।'।

'रेणु' ने अपने स्केचों में वक्त की नब्ज को सटीक पकड़ा है (कोई भी जरूरी घटना हमें उदासीन करने के साथ ही सतर्क व जागरूक रहकर तीव्रतम प्रतिक्रिया देने की कला भी विकसित कराती है) अपने कुछ स्केच एवं आत्म-संस्मरण के माध्यम से घटना को दर्ज करते हैं जिसे हम केवल प्रतिक्रियात्मक तर्ज पर

दर्ज नहीं कर सकते हैं जैसे 'विषयांतर', 'नेपाल - मेरी सानोआमाँ', 'हे कलकत्ता, मेरे कलकत्ता' !, 'टूटते-बिखरते सपनों की दास्तान', 'अपने गाँव और पटना के बीच', 'नेपाल और डॉक्टर कुलदीप झा', 'स्टिल लाइफ', 'नकबेसर का किस्सा', 'पांडुलेख', 'गप्प का शीर्षक', 'झूठ : जो सच है' 'मेरा बचपन' इत्यादि के द्वारा नई खिड़की खोलकर हवादार, व्यंग्यमय, रसमय, चुटीला, चमत्कारिक, तत्कालिक नब्ज को पकड़ा है और बड़ी गहराई व ईमानदारी के साथ दस्तावेजी शैली में दर्ज किया है।

रेणु के आत्मकथात्मक लेख, संस्मरण, स्केच एवं शब्दचित्र उस दौर की ख्यात, चर्चित पत्र-पत्रिकाओं में निरंतर प्रकाशित होते रहे जैसे- राष्ट्रसंदेश, नई धारा, निकष, अवन्तिका, ज्योत्सना, धर्मयुग, दिनमान, सारिका, राष्ट्रोदय, ज्ञानोदय, विहंगिनी, कृतिबास, रविवार(कलकत्ता) आदि।

गौरतलब है कि 'रेणु' ने अपनी रचनाओं के विस्तृत कैनवास में अंचल विशेष को ही चित्रित नहीं किया है वरन अंचल के नब्ज को व्यापकता से चिन्हित, वर्णित एवं रचा है। अपनी कलम को राज्य की सीमा से निकालकर प्रदेश से लेकर प्रदेशांतरि इलाहाबाद, बनारस, दिल्ली, मेरठ, रांची तक विस्तार दिया। वहीं दूसरी तरफ लेखन के परिप्रेक्ष्य में किसी तरह के सीमा का अतिक्रमण भी नहीं किया बावजूद देशांतरि तक कलम चलाया जैसे नेपाल, बांग्लादेश प्रमुखतः शामिल हैं।

नेपाली क्रांति में 'रेणु' ने सशस्त्र संघर्ष भी किया था। अपने रिपोर्टाज़ 'सरहद के उस पार' में बकायदे विराटनगर की स्थितियों का वर्णन भी किया है। यह 'जनता' पत्रिका में 2 मार्च, 1947, अंक में प्रकाशित भी हुआ था। वस्तुतः विराटनगर पूर्णियाँ के करीब है।

'रेणु' का बचपन कोइराला बंधुओं के मध्य बीता था। 'मेरा बचपन' आत्म-संस्मरण में लिखते हैं कि 'मेरा बचपन, विराटनगर (नेपाल) के 'कोइराला निवास' में बीता-यानी 'कोइराला परिवार' में लालन-पालन

हुआ।' उपरोक्त राज्य में घूस को एक तरह से राजधर्म मानकर पालित-पोषित किया जाता है।

'एक स्मृति : एक पत्र' के माध्यम से स्वयं के वैचारिक प्रतिबद्धता को पुष्ट करते हैं। 'स्वतंत्रता - प्राप्ति के बाद, राम-राज्य के किसी राम के कुत्ते के प्रति लिखित आपकी 'घृणावादी' कविता पढ़कर सहानुभूति हुई थी। आँखों के सामने जो छवि उतरी थी, उसे यहाँ आँकने की चेष्टा कर रहा हूँ। सुफेद खादी की धोती और रेशमी खादी कुर्ते में एक व्यक्ति, अति विरक्त मुद्रा में बाएँ हाथ से धोती की फुकुंदी पकड़े, दाहिने हाथ की लाठी ऊपर उठी-टिकी आकाश में, सड़क के किनारे, डस्टबीन के पास किसी राम के कुत्ते द्वारा उत्पीड़ित-आतंकित!! अतः कामना करते हैं कि हे राम! या तो मेरे जूते में नाल दो, अथवा अपने कुत्ते के गले में चमोटी एक डाल दो। उपरोक्त कथन के आलोक में 'रेणु' एक प्रखर वामपंथी की तरह नजर आते हैं, जबकि दूसरे ही क्षण भावबोध बदल जाता है। यह प्रतिबद्धता का सवाल है जिसे किसी और मार्फत बयाँ करना समीचीन होगा।

एक अन्यत्र स्थान पर 'रेणु' लिखते हैं कि - दिन-प्रतिदिन नेपाली प्रजा की जिंदगी बदतर होती जा रही है। इस पर तुरा यह कि अभी और भी कितने विषधर अपने-अपने दाँतों को तेज कर रहे हैं, नेपाल की सड़कों पर चक्कर काट रहे हैं। 'प्रभो!' मुझे सिर्फ हड्डी पीसने वाली मिल ही खोलने की आज्ञा दी जाए। अमेरिकन मशीन, नए ढंग की पिसाई, उफ़! बहुत जल्द ही पूँजीपतियों के घर में नेपाल राज्य बंधक पड़ जाएगा।' इस कथन का संदर्भ ऐतिहासिक है। विराटनगर के मजदूरों का आंदोलन इस लेखन के तत्पश्चात ही शुरू हुआ था। इससे कलम के प्रति लेखक की वैचारिक प्रतिबद्धता खुलकर प्रकट होती है जिससे यह सिद्ध होता है कि रेणु अपने काम, बात और व्यवहार के पक्के इन्सान थे। ध्यान से देखा जाए तो नेपाल की राणाशाही, नेपाल के लिये ही घातक साबित हो रही थी। रेणु ने अपनी रचना में यत्र-तत्र नेपाल की स्थितियों का सजीव चित्रण

किया है जिसका तात्कालिक, दीर्घकालिक एवं ऐतिहासिक महत्व है। नेपाल की समसामयिकता समय-समय पर तमाम देशों को आकर्षित व प्रभावित करती रही है। कुछ रचनायें छपने के साथ ही कालजयी हो जाती हैं। इसको उपरोक्त के परिप्रेक्ष्य में कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

'रेणु' ने देश के हालात पर विभिन्न कोणों से लिखा है। 'रेणु' ने बाढ़ एवं अकाल पर केंद्रित कई रिपोतार्ज लिखे हैं। गौरतलब है कि 1942 में रांगेय राघव द्वारा अकाल पर 'तूफ़ानों के बीच' नामक रिपोतार्ज उल्लेखनीय हैं।

17 सितंबर, 1950 में 'जनता पत्रिका' में 'हड्डियों का पुल' के तहत कोसी क्षेत्र में व्याप्त भूखमरी, अभाव, अकाल, वितृष्णा, संत्राष एवं असमानता का बेहद मार्मिक वर्णन किया है। अकाल के आँचल में लिपटकर मानवीयता ने दम तोड़ दिया।

'रेणु' अपने आत्म-संस्मरणों के बरक्स समस्त पाठक वृंद का ध्यान इस तरह से आकृष्ट करते हैं कि प्रत्येक भारतीय जनता का मूल स्वभाव प्रकट होने लगता है। हम अतीत से वर्तमान का पत्रा उठाकर देख लें हमारा देश मुख्यतः उत्सवधर्मी है। हमारे समक्ष हालात चाहे जैसे भी हों बाढ़, सूखा, भूखमरी, पलायन, विस्थापन एवं महामारी ऐसे वक्त में भी हमारी उत्सवधर्मी जिजीविषा दिखाई पड़ती है। यह मनुष्य बने रहने और मनुष्यता को बनाए रखने की एक कड़ी के तौर पर देखा जाए तो उचित प्रतीत होता है लेकिन तकलीफ के पक्ष में देखने पर क्षोभ से मन भर जाता है। 'बट बाबा' को हमने पेड़ नहीं समझा-देव ही समझा सदा। ठीक उसी तरह मलेरिया को सिर्फ बुखार नहीं-पिशाच मानता रहा। जूड़ी-ताप तिल्ली की एक मशहूर पेटेण्ट दवा के विज्ञापन में 'मलेरिया पिशाच' की तस्वीर छपी रहती थी-पाँच मुँहवाला, विकराल पिशाच-अट्टहास करता हुआ, चारों ओर अस्थिपंजर, मुण्ड और हड्डियों के ढेर बिखरे हुए।

जब देश संक्रमण-काल के दौर से गुजर रहा था,

तब तमामतर साहित्यकारों ने सह पत्रकार की हैसियत से समाज की विद्रूपताओं के खिलाफ जमकर व खुलकर लिखा। यह काम रेणु ने भी किया। रेणु ने अपनी रचनाओं में सरकारी तंत्र के जन-विरोधी एवं निरंकुश चरित्र के खिलाफ प्रतिरोधी स्वर में लिखा। अपनी निष्पक्षता एवं पारदर्शिता से सभी का ध्यानाकर्षित किया। आपकी सर्वप्रसिद्धि एक आंचलिक उपन्यासकार एवं कहानीकार के रूप में है। आपकी रचना स्वयं में नर्सरी है जहाँ से ऊँचे-ऊँचे वृत्तांत गढ़ने की प्रेरणात्मक पलाश सरीखे फूल झरते हैं।

रेणु ने जितनी भी विधा में लिखा है सब पर आंचलिकता की गहरी छाप पड़ी है। उनकी रचना में खाँटी देसीपन के बावजूद क्लासिकल प्रतिमान की नींव रखने की पूर्ण क्षमता रही है। 'रेणु' की भाषा में उदारता जगजाहिर है। 'कूदकर चिपक जानेवाले इस मेढ़क को 'उड़नबेंग' भी कहते हैं।'

देशज शब्दों का भरपूर इस्तेमाल किया है। 'एक चिड़ियाँ होती है कूँखनी।' कूँखनी-चिरैया को एक अश्लील गाली देकर उसकी बोली के 'दोख' को काटती हैं-चूप छिनाल! वह आंचलिक शब्दों को कुछ ऐसे भी पिरोते हैं गन्ही महतमा, जमेहरलाल, इनकिलास जिंदाबाद, फेनू गिलास, भोपा खटपासी (भूख-हड़ताल), बैसने-बैसने (बैठे-बैठे), मुचकी, फुचफुच आदि।

भारतीय व विश्व के प्रचलित शब्दावलियों से भी कोई परहेज नहीं बरता है वरन सहज व विषयानुकूल जहाँ-तहाँ प्रयोग किया है। 'सन 1929-30 की बात है।' 'एडवर्ड टॉनिक' जैसी जहरीली, पेटेण्ट दवाओं का कड़वा घूँट पीने के बाद, कुनैन की सुई दी जाने लगी।' अंग्रेजी का भी यथोचित सहज प्रयोग देखने को मिलता है 'डॉण्ट एक्सपेक्ट टू मच फ्रॉम दिस वर्ल्ड'। लेकिन एक घूँट पानी तो 'टू मच' नहीं।'

लोक में प्रचलित लोकोक्तियों का प्रयोग भी खूब किया है। 'लुच्चा मारलक बेंग, दू पसेरी के एक्के टाँग' एक छोटा उदाहरण भर है।

जमीनी गंध से लबरेज मुहावरों का बहुतायत प्रयोग किया है। इससे उनकी रचना में सहजता का सुगंध मुहैया कराने की घनी अनुभूति होती है। 'चल बेटा कदम-चाल लतरल रोद', 'बनभाग के दखिनबारी', 'तीन खटिया खड़क', 'मूक यात्रा' जैसे सैकड़ों उदाहरण मिल जाएंगे।

भाषाई प्रयोग की विविधता की वजह से ही, रेणु की रचना में रसीला, चुटीला, मोहक और सतरंगी शैली आकर्षित करती है।

अपनी लेखनी में लोकगंध से सराबोर गीतों का बहुत मर्मभेदी अंदाज में यथारथान सदुपयोग किया है।

'देसवा के खातिर मजरूल हक

भइले फककरवा से ए-ए-ए-ए

दीन भइले राजेंदर परसाद भारथवासियो-यो'

अधिकांश रचनाओं में फ्लैश-बैक शैली का बखूबी निरूपण किया है। यथार्थ के साथ कल्पना का भी समुच्चय वर्तमान, भूत, एवं भविष्य की शैली में मूर्ताकार किया है। 'जब-जब प्राण संकट में रहा, जब-जब मुसीबतों के पहाड़ टूटे, वह बिना बुलाये सैकड़ों कोस की मंजिल पारकर दौड़ती-हाँफती आयी है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के चार अक्षर पढ़कर सनके हुए 'नास्तिक' के सिर पर कभी बाबा विश्वनाथ का प्रसाद, कभी कालीघाटी की माँ काली की चरणधूलि चढ़ाती रही है।' यह कथन लतिका के संदर्भ में लिखते हैं। इस लिखने के साथ ही वैचारिक के धूसर भूमि पर कंकड़, मिट्टी की नमी को सिक्ताबोध के साथ निरीक्षण-परिक्षण को बाध्य करते हैं।

बहुतेरे जगहों पर गीत-कथा के सूक्ष्म, सुन्दर, सघन प्रयोग से एक अलग वातावरण रचा है जिससे रोचकता में जादू सा प्रतिबिम्बित होता है। 'रेणु' ने नाटकीयता का प्रयोग कुशलतापूर्वक किया है। कथोपकथन के बरक्स नाटकीयता को प्रमुखता दी है। अपने कथोपकथन के द्वारा ही रिपोर्टाज, स्केच, आत्म-संस्मरण, उपन्यास में दृश्यांकन, लयांकन की लयात्मकता के संग-संग एवं रोचकता को परिपूर्ण

ढंग से सृजित व सर्जित किया है।

लोकगीत, फिल्मीगीत के साथ बांग्ला के लोक गीतों का भी यत्र-तत्र जरूरत के मुताबिक प्रयोग किया है।

‘मैं धानी कानैछें कथिलैगे-जाइब बंगाला,

आनब मोहनमाला,

तोहरे पिन्हावे लागे’

रेणु ने अपनी रचनाओं में प्रतीकों के प्रयोग माध्यम से एक तरफ प्रचलित परंपराओं का वर्णन किया है तो दूसरी तरफ परिवर्तन का आह्वान भी किया है। आत्मकथ्य शैली में भी दृश्य-बिंब के अमूर्तन को मूर्त आवरण में उकेरा है।

रेणु ने स्केच, आत्म-संस्मरण और रिपोर्टाज द्वारा घर-परिवार, स्कूल, कॉलेज, नाते-रिश्तेदार, भाई-बंधु, प्रेमिका-पत्नी, डॉक्टर-अस्पताल, रोगी-दवा सहित बाढ़ की विभीषिका का चित्रण और बाढ़ के तत्पश्चात

नेताओं की भूमिका में सामाजिक कार्यकर्ताओं के लूट-खसोट, चोरी-बेईमानी, छल-प्रपंच, वाद-विवाद, उंच-नीच, उत्तम-मद्धम, अड़ोसी-पड़ोसी जैसे अनगिनत चरित्रों पर बेहद तीक्ष्ण, चुटीला और मॉर्मिक चोट करने वाला व्यंग्यात्मक शैली में घाव किया है।

देश एवं देश की विभीषिका पर लिखी गई रचनायें कई मायनों में बेहद प्रासंगिक और दूरदर्शी हैं। जैसे-जैसे हमारे समाने सत्ता, सरकारी तंत्र, जनतंत्र एवं षड्यंत्र की जनविरोधी नीति, रणनीति प्रत्यक्ष आती हैं, वैसे-वैसे रेणु की रचना हमारे समक्ष एक मशाल की तरह जनमानस के प्रति बरती गई विद्रुपता व वीभत्स चेहरों को देखने-परखने का मार्ग देती रहेंगी। ‘अपने कथा-साहित्य में जिस तरह से वे कम शब्दों में बड़ी बात कह जाते हैं, वैसा ही पत्रों में भी कहने की कला के माहिर थे।’

संपर्क : असिस्टेंट प्रोफेसर, 10 महानदी, इग्नू रेसिडेंसियल संप्लेक्स
मैदानगढ़ी, उत्तर दिल्ली-110068, मो. : 9953535262

कागज पर सबकुछ निचोड़कर रख दिया

सुनीता साव

पत्र में लेखक की भावनाएँ ही व्यक्त नहीं होती, बल्कि उसका व्यक्तित्व भी उभरता है। इससे लेखक के चरित्र, दृष्टिकोण, संस्कार, मानसिक स्थिति, आचरण इत्यादि सभी एकसाथ झलकते हैं। ये सारी विशेषताएँ हमें हिंदी के आंचलिक उपन्यासकार फणीश्वरनाथ रेणु के पत्राचार में भी देखने को मिलती हैं। अपने पत्रों के माध्यम से मानों रेणु ने अपने हृदयस्थ भावों को खोलकर रख दिया है, जहाँ कोई भी लुकाव-छिपाव नहीं, बल्कि बेबाक अभिव्यक्ति है। अगर यों कहा जाए कि पत्रों में रेणु का एक अलग व्यक्तित्व ही झलकता है तो अत्युक्ति नहीं होगी। उनके पत्रों में उनकी प्रतिभा की सर्जनात्मकता एक अन्य रूप में दिखलाई पड़ती है। अपने पत्रों में रेणु जितने आत्मीय दिखलाई पड़ते हैं उतने अन्य रचनाओं में नहीं। अपने पत्रों के माध्यम से वे कभी अपनी बीती हुई जिंदगी के किस्से सुनाते हैं, तो कभी दैनिक जीवन में घटनेवाली घटनाएँ बताते हैं, कभी अपने दुखों और कष्टों को बाँचते हुए दिखाई पड़ते हैं, तो कभी हँसी-मजाक भी कर लिया करते हैं। अन्य रचनाओं से परे पत्र-लेखन रेणु के संवाद का एक अहम माध्यम रहा है, जहाँ रेणु पूर्णतः स्वतंत्र हैं, अपनी अभिव्यक्ति में कतई हिचकिचाते नहीं। रेणु के रचनाकार का सही आकलन उनके पत्रों को देखकर किया जा सकता है। उनके सारे पत्र 'रेणु रचनावली' के पाँचवें खंड में संग्रहीत हैं। इस रचना के संपादक का कथन है 'रेणु के पत्रों के कई-कई ड्राफ्ट मिले हैं जिससे पता चलता है कि वे पत्रों पर भी अन्य रचनाओं की तरह मेहनत करते थे। वे पत्रों में अपना सब कुछ निचोड़ कर रख देते थे। उनके पत्र धरोहर की तरह हो गए हैं। इनके पत्रों में राष्ट्रपति, राज्यपाल, प्रसिद्ध साहित्यकार, पत्र-संपादक, पूर्णिया जिले के परिचित परिवार के सदस्य और संबंधी आदि को पत्र लिखे गए हैं। पत्र अनेक तरह के हैं - कामकाजी, सूचनात्मक, मात्र दो 'एक पंक्ति वाले, लंबे विवरण प्रधान, स्थितिबोधक, तीन-तीन पृष्ठोंवाले और बीच में भावनात्मक, आत्मीयता से पूर्ण एक आधे पृष्ठवाले। सबसे प्रमुख पत्र वे हैं जो रेणु जी ने अपने घनिष्ट मित्रों और अपनी पत्नी लातिका जी को लिखे।

रेणु के घनिष्ट मित्रों में गोपीकृष्ण प्रसादजी का नाम आता है। गोपीकृष्ण प्रसाद रेणु के काफी करीब थे। रेणु प्रायः अपने दुख-सुख का साँझा गोपीकृष्ण से ही पत्रों के माध्यम से किया करते थे। गोपीकृष्ण रेणु के प्रारंभिक दौर के मित्र थे और इन्होंने रेणु के कई पत्रों को अपनी पुस्तक - फणीश्वरनाथ रेणु : व्यक्तित्व, काल एवं कृतित्व' में प्रकाशित करवाया है जो बेहद महत्वपूर्ण हैं।

1950 में रेणु जब अपने रिपोर्ताजों की पहली पुस्तक 'ऋणजल : धनजल, प्रकाशित करवाना चाहते थे तब उन्होंने गोपीकृष्णजी से ही पत्राचार के माध्यम से अपनी इच्छा जाहिर करते हुए लिखा था - 'संग्रह के काम में मैं जुट गया हूँ। ... संग्रह फरवरी के अंत तक आप प्रेस में दे सकते हैं। 'किसान-मार्च' के बाद 'रामराज' मैंने शुरू कर दिया है डालमियानगर हड़ताल के आधार पर लेकिन इसके लिए मुझे पटना आने की जरूरत होगी, मिल और मेशन के विभिन्न पूजों के नाम, कुछ टेकनिकॉल बातें यहाँ किससे पूछूँ? नेपाल में जो आग सुलग रही है उस पर 'चाँदी की हथकड़ी'।... कम से - कम संग्रह के लिए चार और लिख डालूँ क्या?... आपको आश्चर्य होगा 'जै गंगा' और 'डायन कोसी' वगैरह भी मेरे पास नहीं। न रफ़, न प्रकाशित। 'जै गंगा' और 'डायन कोसी' आप ऊपर कीजिए'। इस पत्रांश से यह स्पष्ट है कि रेणु 1950 में ही अपने रिपोर्ताजों का संग्रह प्रकाशित करवाना चाहते थे, किंतु वह हो न सका। इतना ही नहीं, जब वे बीमार पड़ते हैं तब भी पत्रों के जरिए संवादों का सिलसिला जारी रहता है। बीमारी के दौरान खतरों के दौर से गुजरते हुए भी गोपीजी को लिखते हैं- 'गोपीजी, आपलोग आना न छोड़िएगा। मैं जानता हूँ कि मेरा रोग संक्रामक है, पर आपलोग आते हैं तो मेरा हौसला बढ़ता है, हिम्मत बनती है, जीने का भरोसा होता है। आप बार-बार शिकायत करते हैं कि मैं महान रचना नहीं कर रहा हूँ। इस बार वचन देता हूँ कि अच्छा होने पर अवश्य लिखूँगा। गोपीकृष्ण प्रसाद, फणीश्वरनाथ रेणु : व्यक्तित्व, काल एवं कृतित्व, पृष्ठ-28 और इसके बाद ठीक होते ही रेणु तुरंत अपने लेखन-कार्य में जुट जाते हैं।

'मैला आँचल' का प्रकाशन 1954 में हुआ

पर इसके लेखन में रेणु 1950 में ही लग गए थे 'रेणु ने इस उपन्यास को पहले दूसरी तरह से लिखना शुरू किया था, बाद में यानी दूसरे ड्राफ्ट में उन्होंने पहले प्रारूप को बदला। 1950 में डॉ. गोपीकृष्ण प्रसाद के नाम लिखे एक पत्र में 'मैला आँचल' की रूप-रेखा और उसके लिखे जाने के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने एक पत्र लिखा था। 'मैला आँचल' ने न सिर्फ रेणु को हिंदी साहित्य में एक बड़े कथाकार के रूप में प्रतिष्ठित किया, अपितु हिंदी की आंचलिक उपन्यास विधा में एक युगांतर भी उपस्थित किया। इस गौरवशाली, कालजयी उपन्यास ने हिंदी भाषा के अभूतपूर्व कौशल, व्यंजना और संगीतात्मकता की गहरी क्षमता से पहले-पहल परिचित कराया। यह कहना बिल्कुल सही है कि रेणु ने भाषा को पार्श्व संगीत दिया। मासिक पत्रिका 'सरिता' के जनवरी अंक में प्रसिद्ध विद्वान मन्मथनाथ गुप्त ने 'मैला आँचल' की तारीफ करते हुए स्पष्ट रूप से कहा कि 'यह उपन्यास प्रेमचंद के 'गोदान' के बाद बस एक ही है। यह छोटी-सी बात नहीं है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डॉ. धर्मवीर भारती ने लिखा - 'मिथिला की भूमि ने दूसरा विद्यापति पैदा किया ...। तात्पर्य यही है कि 'मैला आँचल' की प्रसिद्धि धीरे-धीरे बढ़ने लगी। लोग तारीफ पर तारीफ किए जा रहे थे और रेणुजी स्वयं इस बात को स्वीकार भी करते हैं। न केवल हिंदी से जुड़े लोग बल्कि अन्य विषयों से जुड़े लोगों में भी रेणु का 'मैला आँचल' काफी प्रशंसनीय रहा। यहाँ तक कि सोशियोलॉजी के हेड ऑफ़ द डिपार्टमेंट, डॉ. नर्मदेश्वर प्रसाद 'अनुप' ने लिखा "किताब समाजविज्ञान के विद्यार्थियों के लिए भी उपयोगी है। इतना ही नहीं, रेणु के 'मैला आँचल' पर एक इल्जाम भी आया। इस पर टीका-टिप्पणियाँ भी की गई।

‘मैला आँचल’ की मौलिकता पर आक्षेप करते हुए इसे ‘ढोंढाई चरित’ का अनुवाद बताया गया, जो रेणुजी के लिए बिलकुल ही असहनीय विषय था। उन्हें अपने सम्मान में इस टिपण्णी से काफी ठेंस पहुँची। रेणु जी पर इस तरह के इल्जाम लगाने वालों में मुजफ्फरपुर के रमण जी थे। पटना से प्रकाशित ‘आवाज’ पत्र में उन्होंने रेणु पर इस तरह के चोरी का इल्जाम लगाया था। तब रेणुजी ने इस इल्जाम के प्रत्युत्तर में रमण जी को स्पष्ट लिखा - ‘आप मेरे अग्रजों में हैं, आप मुझे हर तरह की गालियाँ दे सकते हैं। अधिकार है आपको, किंतु चोरी का इल्जाम? चार्जशीट भेजिए, कृपाकर! मैं अपनी सफाई देने की चेष्टा करूँगा। आप संतुष्ट न हों, साहित्य-संसार के चौराहे पर खड़ा कर कोड़े लगवाइए। ‘मैला आँचल’ के संबंध में बहुत सारी बातें कही जाती हैं, सुनी जाती हैं, सुनाई जाती हैं, फैलाई जाती हैं, किंतु कुछ लिखकर क्यों नहीं दी जाती। मुझे इस बात पर आश्चर्य हो रहा है। इस तरह अँधेरे में किसको जवाब दिया जाए और किस बात का जवाब दिया जाए? आप शायद नहीं जानते कि मैं बहुत छोटी उम्र से श्री सतीनाथ भादुड़ीजी के साथ हूँ। वे मेरे साहित्यिक गुरु हैं। जो कुछ भी हूँ, उन्हीं का बनाया हुआ-बिगड़ा हूँ दूसरों के कुचे में ...। मैं जरा भी नहीं घबरा रहा हूँ। भीम है मेरे अंदर!’ रेणुजी एक निडर साहित्यकार थे, उन्हें किसी के आक्षेपों का कोई भय नहीं था। वे बिना किसी भय के अपने ऊपर आए टीका-टिप्पणियों का बेहिचक जवाब दे दिया करते थे। अंत में सतीनाथ भादुड़ी ने बयान दिया कि रेणु पर लगाया गया यह इल्जाम गलत है। साहित्यिक जगत में रेणु को अपदस्थ करने की बहुत कोशिश की गई तो दूसरी तरफ उनके अंचल के लोगों ने भी उनके खिलाफ षड़यंत्र

रचने की कोशिश की लेकिन रेणु तनिक भी विचलित नहीं हुए। आश्चर्य की बात तो यह है कि रेणु के लेखन में दम था, उनमें कुछ बात थी, इसीलिए टिक गए वर्ना अगर कोई दूसरा लेखक होता तो वह लिखना ही छोड़ देता और आत्महत्या कर लेता। इतना विरोध झेलने के बावजूद भी रेणु अपनी साहित्यिक दुनिया में टिके रहें। भागलपुर के डॉ. विष्णु किशोर वेचन को उन्होंने 27 जून, 1958 को एक पत्र में लिखा—‘अविचल आस्थावादी मुझको नैराश्यवादी जीवन-विरोधी, प्रतिक्रियाशील, पलायनवादी आदि साबित करने के लिए शास्त्र मंथन कर रहे हैं। मैं अविचल हूँ। जीवन-दर्शन ‘शून्य तो कह ही रहे हैं। भाई साहब मुश्किल यह है कि कलम पकड़ते ही लेखक और लेखक होते ही दार्शनिक का परम पद हमें स्वयं प्राप्त हो जाता है। बिना किसी जिज्ञासा के ही हमें उत्तरमाला मिल जाती है। बिना किसी जीवन- जिज्ञासा के जीवन-दर्शन जिन्हें लोकता है, वे महान हैं। मैं लंडूरा ही भला ...। क्यों देखूँ किसी के उपनेत्र से? कोई जबरदस्ती है? मैं जानता हूँ, इस बात पर भी ललकारने वाले मिल जाएंगे ‘ठीक बात। जरा अपनी जीवन-जिज्ञासाएँ ही फरमाइए हजरत!’ फिर अपनी इन बातों को स्पष्ट करते हुए और आगे बढ़ाते हुए कहते हैं - ‘मैं उन्हें नहीं समझा सकूँगा कि शिल्पी और मिस्त्री में फर्क होता है कि हर शिल्पी की तरह मेरी भी जिज्ञासाएँ हैं, जो पुरानी हैं ... मनुष्य की हैसियत से मनुष्य के अस्तित्व का क्या मूल्य है, इस पृथ्वी पर? क्यों हम जिंदा हैं? जीवित रहने की युक्ति ढूँढ़कर कैसे पा लेते हैं हम? इतनी व्यर्थताओं के बीच भी मैं ‘मनुष्य मैट’, रेत-कण से भी नगण्य मैं, क्यों नहीं इतने अन्याय, अविचार, अनाचार के बीच आत्महत्या कर लेता हूँ? मृतप्राय होकर भी जीवित रहने का आनंद कैसे प्राप्त कर लेता हूँ, कहाँ

से? प्रश्न पुराने हैं, उत्तर नए हो सकते हैं या नहीं हो सकते। पता नहीं वह क्या समझेगा? लेकिन आध दर्जन मित्रों और दादा-मित्रों को अवश्य लिख देता - अब उपन्यासकार - प्रवर आत्महत्या की बात सोच रहे हैं। अथवा वैसा ही कोई आंदोलन चलाना चाहते हैं साहित्य द्वारा?' और अंत में वे लिखते हैं - 'गाँव में रहता हूँ, कम-से-कम ताल ठोककर ललकारने नहीं आए कोई 'इससे रेणु जी की जीवन के दार्शनिकता साफ झलकती है। रेणु अपने जीवन में काफी गहराई तक धँसे हुए लेखक थे, जीवन का कटु अनुभव उन्हें प्राप्त था। लोकजीवन में उनकी जड़ें बेहद गहरी थीं, इसीलिए वे उखड़ नहीं सकें। जीवन-दर्शन से अधिक महत्व जीवन-जिज्ञासा को देते थे और कथा - साहित्य में बहुत सारे मिस्त्री टाइप कथाकारों से भिन्न 'शिल्पी' थे। इसीलिए आत्महत्या की बात सोचते तक नहीं। यही कारण है कि उनके कथा-साहित्य के पात्र कभी आत्महत्या नहीं करते। वे प्रबल जिजीविषा से भरे और अपनी मिट्टी से गहरे प्यार करनेवाले मनुष्यों की जीवन-गाथा में स्वयं को समाहित करते हैं। बाद में तो वे इस तरह की बातों को, आक्षेपों को कुछ और ही तरह से लेते थे। उन्होंने राजेंद्र यादवजी को 13 नवंबर, 1963 को लिखा - 'अब परेशानियों से परेशान नहीं होता। आनंद ले रहा हूँ' यानी एक समय के बाद रेणु का मन अब परेशानियों से उद्वेलित नहीं होता, जैसा पहले होता था क्योंकि रेणु परेशानियाँ झेलते-झेलते दृढ़ हो गए थे। छोटी-मोटी परेशानियों का उन पर कोई असर नहीं होता था।

समाजवादी आंदोलन से जुड़े होने के बावजूद रेणु ने यदि अपने साहित्य में अपनी वैचारिक सीमाओं का अतिक्रमण किया तो इसलिए कि वे इसे लेकर काफी सचेत थे। वे ऐसा साहित्य

लिखना चाहते थे जो किसी एक खास दृष्टि का संदेशवाहक न हो और किसी खास दृष्टि से बंधा न हो। वे वास्तविक अर्थों में जनता का ऐसा साहित्य लिखना चाहते थे, जो अपनी विचारधारा और अपनी विचारधारा से अलग की जनता को भी आंदोलित करे। 'मैला आँचल' का प्रकाशन हो जाने के बाद जब चारों तरफ उसकी धूम मचने लगी तब उस समय के साहित्यिक केंद्र, इलाहबाद जाने के बाद प्रगतिशील गैर प्रगतिशील सभी साहित्यिक जमातों ने रेणु को सिर माथे पर बिठा लिया और वहाँ से लौटने के बाद पटना से उन्होंने 3 नवंबर, 1955 को मधुकर गंगाधर को एक पत्र लिखते हुए बताया - 'प्रयाग हिंदी साहित्यकारों का अखाड़ा समझा जाता है। नए तथा पुराने लेखकों का विशाल झुंड वास करता है यहाँ इनकी अलग-अलग छोटी-बड़ी संस्थाएँ हैं। 'परिमल', 'साहित्यिकी', 'झंकार', 'पराग', 'मिलन' आदि-आदि। सबों को आश्चर्य हुआ कि बिना यह पूछे कि अमूक संस्था या व्यक्ति किस राजनीतिक दल का है। रेणुजी सबों के यहाँ मुक्त हृदय से गए, गोष्ठियों में भाग लिया। आने के दिन सरस्वती प्रेस श्रीपत राय' के यहाँ जमावड़ा हुआ था। प्रोग्रेसिवों कम्युनिस्ट पार्टीवाले ने कहा कि रेणुजी की कृति तथा उनके प्रयाग आगमन के बाद हम यह सोचने को मजबूर हो गए हैं कि ऐसे साहित्य की रचना संभव है, जिसे सभी दलवाले एक स्वर से स्वीकार करें।

'यह आजादी झूठी है'-यह स्वर रेणु के उपन्यास में बार-बार यूँ ही नहीं फूटता, बल्कि यह उनकी बड़ी चिंता का स्वर है। यह उस खेद का स्वर है जो गुलाम भारत से नए भारत में दाखिल होते हुए तमाम सपनों की लहलुहान नियति देखकर रेणु जैसे संवेदनशील लेखक के मन में जब-तब टीस बनकर उठी थी। यह चिंता, यह टीस ही

उन्हें बिहार आंदोलन के मुहाने तक ले गई थी और वे पूरी तैयारी के साथ लोकनायक जयप्रकाश नारायण के साथ बिहार आंदोलन में खड़े दिखाई देते हैं। 4 नवंबर, 1974 को पटना में प्रदर्शनकारियों और जयप्रकाश पर पुलिस की लाठियों की बरसात होती है। रेणु खुद भी खाकी सख्ती के शिकार होते हैं। यह सब उन्हें सरकार के तानाशाह रवैये के खिलाफ आक्रोश से भर देता है। वे भीतर तक तिलमिला उठते हैं। क्षोभ और गुस्से की इसी मनोदशा में लेखकीय प्रतिकार की बड़ी मिसाल पेश करते हुए वे 'पद्मश्री' के अलंकरण को न सिर्फ राष्ट्रपति को लिखे पत्र के साथ लौटा देते हैं बल्कि इसे वे 'पद्मश्री' की जगह 'पापश्री' करार देते हैं। वे यहीं नहीं रुकते। बिहार के राज्यपाल को अलग से एक पत्र लिखकर वे राज्य सरकार से हर महीने मिलनेवाली 300 रुपये की वृत्ति को भी लौटाने का फैसला करते हैं।

रेणु एक बड़े ही स्वाभिमानी और अक्खड़ प्रवृत्ति के साहित्यकार थे। किसी सम्मान से ज्यादा महत्वपूर्ण उनके लिए देश की समस्याएँ थीं। चाहे राष्ट्रपति हो या राज्यपाल, वे किसी की गलतियों को यूँ ही माफ करने के पक्ष में नहीं थे। वे हर स्थिति में देश की सुरक्षा के पक्षधर थे। इसीलिए देश के आड़े जो भी आता था, उसे दो-टूक जवाब देने में हिचकिचाते नहीं थे। रेणु एक कर्तव्यनिष्ठ साहित्यकार होने के कारण राष्ट्रपति और राज्यपाल तक को भी उनके कर्तव्यों की ओर ध्यान दिलाने की कोशिश करते हैं।

रेणु के कई ऐसे पत्र विद्यासागर गुप्त के नाम भी मिले हैं। विद्यासागर गुप्त रेणु के उन मित्रों में से थे, जिन्होंने आर्थिक विपत्तियों में रेणु की बहुत ही मदद की थी और जिनका लगाव किताबों से बहुत अधिक था। ऐसे मारवाड़ी परिवार बहुत ही

कम देखने को मिलते हैं, जिनके जीवन में किताबें महत्वपूर्ण हों और एक बड़ा कमरा किताबों से भरा हुआ हों। विद्यासागर गुप्त के परिवारवाले मुख्यतः पटसन और कपड़े का व्यापार करते थे। इनके दादाजी 1890 के आस-पास कमाने के लिए जोरहाट आसाम गए, फिर कोलकाता। कोलकाता में अपनी गद्दी कायम की। व्यापार बढ़ने लगा तो बिहार के फारबिसगंज में गद्दी कायम की। 1940 में इन लोगों ने चावल मिल की स्थापना की। इस घर के इतिहास को जानना इसीलिए जरूरी है कि राममनोहर लोहिया से लेकर रेणु तक की यात्रा ने इस जगह और इस गाँव को नई जमीन दी। उनकी जिंदगी में रंग भरे, जिंदगी के आखिरी लम्हें तक रिश्ता बना रहा। विद्यासागर गुप्त ने अपने अतीत को सहेजकर रखा। इस पर न धूल चढ़ने दी, न खरोंच आने दी। परेशानियों, तकलीफों और भयावह आर्थिक संकट के दौरान रेणु ने जब-जब उन्हें याद किया उनका परिवार उनके साथ रहा। 10 मार्च, 1978 को अपने लिखे एक पत्र में रेणु ने लिखा- 'मैं अच्छी तरह हूँ। यदि इसी को 'अच्छी तरह' रहना कहा जाता है। स्वर्ग का सुख भोग रहा हूँ और क्या चाहिए। मनुष्य योनि में जन्म लेकर धन्य हो रहा हूँ। आपसे मिलने की उत्कट अभिलाषा मन में सदा बनी रहती है। किंतु जिस कारण से मुँह नहीं दिखला पा रहा हूँ, वह आप भली-भाँति समझते होंगे। ये दिन रेणु के मुश्किल के दिन थे। पैसे की तंगी हमेशा रहती थी। ऐसे समय में पूरा परिवार रेणु की मदद के लिए तैयार रहता था। दुनिया के इतिहास ने यह बताया है कि महान साहित्यकारों, लेखकों और कलाकारों ने कितनी तकलीफों में दिन काटे हैं। निवेदिता कहती हैं कि अगर एंगिल्स नहीं होते तो शायद मार्क्स दुनिया के महान चिंतक नहीं बनते। अगर

विद्यासागर गुप्त का परिवार नहीं होता तो शायद रेणु की जिंदगी और कठिन होती। उनकी चिट्ठियाँ बताती हैं कि जीवन के अंतिम दिनों तक वे लोग रेणु की जिंदगी के अहम हिस्सा थे। रेणु अपने विचारों में, व्यवहार और आचरण में घरेलू जिंदगी का बहुत एहतराम करते थे। वे लिखते हैं - 'पिछले एक माह से अखबार पढ़ना और रेडियो सुनना बंद है। चिट्ठी-पत्री भी कहीं से नहीं आती, न किसी को लिखता हूँ। ऐसे में आपका पत्र होली के पहले पाकर मन में एक अजीब-सी गुदगुदी लग रही है। मन के किसी कोने में ठेसू खिल उठता है। रंग-गुलाल उड़ने लगते हैं। ऐसे कई पत्र हैं, जिनके जरिए हम अपने महान साहित्यकार रेणु को बखूबी समझ सकते हैं। इन खतों के माध्यम से रेणु की निजी जिंदगी, उनकी सोच और उनकी रचनाओं के बारे में हमें कई संकेत मिल जाते हैं। यह खत रेणु के उन दिनों के हैं जब वे बहुत ही आर्थिक तंगी से गुजर रहे थे। उनके वे दिन गहरी आत्मपीड़ा के दिन थे, जहाँ से उम्मीद थी, वहाँ पर केवल अँधेरा-ही-अँधेरा दिखाई दे रहा था। अँधेरे के सुलगने के इंतज़ार में वे जूझते रहें। वे लिखते हैं- 'यहाँ की सारी बातें और अपने दिल-दिमाग पर ज़ोर गुजर रही है। उन्हें पत्र में लिखकर बता नहीं सकता ... , बस यही समझ लीजिए कि असाध्य साधना कर रहा हूँ। नहीं तो और क्या ? गृहस्थी की तत्कालीन जिम्मेदारियाँ, लेखकीय कर्तव्य और शारीरिक स्वास्थ्य' इन सबको एकसाथ निभाने के क्रम में ... ज्यादा ट्रांक्विलाइजर [Tranquilliser] लेना पड़ रहा है, ऐसे तमाम खत रेणु के जीवन के दस्तावेज़ हैं जिनसे हम रेणु के व्यक्तित्व को गहराई से समझ सकते हैं।

रेणु ने अपने जीवन में बहुत सारे पत्र लिखे। मगर अफसोस उनके सारे पत्र एक जगह संकलित

नहीं हैं। उनमें से बहुत सारे पत्र तो नष्ट भी हो गए और उन्होंने जिन लोगों के नाम पत्र लिखे, उन लोगों में से कईयों ने तो इनके पत्रों को प्रकाशित भी नहीं करवाया। इसीलिए उनके पत्र बहुत ही कम मात्रा में उपलब्ध हैं। उनके संकलित पत्रों में सबसे पुराना पत्र 1946 का लिखा हुआ बाणेश्वरजी के नाम है। बाणेश्वरजी रेणु के मित्र थे। रेणु तब पटना मेडिकल कॉलेज अस्पताल में भर्ती थे। यह उनका इसी अस्पताल में बेड नं. 1 पर दूसरी बार भर्ती होना था। इस पत्र में अस्पताल के जीवन के चित्र और अपनी मनःस्थिति के मार्मिकता से उद्घाटित करते हैं। 'डॉक्टर और नर्सों की अलग-अलग जूते और जूतियों की आवाज खट-खट ... खुट-खुट ...। ड्यूटी की आवाज, ड्यूटी की चाल जैसे एक संगीत हो, एक ताल हो। रोगियों के कराहने की, विभिन्न तरह के दर्द को अपने-अपने ढंग और तकलीफ के अंदाज से प्रकट करने के अपने-अपने निराले ढंग - जैसे अपना-अपना छंद हो। कोई मरते-मरते जी जाता है तो कोई जीते-जीते मर जाता है। दिन भर में मौत न जाने कितने रूप में आती है। कभी-कभी ऐसा मालूम होता है कि एक तूफान, एक बवंडर चल गया है, आसमान टूट पड़ा है और कभी-कभी उसकी पगध्वनि भी किसी को नहीं सुनाई पड़ती। इसी पत्र में रेणु आगे लिखते हैं - 'मैं इन लोगों को कैसे समझाऊँ कि मैं आदमी नहीं हूँ। कलम हूँ, पेंसिल हूँ, कार्बन पेपर हूँ, जैसे उस बेड नं. 26, एक इंजिनियरिंग के स्टूडेंट को मैं पिस्टन और हैंडिल कहता हूँ। ... यह लिखना तो मेरे दिल का लिखना है। मगर मुझे बेदिल का लिखना भी लिखना पड़ता है। मशीन की तरह बिना सोचे, बिना समझे। सचमुच मैं कलम बनाकर ही रखा गया..., इस पत्र में रेणु की सर्जनात्मकता उभर कर सामने आई है।

इस पत्र में अस्पताल का माहौल, रोगियों की मनोदशा और डॉक्टरों, नर्सों की गतिविधियों का जो जीवंत चित्र है, वह रेणु के मन में बीज के रूप में वर्तमान रहती है और उसे पुष्पित-पल्लवित कर वे कई रचनाएँ लिखते हैं - 'बीमारों की दुनिया में', -एक रात, 'स्टील लाइफ और रेखाएँ-वृत्तचक्र' नामक दो कहानियाँ - एक 1947 में और दूसरी 1970 में। इनमें 'बीमारों की दुनिया में' 1946 में ही प्रकाशित हुई थी - दिसंबर, 1946 के मासिक- 'विश्वामित्र' में। इस कहानी के कई परिदृश्य का संक्षिप्त अंश इस पत्र में है। इस कहानी का मुख्य पात्र वीरेन रेणु का ही प्रतिरूप है।

रेणु की जीविका का मुख्य साधन कृषि था। वे किसानी करते थे और साहित्य की तरह ही उसे गंभीरता से लेते थे। यहाँ तक कि देश-दुनिया को भी वे एक किसान के नजरिए से देखते थे। उनके कथा-साहित्य में भी उनका यही किसानी मन और दृष्टिकोण उजागर हुआ है। रेणु खेती-बारी, फसल, किसानी, गाँव - देहात की बातें अपने अधिकांश पत्रों में करते हैं। हिंदी में रेणु इस तरह के पहले लेखक हैं। ग्राम-जीवन को आधार बनाकर लिखनेवाले लेखकों के साथ रेणु की चिट्ठियों का अगर अवलोकन किया जाए तो रेणु में ग्राम-जीवन के प्रति तन्मयता का जो भाव दिखाई देता है, खेती-किसानी के प्रति सिर्फ लगाव ही नहीं, लगन भी है, उन्हें विशिष्ट लेखक बनाता है और एक अलग तरह की छवि निर्मित करता है। बिरजू बाबू जो फारबिसगंज के उनके मित्र थे, उनको एक पत्र में रेणु लिखते हैं - 'और गाँव-घर, खेत-खलिहान अभी बेपानी हो रहा है। मडुवा का आँव एक रुपया सात आना किलो, बीस रुपये मन पाट-खेत में पानी नहीं, नहरी इलाका होने के बावजूद -हम सभी इन्द्र महाराज के आसरे बैठे हैं। पता

नहीं क्या होगा?' एकबार गाँव से पटना आकर अपने चचेरे भाई उपेन्द्रजी को पत्र लिखते हैं- 'आने को तो मैं पटना आ गया हूँ, मगर मैं औरही में ही हूँ।' और इसी पत्र के अंत में - 'गेंहूँ का समाचार शीघ्र लिखकर भेजो। 'फिर इसी पत्र के 'पुनश्च' में - 'गेंहूँ में पानी दिया गया या नहीं, लिखो।'

लतिकाजी के प्रति रेणु के मन में अगाध प्रेम था। उनका अभाव रेणु को हमेशा खलता था। उनकी कमी रेणु को असहाय बना देती थी। बल्कि यों कहा जाए कि लतिकाजी रेणु के जीवन में प्रेरणा-स्रोत बनकर आई थी। 15 अगस्त, 1974 को देश में जब स्वाधीनता दिवस मनाया जा रहा था, रेणु पूर्णिया जेल में बंद थे। उसी दिन उन्होंने लतिकाजी को एक पत्र लिखा- 'तुम्हारी याद आती है तो बेचैन हो उठता हूँ। लेकिन तुम थोड़ा भी विचलित मत होना। ... कष्ट तो होगा, मगर मुझे विश्वास है कि तुम हँसते हुए यह सब सह लोगी। अगर तुम नहीं होती तो मेरे लिए कुछ भी करना संभव नहीं होता। तुम्हारे ही पुण्य-प्रताप से मेरा सारा कार्य पलक झपकते हो जाता है। लतिकाजी रेणुजी से मिलने पटना से पूर्णिया जेल जाती हैं। लौट जाने के बाद 30 अगस्त, 1974 को ही पूर्णिया जेल से रेणु ने फिर उन्हें पत्र लिखा- -तुम्हारे जाने के बाद अकेला अपने सेल में बैठकर तुम्हारे सकुशल पटना पहुँचने के लिए देर तक प्रार्थना करता रहा।... क्या तुम्हें याद नहीं -हमारी पहली मुलाकात मेरी बंदी अवस्था में हुई थी। इतने दिनों बाद - एक युग के बाद भी मुझे लगता है पिछले दिन की ही बात है। हममें परिवर्तन नहीं आया, तुम्हें क्या लगता है?' रेणु अपनी पत्नी लतिकाजी को जो भी पत्र लिखते, अंत में - 'गहरा प्रेम' या 'रानी'! मेरा प्राण तड़प रहा है। जल्द आ रहा हूँ, गहरा प्रेम रहा। और

लतिकाजी को लिखित अंतिम पत्र में - 'मैं कैसा हूँ, कैसा था, कैसा रहूँगा - यह लिखकर नहीं समझाया जा सकता। इसीलिए मुलाकात में ही सारी बातें होंगी। इतना ही कहूँगा, असीम कष्ट में तुम्हारी याद ही मेरी रक्षा करती रही। अनंत और गहरा प्रेम रहा। इति" रेणु का जीवन बेहद कष्टमय और यातनापूर्ण रहा। उन्होंने लगातार कई आपदाएँ झेलीं। सगे-संबंधियों की मृत्यु उनके भावुक और संवेदनशील मन को क्षत-विक्षत करती रही और ऊपर से प्राकृतिक आपदाएँ तथा उनका अपना ही रोगग्रस्त जर्जर शरीर रेणु अपनी उस समय की अवस्था के बारे में बताते हैं। 'मेरी हालत ठीक उसी पेड़ की तरह है जिसके ऊपर से एक तूफान गुजर चुका है तुरत 'और भी तूफानों की संभावना के लिए' डाल पसार खड़ा हूँ। आओ! ओ तूफान! जब तक मुझे जड़ से नहीं उखाड़ फेंकोगे। मैं तुम्हारा मुकाबला करता रहूँगा। रेणु पर इस तरह की आपदाएँ आती रहीं और उन्हें जड़ से हिलाती रहीं, फिर भी वे जी गए। विषम परिस्थितियों के आगे वे हार नहीं माने, उनकी लेखनी हर परिस्थिति में बेखौफ़ चलती रही।

कहना न होगा, रेणु के पत्रों में उनके जीवन

के कई संस्मरण, उनके कार्यों की सूची, उनकी मनःस्थिति, उनका घर-परिवार, गाँव-घर, मित्र, लेखन-कार्यों का ब्यौरा आदि-आदि भरा पड़ा है। इन पत्रों के द्वारा जीते-जागते, बोलते-बतियाते रेणु को हम देखते हैं - एक पारदर्शी व्यक्तित्व सरल-तरल आत्मीय, बेलाग और ठोस बातें करता हुआ, जीवन को हर रंग में भरपूर जीता हुआ। रेणु ने अपने पत्रों में यद्यपि अतिशय संवादों का प्रयोग बहुत ही कम किया है, इनके संवाद बहुत ही कम, भावपूर्ण और संक्षिप्त हैं। इनके पत्रों की बहुत बड़ी खासियत यह है कि पढ़ने पर ये बहुत ही आत्मीय लगते हैं, ऐसा लगता है, मानो रेणु बातें कर रहे हों।

रेणु के ज्यादातर पत्र एक जगह संकलित नहीं हैं। अज्ञेयजी के पास उनके बहुत सारे पत्र थे। धर्मवीर भारती, कमलेश्वर, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर के नाम लिखी चिट्ठियाँ भी अब तक उपलब्ध नहीं हो पाई हैं। 'रेणु-रचनावली' में उनके अधिकांश पत्र संकलित हैं। भारत यायावरजी ने 'चिठिया हो तो हर कोई बाँचे' पुस्तक में रेणु के बहुत सारे पत्रों का संकलन किया है जिससे रेणु के व्यक्तित्व को समझने में एक संक्षिप्त जानकारी अवश्य मिल जाती है।

संपर्क : हिंदी विभाग, सावित्री गर्ल्स कॉलेज, कोलकाता, मो. : 9831121259

सामाजिक और राजनीतिक परिदृश्य

चैनसिंह मीणा

फणीश्वरनाथ रेणु ने सन 1945 से लेकर 1975 तक अनेकानेक रिपोर्टाज लिखे। हिंदी में रिपोर्टाज विधा को समृद्ध करने वाले लेखकों में रेणु अग्रणी थे। रिपोर्टाज के साथ-साथ रेणु की रपटें और टिप्पणियाँ भी अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। रेणु द्वारा लिखी गई रपटों में भी पर्याप्त रचनात्मकता का समावेश हो गया है। अज्ञेय के संपादन में 'दिनमान' के अंतर्गत 'चरचे और चरखे' स्तंभ से यह रपटें और टिप्पणियाँ प्रकाशित हुईं। बिहार की राजधानी पटना इन रपटों और टिप्पणियों के केंद्र में है। सन 1965 से 1967 के बीच लिखी गई कुल 32 रपटें/टिप्पणियाँ हैं। एक रपट 'विद्या ददाति' शीर्षक से सारिका पत्रिका (रेणु स्मृति अंक, अप्रैल, 1979) में छपी थी। 'उल्लेखनीय है कि रेणु की रपटों का दायरा सीमित नहीं है। इन्हें तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक-धार्मिक जीवन का जीवंत दस्तावेज कहना उचित होगा। रचनाकार रेणु ने अपने समय और समाज के सरोकारों को बरीकी से समझा। परिवेश की इतनी सूक्ष्म समझ ही उनकी रपटों को विशिष्ट बनाती है। डॉ. सुनीता गुप्ता के अनुसार 'आजादी की भोर बेला में जब हमारा देश किसी नैनिहाल की तरह लड़खड़ा कर चलने की कोशिश कर रहा था, तो उसके चौबीस प्रांतों में से एक प्रांत-बिहार के किसी कोने में बैठा एक साहित्यकार अपनी स्वप्न निमीलित आँखों और सजग दृष्टि से उन घटनाओं के भीतर चलने वाली धाराओं और अंतर्धाराओं का अवलोकन कर रहा था.....इस प्रयास में साधारण जनता की आशाएँ-आकांक्षाएँ भी छुपी हुई थीं। इसलिए इन रपटों में रेणु को हम कभी शक्ति पाते हैं, कभी निराशा और कभी आशा एवं उल्लास से भरे हुए।.....रेणु की यह रपटें साहित्य की निधि हैं या नहीं, यह शंका का विषय हो सकता है, पर ये रपटें रेणुकी समाज की मूल धारा से जुड़े रहने का प्रमाण हैं- इसमें कोई शक नहीं।' 1947 में देश को मिली आजादी के बाद सामाजिक और मानवीय मूल्यों के विघटन में तेजी आयी। राजनीतिक विकृति, विविध आंदोलनों, अशिक्षा, भूख, गरीबी, अकाल, हिंसा, भ्रष्टाचार आदि ने बिहार और देश की स्थिति को व्यापक स्तर पर प्रभावित किया। अखिल बिहार में भय का वातावरण निर्मित हुआ जिसके अंतर्गत मानवता निरंतर शर्मसार हुई, मनुष्य भयाक्रांत रहा। कृषि, शिक्षा, रोजगार, व्यवसाय आदि क्षेत्र तत्कालीन प्रतिकूल परिस्थितियों का शिकार हुए। इन प्रभावों, क्रिया-प्रतिक्रियाओं को रेणु ने सूक्ष्मता से रपटों में रेखांकित किया है।

'दिनमान' के अंतर्गत रेणु की पहली रपट 'सह-अस्तित्व' (28 फरवरी, 1965) और अंतिम रपट 'जनूनी तूफान : बाखबर और बेखबर जन' (24 सितंबर, 1967) शीर्षक से छपी थी। 1965 का दौर न केवल बिहार की राजनीति बल्कि भारतीय राजनीति की दृष्टि से भी उथल-पुथल का दौर रहा। नेहरू युग का अंत तथा शास्त्री

जी के असामयिक निधन से भारतीय राजनीति में अस्थिरता व्याप्त हो गई। 'सह-अस्तित्व' रपट में रेणु ने विधानसभा के परिवेश को रेखांकित किया है। दरअसल रेणु को भली-भाँति बोध था कि राजनीति के माध्यम से जीवन के सभी पक्षों को व्यापक स्तर पर नियंत्रित किया जा सकता है। जब सभी क्षेत्रों पर राजनीति हावी होगी तो वही वर्चस्वशाली भी होगी। इस स्थिति को रेणु ने सम्मुख रखा है- 'राजनीति प्रदेश में सबसे ज्यादा फायदे का उद्योग बन गई है।' समय बदलने के साथ राजनीतिक सरोकार जितने दूषित होते चले गए मनुष्य का सामाजिक जीवन भी उतना ही जटिल होता गया। रेणु लिखते हैं 'बिहार की राजनीति क्षेत्रीय राजनीति है। उसकी हलचल का प्रभाव केंद्र पर भले न हो पर उत्तेजनापूर्ण होने के कारण प्रादेशिक ढंग से वह बहुत महत्वपूर्ण है।' भाषाई दृष्टिकोण से देखें तो यह घोषणा की गई थी कि अंग्रेजी 15 वर्षों तक अर्थात् 1965 तक सह राजभाषा होगी। लेकिन यह स्थिति आगे भी बनी रही। तमाम सहमति-असहमतियों के बीच रेणु ने हिंदी, उर्दू, अंग्रेजी आदि भाषाओं के सह-अस्तित्व को रेखांकित किया है- 'श्रीमती इंदिरा गांधी के सम्मान में मुख्यमंत्री ने चायपान का आयोजन किया। निमंत्रण-पत्र जनसंघी विजाएकों को भी भेजे गए लेकिन उन्होंने उसे इसलिए लौटा दिया कि वह हिंदी-अंग्रेजी में अगल-बगल में छपा था। हिंदी प्रदेश में हिंदी और अंग्रेजी के, और प्रदेश तथा संस्था की भीतरी और बाहरी राजनीति में संतोष और असंतोष के सह-अस्तित्व का इससे अच्छा नमूना और क्या मिल सकता है?'

'बीमारपुरी : डॉक्टरनगर' रपट में स्वास्थ्य सेवा के क्षेत्र में मौजूद तमाम विसंगतियों को सामने रखा गया है- 'पिछले कई वर्षों से सरकारी अस्पतालों के डॉक्टर और 'बीमार जनता' के आपसी संबंध को स्पष्ट करने के अवसर बार-बार आए और आ रहे हैं किंतु ऐसा लगता है कि इस बार भी यह अस्पष्ट रह जाएगा। 'रेणु इस क्षेत्र में मौजूद यथास्थिति को

निरंतर उजागर करते रहे। विधानसभा के अध्यक्ष लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' का यह कथन 'ऐसा लगता है, सिर्फ एक्स-रे मशीन ही नहीं, सरकारी कल-पुर्जे भी मूलभूत रूप से बिगड़े हुए हैं। पूरी की पूरी व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न लगाता है। रेणु संकेत करते हैं कि 'प्राइवेट क्लीनिक' का चलन पहले से बदहाल स्वास्थ्य सेवाओं को और भयावह बना रहा है- 'राजेंद्रनगर को डॉक्टरों का नगर कहना ही ठीक होगा। डॉक्टरों की विशाल अड्डालिकाएँ और मधुमक्खी के छत्ते की तरह उनके 'प्राइवेट क्लीनिक' देखकर कोई भी समझ सकता है कि आखिर डॉक्टर कोई ब्लॉक और देहात में मरने क्यों जाएगा जबकि पटना की किसी गली में बैठकर सिर्फ मलमूत्र की परीक्षा करके ही तीन वर्ष में तिमंजिला मकान बनवाया जा सकता है?'

रेणु उन व्यक्तित्वों में से हैं जिन्होंने वैचारिक स्तर पर राष्ट्र और राष्ट्र की सुरक्षा के मुद्दे पर कोई समझौता नहीं किया। राष्ट्र के अंतर्गत मौजूद राष्ट्रविरोधी गतिविधियों पर उनकी पैनी नजर रही- 'हर देश में सरहदी इलाकों की तरह सीमा के दोनों ओर बसी जनता का एक विशेष चरित्र होता है। गत महायुद्ध के बाद अन्न और वस्त्र संकट के समय इन इलाकों में अवैध व्यापार की हजारों लीलाएँ हो चुकी हैं।' रेणु ने ऐसे अनेकानेक लोगों को देखा जो दोहरे चरित्र से युक्त रहे। राष्ट्रीय सुरक्षा के मुद्दे पर बढ़-चढ़कर बोलने वाले तथाकथित राष्ट्रवादियों को उन्होंने आड़े हाथों लिया और उन्हें मोर्चे पर जाने की चुनौती दी। 'हरी तराइयों में पीले चेहरे' रपट इस संदर्भ में महत्वपूर्ण है- 'गत चीनी आक्रमण के समय बिहार की कई सांस्कृतिक संस्थाओं और बड़े कलाकारों ने मोर्चे पर जाने की उत्सुकता दिखलायी थी। उन्हें 'दसगज़ा' के आसपास बसे इन गाँवों में- जहाँ पचास प्रतिशत ऐसे लोग बसते हैं जो राष्ट्रीयता का अर्थ नहीं समझते अथवा 'देश' से बढ़कर रुपये को प्यार करते हैं- जाना चाहिए।' इस संदर्भ में रेणु को चम्पारण, पूर्णिया, दरभंगा आदि क्षेत्रों में कम-से-कम तीन

हजार ऐसे व्यक्तियों की उपस्थिति का बोध था जिन्हें देश तक को बेचने पर कोई एतराज नहीं। ऐसे में रेणु जनता के माध्यम से देश की आंतरिक सुरक्षा की बात करते हैं। क्योंकि आंतरिक सुरक्षा और नागरिक चेतना के अभाव में सरकारी नीतियाँ भी कितना लागू हो पाएगी कुछ कहा नहीं जा सकता- 'तस्कर-व्यापार को रोकने के लिए और तिब्बती-चीनी-पाकिस्तानी लोगों के अनधिकार-प्रवेश को रोकने के लिए बिहार सरकार का यह महत्वपूर्ण फैसला महज कागजी मसविदा साबित हो सकता है, यदि संबंधित इलाकों में 'जनता जनार्दन' का सहयोग नहीं मिला।' भारत जैसे देश के लिए सीमावर्ती परिवेश सदैव एक चुनौती रहा है और रेणु इस यथार्थ को अपनी रपटों में सम्मुख रखते हैं। उन्हें बराबर लगता था कि सरकार के साथ-साथ नागरिक भी दो राष्ट्रों में सौहार्द के पल का निर्माण करते हैं- 'भारत-नेपाल मैत्री को बनाने और बिगाड़ने की जिम्मेदारी, बिहार-नेपाल की 300 मील व्यापी सीमा पर बसनेवाली भारतीय-नेपाली जनता के सिर भी है, यह बात कौन, किसे, कैसे समझाये?' निःसंदेह रेणु को परिवेश और सरोकारों की गहरी समझ थी। यही कारण है कि उन्होंने किसी राष्ट्र की उन्नति का सबसे बड़ा स्रोत वहाँ के नागरिकों के उत्तम चरित्र को माना।

रेणु ने अपनी रपटों में देश विरोधी नीतियों पर बिना किसी लाग-लपेट के कड़ी टिप्पणियाँ की। विदेशी वस्तुओं के उपभोग करने वाले में वह नैतिक साहस कहाँ कि वह उसका बहिष्कार करे। इस संदर्भ में मौजूद विरोधाभास को रेणु ने 'चिनियाँ देश के समनवाँ' रपट में व्यक्त किया है- 'किसी राजनीतिक दल की ओर से अब तक कहीं कोई ऐसी आम या खास सभा का आयोजन नहीं हुआ जिसमें 'चीनी सामान छूना पाप है, गद्दारी है, देशद्रोह है, गोहत्या तुल्य है, हराम है'- यह नारा सबल-कंठ और बिलगित हृदय कोई वक्ता देता और भावावेश में कोई विद्यार्थी या नागरिक अथवा कोई भी अपनी जेब से 'चीनी कलम' निकालकर तोड़ते हुए प्रायश्चित के आँसू

बहाता, अथवा कोई चीनी कपड़े की कमीज फाड़कर 'भारत माता की जै' कहते हुए आग लगा देता। वरना, हर 'जलती समस्या' पर लोकगीत रच-छपाकर, गा-गाकर बेचनेवाले लोक-कवियों को अब तक प्रेरणा मिल चुकी होती और गली-गली, खेत-खलिहान, मैदानों में बच्चे-बच्चे गाते 'भइया छुड़हो मति चिनियाँ देश के समनवाँ, बड़ दुसमनवाँ बा ...!' रेणु की चिंता सही थी, परवर्ती समय में चीनी वस्तुओं के उपभोक्ता बढ़ते गए। भारतीय नागरिक अपने पड़ोसी राष्ट्र को निरंतर आर्थिक सबलता प्रदान करते रहे।

बिहार प्रांत बाढ़ की समस्या से निरंतर त्रस्त रहा। यहाँ प्रत्येक वर्ष बाढ़ व्यापक स्तर पर मानव-मानवेतर प्राणियों को लील जाती थी। कोसी नदी से होने वाली तबाही और उसमें कुछ सुधार होने पर रेणु उल्लेख करते हैं- 'छिन्नमस्ता डायन कोसी को साध लिया गया है, हालाँकि उसकी छटपटाहट बतलाती है कि साधकों के सामने वह कभी भी नई समस्या उपस्थित कर दे सकती है। हर साल लाखों एकड़ धरती को डुबाकर तबाह करनेवाली, उर्वर भूमि को बालू से पाटकर बंजर बना देनेवाली, हर साल राह काटनेवाली, लाखों प्राणियों को लीलनेवाली वेगवाती कोसी की विनाश-लीला की कहानियाँ अब पौराणिक कहानियाँ हो जाएंगी और कोसी को 'नाथने-साधने' के बाद ऐसी ही नई कहानियाँ लिखी-कही जा रही हैं।' बिहार में प्राकृतिक आपदाओं का प्रकोप इसलिए भी अधिक है कि विभिन्न निर्माण कार्य महज खानापूर्ति होते हैं, सरकारी राशि का गबन होता है। समूचा तंत्र इस गबन में लिप्त होता है- 'इस क्षेत्र का बच्चा-बच्चा जानता है कि नहरवाले ठेकेदारों से सस्ती दर पर ईंट-सीमेंट, लोहे के छड़ खुलेआम खरीदे जा सकते हैं। न खरीदनेवाला इस कर्म को अवैध मानता है और न ही बेचनेवाला और ये ठेकेदार कौन होते हैं? काँग्रेस के कर्मठ कार्यकर्ताओं या उनके भाई-भतीजों को छोड़कर और कोई नहीं! अवैध व्यापार के बाद भी इनमें से अधिकांश ठेकेदारों के नाम सर्टिफिकेट जारी होते हैं, रुपए हजम करने के

आरोप में ये पकड़े जाते हैं पर अंततः इनके ऊपरवाले नेता किसी प्रकार दोषमुक्त करवाकर इन्हें फिर से काम दिलवा देते हैं। नीचे से ऊपर तक-मण्डल कमेटी से प्रांतीय कमेटी तक-गुटपरस्ती में लिप्त। इस स्वार्थी प्रवृत्ति ने बिहार को अत्यंत क्षति पहुँचाई।

रेणु भारत के भविष्य को देख रहे थे और उसे अपनी रपटों में व्यक्त कर रहे थे। रेणु स्पष्ट तौर पर देख रहे थे की राजनीतिक विसंगतियाँ राष्ट्र को भेदभाव से युक्त करती रहेंगी। आज भी इस स्थिति को बखूबी देखा जा सकता है- 'इतने दिनों के अनुभव से, यह बात सभी जान चुके हैं कि इस देश में 'राज' किसी भी दल का हो, प्रधानमंत्री और मुख्यमंत्रियों के निवास-स्थान के सामने अपनी माँग की तख्ती लटकाकर, बिस्तर बिछाकर आमरण-अनशन करनेवालों की कभी कमी नहीं होगी।' जब तक कोई बड़ा आंदोलन या हिंसक घटनाएँ न हों तब तक सत्ता का ध्यान समस्याओं की ओर नहीं जाता। तत्कालीन समय में आदिवासी समुदाय से जुड़ी समस्याओं के प्रति सत्ता का यही रवैया था- 'मोनिका और ध्रुवनारायण की स्थिति नाजुक हो जाने पर भी (अस्पताल में स्थानान्तरित होने के बाद भी) स्थानीय तथा प्रदेश के पत्रों में इस समाचार की कोई प्रतिक्रिया नहीं दिखलाई पड़ी।' (रेणु रचनावली-4, पृ. 315) 'चुनावी-लीला बिहारी तर्ज' रिपोर्ट के अंतर्गत रेणु पिछले तीन-चार दशकों में राजनीति और देशभक्ति को लेकर आए बदलावों को रेखांकित करते हैं। चारों ओर अकाल की मार थी तो राजनीतिक दलों की चुनावी जय-जयकार- '1930-31 में विलायती कपड़े की गाँठों में और 'यूनियन जैक' में आग लगाकर लोग 'देशभक्ति' का परिचय देते थे। 1967 में खादी, तिरंगा झंडा और गांधी - टोपी में आग लगाकर।' (रेणुरचनावली-4, पृ. 353)

1966 में बिहार में भीषण अकाल पड़ा था। पूर्व में हुई अच्छी फसल के बावजूद मुनाफाखोरों ने अकाल की समस्या को और बढ़ा दिया। 'भूखभूखभूखभूः' शीर्षक से लिखी रपट में इस स्थिति का सूक्ष्म

मूल्यांकन किया गया है- 'उपज अच्छी होने के बावजूद इस बार अप्रैल-मई में ही सारे बिहार से 'अन्नपूर्णा' अंतर्ध्यान हो गई। कहीं एक चुटकी न चावल है न गेहूँ। लू की लपट में सारे प्रदेश की हरियाली झुलस रही है। भूख की ज्वाला में लाखों लोग जल रहे हैं। जिन लोगों को धान-चावल का भंडार कहा जाता था- वहाँ के गाँवों में कई सप्ताह से चूल्हे नहीं सुलग रहे हैं। कच्चे आम, कटहल, जंगली कन्द और करमी का साग भी अब मयस्सर नहीं। भूखों की बिलबिलाती टोलियाँ कस्बों और शहरों की ओर बढ़ रही हैं।' अकाल से जो दुर्दशा हुई उसके परिणामस्वरूप पलायन और विस्थापन की स्थिति उत्पन्न हुई। लेकिन बिड़बना है कि इस अवसर पर भी सत्ता में बैठे बाहुबली अमानवीय गतिविधियों में संलग्न रहे- 'बातों से पेट भरने की कला में प्रवीण लोगों को इस बार ज्ञात हो जाएगा कि भूखे लोगों को सत्संग और भजन नहीं- सचमुच अन्न चाहिए। और, भूख से दम तोड़ते हुए लोगों को सत्संग यह पता है कि हाल ही में हजारीबाग में 'खा-पीकर अघाये' हुए लोगों ने 'विशाल अन्नध्वंस यज्ञ' संपन्न किया है।' रेणु के जीवन का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह रहा कि वे प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उम्मीद का दामन नहीं छोड़ते। एक सर्वसमावेशी और सौहार्द का वातावरण उनकी आकांक्षा रही- 'बिहार की जनता को अब भी भरोसा है कि कृष्णबल्लभ सहाय भूखों को अन्न ही देंगे- लाठी-गोली नहीं।' (रेणु रचनावली-4, पृ. 324)

देश की आजादी और विभाजन की त्रासदी के दुष्परिणाम परवर्ती समय में भी घटित होते रहे। इस विभाजन ने अखिल भारतीय स्तर पर हिंदू-मुस्लिम समाज को एक-दूसरे के प्रति सशंकित बना दिया। दोनों पक्षों के अंतर्गत कुंठित विचारों से युक्त कुछ लोगों ने व्यापक स्तर पर मानवीयता का ह्रास किया। भारत और पाकिस्तान के संदर्भ में रेणु ने बेवाकी से अपने विचार व्यक्त किए। इस दृष्टि से 'बन्ध और निर्बन्ध' रपट महत्वपूर्ण हैं। रेणु लिखते हैं कि 'शांतिपूर्ण आंदोलन को क्रांतिकारी-विद्रोही दृश्य में बदलने के

लिए जो तरीके अपनाये गए उनसे विरोध-प्रदर्शन की जगह पर किसी भयानक सुनियोजित षड्यंत्र की ही पुष्टि होती है। जाँच से भी ऐसे ही तथ्य सामने आए हैं इसके पीछे पाकपरस्तों और वामपंथियों का ही हाथ रहा है।...लेकिन उस तरह की जाँच से अधिक आवश्यक है, ऐसे तत्वों की जाँच जो पीकिंग या पाकिस्तान के प्रभाव में राष्ट्र के भाग्य से खुलेआम जुआ खेल रहे हैं।' 'एक पाकशाला में एक पाक-नापाक बूचड़' रपट के अंतर्गत खिजर हयात कादरी के देशद्रोही मंसूबों को स्पष्ट किया है। कादरी द्वारा एन.सी.सी.(राष्ट्रीय सैन्य शिक्षा), नैवेल विंग (नौसेना-अंग) के 600 सैन्य विद्यार्थियों (हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई) के खाने में जहर मिला देना किस मानसिकता की उपज है? इसी देश में पला-बढ़ा आखिर क्यों अपने ही देश के वयस्क नागरिकों के जीवन से खिलवाड़ करता है? यह आज भी एक विकराल समस्या है। रेणु इस देशद्रोही मानसिकता की गहन पड़ताल करते हैं।

'ग्रामदान का तूफान' रपट में रेणु ने गांधी और विनोबा भावे के विचारों के महत्व को रेखांकित किया है। उस स्थिति को भी सामने रखा गया है कि क्यों इन महान विचारकों के जीवन दर्शन का विरोध किया जाता है- 'प्रेमचंद का 'होरी' बिहार के अनेक गाँवों में आज भी कर्ज से लड़ा है। ग्रामदान हो जाने पर महाजनों को मनमाना सूद वसूलने में दिक्कत होगी। इसलिए वे इस आंदोलन को विफल करने के लिए कई तरह के हथकंडे अपना रहे हैं। इनमें से एक हथकंडा यह भी है कि 'ग्राम कोष' की कल्पना को निरर्थक बताया जाए और ग्रामोद्योग को पनपने न दिया जाए।' 'भनहि विनोबा, सुनहु सुजान' रपट में रेणु ने ग्रामीण जीवन पर राजनीति के प्रभाव को रेखांकित किया है। उन्हें ग्रामीण संदर्भ में संत विनोबा के विचार प्रभावित करते हैं- 'राजनैतिक दलों ने गाँवों को सुधारने के बदले शांत ग्रामीण वातावरण को कलुषित किया है। हर आदमी को दलबंदी के दलदल में फँसाकर, 'जातिवाद' की संकीर्ण भावनाओं

को भड़काकर चुनाव जीते जाते हैं। हर दल का नेता अपने-मुँह अपनी तारीफ करता है और दूसरे दलों के नेताओं पर कीचड़ उछालता है। और, झूठे वायदे करता है....'इन पंचायतों ने गाँवों को तोड़ा है, बेरहमी से। हाँ, ईर्ष्या-झाह-वैर-विरोध आदि का राष्ट्रीयकरण और शोषण का विकेंद्रीकरण करने में ये अवश्य सफल हुई हैं।' आज ग्रामीण परिवेश विकृतियों का शिकार है। गाँवों का इस स्थिति में पहुँच जाना भारत की आधार भूमि का कमजोर होना है। रेणु इस स्थिति को लेकर अत्यंत चिंतित थे।

पुलिस और प्रशासन की ज्यादाती अखिल भारतीय परिदृश्य में देखी जा सकती है। रेणु के दौर में भी स्वयं कानून के रखवाले भक्षक बने हुए थे। 'तब लगि घास सुखाइए' रपट में इस यथार्थ को प्रस्तुत किया गया है- 'जिला सहरसा के सौर बाजार थाना में पामा गाँव की एक महिला पर रात के वक्त थाना के सहायक दरोगा ने बलात्कार करने की चेष्टा की। गाँव के लोगों ने दरोगा साहब को रंगे हाथों पकड़ा और संभवतः 'मरम्मत' भी की। दूसरे दिन सशस्त्र पुलिस के सिपाहियों को लेकर एक मजिस्ट्रेट साहब आए और सारे गाँव को घेरकर कई घंटों तक बुरी तरह लूट-पीट मचायी गई। औरतों के साथ दुर्व्यवहार भी किया।' इस प्रकार निरीह मानवता को अपने वर्चस्व का शिकार बनाने में लगा प्रशासन हिंसात्मक गतिविधियों को रोकने में नाकामयाब ही रहता है। प्रशासन की इस नाकामयाबी को 'जनवरी की डायरी' रपट में देख सकते हैं- हिंसा के बाद का दृश्य और वातावरण 'कई दिनों तक पटना-निवासी आकाश में रेलवे इंजन या स्टीमर का धुआँ देखकर अथवा साइकिल-रिक्शा की ट्यूब फटने की आवाज सुनकर भी घबराते रहे। कांग्रेसी और गैर-कांग्रेसी खड़ी पहननेवाले घर से निकालने से पहले दस बार सोचते।...बिहार के कोने-कोने से प्रस्ताव पास करके गोलीकांड की जाँच की माँगों की जा रही थीं और मुख्यमंत्री गोली चलानेवाले पुलिस के सिपाहियों और अफसरों की तारीफ करने और 'धन्यवाद' देने के

बाद, बस एक ही बात को बार-बार दुहराते- 'कैसी ज्यूडिशियल इन्क्वायरी? कोई जाँच नहीं होगी।' मुख्यमंत्री की कठोर और कर्कश वाणियों को सिंकर हर समय यही डर लगा रहता था कि फिर गोली न चल जाए कहीं।'

भारतीय परिदृश्य में लेखकों की स्थिति पर भी रेणु ने अपनी रपटें और टिप्पणियाँ लिखी हैं। तटस्थ और यथार्थ को उकेरने वाले लेखक, पत्रकार सदैव सत्ता तंत्र के निशाने पर रहे हैं। रेणु लिखते हैं- 'उत्तरी बिहार के किसी जिले के किसी गाँव के किसी कथाकार को नए गाँव की नई कहानी लिखते समय, कलम में रोशनाई भरने से पहले रिवाज में गोलियाँ भरकर सामने रखते देखकर, 'भूदान-आंदोलन' पर खोज करनेवाले समाज-विज्ञान के एक विदेशी-विद्यार्थी ने कौतूहल से पूछा था, 'ऐसा क्यों?' 'क्योंकि मैं तटस्थ हूँ। इसलिए तीन बार मेरी जान लेने की कोशिशें की गईं?' मेरे एक 'भाई' की हत्या कर दी गई है। एक सहायक के घर में भीषण डकैती हो गई है, हाल ही में। लेकिन मैं आत्म-समर्पण नहीं करूँगा।' कवि मलय रायचौधुरी की गिरफ्तारी पर भी रेणु ने 'भूखी पीढ़ी का दंडित कार्य' रपट लिखी है।

रेणु ने पूर्ण भावबोध के साथ प्रत्येक विषय या समस्या पर रपटें/टिप्पणियाँ लिखी हैं। रेणु द्वारा लिखी गई रपटों/टिप्पणियों की भाषा और शैली सजीव है। शब्दावली और वाक्य विन्यास युगानुकूल बोध से युक्त है। शब्दावली का प्रयोग विविधता से युक्त है मसलन-नेशनलिस्ट, प्रेस नोट, ट्रेजरी, 'शो काज़', असेसमेंट, रेडियम, सर्जिकल, माइंस, कैजुअल, प्रोजेक्ट, मसविदा, मुमानियत, ताईद, तमीज़, जमाँमर्द, समनवाँ, दुसमनवाँ, जमुनवाँ, नयनवाँ, छिन्नमस्ता, बदअमली, साफगोई, फिरकापरस्ती, इज्जत-अफजाई, मरहूम, खिदमतगार, कोकनद, पैडी-लेवी, मुल्लतवी, उज्जरदार, मुख़ालिफ़त, फख़्र, तरक्की, तबलचियों, फीचना, रहतिएहल आदि। सार्थक और लोक प्रचलित मुहावरे-कहावतों या लोक प्रचलित कथनों के प्रयोग ने इन रपटों को एक नया प्राण दिया है- 'नाचे-कूदे

तोड़े तान, वाको दुनिया राखे मान', 'खा-पीकर अघाये', 'सुख की नींद', 'मँगनी के बैलों के दाँत नहीं देखे जाते', 'कहा-सुना, भूल-चूक, लेनी देनी', 'नौ मन तेल...', 'हाथापाई करना', 'राहत की साँस लेना', 'नाक के बाल', 'खुदा खैर करे', 'चलनी कहे सुई से कि तेरी पेंदी में छेद', 'राजनीति तेरो गति लिखि ना परे' आदि। भाषिक विविधता से रेणु की रपटों में कलात्मकता और पठनीयता का समावेश हो गया है।

रेणु ने जिस अमानवीय दौर में अपनी रपटें लिखी थी पुनः उस दौर से कोई भी प्रदेश गुजरना नहीं चाहेगा। वह दौर सामाजिक जीवन की जटिलता, राजनीतिक वर्चस्व, शिक्षा और स्वास्थ्य के विरुद्ध वातावरण, गरीबी, बेरोजगारी, भुखमरी, हिंसा, अवसरवाद, भ्रष्टाचार आदि से त्रस्त था। विशेषतः राजनीतिक अस्थिरता और उसकी उपज अमानवीयता का नग्न यथार्थ इन रपटों में विशेष महत्व का है। उल्लेखनीय है कि आज मीडिया अपनी मूल भूमिका को विस्मृत कर चुका है। समूचा मीडिया जन सरोकारों से दूर सत्ता की चाशनी में डूबा हुआ है। मर्सिडीज, लंबर गिनी जैसी लग्जरी कारों वाले पत्रकारों के लिए जन सरोकारों से जुड़े मुद्दे आखिर किस काम के? ऐसे पत्रकार सत्ताओं की कुटिल मानसिकता को राष्ट्रहित में बताकर प्रस्तुत कर रहे हैं। आज मीडिया का काम है सिर्फ बोलना, सुनना नहीं। यह एकल संवाद या संवादहीनता की स्थिति आने वाले दिनों में राष्ट्र को किस ओर ले जाएगी स्पष्ट रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। स्त्री, किसान, दलित, आदिवासी, मजदूर, अल्पसंख्यक आदि से जुड़ी सामाजिक-आर्थिक समस्याएँ आज की मीडिया के एजेंडे में नहीं हैं। रेणु ने अपनी रपटों/टिप्पणियों में जिन समस्याओं पर लिखा था वे अब और अधिक विकराल हो गई हैं। यदि आज के समय में रेणु होते तो राजनीतिक विसंगतियों के साथ-साथ बिकाऊ मीडिया और उसकी कुटिल नीतियों पर निडरता से लिखते। रेणु ने अपनी दूरदर्शिता का परिचय देते हुए तत्कालीन समस्याओं के साथ-साथ आज के समय

कथेतर : धरती का धनी

में मौजूद समस्याओं को भी भाँप लिया था। आज तमाम सुविधाओं और सुरक्षा मिलने के बावजूद कितने ही पत्रकार, बुद्धिजीवी सत्ता से भय खाते हैं। पत्रकारिता से जुड़े गोविंद पानसरे, नरेंद्र दाभोलकर, एम एम कलबुर्गी, गौरी लंकेश, शुजात बुखारी आदि

की सुनियोजित हत्याएँ क्यों? कारण स्पष्ट है सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक क्षेत्र में मौजूद विसंगतियों का पर्दाफाश करना। ऐसे दौर में रेणु द्वारा तटस्थ और निडर होकर लिखी गई रपटें/टिप्पणियाँ और प्रासंगिक हो जाती हैं।

संपर्क : फ्लैट नं. 217, भारत अपार्टमेंट, सेक्टर-16बी, पी.के.टी.-3सी, द्वारका, नई, दिल्ली-110078, मो. : 8010081419

मेरे हमदम मेरे दोस्त

शिव कुमार यादव

फणीश्वरनाथ रेणु ऐसे रचनाकार हैं जिन्होंने न केवल उपन्यास और कहानियाँ लिखी बल्कि कई संस्मरणात्मक पुस्तकें और रिपोर्टाज भी लिखे हैं। वन तुलसी की गंध उसमें से एक संस्मरणात्मक रेखाचित्र है। यह रेखाचित्र रेणु के व्यक्तित्व का आईना है। इसके बगैर उनके संपूर्ण व्यक्तित्व को ठीक से समझना कठिन है। इसमें रेणु ने ऐसे रचनाकारों पर भी कलम चलाई है जो अपने युग का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसमें 'पाठकराम को शब्द चाहिए' शीर्षक के अंतर्गत यशपाल, अज्ञेय, अशक, जैनैद्र, उग्र, काम और त्रिलोचन पर ऐसे स्केच हैं जो इनकी तस्वीर को स्पष्ट कर देते हैं। इन स्केचों में केवल व्यक्तित्व का रेखांकन नहीं है अपितु देश दशा का भी रेखांकन स्पष्ट हो जाता है। आजादी का संघर्ष कितना बलिदानी था इसका अंदाजा यशपाल पर लिखे स्केच से लगाया जा सकता है जहाँ वे लिखते हैं-

'भगत सिंह आदि की फाँसी के बाद, हमारे इलाके में बहुत-से गीत मशहूर हुए। एक गीत की कड़ी याद नहीं, भावार्थ यह था कि वह भारत माता! तू कितना बलिदान चाहती है, भगत सिंह, सुखदेव, राजगुरु आदि की मुंडमाला पहनकर भी तुम्हारा कलेजा ठंडा नहीं हुआ? ले, कितना बलिदान बलिदान तू चाहती है! अभी भी यशपाल-आदि बाकी हैं।

रेणु के रेखाचित्रों की प्रमुख विशेषता है-जीवंतता। यह जीवंतता ही पाठक को बाँधे रखती है। जीवन को उर्वर बनाने वाले प्रसंगों को जितनी सहजता के साथ पिरोया गया है वह अद्वितीय है। कहीं भी किसी लेखक के चरित्र हनन का लेश मात्र भी प्रयास नहीं दिखाई देता है। अकारण नहीं अशक के चरित्र का रेखांकन करते हुए वे कहते हैं - 'अशक के बारे में हर तीसरे महीने कोई न कोई गुल खिलता है। हर बार, ठहाका मारकर हँसते हुए, किसी मित्र की पीठ पर थाप देते हुए अशक जी कहेंगे- भाई, मुझे तो जो कुछ कहना- करना था, वह कह दिया, कर दिया। अब बैठकर आनंद ले रहा हूँ। लोग परेशान हैं! मुझे तो मज़ा आता है।'

'वन तुलसी की गंध' तत्कालीन राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक आंदोलनों का महत्वपूर्ण दस्तावेज है। उस समय किन-किन पत्रिकाओं में क्या-क्या छप रहा था। भारत की राजनीतिक गतिविधियाँ क्या थीं। सांस्कृतिक स्तर पर भारत की क्या स्थिति थी। इसे इस रेखाचित्र से समझा जा सकता है। शब्दों की मितव्ययिता इसे बड़बोलेपन से मुक्त करती है। इसमें रेणु तीन रूपों में हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं। कहीं पाठकराम नाम से तो कहीं रामपाठक नाम से तो कहीं दासानुदास नाम से।

त्रिलोचन पर लिखते हुए रेणु ने कविता और त्रिलोचन से अपने संबंध को उद्घाटित करते हुए जो ऐतिहासिक प्रश्न किए हैं वह बहुत गंभीर उत्तर की माँग करता है। वे कहते हैं- 'वह कौन सी चीज है जिसे त्रिलोचन में जोड़ देने पर वह

शमशेर हो जाता है और घटा देने पर नागार्जुन? ऐसा प्रश्न वही व्यक्ति कर सकता है जिसने त्रिलोचन शमशेर और नागार्जुन को बहुत करीब से देखा और परखा हो। देखा ही नहीं बल्कि उनके साथ जिया भी हो। कहना न होगा कि ऐसा गंभीर प्रश्न रेणु जैसा गंभीर साहित्यकार ही कर सकता है।

‘बात उन दिनों की है’ शीर्षक खंड के अंतर्गत बालकृष्ण ‘संम’, सुहैल अजीमाबादी, रवींद्रनाथ ठाकुर, हंग्री जनरेशन के कवियों एवं सतीनाथ भादुड़ी पर लिखे रेखाचित्र सम्मिलित है जो बेहद महत्वपूर्ण है। क्योंकि ये लोग क्रमशः नेपाली उर्दू एवं बंगला के लेखक हैं। इसमें रेणु जी बालकृष्ण सम के बहुआयामी व्यक्तित्व एवं कृतित्व की एक भव्य आकृति खड़ा करते हुए उन्हें एक महान कलाकार के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं।

मानव रविंद्र नाथ पर जो स्केच रेणु ने खींचा है वह बहुत मानवतावादी और जनतांत्रिक है। रविंद्र नाथ की वैचारिकी की निर्मिती किस प्रकार से हुई है इसका रेखांकन बहुत करीने से किया गया है। रविंद्र नाथ से आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी किस प्रकार जुड़े हुए थे इसका भी सुंदर वर्णन किया गया है इतना ही नहीं रविंद्र नाथ के कई पत्रों को भी इसमें संगृहीत किया गया है जिससे उनकी मनुष्यता का आकलन किया जा सके।

‘मन के पर्दे पर’ शीर्षक खंड के अंतर्गत ‘स्टील लाइफ’, ‘ईश्वर रे मेरे बेचारे’, ‘कुसुम लाल’, और ‘जाहिद अली’ नाम से जो स्केच खींचे गए हैं, वे निहायत व्यक्तिगत और रचनात्मक है। इसमें रेणु के पारिवारिक जीवन की जड़ताओं, अंधविश्वासों और कुसंस्कारों का जितना सुंदर चित्रण लेखक ने किया है वह अद्वितीय और काबिले तारीफ है। अमूमन अपनी जिन समस्याओं और कमियों को ज्यादातर

लेखक दरकिनार कर देते हैं उसे रेणु ने बहुत ईमानदारी और मौलिकता के साथ दर्ज किया है। ईश्वर मेरे बेचारे शीर्षक स्केच का एक उदाहरण देखिए जिससे पूरी बात स्पष्ट हो जाएगी-

‘बट बाबा’ को हमने पेड़ नहीं समझा -देव ही समझा सदा। ठीक उसी तरह मलेरिया को सिर्फ बुखार नहीं- पिसाच मानता रहा। जूड़ी ताप तिल्ली की एक मशहूर पेटेंट दवा के विज्ञापन में मलेरिया पिशाच की तस्वीर छपी रहती थी-पाँच मुँह वाला, विकराल पिशाच -अट्टहास करता हुआ, चारों ओर अस्थिपंजर, मुंड और हड्डियों की ढेर बिखरे हुए।’ भारत यायावर जी ने ठीक ही लिखा है-

रेणु के इन स्केचों में उनका गाँव भी है, सानोआमा (छोटी माँ) नेपाल भी और बंगला का एक बहुत बड़ा परिदृश्य भी। रेणु के जीवन से परिचित लोग जानते हैं कि रेणु हिंदी के अलावा नेपाली और बंगला भी, हिंदी की तरह ही बोल-लिख लेते थे। पर उन्होंने नेपाली और बंगला में लिखा बहुत ही कम, पर पढ़ा पूरा था। साथ ही रेणु उर्दू साहित्य से भी गहरा लगाव रखते थे। बालकृष्ण ‘संम’, सुहैल अजीमाबादी, रवींद्रनाथ, हंग्री जेनेरेशन के कवियों एवं भादुड़ीजी जी पर लिखे स्केच इसके प्रमाण हैं।

कुल मिलाकर यह संस्मरणात्मक स्केच बहुत रचनात्मक और साहित्यिक है। अपने संस्मरणों में किसी व्यक्ति के चरित्र का हनन करने वाले संस्कारहीन रचनाकारों को इस पुस्तक को अवश्य पढ़ना चाहिए। भाषा इतनी प्रवाहमय है कि शब्द स्केच बनाते हुए आगे निकल जाते हैं। कई बार प्रसंगों की अधिकता विषयांतर की तरफ भी ढकेल देती है। बन तुलसी की गंध से जो सुगंध आती है उससे न केवल फणीश्वरनाथ रेणु के व्यक्तित्व को पहचाना जा सकता है बल्कि उनके युग को भी समझा जा सकता है।

संपर्क : असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, मो. : 9454653490

मानवीय संवेदनाओं के विविध रंग

शिप्रा श्रीवास्तव

साहित्य एक स्वच्छंद नदी के समान निरंतर बहने वाली जलधारा है। जिसके अनेक स्रोत हैं, जो मानव हृदय तथा मस्तिष्क को प्रभावित एवं उद्बलित करते रहते हैं। साहित्य निरंतर अपनी गति, स्थिति एवं लय में परिवर्तन करते हुए नई-नई संवेदनाएँ विकसित करती है। रेणु एक ऐसे ही सशक्त साहित्यकार हैं जिन्होंने न केवल अपने समय की नब्ज को पकड़ा बल्कि उन संवेदनाओं, समस्याओं को आत्मसात भी किया तथा उसे अपने साहित्य के केंद्र में रखा। रेणु ने हमें अपने देश की आत्मा से जोड़ा है। उनका साहित्य हमें अपनी मिट्टी के करीब लाता है।

जब हम रेणु का नाम लेते हैं तो श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी' की तरह उनकी रचना 'मैला आँचल' या 'तीसरी कसम' ही ज़हन में आती है। यह सत्य है कि उन्होंने 'मैला आँचल' में पूर्णिया के दर्द को कागज़ पर ही नहीं मानव मस्तिष्क तथा हृदय पर भी उकेर दिया। उनका संपूर्ण साहित्य मानव संवेदनाओं का दर्पण है। जिस प्रकार रेणु का कथा साहित्य सूर्य के समान है, कथेतर साहित्य भी अद्वितीय है। हिंदी जगत में विभिन्न विधाओं पर लिखने वाले साहित्यकार कम ही हैं। उनमें से रेणु का कथेतर साहित्य बहुत महत्वपूर्ण है। रेणुका कथेतर साहित्य उनके जीवन मूल्य 'सबार ऊपरे मानुष सत्य' को पूर्णतः उद्घाटित करता है। रेणु का कथेतर साहित्य मानवीय संवेदनाओं की गाथा है। उनके कथा साहित्य का विवेचन तो बहुत हुआ है परंतु कथेतर साहित्य का बात कम ही हुई है।

रेणु के निबंधों में भी बौद्धिकता का आडंबर नहीं है। उन्होंने अपने निबंधों को वैचारिक क्लिष्टता तथा दिखावेपन से बहुत दूर रखा। निबंध ही क्या उनका समस्त साहित्य मानवीय संवेदनाओं का पूरक है न कि क्लिष्टता का।

रेणु के निबंधों में प्रथम निबंध है 'सामाजिक कार्यकर्ता से दो शब्द'। यह एक सामाजिक निबंध है। जिसमें उन्होंने समाज के दायित्व बोध को रेखांकित किया है। यदि संपन्न व्यक्ति समाज या कुटुंब में अपना पूर्ण सहयोग देता है तो निश्चित ही समाज में विसंगति का इतना विकराल रूप नहीं होगा जितना अभी है। रेणु इस दायित्व बोध का प्रारंभ घर (कुटुंब) से ही मानते हैं। वे मानते हैं कि परिवार को आपसी प्रेम से तथा सहयोग की डोर से ही बाँधा जा सकता है। परिवार की समस्याएँ मिलजुल कर ही सुलझ सकती हैं।

उन्होंने समाज के प्रत्येक तबके की समस्याओं को भी इस निबंध में उकेरा है। स्कूल के बच्चे को जो शारीरिक तथा मानसिक रूप से प्रताड़ित हैं उनके

साथ स्कूल यदि सकारात्मक व्यवहार करे तो ये बच्चे भी समाज के प्रति अपना दायित्व समझेंगे। ठीक इसी प्रकार अस्पताल के मरीजों को दवा से ज्यादा सहानुभूति की आवश्यकता होती है जो उन्हें प्राप्त नहीं होती।

रेणु यह मानते हैं कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति की बहुत ही अहम भूमिका है। रेणु केवल समस्याओं को ही नहीं दिखाते बल्कि उनके कारणों को भी ढूँढते हैं तथा उसके निराकरण पर भी प्रकाश डालते हैं। इसलिए उनके निबंधों में वैक्तिकता का प्राधान्य है। प्रस्तुत निबंध में समाज के प्रत्येक तबके की सामाजिक, पारिवारिक, शैक्षिक एवं आर्थिक स्थिति को सुधरने के जाएज़ सुझाव दिए हैं। वे कहते हैं की भारत में गरीबों को अनाज और पैसा दान देने की परंपरा है परन्तु जिन लोगों को पैसे के सिवा किसी और चीज की आवश्यकता हो उसे कैसे पूरा करेंगे? ठीक वैसे ही ढोंगियों को भी दान नहीं करना चाहिए। रेणु मानते हैं कि 200 वर्ष पहले अमेरिका में भी यही रीति थी लेकिन समय के साथ वहां सामाजिक कार्यकर्ताओं ने सहायता के नए तरीके निकाल लिए हैं यदि कोई व्यक्ति जरूरतमंद है तो कारण पता लगाओ। उसकी जड़ में जाकर समाधान करो केवल पैसा उपाए नहीं है।

स्त्रियों से जुड़ी तमाम समस्याओं से भी समाज तथा पूरा देश घिरा हुआ है। स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन चिरकाल से नहीं हो रहा है बल्कि दिन-ब-दिन उनकी स्थिति बदतर ही होती जा रही है। असुरक्षा की भावना स्त्रियों को निरंतर दीमक की तरह खाती जा रही हैं। रेणु इस निबंध के माध्यम से वेश्याओं, बाल विधवाओं और परित्यक्ताओं की समस्याओं पर भी बात करते हैं। वे कहते हैं कि - 'समाज का हर एक व्यक्ति समाज को बनाता है, जो किसी वजह से आम ढर्रे से बिछड़ कर गिरने लगते हैं, शुरू में ही संभाल कर अपने पैरों

पर खड़ा कर दिया जाए तो समाज को बहुत से कष्टों से छुटकारा मिल जाए।'

रेणु उन विशेषज्ञों, जो केवल नाम के ही विशेषज्ञ हैं, उन पर भी निशाना साधते हैं। वे कहते हैं कि भले ही ऐसे लोगों को शरीर के पूरे अंगों का नाम भी ना पता हो परंतु किसी बीमार को ऐसी-ऐसी नायाब राय देंगे कि बीमार के आगे और भी नई समस्याएँ खड़ी हो जाएं।

रेणु समस्याओं को कोटि में बाँधने के पक्षधर हैं क्योंकि कोई समस्या एक जैसी नहीं होती और ना ही समाधान एक जैसा होता है। इसलिए समाज में ऐसे लोगों को तलाश करना चाहिए जो इस दायित्व को बखूबी निभा सकें। समस्याओं का निदान कर सकें।

रेणु का दूसरा निबंध है, 'राष्ट्र के निर्माण में लेखक का सहयोग।' इस निबंध में रेणु सवाल पूछते हैं स्वतंत्र भारत से, क्या कि हम वास्तव में पराधीनता त्याग चुके हैं। प्रस्तुत निबंध में भी समाज के प्रति उनकी सजगता स्पष्ट दिखाई देती है। रेणु लिखते हैं कि स्वतंत्र भारत में न जाने विकास की कितनी योजनाएँ बनी, कितने कदम उठाए गए परंतु वे योजनाएँ कितनी सफल हुई, उन्नति के प्रयास कितने कारगर हुए यह विचारणीय बात है। इस विचार को रेणु जैसे साहित्यकार ही समझ सकते हैं क्योंकि पहले वे राजनीति से जुड़े थे, परंतु बाद के दिनों में उनका मोहभंग हो गया। 14 अगस्त 1947 की रात्रि और 15 अगस्त की सुबह में कोई अंतर नहीं था। पहले विदेशी शासन करते थे, फिर अपने ही अपनों पर शासन करने लगे। स्वतंत्र भारत की एक महत्वपूर्ण समस्या थी राष्ट्र निर्माण की समस्या। रेणु यह मानते थे कि राष्ट्र वैज्ञानिक उन्नति में अग्रसर हो रहा है। वह वैज्ञानिक अनुसंधानों व योजनाओं एवं परियोजनाओं की उड़ान बखूबी भर रहा है, परंतु जनता जिनके

लिए किया जा रहा है वह मानसिकता के स्तर पर इन समस्त परियोजनाओं को ग्रहण करने योग्य नहीं है। रेणु लिखते हैं - 'तरह-तरह के वैज्ञानिक प्रतिष्ठानों के द्वारा सर्वसाधारण के बीच विज्ञान का प्रसाद वितरण कर देने से कुछ नहीं होगा। जनसाधारण की वैज्ञानिक दृष्टि को खोलने की आवश्यकता है।'

वे सवाल पूछते हैं कि क्या हमारे देश में चित्त की स्वतंत्रता है, हमारी बुद्धि मोहमुक्त हुई है। उत्तर देते हुए कहते भी हैं कि नहीं। जो भी विकास की परियोजनाएँ बनी हैं उनमें गरीबों के दुखों का कहीं भी उन्मूलन नहीं हुआ है।

विज्ञान के द्वारा विद्युत घर-घर को रोशन करती है परंतु मानव हृदय में अज्ञान के अंधकार को प्रकाशमान नहीं बना पाती। यह कार्य यदि लेखक सही ढंग से करें तो निश्चय ही मानव की सोच को एक नई दिशा प्राप्त होगी। नए विचार जन्म लेंगे - 'विद्युत आलोक से गाँव-गाँव अली-गली को आलोकित करने का क्या अर्थ जबकि सर्वजन के मन के कोटर में चिर-अंधकार बद्धमूल हो रहा है?'

पंचवर्षीय योजनाएँ जब जनता तक नहीं पहुँचीं तब रेणु कहते हैं कि अब हम भले ही स्वाधीन हो गए हों परंतु त्याग और सेवा का भाव, गांधी के आदर्श, नैतिकता सब विलुप्त हो चुकी है। जिस त्याग और बलिदान पर हमें स्वाधीनता मिली है उसका कोई मोल नहीं है। जबकि स्वाधीन भारत में इन आदर्शों की अधिक आवश्यकता है। वे कहते हैं कि राष्ट्र निर्माण में लेखक एवं कलाकार दोनों ही सहयोगी हैं एवं महत्वपूर्ण भी। रेणु इन दोनों को समाज की नींव मानते हैं वे इन दोनों को निष्पक्ष रूप से कार्य करने हेतु एक सशक्त जरिया स्वीकारते हैं। वे नौकरशाहों पर प्रहार करते हैं जो लेखकों को खरीदकर दल विशेष तथा नेताओं के गुणगान लिखकर उनकी योग्यता

का हनन करते हैं। वे लेखक का कर्तव्य समाज के दुख-सुख से जुड़ कर लिखना मानते हैं। राष्ट्र के निर्माण में जितना महत्वपूर्ण राष्ट्र नायक है उतना ही महत्वपूर्ण निष्पक्ष लेखक भी है जो जनता के दुःख-सुख को उजागर करे।

वहीं रेणु कलाकार के लिए कहते हैं कि कलाकार भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना साहित्यकार। किसान भी नई पीढ़ी को प्रेरणा देकर राष्ट्र निर्माण में सहयोगी हो सकता है। रेणु लिखते हैं- 'क्या पता कि नवनिर्माण की तीव्र प्रेरणा कहीं किसान के बेटे को स्पंदित कर रही हो दूर किसी गाँव में बैठा कोई बूढ़ा लोहार ट्रैक्टरों, बुलडोजरों की गड़गड़ाहट को सुनकर फिर से जवान हो रहा हो।' रेणु कहते हैं कि प्लेटो भले ही लेखक और कलाकार को समाज हित में बाधक माने परंतु वेबाधक नहीं हैं बल्कि राष्ट्र के निर्माण में एक अनिवार्य तत्व हैं।

कभी-कभी साहित्यकार अपनी एक रचना से इतनी प्रसिद्धि प्राप्त कर लेता है कि उसकी अन्य कृतियों पर किसी की नजर ही नहीं ठहरती। 'रेणु' तथा 'मैला आँचल' ऐसा नाम जो एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते। जितनी प्रसिद्ध रेणु को मैला आँचल से मिली उतनी ही आलोचना का शिकार भी हुए रेणु। 'पतियाते हैं तो मानिए आंचलिकता भी एक विधा है' निबंध में उन्होंने आलोचकों को उत्तर दिया है तथा कई जटिल प्रश्न भी उठाए हैं। इसके साथ ही साहित्यकारों की अनेक समस्याओं को भी रेखांकित किया है। रेणु ने इस निबंध में लिखा है कि आलोचकों के चोटिल करने वाले प्रश्नों से आतंकित होकर लेखन कार्य वे बंद नहीं करेंगे बल्कि साहित्य के क्षेत्र में साहित्यकार को विरोधियों का सामना करना ही पड़ता है। रेणु ने मैला आँचल की भूमिका में 'आंचलिक' शब्द का प्रयोग किया जिसके कारण वे आलोचकों के प्रश्नों के घेरे में

आ गए। परेशान होकर उन्होंने कहा-‘आंचलिक कथा लिखता हूँ इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि मैं इसकी वकालत करना भी जानूँ। जानता तो यह भी नहीं कि मेरे द्वारा आंचलिक क्यों लिखा या प्रस्तुत किया जा रहा है?’ रेणु कहते हैं कि इन विरोधों, आरोपों के बावजूद मैं लिखना नहीं बंद करूँगा-‘भाई अवस्थी जी अंत में एक बात पूछूँ चुपके चुपके? यदि चर्चा परिचर्चा में विद्वानों ने मिलकर यह घोषित कर दिया कि आंचलिक लेखक ने हिंदी साहित्य की निर्मल धारा को गन्दला किया है, तो क्या आप जो कुछ लिखते हैं, लिखना बंद कर देंगे? आप कर सकते हैं मैं कैसे कर सकता हूँ?’

‘उतरी स्वप्न-परी-हरी क्रांति’ निबंध का संबंध रेणु के उपन्यास ‘परती परिकथा’ के प्रकाशन के बाद आई आलोचकों की प्रतिक्रिया से है। इस निबंध में भी सबसे पहले अपना बचपन याद करते हैं, जो कोसी नदी से प्रभावित गाँव का दृश्य है। वह इस दृश्य की निराशा में आशा ढूँढते हैं। ‘यह तो सर्वविदित है कि कोसी जिधर से गुजरती है, धरती बाँझ हो जाती है। सोना उपजाने वाली काली मिट्टी सफेद बालूचरों में बदल जाती। इस परती के उदास और मनहूस बादामी रंग को बचपन से ही देखता आया हूँ। दूर तक फैली साकार उदासी बारहों महीने, दिन-रात, सुबह-शाम, धूसर वीरान और इस मरी हुई मिट्टी पर बसे हुए इन्सान।’

‘परती:परिकथा’ रेणु का दूसरा महत्वपूर्ण उपन्यास है। जिसमें बंजर भूमि को सुंदर भूमि के रूप में परिवर्तित होने का स्वप्न है- ‘लाखों एकड़ बंध्या धरती कोसी कवलित, मरी हुई मिट्टी शस्य श्यामला हो उठेगी। कफन जैसी सुफेद बालू भरे मैदानों में धानी रंग की जिंदगी की बेल लग जाएगी।’ परंतु स्वप्न तथा यथार्थ सदैव विपरीत होता है। कोसी प्रोजेक्ट विभिन्न कारणों से टलता

जा रहा था। मित्रों ने उनका मजाक भी बनाया कि कागज पर रंग उकेरना आसान कार्य है फिर भी रेणु हार नहीं माने। वे गरीबों के प्रति सहानुभूति ही नहीं रखते थे बल्कि उनके दिन फिरेंगे यह आशा भी हृदय में संजोये थे। उनका साहित्य भारतीय समाज का दर्पण है। रेणु एक महत्वपूर्ण कारण जानते थे जो अनैतिकता की ओर धकेल रहा था वह थी ‘भूख’। रेणु ने जो सपना देखा वह साकार हुआ-‘ जिस दिन खलिहान में गेहूँ की फसल कट कर आई मेरा रोम-रोम पुलकित हो गया। मैंने बालियों को सिर से छुआकर मूल मंत्र का जाप किया।’ यह सुख जितना गरीबों का था रेणु को उतने ही सुख की अनुभूति हुई। अपनी लेखनी से रेणु जैसे साहित्यकार ही ऐसी मानवीय संवेदनाएँ लिख सकते हैं। रेणु का सपना साकार हुआ था।

देश के विकास तथा जनचेतना के प्रति रेणु का एक और निबंध भारत को समर्पित हुआ- ‘जन-जागरण में साहित्यकार की भूमिका’। यह सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण निबंध है। रेणु का राजनीति से जुड़ने का कारण मात्र जनसेवा था। लोगों को अच्छा जीवन देना उनके जीवन का एक महत्वपूर्ण कार्य था जिसे पूरा करने में उन्होंने अपना समस्त जीवन लगा दिया। वह गरीबी को जड़ से मिटाना चाहते थे। उनके साहित्य में इन बातों का ही वर्णन है। रेणु ने 1942 में जेल की सजा काटी। नेपाल के जन क्रांति में उन्होंने भाग लिया। यहाँ तक कि राइफल भी उठाई। पूरे भारत में विद्रोह की लहर दौड़ी। बिहार में भी और बिहार से बाहर भी। बहुतों को तो गैर-बिहारी कहकर निष्कासित भी किया गया। प्रस्तुत निबंध में अलगाववाद की समस्या को भी उजागर किया गया है। यह निबंध आज के दौर में भी अपनी प्रासंगिकता बरकरार रखता है। वे लिखते हैं- ‘ एक ओर राष्ट्रीय एकता नेशनल

इंटीग्रेशन की लंबी बातें और दूसरी ओर किसी भारतीय का अपने देश के किसी प्रांत से निष्कासन-कैसी विडंबना है? राज्य की ओर से यह अलगाव की भावना हमें आश्चर्य में ही नहीं डाल रही बल्कि आशंकित करती है कि किसी दिन हमें यानी हम बुद्धिजीवियों को अपने देश से निष्कासित करने का परवाना निकाल दे।' आज भी सत्ता के विरोधी बागी कहलाते हैं कल भी बागी कहलाते थे। रेणु ने इस समस्या को बहुत बारीकी से उजागर किया है। 1975 में बिहार आंदोलन में भाग लेने पर रेणु ने अपनी तबीयत का भी ख्याल नहीं किया क्योंकि उन्हें पता था कि आंदोलन को उनकी आवश्यकता है। राजनीतिक रूप में या साहित्यकार के रूप में वे दोनों तरह से देश को जागृत करना चाहते थे। रेणु कहते हैं कि साहित्यकार का कर्तव्य बहुत महत्वपूर्ण है- 'मैंने देखा कि जेल की कोठरी में घुसने के बाद एक नौजवान ने 'शेखर: एक जीवनी' विशेष रूप से मँगवाई और उसे पढ़कर वह जेल की यातनाओं को झेलने की ताकत हासिल करता था और उसे लगता था कि सारी बातें जैसे उसी के साथ घट रही हैं और वह स्वयं शेखर हो। जेल में जो नौजवानों के समूह आते थे, उनके हाथों में यशपाल के उपन्यासों की नई प्रतियाँ, दिनकर की हुँकार, बेनीपुरी ग्रंथावली, बेनीपुरी लिखित लाल चीन आदि ग्रंथों की प्रतियाँ तीन-तीन, चार-चार युवकों के दिलों में पढ़ी जाती हैं।'

साहित्यकार की अनिवार्यता को बताते हुए रेणु कहते हैं कि - 'सच कहता हूँ अगर इस जन आंदोलन से अपने को किसी तरह अलग-थलग रख पाने में सफल हो पाता या तटस्थ अथवा मौखिक सहानुभूति प्रकट कर रह जाता तो न प्रेमचंद ने मुझे माफ किया होता और ना निराला ने।' वे साहित्यकार को जनसाधारण का अगुआ मानते हैं। रेणु साहित्य के माध्यम से समाज के

सफेदपोश लोगों को बेनकाब करना चाहते थे, जिससे पाठक वर्ग बदलाव का कदम उठाए परंतु ऐसा संभव नहीं हुआ। इस पीड़ा को वे इस निबंध में लिखते हैं - 'तो क्या हुआ लिखकर यह सब? मैं सोचता हूँ कि लिखने के बजाए अगर मैं किसी लड़के पर मोटी रकम तिलक में गिनाने वाले पड़ोसी के दरवाजे पर सत्याग्रह करने बैठ जाता, अछूतों को सही जगह दिलाने के लिए कम-से-कम अपने ही गाँव में कोई प्रयत्न करता या जाति-पाति के विरुद्ध अनशन करता तो अच्छा था। एक हजार से भी ज्यादा पृष्ठ लिखने और भूरी-भूरी प्रशंसा मिलने के बावजूद मुझे मिला यह सड़ा हुआ बिहार।' वे मानव संवेदना से पूर्णतः ओत-प्रोत थे। उनका साहित्य इस बात का साक्ष्य है।

'उलझे हुए रिश्ते: सुलझे हुए विचार' निबंध में रेणु ने सिनेमा, रंगमंच तथा विज्ञापन जगत के बाजारीकरण तथा मानवीय संवेदनाओं के हनन एवं कला सृजन के व्यापारीकरण के विषय में अपने विचार व्यक्त किए हैं। रेणु ने अनुभव किया कि सिनेमा के निर्माता समाज के प्रति अपना दायित्व सही ढंग से नहीं निभा रहे हैं। वे दुख के साथ कहते हैं - 'हिंदी सिनेमा अपना दायित्व उस मायने में पूरा नहीं कर पा रहा है जिस माने में करना चाहिए। आजकल तो फिल्म वाले अपने फिल्म में ऐसी-ऐसी चीजें दिखाते हैं जो आम जिंदगी से हटकर हैं और अस्वाभाविक हैं। कुछ ऐसे लोग हैं जिन्होंने ऐसी परिस्थितियों से समझौता कर लिया है पर उन्हीं से हमारा फिल्म जगत बहुत नुकसान उठा रहा है तथा समाज भी।'

रेणु ने रंगमंच पर भी अपने विचार रखे हैं। वह कहते हैं कि पारसी थिएटर के बाद पृथ्वीराज कपूर ने हिंदी रंगमंच के लिए काम किया। फिर भी सिनेमा ने रंगमंच को प्रभावित न किया हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। वे कहते हैं कि

रंगमंच पर बोले जाने वाले डायलॉग सिनेमा से ही प्रभावित दिखाई देते हैं। जिससे रंगमंच की आत्मा मर जाती है। रेणु मानते हैं कि रंगमंच की आत्मा की रक्षा के लिए शम्भु मित्रा जैसे उच्च कोटि के रंगकर्मी सिनेमा जगत से स्वयं को दूर रखते हैं। शम्भु मित्रा जैसी प्रतिबद्धता एवं ईमानदारी कम कलाकारों में दिखाई देती है।

रेणु सिनेमा जगत की एक और जटिल समस्या अश्लीलता पर भी बात करते हैं जो एक प्रकार से नारी का शोषण है। समाज को भोगवादी दृष्टिकोण परोसने की एक नितांत गलत धारणा है। रेणु मानते हैं कि सिनेमा का प्रभाव हमारे समाज पर बहुत ही गहरा पड़ता है इसलिए सजगता जरूरी है।

विज्ञापनों में भी नारी के शोषण के प्रति रेणु लिखते हैं। उनका मानना है कि जिस वस्तु में स्त्री का इस्तेमाल न के बराबर होना चाहिए वहाँ भी स्त्री को परोसना नितांत गलत है। रेणु एक सजग साहित्यकार थे। वे प्रत्येक बात को बहुत ही गंभीरता से ग्रहण करते थे।

रेणु की कहानी 'तीसरी कसम' उर्फ 'मारे गए गुलफाम' पर फिल्म बनी 'तीसरी कसम'। इस फिल्म के दौरान रेणु ने जो अनुभूति की है तथा सिनेमा जगत के अंधविश्वास, नकारात्मक पक्ष तथा सिनेमा जगत से जुड़े लोगों की आर्थिक समस्याओं को उजागर किया है। रेणु के इस कहानी का अंत दुखांत है परंतु फिल्म बनाने वालों ने इस पर आक्षेप किया था कि अंत में नायक नायिका को मिला देते हैं। रेणु इस बात पर अड़ गए कि यदि अंत उनकी कहानी की

तरह नहीं होगा तो उनका नाम फिल्म से हटा लिया जाए। शैलेंद्र जो इस फिल्म के निर्माता थे तथा एक अच्छे गीतकार भी उन्होंने रेणुकी बात का सम्मान रखा और फिल्म का अंत दुखांत ही रखा परंतु फिल्म फ्लॉप रही। इसके बाद शैलेंद्र आर्थिक तंगी का शिकार हुए और कुछ दिनों बाद उनकी मृत्यु भी हो गई। रेणु को दुख था कि शैलेंद्र मात्र गीतकार ही बने रहते तो अच्छा था। यह निबंध केवल शैलेन्द्र के दुःख की गाथा नहीं है बल्कि सिनेमा जगत से जुड़े तमाम निर्माताओं की परिस्थितियों का वर्णन है। रेणु बताना चाहते हैं यदि कोई कहानीकार की बात का सम्मान रखता है तो फिल्म जगत उसे टिकने नहीं देती क्योंकि उन्हें उस फिल्म से कमाना है। समाज क्या चाहता है इस से कोई सरोकार नहीं है। साहित्यिक कृतियों पर फिल्म बनाना तब तक ही ठीक है जब तक उस कृति को पैसों से न तोला जाए। जहाँ कृति को पैसे से तोला जाता है वहाँ कृति तथा कृतिकार दोनों समाप्त हो जाते हैं।

निबंध उनके जीवन के अनुभव हैं। कुछ निबंध संस्मरण के रूप में लिखे गए हैं तथा कुछ आत्मसंस्मरण के रूप में। परंतु रेणु का उद्देश्य मानवीय समस्याओं के प्रत्येक पहलू को उद्घाटित करना था। वे साहित्यकार के रूप में अपने कर्तव्यों की कसौटी पर पूर्णतः खरे उतरते हैं। उन्होंने आलोचकों के तीखे स्वरों की परवाह नहीं की बल्कि आम इंसान को अपने जहन में रखकर अपने साहित्य की रचना की तथा साहित्य के संसार में अपनी अमर रचनाएँ अर्पित करके उसे अपना ऋणी बना दिया।

समय के साक्षी

आनन्द श्रीवास्तव

वैसे तो साक्षात्कार समाचार संकलन का एक प्रभावी माध्यम है पर साक्षात्कार से ही किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व की सार्थक परिभाषा निर्मित हो पाती है। फणिश्वरनाथ रेणु साहित्य और संस्कृति के वो धरोहर हैं जो मानव के भीतर जातीय चेतना का विस्तार कर उनमें देशज समझ को निर्मित करते हैं। रेणु के चिंता के केंद्र में मानव है और भाषा वह हथियार जिसकी मदद से वे लोकतान्त्रिक चेतना की लड़ाई लड़ते हैं। वैसे तो रेणु के साहित्य को पढ़ते वक्त्र प्रेमचंद की परंपरा का विस्तार जैसा ही लगता है पर अंतर यही है कि 1936 तक आते-आते प्रेमचंद का गाँव के प्रति मोहभंग हो गया था पर रेणु स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में भी गाँव के लोगों के प्रति मोह और जिजीविषा को जिंदा रखते हैं और उसे और भी ज्वलंत तरीके से उजागर करते हैं। उनके साक्षात्कारों से रेणु का एक महत्वपूर्ण व्यक्तित्व चाहे वह राजनीतिक रूप से हो या सामाजिक रूप से समस्त जटिलताओं के बीच से उभर कर सामने आता है जिसे अलग-अलग बिंदुओं से समझा जा सकता है। रेणु के साक्षात्कारों से उनके व्यक्तित्व, राजनीतिक विचारधारा और एक साहित्यकार बनने की प्रक्रिया को सहजता से समझा जा सकता है।

रेणु की साहित्यिक चेतना में मूलतः उनके सामाजिक, राजनीतिक विचारधारा का ही समन्वय है। वे भले ही सक्रिय राजनीति में लंबे समय तक नहीं रहें पर उनकी रचनाओं में राजनीतिक रंग अवश्य दिख जाता है पर इस पहलू को समझने के लिए रेणु के सक्रिय राजनीतिक जीवन को जानना जरूरी है। राजनीति के शुरुआती दिनों में वे 1938 में सोनपुर, बिहार में 'समर स्कूल ऑफ पॉलिटिक्स' में शामिल होते हुए 'समाजवाद और बिहार सोशलिस्ट पार्टी' से जुड़कर कार्य करते हैं और 1939 में वे काशी हिंदू विश्वविद्यालय में प्रवेश कर वहाँ की राजनीतिक, सामाजिक गतिविधियों में हिस्सा लेते हुए, 1942 के स्वतंत्रता संग्राम में भी सक्रिय भूमिका निभाते हैं। बनारस में रेणु पर स्टूडेंट फेडरेशन के कार्यकर्ता के रूप में कार्य करते हुए समाजवाद का तीव्र प्रभाव पड़ता है। 1950 वे नेपाली क्रांतिकारी आंदोलन में भी हिस्सा लेते हैं और जनतंत्र की लड़ाई लड़ते हैं। जैसा कि रेणु ने स्वयं कहा है - "जीवन की शुरुआत राजनीति से की थी मैंने, अथवा किसी 'नीति' से, कह नहीं सकता, मगर राजनीति हमारे लिए 'दाल-भात' की तरह है। अगर, आपका मतलब 'राजनीतिक पार्टी' से है तो यह सही है कि अब मैं किसी पार्टी का सदस्य नहीं रहा।देखिए, चरखा को मैंने केवल यह नहीं समझा कि यह गांधी जी का है वरन घर के कुदाल, खुरपी, हँसिया, हल वगैरह की तरह चरखा भी हमारे जीने का सामान है। परिवार में राजनीतिक चेतना पहले से थी।"

जयप्रकाश जी के राजनीतिक विचारों का विशेष प्रभाव रेणु पर था, बनारस में रेणु स्टूडेंट फेडरेशन के सचिव भी थे और उनका झुकाव आगे चलकर वामपंथी दल के प्रति भी हुआ। रेणु ने अपनी राजनीतिक जीवन की विसंगतियों को आधार बनाकर 'पार्टी का भूत' जैसी कहानी भी लिखी थी। भारतीय स्वाधीनता संग्राम में रेणु ने सक्रिय भूमिका निभाई थी, उस दौरान हड़ताल, पिकेटिंग जैसे मुद्दे अहम रूप से चल रहे थे ऐसे में रेणु ने भी अपनी रचनाओं में इन दृश्यों का संयोजन कर उसे लोक मानस तक पहुँचाया, 'कितने चौराहे' में इसके उदाहरण मिलते हैं। इनके अलावा रेणु पर नक्षत्र मालाकार का भी विशेष प्रभाव पड़ा था, वे उनके साथ 1936 में मुजजफरपुर में आयोजित किसान सम्मेलन में सम्मिलित हुए थे और वहीं से ये इनके समाजवादी मूल्यों के प्रेरक बने। इसके अलावा रेणु पर डॉ राम मनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण, नरेंद्र देव और बेनीपुरी आदि के भी समाजवादी विचारों का प्रभाव था। 1941 से 1947 तक वे नक्षत्र मालाकार के करीबी रहे हैं और जब नक्षत्र मालाकार को पार्टी राजनीतिज्ञ की जगह क्रिमिनल होने का आरोप लगाकर निष्काशित कर देती है तब ऐसी परिस्थिति में भी रेणु हमेशा उनके लिए प्रतिबद्ध रह अपनी दोस्ती निभाते हैं और एक ही बात पर अड़े रहते हैं कि - नक्षत्र जनता का आदमी है।

आजादी के बाद जनता के सुनहरे सपनों को धराशाई होते देख रेणु में गंभीर मोहभंग की प्रक्रिया शुरू हुई। रेणु मानते हैं कि सुराज आम जनता के लिए नहीं बल्कि टाटा-बिड़ला के लिए हुआ है तभी तो आम जनता भूख से मर रही है पर, समाधान नहीं है। रेणु की चिंता के केंद्र में भूमि की समस्या है, जिसका कहीं कोई समाधान उन्हें नहीं मिलता तभी तो वे आजादी के बाद की परिस्थितियों पर कटाक्ष करते हुए कहते हैं - "लोग वकालत, प्रोफेसरी छोड़कर खेती करने लगे और जो गरीब खेती करनेवाले थे वे टुकुर-टुकुर देखने लगे। किसी भी पार्टी में वह दमखम

नहीं है कि जमीन के सवाल को लेकर लड़ाई लड़े, न ही किसानों और भूमिहीनों को किसी के कार्यक्रम पर भरोसा है।"

रेणु की रचना-प्रक्रिया और राजनीतिक विचार दोनों के बीच एक सरल सामंजस्य मिलता है। आजादी से मोहभंग होते ही 1952 में रेणु नेपाल कांग्रेस के लिए नेपाली और हिंदी में 'नया कदम' नामक साप्ताहिक पत्र का सम्पादन और प्रकाशन करते हैं पर उसी वर्ष सोशलिस्ट पार्टी से मतभेद हो जाने की वजह से रेणु पार्टी से इस्तीफा देकर 'मैला आँचल' लिखते हैं और 'मैला आँचल' का ही विस्तार 1957 में प्रकाशित 'परती:परिकथा' में करते हैं। इन दोनों उपन्यासों पर कांग्रेस-सोशलिस्ट पार्टी का सशक्त प्रभाव मिलता है। रेणु के शब्दों में - "जब कोई किसी पार्टी का सदस्य हो तो उसके अनुभव और विचार भी उस पार्टी के होंगे। किसान-मजदूरों में काम करने से मुझे कम फायदे नहीं" बल्कि सच पूछिए तो राजनीति ने मुझे बहुत दिया। अपने जिले के गाँव-गाँव घूमा, लोगों से मिला, उनके सुख-दुःख से परिचित हुआ, चंदे वसूले। अपनी सक्रियता के कारण साथियों के साथ गाँवों में रात के वक्त डेरा डालना पड़ता...रात में दूर से कभी ढोलक 'झांझ पर नाच-गान की स्वर-लहरी मंडराती आती और मैं अपने साथियों को सोते छोड़ वहाँ चल देता।"

जयप्रकाश नारायण की प्रेरणा से प्रगतिशील लेखक संघ के तर्ज पर नव सांस्कृतिक संघ का निर्माण होता है पर रेणु ऐसे किसी सांस्कृतिक संघ के पक्ष में बिल्कुल नहीं थे जो राजनीति का सांस्कृतिक मोर्चा बनकर राजनीतिक मंच से संचालित होता हो, वे मानते हैं कि विशुद्ध राजनीति करने वालों की नजर में लेखक, गीतकार, चित्रकार, अभिनेता आदि की दशा हाशिये पर होती है क्योंकि ये राजनीतिक दाँव पैच में खिलाड़ी नहीं होते। रेणु रायपंथी कलाकार नहीं थे और न ही चाहते थे कि दूसरों के विचारों से खुद को आँके तभी तो कहते हैं - "पार्टी में हम लोगों की हैसियत हमेशा 'दूसरे दर्जे के नागरिकों' जैसी

रही। बल्कि, इस मामले में विधार्थी मोर्चे पर काम करने वालों की ज्यादा वकत थी, और आज भी है-हर पार्टी में। अतः पार्टी का सदस्य होते हुए मैंने 'सांस्कृतिक संघ' की घोषणाओं पर यकीन नहीं किया..."?

रेणु ने राजनीति के अलग-अलग मानकों को सटीक तौर पर पारिभाषित करते हुए उसे जनता के मनोभावों से जोड़ा था, उनके साक्षात्कारों से स्पष्ट होता है कि स्वतंत्रता पूर्व भारत और स्वातंत्र्योत्तर भारत में राजनीतिक पहलू का ग्राफ तेजी से गिरा है। ब्रिटिश साम्राज्यवादी शक्ति के दौरान खदरधारियों के प्रति लोगों में अटूट श्रद्धा-विश्वास और प्रेम था, वे जिस गाँव से गुजरते थे लोग उन्हें स्नेह के साथ सत्कार करते थे, घर की बनी हर अच्छी चीज़ पूरी आत्मीयता से खिलाते थे क्योंकि उनके जेल जाने का भय इन्हें होता था। जनता की भलमनसाहत और राजनीति के गिरते मानदंडों को भी समानांतर रूप से खड़ा कर उसका शब्द चित्र अंकन रेणु के साहित्य में मिलता है। रेणु के शब्दों में - "यह दोहरा चरित्र, तेहरा चरित्र, यह सब बारीकी जनता नहीं समझती है - ठीक है तो ठीक, काला है तो काला है, सादा है तो फिर बीच में उसमें कैसे रंग मिलाया जा सकता है? तो जनता ये सब नहीं समझती थी और उसको यह भरोसा था कि चाहे वह कांग्रेसी हों, कम्युनिस्ट हों, चाहे सोशलिस्ट हों, जो भी हों, राज-कर्म सब हम से बहुत ऊंचे हैं, हमारी सेवा करने वाले हैं, हमारा दुख-दर्द सचमुच देखने वाले हैं।" जैसे-जैसे रेणु का इस राजनीतिक परिदृश्य से मोहभंग शुरू होता है उनमें लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति छटपटाहट बढ़ने लगती है, जातिवादी राजनीति का चेहरा उन्हें ज्यादा आहत करता है।

मोहभंग की एक तीखी प्रतिक्रिया नक्सली स्वरूप में देखा जा सकता है पर रेणु नक्सलवाद के सशस्त्र क्रान्ति के पक्ष में नहीं थे। वे मानते थे कि देश की वास्तविक ताकत मजदूर और किसान है जिसकी वजह से वे ग्रामीण समस्या पर लिखते थे पर उनका

मूल लक्ष्य भूमि समस्या के वास्तविक समाधान पर ही केंद्रित था जो एक मात्र सामाजिक असमानता को तोड़ने से ही संभव हो पाता और इसके लिए रेणु भविष्य दृष्टि पर भरोसा रखते थे तभी तो कहते हैं - "नक्सलवाद तो प्रतीक है, एक गुस्सा है। इसके पास कोई नया समाधान नहीं है। जमीन के लिए सही लड़ाई अभी बाकी है। जमीन का फैसला बहुत जल्द होने वाला है। जब सही जनता सामने खड़ी हो जाएगी तो बंदूक की सारी बातें हवा हो जाएंगी और जनता जमीन को स्वयं लड़कर ले लेगी।" रेणु दल बदल में भी इसका समाधान नहीं ढूँढ़ पाते हैं और लगातार बेचैनी के बाद वे चुनाव लड़ने का निर्णय लेते हैं और 1972 में विधान सभा चुनाव में फारबिसगंज से एक निर्दलीय उम्मीदवार के रूप में चुनाव लड़ते हैं। 'नाव' इनका चुनाव चिन्ह था, निर्दलीय उम्मीदवार बनाने के पक्ष में रेणु के अपने तर्क थे जिसे समझ लेना जरूरी है - "बुद्धिजीवी आदमी को पार्टीबाजी में नहीं पड़ना चाहिए। लोग कहेंगे फलां रामलखन सिंह यादव गुट का उपन्यासकार है, फलां दारोगा राय गुट का। फलां कपूरी ठाकुर ग्रुप का बुद्धिजीवी, फलां रमानन्द तिवारी गुट का आप ही से कोई पूछ दे, क्या जवाब दीजिएगा? वैसे ही कांग्रेस जन संघी या सोफ़ा मार्का बुद्धिजीवी होना बुरा है, उसमें भी दल के भीतर अलग-अलग व्यक्तियों का प्रभाव-मार्का होना पड़े, मेरी नैतिकता इसे नहीं स्वीकार करती।" 'रेणु के चुनाव लड़ने के पीछे चार कारण थे पहला अपने अंचल के लोगों के बीच फैल रही सांप्रदायिकता जिसे उन्होंने राजनीतिक कुचक्र के रूप में जनमानस में घोलते हुए देखा था, दूसरा दलित जातियों के प्रति असंगत स्थितियाँ जहाँ भूख से मारा मुसहर भी राजनीतिक कुचक्र का शिकार होता है, तीसरी योग्य ऊँची शिक्षा प्राप्त लोगों को इंटरव्यू के नाम पर जलील होते देखकर और चौथी बेजमीन आदिवासी संथालों के साथ हो रहे उत्पीड़न। रेणु ने नामांकन भरने से पहले राय के नाम पर अपने बुद्धिजीवी वर्ग के साथ कई सभा की थी और चार

गोष्ठियों के बाद ये अपने राजनीतिक संकल्प तक पहुँचते हैं जो इस प्रकार है- “मेरे क्षेत्र में जो सांप्रदायिक जहर संक्रामक रूप से फैला है। उसे दूर करने कि कोशिश करना, बेजमीन लोगों की समस्याओं को सबल कंठ से प्रस्तुत करना तथा उसे अमल में लाने के लिए व्यक्तिगत सत्याग्रह से लेकर सामूहिक आंदोलन तक करना तथा अपने अंचल की नई पीढ़ी, नई पौध, नई फसल की निगरानी करना मेरा पहला कर्तव्य होगा।” रेणु साहित्यिक संस्कारों के साथ चुनाव लड़े थे, अपनी चुनावी भाषण में रामचरितमानस के दोहों को उदाहरण बनाया था, कबीर, अमीर खुसरो, गालिब, मीर, दिनकर, शमशेर, अज्ञेय, पंत और रघुवीर सहाय की पंक्तियों के जरिए जनता को प्रभावित करने के लिए मार्ग बनाया था। इनका चुनावी नारा भी बेहद रोचक था-

“कह दो गाँव-गाँव में, अब के इस चुनाव में । /
वोट देंगे नाव में, नाव में, नाव में ।। / कह दो
बस्ती-बस्ती में मोहर देंगे किस्ती में । / मोहर दीजै
नाव पर, चावल दीजै पाव भर।”?

इस चुनावी दौर के समस्त कड़वाहट को एक जगह संचित कर रेणु ने 1973 में ‘कागज़ की नाव’ नामक पुस्तक भी लिखी थी, जिसमें मोहभंग की तीव्र प्रतिक्रिया थी। राजनीति के क्षेत्र में रेणु मौन जुलूस के पक्षधर थे। वे 1974 तक जन आंदोलनों में सक्रिय रहे पर आपातकाल और उसके बाद 1977 में उनकी मृत्यु ने एक बड़े साहित्यिक धरोहर को हमसे छीन लिया। आपातकाल के दौरान जब प्रेस पर सेंसरशिप लगाकर लेखकीय स्वतंत्रता छीन ली गई थी और लिखने वालों को मीसा के अंतर्गत जेल भेज दिया जाता था तब रेणु को इस प्रजातान्त्रिक देश की यह विसंगति हृदय विदारक लगती है, जहाँ भूख, गरीबी, अत्याचार, दमन से मरनेवालों की कोई सूचना तक नहीं मिलती। छिटपुट तौर से रेणु अपनी कलम से निशाना साधते हुए अपनी लोकधर्मिता का परिचय देते हैं। वे कहते हैं कि क्यों नहीं इंदिरा जी केवल अपनी गद्दी बचाकर पूरे देश को एटम बम से

उड़ा देती हैं जिससे न ही कोई बचेगा और न ही उनका विरोध होगा। रेणु अपनी धारक और मारक शक्ति से आपातकाल का विरोध करते हुए कहते हैं - “मेरा यह दिमाग एक टेप है। अभी देश में जितनी भी घटनाएँ घट रही हैं और जो मुझे मालूम हैं, सारी बातें मेरे दिमाग में टेप हो रही हैं। इमरजेंसी समाप्त होने दो, मैं अपने दिमाग के टेप को वापस घुमाऊँगा और सारी बातें किताबों और फिल्मों के माध्यम से दुनिया के सामने रखूँगा।”

पूरी राजनीतिक जीवन-संघर्ष के बीच रेणु को चार बार जेल जीवन की यात्रा करनी पड़ी थी। पहली बार चौदह दिन के लिए 1930 में जब वे वानर सेना में थे, दूसरी बार लगभग एक वर्ष के लिए 1942 में जयप्रकाश आंदोलन के तहत, तीसरी बार दो वर्ष से ज्यादा 1947 में विराटनगर (नेपाल) मजदूर आंदोलन के तहत और चौथी बार 9 अगस्त को बासठ दिन के लिए फारबिसगंज में गिरफ्तार होकर पूर्णिया जेल में गए थे। रेणु ने दिसंबर 1974 को, समीर राय चौधरी को दिए साक्षात्कार में जेल जीवन का विवरण दृश्यात्मक प्रविधि में दिया है। इन्हीं प्रक्रियाओं के बीच रेणु ने अपनी साहित्यिक विधाओं के लिए सामाग्री भी तैयार है, ‘मैला आँचल’ के पात्रों का गठन भी पूर्णिया जेल के अनुभव की ही देन है।

रेणु की सामाजिक और साहित्यिक गतिविधि एक दूसरे के प्रेरक और पूरक प्रतीत होते हैं, रेणु अपनी परिवेश और परिस्थितियों से निर्मित रचनाकार हैं। इनके रचना संसार के पात्र हमारे आस-पास हैं। ‘मैला आँचल’ का बावनदास असल में चुन्नी दास है जो सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ता था जिससे रेणु प्रभावित थे, ‘मैला आँचल’ का चलितर कर्मकार वास्तव में नक्षत्र मालाकार हैं और कालीचरण तारिणी मण्डल, इस तरह रेणु के पात्र निर्मित हुए हैं।

रेणु की रचना-प्रक्रिया, खास कर कहानी लेखन में एक बात जो स्पष्ट नहीं हो पाती, वह यह है कि इनकी कहानी में कथानक, चरित्र और विचार- क्या

प्रधान है? क्योंकि कथा में सभी तत्वों की भूमिका लगभग एक समान ही होती है। रेणु स्पष्ट करते हैं कि वे कहानी में अपने बहुरूप को उजागर करते हैं इसलिए कहीं घटना प्रधान तो कहीं चरित्र प्रधान रहता है, वे किसी एक टूल्स का इस्तेमाल कथा रचना में नहीं करते इसलिए इनके पात्र सिनेमा के रील की तरह घूमते रहते हैं चाहे 'नैना जोगिन' हो, चाहे 'लाल पान की बेगम', चाहे 'हीरामन' हो या 'हीराबाई' सभी की चमक असली और संप्रेषणीय लगती है। गाँव 'गंवई' की सौधी खुशबू रेणु की रचना को मार्मिक और रोचक बनाती है। वे पात्रों के प्रत्येक मनोवैज्ञानिक सोच का वर्णन सरस तरीके से करते हैं।

रेणु आंचलिकता के पक्षधर नहीं थे क्योंकि वे आधुनिकता के विरोधी नहीं थे, हालाँकि रेणु को आलोचक आंचलिक कथाकार के रूप में रेखांकित करते हैं पर रेणु इसे स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे। चूँकि 'मैला आंचल' एक अलग ढर्रे का उपन्यास था और पुराने फार्म से हटकर तो रेणु ने इसके मुख्य पृष्ठ पर इसे आंचलिक उपन्यास कह दिया और वे आंचलिक कथाकार बन गए। रेणु के शब्दों में - "उसके बाद लोगों में एक खांचा बना दिया 'आंचलिक' का। और थोड़ी-सी घबराहट और हुई उनको-हुई थी, लेकिन फिर एक बहाना भी मिल गया कि चलो, यह तो 'आंचलिक उपन्यासकार' है। तो चलो, आंचलिक उपन्यासकार। जैसे कि आंचलिक उपन्यासकार को आदमी से तो कुछ लेना-देना नहीं है, समस्याओं से कुछ लेना-देना नहीं है।" रेणु की विचारधारा पूर्णतः आधुनिक है, इसे डॉ प्रशांत के जरिए समझा जा सकता है।

रेणु ने अपनी रचना में पर्यावरण को महत्व दिया है जिसे कथा में वर्णित उनकी दृश्य योजना के जरिए समझा जा सकता है। 'मैला आंचल' से 'परती :परिकथा' और कितनी ही कहानियों में वर्णित बालुआही मिट्टी, चिलचिलाती धूप, झर-झर-झहर-झहर बादल, धरती पर फैले कुश-काँटे और अलग-अलग रूपों में

कोसी नदी का वर्णन लगभग एक सा है। रेणु मूलतः इन कथाओं में एक उम्मीद सँजो रहे थे, उन्हें विश्वास था कि जब यांत्रिकता का दबाव अतिशय हो जाएगा तब पुनः एक मोहभंग की प्रक्रिया होगी और शायद हमें अतीत में शरण मिले और होता भी ऐसा ही है इसके उदाहरण समकालीन विमर्शों में मिलते हैं जिसकी अनुगूँज रेणु के कथा साहित्य में पहले ही मिल चुकी थी। रेणु के शब्दों में- 'अभिव्यक्ति क्या मिलेगी' "वैसे ग्रामीण शब्दावली में इनमें से कतिपय शब्द मिल-पच गए हैं, अपने विकृत रूप में ही सही। इसके अलावा अभी सृजन-प्रतिक्रिया तो खत्म ही हुई है। फल के उपभोग की स्थिति जब पुरानी हो जाएगी, तब प्रभावों की अभिव्यक्ति संभव होगी।"

रेणु नई कहानी आंदोलन के पक्षधर नहीं थे क्योंकि नई कहानी आंदोलन ने दो वर्गों में साहित्यकारों को बांटा था एक शहरी और दूसरा आंचलिक और वे आंचलिक वर्ग की आलोचना करते हुए उन्हें रोमानी प्रकृति का पोषक मानते थे, चूँकि रेणु आंचलिकता के पोषक नहीं थे इसलिए उन्हें नई कहानी में अंतर्विरोध की प्रवृत्ति ही अधिक दिखती है। वे साफ शब्दों में विरोध करते हुए कहते हैं - "ये लोग करते थे यह कि कुछ शब्दावली नोट कर लेते थे और उसको फिर एक कहानी में घोंटते रहते थे। तो अगर कहने को कुछ हो नहीं और जबरदस्ती यदि उसके बीच में हम पिरोएँ कुछ मोती और कुछ दाने तो देखने में कैसा लगेगा?....आंचलिक चाहे सफल हों और चाहे असफल, चाहे नकल करने वाले हों, जो भी हों कम से कम आम जनता की एक बात तो सामने लाते हैं। और इन शहरियों के सामने तो कनाट सर्कस है, चौरंगी है, कुछ होटल हैं। फिर एक आदमी ही क्या कम है 'अकेले भी उसकी भी कुछ चिंताएँ होती हैं' अकेला इंडीविजुअल जो कहते हैं। तो फिर नए-नए ढंग की अ-कहानी ...अब प्लॉट नहीं है तो कोई बात नहीं है, कहने को तो कुछ होना चाहिए!"

भाषा के संकट पर रेणु के विचार स्पष्ट हैं, ये साहित्य में ऐसी भाषा के हितैषी हैं जिसके संस्कार

देशज और गुण पूर्णतः साहित्यिक हो, इसलिए इनके साहित्य में खड़ी बोली की बुनियाद और स्थानीय बोलियों के कंजूर मिलते हैं। उनके यहाँ एक शब्द मिलता है कचराही-बोली जिसके संदर्भ में रेणु के विचार हैं - "कचहरी की खिचड़ी भाषा में बोली जाने से 'कचराही बोली'-मैंने इस्तेमाल किया है कई जगह इसी कचराही-बोली का। वे लोग जो कचराही बोली भी बोलते हैं, तो उसमें खास बात एक यह होती है कि जेंडर का 'पुल्लिंग-स्त्रीलिंग' का उसमें ख्याल नहीं होता है। हिंदी भाषा में स्त्रीलिंग-पुल्लिंग तो बहुत है। वे अपने ढंग से बोलते हैं। फिर भी इन लोगों के गले नहीं उतरता - सब कहेंगे कि यह तो बस रद्दी करके छोड़ दिया है, इनकी भाषा सीखने में तो हमारी भाषा खराब हो जाएगी! तो मैंने व्याकरण की दृष्टि से उसको सही रखा या सही कर दिया।"

वे भाषा संकट पर दिल्ली की एक गोष्ठी का उदाहरण देते हुए बंगाल के एक वैष्णवी गुरु और चेले के ऐसे किस्से को सामने लाते हैं जहाँ शिष्य की भाषा संकट की वजह से गुरु अपने प्राणों की आहुति दे देते हैं क्योंकि वैष्णव संप्रदाय में काटने, रक्त बहने और मारने के लिए एक ही शब्द का प्रचलन है - 'अमनिया', इसी वजह से धर्मसंकट में फँसा शिष्य प्राण जा रहे गुरु की दशा को अपने ही मित्रों से बता

नहीं पाता है। यही वजह है कि रेणु भाषा के संकट से बचने का उपाय बोलियों के समाहार में ढूँढते हैं। इसके अलावा रेणु के व्यक्तित्व पर तंत्र साधना का भी प्रभाव रहा है पर उसे वे अंतर्मुखी ही रखते हैं।

कुल मिलाकर 'रेणु से भेंट' में संग्रहित साक्षात्कारों से रेणु के रचनाकार बनने की प्रक्रिया को एक साक्ष्य के रूप में देखा जा सकता है। कुशल हस्ताक्षर बनाना संघर्ष और जद्दोजहद से भरा होता है। रेणु ने राजनीतिक चुनौतियों से साहित्यिक व्यक्तित्व को गढ़ा था। आज वैश्विक महामारी के दौर में रेणु बड़े प्रासंगिक लगते हैं जिस अतीत की ओर लौटने की संकल्पना ने उनसे गाँव का मोह जोड़े रखा आज उसकी सार्थकता दिख रही है। भोगवादी संस्कृति के बीच वैश्विक मानवता की जरूरत है। रेणु इसी मानवता और बुद्धि प्रखरता को आधार बनाकर सशक्त रचनाकार बने हैं। उनके पात्रों के पास जीवन की संजीवनी है अर्थात् प्रेम है जिसमें एकल पड़ गए मानव को जोड़ने की असाध्य क्षमता है। उनके द्वारा वर्णित खेत-खलिहान, देशज समाज की असंगतियाँ हमें जीने की कला और जिजीविषा सिखाती है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी, हृदय से संपन्न, जनता के पक्षधर, सहज व्यक्तित्व वाले रेणु सचमुच एक कालजयी रचनाकार हैं जो हमें हर अभाव और जटिल परिस्थिति से लड़ने की क्षमता दे जाते हैं।

संपर्क : 14, खुदीराम पल्ली, पोस्ट-नैहाटी, उत्तर चौबीस परगना-743165, मो. : 9051941806

नीलांबर कोलकाता द्वारा रेणु की कहानी संवदिया पर बनी फिल्म की स्क्रीनिंग एवं संवाद का कार्यक्रम संपन्न

04 मार्च 2021, अररिया, रेणु ग्राम में लोक-हृदय सम्राट, आंचलिकता को हिंदी में स्थापित करने वाले अलबेले कथाकार एवं लोकनायक जयप्रकाश नारायण के सहयोगी फणीश्वरनाथ रेणु का उनकी जन्मभूमि पर **सौवीं जयंती** कोलकाता की साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्था **नीलांबर** द्वारा मनाई गई।

हिंदी के एक बड़े रचनाकार की जन्मभूमि पर किया गया यह कार्यक्रम उस अंचल के लोक को समर्पित और संबोधित रहा। इस समारोह का उद्घाटन रेणु जी के वरिष्ठ पुत्र-द्वय श्री पद्म पराग और श्री अपराजित के द्वारा किया जाना महत्वपूर्ण रहा। कार्यक्रम में भाग लेनेवाले अतिथि के रूप में श्री विनय कुमार, श्री राकेश बिहारी, श्री राजेश कमल एवं जिला प्रशासन के कई वरिष्ठ अधिकारीगण उपस्थित थे। रेणु के इस शतवार्षिकी समारोह का मुख्य आकर्षण रहा 'नीलांबर' द्वारा निर्मित संवदिया फिल्म की पहली स्क्रीनिंग। यह फिल्म रेणु जी की इसी नाम से चर्चित कहानी पर आधारित है। इस फिल्म के अधिकतर हिस्से की शूटिंग रेणु जी के जन्म-अंचल में ही की गई है इसलिए भी इस फिल्म के प्रति वहाँ के लोगों का आकर्षण स्वाभाविक था। अतः सभागार में बैठे सभी दर्शक भावुकता के साथ फिल्म में अपने आपको ढूंढने की कोशिश में दिख रहे थे।

श्री पद्म पराग ने समकालीन संदर्भों में अपने पिता के लेखन को देखने-समझने की बात कही। संवदिया पर अपनी बात रखते हुए उन्होंने कहा कि आज समाज में किसी स्त्री का संवदिया की बड़ी बहुरिया की स्थिति में जीना कचोटता और कसकता है। यह समाज के लिए शर्मिंदगी की बात है। श्री अपराजित ने अपने पिता के जीवन को आज के समय के गांव की स्थिति के साथ जोड़ कर देखने की बात कही। उन्होंने जोर देकर कहा कि साहित्य समाज के लिए लिए होना चाहिए, जनता के लिए होना चाहिए।

कवि-आलोचक श्री विनय कुमार ने रेणु की आंचलिकता के महत्व को दर्शाते हुए सामाजिक यथार्थ और संघर्ष को एक नए दृश्य में देखने-दिखाने की कोशिश की। हिंदी कथाकार श्री राकेश बिहारी ने संवदिया कहानी को केंद्र में रखकर अपनी बात रखी। उन्होंने रेणु के गाँव में 'नीलांबर' कोलकाता द्वारा किए गए इस कार्यक्रम की सराहना की।

फिल्म में एक संवदिया के मन में द्वन्द की स्थिति और परिवार के विघटन के बाद स्त्री के जीवन में उठी गरीबी और अकेलेपन की पीड़ा को दिखाया है।

संवदिया फिल्म के निर्देशक और 'नीलांबर' कोलकाता के सचिव श्री रितेश कुमार ने फिल्म के लिए अपने संघर्षों और उपलब्धियों को सबके सामने रखा। कार्यक्रम में संवदिया फिल्म के कलाकारों को सम्मानित किया गया। कार्यक्रम का संचालन ममता पांडेय ने किया। धन्यवाद ज्ञापन डॉ मंटू कुमार ने किया है। तकनीकी विभाग में विशाल पांडेय और अभिषेक पांडेय की महत्वपूर्ण भूमिका रही। कार्यक्रम का समायोजन मनोज झा और आदित्य प्रियदर्शी ने किया है। यह कार्यक्रम साहित्य और जनता की सहभागिता के सुंदर उदाहरण के रूप में याद किया जाएगा।

प्रस्तुति : आनंद गुप्ता

पश्चिम बंग हिंदी अकादमी के राष्ट्रीय हिंदी नाट्य उत्सव का हुआ समापन

कोलकाता, पश्चिम बंग हिंदी अकादमी के त्रिदिवसीय हिंदी नाट्य उत्सव का समापन शिशिर मंच के प्रेक्षागृह में हुआ। इस नाट्य उत्सव के प्रथम दिन जहां दिल्ली से पधारे वरिष्ठ नाटककार प्रताप सहगल का नाटक- अन्वेषक, श्री राम सेंटर फॉर आर्ट्स ने प्रस्तुत किया, वहीं दूसरे दिन सुमन कुमार का नाटक- नुगरा का तमाशा, दिल्ली की नाट्य संस्था कला मंडली ने प्रस्तुत किया।

उत्सव के आखिरी दिन बांग्ला के प्रतिष्ठित नाटककार बादल सरकार का बहुचर्चित नाटक- वल्लभपुर की रूपकथा प्रस्तुत किया गया। गौरतलब है कि इसका हिंदी अनुवाद कोलकाता की ही वरिष्ठ नाटककार प्रतिभा अग्रवाल ने किया था। जबलपुर की नाट्य संस्था- विवेचना रंगमंडल द्वारा प्रस्तुत इस नाटक का निर्देशन प्रगति विवेक पांडे ने किया और इसे दर्शकों की भरपूर सराहना मिली। ये नाटक दरअसल बादल सरकार द्वारा रचित परिस्थिति से उत्पन्न एक कॉमेडी है, जिसकी कथा 400 साल पुरानी एक भुतहा हवेली के इर्द-गिर्द घूमती है और दर्शकों का खूब मनोरंजन करती है।

इस नाट्य उत्सव के समापन पर अकादमी के सदस्य रावेल पुष्प ने इस नाटक के निर्देशक को अकादमी का स्मृति चिन्ह भेंट किया और इस उत्सव की सफलता के पीछे संयोजक एवं प्रख्यात रंगकर्मी उमा झुनझुनवाला द्वारा लगातार किए जा रहे शारीरिक एवं मानसिक श्रम का भी जिक्र किया तथा अत्यधिक मानसिक दबाव के कारण उनके अचानक अस्वस्थ हो जाने की भी सूचना दी।

उपस्थित दर्शकों तथा नाट्य मंडलियों ने लंबे समय के कोरोना-काल के बाद इस तरह मिल पाने और स्वस्थ मनोरंजन के लिए जहाँ हिंदी अकादमी को धन्यवाद दिया, वहीं उमा जी के शीघ्र स्वस्थ होने के लिए शुभकामनाएँ भी दी।

प्रस्तुति : रावेल पुष्प, सदस्य, प.बं. हिंदी अकादमी

स्वतंत्रता के बाद उपजे मोहभंग के रचनाकार फणीश्वरनाथ रेणु

15 मार्च 2021, कोलकाता, सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय के तत्वावधान में आयोजित 'रेणु जन्मशती समारोह के अन्तर्गत - 'भारतीय समाज एवं रेणु का मनोविज्ञान' विषय पर विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया। इस अवसर पर वक्ता डॉ. अर्चना पांडेय हिन्दी विभागाध्यक्ष खिदिरपुर कॉलेज ने अपने वक्तव्य में मैला आंचल के पात्रों के मनोभाव एवं जनता के टूटते मोहभंग को व्याख्यायित करते हुए रेणु की शिल्पगत विशेषताओं पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि रचनाकार अपने मानसिक द्वन्द को अपने पात्रों के द्वारा रचनाओं में रचता है। बंगवासी कॉलेज की सहायक प्राध्यापिका डॉ. श्रीपर्णा तरफदार ने कहा कि रेणु की रचनाओं में मनोविज्ञान, यथार्थ और स्वतंत्रता बाद के उपजे परिवेश ने प्रेमचन्दोत्तर कथा साहित्य को एक नया आयाम प्रदान किया। उनकी रचनाएं भारतीय समाज से संवाद करती हैं। बंगवासी इवनिंग कॉलेज की सहायक प्राध्यापिका प्रो. दीक्षा गुप्ता ने कहा कि रेणु भोगे हुए यथार्थ एवं भारत की जनता के प्रतिनिधि रचनाकार के रूप में जाने जाते हैं। रेणु मौजूदा समाज की व्यथा-कथा के साथ स्त्रियों की पीड़ा और उनके मनोभावों के कुशल चितरे रूप में सामने आते हैं। मंच पर प्रख्यात कथावाचक श्रीकांत शर्मा बालव्यास जी भी उपस्थित थे। अध्यक्षीय वक्तव्य देते हुए भरत कुमार जालान ने कहा कि रेणु के साहित्य और उद्देश्य को अपने जीवन में समाहित करने की जरूरत है।

कार्यक्रम का शुभारंभ महानगर के प्रसिद्ध गायक ओमप्रकाश मिश्र द्वारा प्रस्तुत सरस्वती वंदना से हुआ। पुस्तकालय की मंत्री श्रीमती दुर्गा व्यास ने स्वागत भाषण देते हुए कहा कि विद्यार्थियों को रेणु की रचनाओं से रूबरू होने की जरूरत है। कार्यक्रम का संयोजन एवं कुशल संचालन उमेशचंद्र कॉलेज के विभागाध्यक्ष डॉ. कमल कुमार ने किया। धन्यवाद ज्ञापन महावीर प्रसाद बजाज जी ने किया।

प्रस्तुति : श्रीमोहन तिवारी, पुस्तकालयाध्यक्ष, जालान पुस्तकालय

संपूर्ण संस्कृति की तलाश है रेणु का साहित्य : विजय बहादुर सिंह

31 दिसंबर, कोलकाता, सांस्कृतिक पुनर्निर्माण मिशन द्वारा आयोजित 26वें हिंदी मेले के छठे दिन रेणु जन्मशती के अवसर पर 'सांस्कृतिक महामारी और रेणु' विषय पर अंतरराष्ट्रीय वेब संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इसमें देश-विदेश के मूर्धन्य साहित्यकारों ने हिस्सा लिया। यह संगोष्ठी दो सत्रों में आयोजित हुई। प्रथम सत्र की अध्यक्षता आलोचक रविभूषण जी ने किया। संगोष्ठी का विषय प्रवर्तन प्रो. अल्पना नायक ने किया। अध्यक्षीय भाषण देते हुए रविभूषण जी ने कहा कि रेणु ने मानवीय संस्कृति को पहचाना और नेचर को कल्चर से जोड़ा। आज नीड कल्चर की जगह डिजायर कल्चर विकसित हो रही है। पूँजी की संस्कृति ने संस्कृति की पूँजी को निगल लिया है। भारत यायावर ने कहा कि रेणु ने स्वयं महामारी की समस्या का सामना किया। रेणु के साहित्य में सिर्फ आँखों देखा ही नहीं बल्कि भविष्य की संभावनाएँ भी हैं। रेणु ने कालबद्ध रचनाएँ लिखते हुए काल से बाहर जाने की कोशिश भी की। प्रो. गोपेश्वर सिंह ने कहा कि रेणु आलोचनात्मक लेखक हैं, जो पहले खुद की आलोचना करते हैं। वर्तमान दौर रेणु की तुलना से हजार गुणा अपसंस्कृति का दौर है। प्रो. हितेंद्र पटेल ने कहा कि रेणु का साहित्य सांस्कृतिक विपन्नता के दौर में ज्यादा प्रासंगिक है। आज हमें रेणु के साहित्य में दर्ज ऐतिहासिक महत्व को समझने की जरूरत है। प्रो. जवरीमल्ल पारख ने कहा कि रेणु की राजनीतिक दृष्टि गहरी और प्रखर थी। आज की महामारी का संबंध राजनीतिक है, परंतु अधिकांश इस सत्य को रेणु की तरह उद्घाटित नहीं करते। विषय का प्रवर्तन प्रो. प्रीति सिंघी ने किया। इस सत्र की अध्यक्षता करते हुए वरिष्ठ आलोचक विजय बहादुर सिंह ने कहा कि रेणु आजादी के आस-पास के लेखक है। हमारे दौर की सांस्कृतिक महामारी यही है कि हम सभी एक भयानक आत्म विस्मृति के शिकार हैं। मारीशस से जुड़े प्रो. विनोद कुमार मिश्र ने कहा कि रेणु एक सांस्कृतिक भगीरथ थे, जिसकी धारा को निरंतरता प्रदान करने के लिए हमें आगे आना होगा। रेणु की वैचारिक प्रतिबद्धता मानवीय और लोकतांत्रिक मूल्यों से जुड़ी है। भारतीय भाषा परिषद के निदेशक शम्भुनाथ ने कहा कि हमें सांस्कृतिक महामारी से लड़ने के लिए एकबद्ध होना होगा। पूरा देश बहुलतावादी सांस्कृतिक महामारी का शिकार है। नीदरलैंड से जुड़ी प्रो. पुष्पिता अवस्थी ने कहा कि इस पृथ्वी का गौरव गाँव है। हमें कवि, लेखक आदि विशेषणों से ऊपर उठकर कार्यकर्ता की भूमिका में आना होगा। प्रथम सत्र का संचालन विनोद यादव ने तथा धन्यवाद ज्ञापन पूजा गुप्ता ने दिया। दूसरे सत्र का सफल संचालन प्रो. गुलनाज़ बेगम तथा धन्यवाद ज्ञापन राहुल शर्मा ने दिया।

प्रस्तुति : मधु सिंह

स्मृति शेष

प्रो. मधुलता गुप्ता कोलकाता के साहित्यिक एवं अकादमिक गतिविधियों के साथ अनन्य रूप से जुड़ी हुई थी। विगत 21 फरवरी, 2021 को उनका निधन हम सभी को मर्माहत कर गया। हिंदी के विद्यार्थी एवं प्राध्यापक उन्हें कभी नहीं भूल पाएंगे। उनके पुण्य-प्रयाण की शेष स्मृति के प्रति श्रद्धावनत है मुक्तांचल परिवार।

इस पार तक

रामवक्ष



आजादी के तुरंत बाद देश में जो नया भू-प्रबंधन हुआ, उसकी बारीकियों का चित्रण हिंदी में सिर्फ रेणु में मिलता है। इस भू-प्रबंधन के लिए कई सरकारी कर्मचारी गाँव में आते हैं। गाँव के किसान उन्हें किस तरह से अंगीकार करते हैं, तिरस्कार करते हैं, चापलूसी करते हैं, भड़काते हैं, अपनी-अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए जुगत भिड़ाते रहते हैं। सबका चित्रण रेणु में मिलता है। ये पात्र अपनी चालाकी, समझदारी, नादानी, सक्रियता, निष्क्रियता, अपने भोलेपन और काइयापन से इन कर्मचारियों को ठगते हैं और अंततः स्वयं ठगे जाते हैं। फिर भी अपने आपको ठगा हुआ नहीं मानते। अपना जीवट बनाए रखते हैं। एक-दूसरे पर छींटाकशी करते हैं। यह सब गुथा हुआ है।

रेणु का रचनाकर मानता है कि मनुष्य सिर्फ विचार की प्रतिमूर्ति नहीं होता। उसमें उसकी भावनाएं भी होती हैं। गाँव के उपेक्षित, नादान पात्र भी महसूस करते हैं, प्रेम करते हैं, झगड़ा करते हैं, सिर्फ मध्यवर्ग ही यह सब नहीं करता। उनकी रचनाओं में जब भी कोई पात्र आता है, तब वह पूरी सज-धज के साथ आता है, भले ही वह थोड़ी देर के लिए आता हो। इसलिए रेणु में मौसी, बुआ, चाची आदि प्रतीकात्मक पात्र नहीं आते। अपनी संपूर्ण व्यक्तित्व के साथ आते हैं। कभी-कभी यह देखकर आश्चर्य होता है कि उन्होंने कितनी मानव मूर्तियों को अपनी रचनाओं में उपस्थित कर रखा है।

- रामवक्ष

RNI NO. WBHIN/2014/70173

POSTAL REG. NO. WB/HWH-90/2018-2020

Registration No. S/2L/24473



हावड़ा नवज्योति

REGISTERED UNDER WEST BENGAL SOCIETY ACT OF 1961

SIGNED UP NGO - PS SYSTEM WITH NITI AYOOG (GOVT. OF INDIA)

24, NARASINGHA BOSE LANE, HOWRAH, PIN - 71101(W.B)

हावड़ा नवज्योति विगत 4 वर्षों से शिक्षा और स्वास्थ्य पर काम करते आ रही है।
जरूरतमंद बच्चों को पाठ्यक्रम के साथ विभिन्न गतिविधियां कराई जाती है
साथ ही प्रत्येक महीने बच्चों का स्वास्थ्य परीक्षण भी किया जाता है।
वर्ष में एक बार 23 फरवरी को कैंसर जागरूकता अभियान चलाया जाता है।
हमारे यहां लड़कियों और बच्चों के लिए निम्नलिखित गतिविधियां सिखाई जाती है:-

1. सिलाई सीखना
2. कंप्यूटर प्रशिक्षण
3. कराटे प्रशिक्षण
4. चित्रकला(ड्राइंग)
5. नाटक
6. काव्य आवृत्ति
7. नृत्य(डांस)
8. संगीत
9. स्पोकेन इंग्लिश
10. प्रत्येक सप्ताह जरूरतमंद बच्चों को अन्नपूर्णा के तहत पौष्टिक भोजन भी कराया जाता है।

**आप सभी का सहयोग मिलता रहा तो हमारी
संस्था बच्चों के लिए निरंतर कार्य करते रहेगी।
हमें सहयोग करें:-**

Account Name :- Howrah Navjyoti. Bank Name :- Syndicate Bank (Shibpur Branch)
Account No :- 95412010021853. Ifsc Code :- SYNB0009541



9123098071



9163267142

हावड़ा विद्यार्थी मंच के लिए प्रकाशक आनंद कुमार सिन्हा और मुद्रक गोपी कृष्ण पालुई,
शिक्षण, 50 सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता से मुद्रित एवं 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन,
सालकिया, हावड़ा- 71106 से प्रकाशित।

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा